MASA-07

वर्धमान महावीर खुला विश्वविद्यालय, कोटा

काव्यप्रकाशः

ध्वन्यालोकः

काव्यमीमांसा

वक्रोक्तिजीवितम्

साहित्यशास्त्र

पाठ्यक्रम निर्माण समिति

अध्यक्ष
प्रोफेसर (डॉ.) नरेश दाधीच
कुलपति
वर्धमान कोटा खुला विश्वविद्यालय, कोटा

समन्वयक/सदस्य

प्रो. (डॉ.) गणेशीलाल सुथार (संयोजक)
पूर्व परामर्शदाता (संस्कृत)
वर्धमान महावीर खुला विश्वविद्यालय, कोटा (राजस्थान)
पूर्व निदेशक, पण्डित मधुसूदन ओझा शोध प्रकोष्ठ
पूर्व आचार्य, संस्कृत विभाग, जय नारायण व्यास विश्वविद्यालय, जोधपुर

डॉ. क्षमता चौधरी
सहायक-आचार्य (अंग्रेजी-विभाग)
वर्धमान महावीर खुला विश्वविद्यालय, कोटा (राजस्थान)

सदस्य

1. **प्रो. (डॉ.) राजेन्द्र आई. नाणावटी (राष्ट्रपति-सम्मानित)**
   इमेरिटॅस फेलो (यू.जी.सी.)
   पूर्व निदेशक, ऑरियण्टल इंस्टीट्यूट
   महाराजा सयाजीराव विश्वविद्यालय, बड़ोदा (गुजरात)
2. **देवर्षि कलानाथ शास्त्री (राष्ट्रपति-सम्मानित)**
   अध्यक्ष, आधुनिक संस्कृतसाहित्य-पीठ
   जगद्गुरु रामानन्दाचार्य राजस्थान संस्कृत विश्वविद्यालय, जयपुर
   पूर्व अध्यक्ष, राजस्थान संस्कृत अकादमी, जयपुर (राजस्थान)
3. **डॉ. सुषमा सिंघवी**
   पूर्व सहआचार्य, संस्कृत विभाग
   जयनारायण व्यास विश्वविद्यालय, जोधपुर
   पूर्व निदेशक एवं परामर्शदाता संस्कृत
   वर्धमान महावीर खुला विश्वविद्यालय, क्षेत्रीय केन्द्र, जयपुर
4. **प्रो. (डॉ.) वसन्त कुमार भट्ट**
   आचार्य तथा अध्यक्ष, संस्कृत विभाग
   निदेशक, भाषा-संकाय
   गुजरात विश्वविद्यालय, अहमदाबाद (गुजरात
5. **प्रो. (डॉ.) नरेन्द्र अवस्थी**
   आचार्य तथा पूर्व अध्यक्ष, संस्कृत विभाग
   जयनारायण व्यास विश्वविद्यालय, जोधपुर

सम्पादन एवं पाठ लेखन (प्रथम संस्करण मार्च 2010)

सम्पादक
डॉ. रमाकान्त पाण्डेय
सह-आचार्य, साहित्य विभाग
राष्ट्रीयसंस्कृतसंस्थान(मानितविश्वविद्यालय) जयपुरपरिसर
त्रिवेणी नगर, जयपुर (राजस्थान)

लेखक

1. **डॉ. प्रभावती चौधरी (इकाई 1 से 10 पर्यन्त)**
   सह-आचार्य, संस्कृत विभाग
   जयनारायण व्यास विश्वविद्यालय, जोधपुर (राजस्थान)
2. **डॉ.दुलीचन्द शर्मा (इकाई 11 से 16 पर्यन्त)**
   अध्यक्ष, संस्कृत विभाग
   राजकीय स्नातकोत्तर डूंगर महाविद्यालय, बीकानेर (राजस्थान)
3. **डॉ० कपिल गौतम (इकाई 17,18,19,20)**(पाठयक्रम संशोधनोपरांत)
   सहायक आचार्य, संस्कृत,
   वर्धमान महावीर खुला विश्वविद्यालय, कोटा

पाठयक्रम संशोधन समिति

अध्यक्ष :

प्रो. एल.आर. गुर्जर

निदेशक (अकादमिक)

वर्धमान महावीर खुला विश्वविद्यालय, कोटा

संयोजक :

डॉ० कपिल गौतम

सहायक आचार्य, संस्कृत विभाग,

वर्धमान महावीर खुला विश्वविद्यालय, कोटा

सदस्य :

1. **प्रो० राम नाथ झा,**
   आचार्य, विशिष्ट संस्कृत अध्ययन केन्द्र,
   जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, नई दिल्ली
2. **प्रो० ओम नाथ बिमली,**
   आचार्य, संस्कृत विभाग
   दिल्ली विश्वविद्यालय, नई दिल्ली
3. **प्रो० रामसिंह चौहान,**
   विभागाध्यक्ष, संस्कृत विभाग
   राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर
4. **प्रो० राजेन्द्र प्रसाद, आचार्य**
   विभागाध्यक्ष, वेद विभाग
   जगद्गुरुरामानन्दाचार्य संस्कृत विश्वविद्यालय,जयपुर
5. **डॉ० महेश शर्मा,**
   सहायक आचार्य, दर्शन विभाग
   जगद्गुरुरामानन्दाचार्य संस्कृत विश्वविद्यालय,जयपुर

संशोधन एवं सम्पादन (संशोधित एवं परिवर्द्धित संस्करण, जुलाई 2018)

डॉ० कपिल गौतम

सहायक - आचार्य, संस्कृत विभाग,

वर्धमान महावीर खुला विश्वविद्यालय, कोटा

अकादमिक एवं प्रशासनिक व्यवस्था

प्रो. (डॉ.) अशोक शर्मा
कुलपति
वर्धमान महावीर खुला विश्वविद्यालय, कोटा

प्रो. एल.आर. गुर्जर
निदेशक (शैक्षणिक)
संकाय विभाग

डॉ. राजकुमार चतुर्वेदी
निदेशक
पाठ्य सामग्री उत्पादन एवं वितरण विभाग

पाठ्यक्रम उत्पादन

डॉ. राजकुमार चतुर्वेदी

निदेशक,

पाठ्य सामग्री उत्पादन एवं वितरण विभाग

उत्पादन: जुलाई 2018 ISBN NO. 978-81-8496-322-9

सर्वाधिकार सुरक्षित: इस सामग्री के किसी अंश की वर्धमान महावीर खुला विश्वविद्यालय, कोटा की लिखित अनुमति के बिना किसी भी रूप में 'मिमियाग्राफी' (चक्रमुद्रण) के द्वारा या अन्यथा पुनः प्रस्तुत करने की अनुमति नहीं है।

व०म०खु०वि० कोटा के लिए कुलसचिव वर्धमान महावीर खुला विश्वविद्यालय, कोटा द्वारा मुद्रित एवं प्रकाशित।

MASA-07

वर्धमान महावीर खुला विश्वविद्यालय, कोटा

अनुक्रमणिका

इकाई सं.	इकाई का नाम	पृष्ठ संख्या
इकाई–1	काव्यप्रकाश–प्रथम उल्लास (कारिका संख्या 1 से 5)	1–14
इकाई–2	काव्यप्रकाश–द्वितीय उल्लास (कारिका संख्या 6 से 12 पर्यन्त)	15–30
इकाई–3	काव्यप्रकाश–द्वितीय उल्लास (कारिका संख्या 13 से 20) एवं तृतीय उल्लास	31–45
इकाई–4	काव्यप्रकाश–चतुर्थ उल्लास (रस सम्बन्धी चार मतों का विवेचन)	46–65
इकाई–5	काव्यप्रकाश – चतुर्थ उल्लास (कारिका संख्या 37 से अन्त तक)	66–78
इकाई–6	काव्यप्रकाश – पंचम उल्लास (कारिका 45 से 47)	79–89
इकाई–7	काव्यप्रकाश – पंचम उल्लास (47वीं कारिका का पश्चाद्वर्ती भाग)	90–105
इकाई–8	काव्यप्रकाश – सप्तम उल्लास (पदादिदोष)	106–118
इकाई–9	काव्यप्रकाश – सप्तम उल्लास (अर्थदोष एवं रसदोष)	119–133
इकाई–10	काव्यप्रकाश–अष्टम उल्लास (अलंकार एवं गुण–स्वरूप)	134–146
इकाई–11	ध्वन्यालोक के प्रथम उद्योत का प्रतिपाद्य विषय	147–161
इकाई–12	ध्वन्यालोकप्रथमोद्योतकारिकाणां संस्कृत व्याख्या	162–172
इकाई–13	ध्वन्यालोक के द्वितीय उद्योत में प्रतिपादित मुख्य विषय का विवेचन	173–184
इकाई–14	ध्वन्यालोक (द्वितीय उद्योत) (कारिका संख्या 01 से 11)	185–196
इकाई–15	ध्वन्यालोक (द्वितीय उद्योत) (कारिका संख्या 12 से 22)	197–211
इकाई–16	ध्वन्यालोक (द्वितीय उद्योत) (कारिका संख्या 23 से 33)	212–225
इकाई–17	आचार्य राजशेखर – एक सामान्य परिचय	226–239
इकाई–18	राजशेखर कृत काव्यमीमांसा ग्रन्थ के प्रमुख प्रतिपाद्य	240–262
इकाई–19	वक्रोक्ति सिद्धान्त : उद्भव, विकास एवं समीक्षा	263–274
इकाई–20	वक्रोक्तिजीवितम् ग्रन्थ के प्रमुख प्रतिपाद्य	275–294

इकाई–1

काव्यप्रकाश–प्रथम उल्लास (कारिका संख्या 1 से 5)

इकाई की रूपरेखा

1.0 उद्देश्य
1.1 प्रस्तावना
1.2 काव्यप्रकाश (प्रथम उल्लास)
 1.2.1 मंगलाचरण (कारिकासंख्या – 1)
 1.2.2 काव्य–प्रयोजन (कारिकासंख्या – 2)
 1.2.3 काव्य–हेतु (कारिकासंख्या – 3)
 1.2.4 काव्य–लक्षण (कारिकासंख्या – 4 पूर्वार्द्ध)
 1.2.5 काव्य–भेद (कारिकासंख्या – 4 उत्तरार्द्ध तथा कारिका – 5)
  1.2.5.1 उत्तम काव्य
  1.2.5.2 मध्यम काव्य
  1.2.5.3 अधम काव्य
1.3 पारिभाषिक शब्दावली
1.4 अभ्यासार्थ प्रश्न
1.5 सारांश
1.6 संदर्भ ग्रंथ सूची

1.0 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई पढ़ने के बाद आप :–

- आचार्य मम्मटकृत काव्य के स्वरूप के विषय में विस्तृत जानकारी प्राप्त कर सकेंगे।
- काव्य के प्रयोजन, अनुबंधचतुष्टय और उत्तम, मध्यम तथा अधम तीन प्रकार के काव्य–भेदों की जानकारी प्राप्त कर सकेंगे।
- काव्य के सन्दर्भ में आचार्य मम्मट की विचारधारा का गहन अध्ययन कर सकेंगे।

1.1 प्रस्तावना

प्रस्तुत इकाई में आप आचार्य मम्मट के अनुसार काव्यप्रकाश में, अनुबंधचतुष्टय, काव्यप्रयोजन, काव्यहेतु, काव्यलक्षण तथा काव्य के भेदों, क्रमशः उत्तम काव्य (ध्वनिकाव्य) मध्यम (गुणीभूत व्यङ्ग्यकाव्य) तथा अधम (शब्द एवं अर्थचित्र काव्य) से परिचित हो सकेंगे। आचार्य मम्मट के अनुसार विवेचित काव्य–स्वरूप शास्त्रीय परम्परा में बहुमान्य है। इस इकाई के द्वारा आप उसका विस्तृत ज्ञान प्राप्त कर सकेंगे।

1.2 काव्यप्रकाश

'काव्यप्रकाश' आचार्य मम्मट के द्वारा रचित काव्यस्वरूप का विस्तृत विवेचन करने वाली सर्वोत्तम कृति है। आचार्य मम्मट पूर्वाचार्यों एवं उत्तरवर्ती आचार्यों द्वारा निरूपित शास्त्र परम्परा की मध्य कड़ी हैं। पूर्वाचार्यों द्वारा निरूपित एवं संवर्धित लक्षणों का मम्मट ने अपने काव्य–लक्षण में समाहार किया है तथा उत्तरवर्ती आचार्यों द्वारा निरूपित शास्त्रों में भी मम्मट ही केन्द्र–बिन्दु है। उत्तरवर्ती आचार्यों ने मम्मट के लक्षणों को पल्लवित किया अथवा मम्मट की आलोचना करते हुए अपने लक्षणों का निरूपण एवं परिहार किया। अतः काव्यशास्त्र परम्परा में 'काव्य–प्रकाश' एक अतिमहत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। 'काव्यप्रकाश' दश उल्लासों में निबद्ध है। प्रत्येक उल्लास की विषयवस्तु इस प्रकार है :–

प्रथम उल्लास : काव्यप्रयोजन, काव्यहेतु, काव्यलक्षण, काव्यभेद

द्वितीय उल्लास : शब्दार्थस्वरूप, अभिधा, लक्षणा व व्यंजना का निरूपण

तृतीय उल्लास : आर्थी व्यंजना का निरूपण

चतुर्थ उल्लास : ध्वनिकाव्य–निरूपण, रस का स्वरूप, रस के भेद

पंचम उल्लास : गुणीभूतव्यंग्य तथा व्यंजना वृत्ति की स्थापना

षष्ठ उल्लास : शब्दचित्र व अर्थचित्र निरूपण

सप्तम उल्लास : काव्यदोषों का निरूपण

अष्टम उल्लास : गुण तथा अलंकारों का निरूपण

नवम उल्लास : शब्दालंकारों का निरूपण।

दशम उल्लास : अर्थालंकारों का निरूपण।

कारिका–व्याख्या –

1.2.1 मंगलाचरण –

प्रसंग – किसी भी शुभ–कार्य के प्रारम्भ में उसकी निर्विघ्न समाप्ति के लिए अपने इष्ट देवता का किसी न किसी रूप में स्मरण किया जाता है। काव्य–शास्त्रीय परम्परा में इसे 'मंगलाचरण' कहा जाता है तथा प्रत्येक ग्रन्थकार द्वारा अपनी ग्रन्थ–रचना के प्रारम्भ में इसका विधान किया जाता है। 'मंगलाचरण' के तीन प्रकार होते हैं –

(1) आशीर्वादात्मक – इस 'मंगलाचरण' में ईश्वर से मंगल–कामना की जाती है।

(2) नमस्कारात्मक – इसमें ईश्वर की स्तुति तथा नमन किया जाता है।

(3) वस्तुनिर्देशात्मक – इसमें 'मंगलाचरण के साथ ही साथ ग्रन्थ में वर्णित विषयवस्तु का संकेत भी कर दिया जाता है।

प्रस्तुत ग्रन्थ में आचार्य मम्मट 'नमस्कारात्मक मंगलाचरण' करते हुए कविभारती की विधाता की सृष्टि से अतिशयता बताते हुए स्तुति करते हैं:–

नियतिकृतनियमरहितां ह्लादैकमयीमनन्यपरतन्त्राम्।
नवरसरुचिरां निर्मितमादधती भारती कवेर्जयति।।1।।

व्याख्या – नियति के द्वारा निर्धारित नियमों से रहित, केवल आनन्दमात्रस्वभावा, अन्य किसी क अधीन न रहने वाली तथा नौ रसों से मनोहारिणी काव्यसृष्टि की रचना करने वाली कवि की भारती सर्वोत्कर्षशालिनी है।

प्रस्तुत कारिका में आचार्य मम्मट ने 'कवि–भारती' की विशेषताएँ बताकर उसे सर्वश्रेष्ठ निरूपित किया है। आचार्य मम्मट के अनुसार 'कविसृष्टि' ब्रह्मा की 'सृष्टि' से भी बढ़कर है। आचार्य आनन्दवर्धन ने कवि को स्वयं प्रजापति या ब्रह्मा एवं काव्य संसार को उसकी सृष्टि कहा है–

अपारे काव्यसंसारे कविरेकः प्रजापतिः।
यथास्मै रोचते विश्वं तथेदं परिवर्तते।।

इस कवि–प्रजापति की इच्छा और रुचि के अनुसार ही इस काव्यंससार की रचना होती है। मम्मट ने उससे भी आगे बढ़कर व्यतिरेक अलंकार में 'कवि–सृष्टि' की विशेषताओं को निम्न प्रकार से अभिव्यक्त किया है :–

(1) नियतिकृतनियमरहिताम् – ब्रह्मा की सृष्टि नियति के नियमों के अधीन अर्थात् नियति अथवा अदृष्ट के सिद्धान्त पर स्थिर है। परन्तु कवि की सृष्टि 'नियतिकृत

नियम–रहिता' है। उसकी सृष्टि नियति के किसी भी प्रकार के नियमों से बन्धी नहीं है अपितु स्वतंत्र है।

'नियति' शब्द के दो अर्थ हो सकते हैं। 'नियम्यन्ते सौरभादयो धर्मा अनया इति, नियतिरसाधारणो धर्मः पद्मत्वादिरूपः' अर्थात् जिसके द्वारा सौरभ आदि अर्थों का नियन्त्रण किया जाता है ये पद्मत्वादि असाधारण धर्म 'नियति' पद से कहे गये हैं। उसके द्वारा किया गया नियम 'यत्र पद्मत्वं तत्र सौरभविशेषः'–जहाँ पद्मत्व होता है वहाँ विशेष प्रकार का सौरभ रहता है। आशय यह है कि ब्रह्मा की सृष्टि में कमल से ही सौरभ या सुगन्धि आ सकती है क्योंकि पद्मत्व या कमलत्व धर्म उसी में रहता है। इस प्रकार की व्याप्ति को नियतिकृत नियम कहते हैं। ब्रह्मा की सृष्टि में इस प्रकार की व्याप्ति पाई जाती है किन्तु कवि की सृष्टि इन नियमों से रहित है उसकी सृष्टि में स्त्री के मुख में कमल की सौरभ व हाथों में कमल की कोमलता हैं।

नियति शब्द का दूसरा अर्थ है 'अदृष्ट' अथवा धर्माधर्म। ब्रह्मा की सम्पूर्ण सृष्टि अदृष्ट के सिद्धान्त पर आश्रित है तथा प्राणियों के पूर्वकृत् कर्मों के आधार पर उनके सुख–दुःख का निर्धारण होता है किन्तु कवि की सृष्टि मात्र उसकी अपनी कल्पना के सहारे चलती है।

(2) **ह्लादैकमयीम्** – ब्रह्मा की सृष्टि 'सुख–दुःखमोहस्वभावा' अर्थात् सुख–दुःख तथा मोहरूप स्वभाव वाली है। ब्रह्मा की सृष्टि में सुखादि का विधान नियमबद्ध रूप से होता है किन्तु कवि की सृष्टि पूर्णरूपेण सुखमयी है। कवि की सृष्टि में तो रुदन तथा क्रन्दन से भरा हुआ करूणरस भी आनन्दानुभूति–स्वरूप ही है। विश्वनाथ विरचित 'साहित्यदर्पण' की यह कारिका इसी बात की पुष्टि करती है :–

करुणादावपि रसे जायते यत् परं सुखम्।
सचेतसामनुभवः प्रमाणं तत्र केवलम्।।

ह्लादैकमयी में 'एक' शब्द से 'प्रकृतवचने मयट्' से मयट् प्रत्यय हुआ है –'एकं (वस्तु) प्राचुर्येण प्रस्तुतं यस्यां सा एकमयी' अर्थात् एक वस्तु जिसमें प्रचुरता से प्रस्तुत है वह 'एकमयी' है इस प्रकार जिसमें ह्लाद या आनन्द मात्र एक वस्तु प्रचुर मात्रा में प्रस्तुत है अतः वह ह्लादैकमयी हैं। इस प्रकार कविसृष्टि एक मात्र आनन्दस्वभावा है।

(3) **अनन्यपरतन्त्राम्** – कवि सृष्टि में तीसरी विशेषता आचार्य मम्मट ने प्रस्तुत पद से प्रदर्शित की है। ब्रह्मा की सृष्टि 'परमाण्वाद्युपादानकर्मादिसहकारिकारण–परतन्त्रा' अर्थात् परमाणु आदि उपादानों से परतंत्र है। ब्रह्मा की सृष्टि प्रकृति अथवा समवायि, असमवायि तथा निमित्तकारणादि के बिना सम्भव न होने के कारण इनके अधीन है। परन्तु कवि की सृष्टि के लिए कवि की अपनी प्रतिभा के अतिरिक्त अन्य किसी सामग्री की आवश्यकता नहीं होती। वह किसी दूसरे के अधीन न होने के कारण 'अनन्यपरतंत्रा' हैं। इसीलिए वह ब्रह्मा की सृष्टि की अपेक्षा उत्कर्षशालिनी है।

(4) **नवरसरुचिराम्** – ब्रह्मा की सृष्टि की अपेक्षा कवि की सृष्टि में चौथी विशेषता यह दिखलायी है कि ब्रह्मा की सृष्टि में मधुर, अम्ल, लवण, कटु, कषाय और तिक्त केवल छः प्रकार के रस पाये जाते हैं। इन छः रसों में भी कुछ रस मनुष्यों को अप्रिय भी हैं। किन्तु ब्रह्मा की सृष्टि में श्रृंगार, वीर, करूण आदि नौ रस पाये जाते हैं तथा वे सभी 'रुचिर' है, इस कारण भी ब्रह्मा की सृष्टि से कवि सृष्टि उत्कृष्ट है।

अतः इन सभी विशेषताओं से सम्पन्न सर्वोत्कर्षशालिनी कवि–सृष्टि की जय जयकार तथा उसके प्रति सम्मान–भाव आचार्य मम्मट ने स्वकृत 'मंगलाचरण' में प्रस्तुत किया है।

1.2.2 काव्य–प्रयोजन –

प्रसंग – 'प्रयोजनमनुद्दिश्य मन्दोऽपि न प्रवर्तते।'

अर्थात् प्रयोजन जाने बिना मन्दबुद्धि व्यक्ति भी किसी कार्य को करने में प्रवृत्त नहीं होता। किसी भी कार्य में मनुष्य तभी प्रवृत्त होता है जब उसमें उसको इष्ट साधनता एवं कृतिसाध्यता का ज्ञान होता है 'इदं मदिष्टसाधनम्' अर्थात् यह कार्य मेरे इष्ट का साधन है एवं 'इदं मत्कृति–साध्यम्' यह कार्य मैं भली प्रकार कर सकता हूँ, इस प्रकार का ज्ञान होने पर ही मनुष्य किसी कार्य में प्रवृत्त होता है। इस ज्ञान में से विषय, 'इष्ट' पद से प्रयोजन, 'साधनम्' पद से सम्बन्ध और 'मत्' से अधिकारी का ज्ञान होता है। इन चारों का ज्ञान ही प्रवृत्ति का प्रयोजक होता हैं–'प्रवृत्तिप्रयोजकज्ञानविषयत्वम् अनुबन्धत्वम्' यह अनुबन्ध का लक्षण किया गया गया है। अतः ग्रन्थ रचना जैसे महान् कार्य से पूर्व प्रयोजन, विषय, अधिकारी तथा संबंध आदि अनुबंध–चतुष्टय का उल्लेख तो परमावश्यक है। इसी परम्परा को ध्यान में रखते हुए आचार्य मम्मट अपने ग्रन्थ में मंगलाचरण के पश्चात् ग्रन्थ रचना के प्रयोजन एव विषय को स्पष्ट करते हैं:–

काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये।
सद्यः परनिर्वृतये कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे।।2।।

व्याख्या – काव्य यश का जनक, धन प्राप्ति में सहायक, लोक–व्यवहार का बोधक, अमंगलनाशक, शीघ्र ही परमानन्द देने वाला तथा कान्तावत् उपदेश का जनक है।

प्रस्तुत कारिका में आचार्य मम्मट ने काव्य के निम्नलिखित छः प्रयोजनों का वर्णन किया है :–

1. **यशसे** – काव्य का प्रथम प्रयोजन है–यश–प्राप्ति जैसे– 'कालिदासादीनामिव यशः', अर्थात् कालिदास आदि को रघुवंशादि महाकाव्यों की रचना करने से यश की प्राप्ति हुई।
2. **अर्थकृते** – काव्य–रचना से 'श्रीहर्षादेर्धावकादीनामिव धनम्' अर्थात् श्रीहर्षादि से रत्नावली आदि नाटिका की रचना से धावक आदि कवियों को धन की प्राप्ति हुई। अतः अर्थप्राप्ति में भी काव्य–रचना सहायक है। राजा श्रीहर्ष के नाम से 'रत्नावली–नाटिका' आदि जो ग्रन्थ पाये जाते हैं वे वस्तुतः धावक कवि की रचनाएँ हैं। इनकी रचना से उन्हे प्रचुर मात्रा में धन प्राप्ति हुई थी।
3. **व्यवहारविदे** – काव्य का तीसरा प्रयोजन 'राजादिगतोचिताचारपरिज्ञानम्' अर्थात् राजादि के साथ किये जाने योग्य आचार का परिज्ञान कराना है। काव्य–नाटकादि में जो चरित्र चित्रण होता हैं उससे भिन्न–भिन्न स्थितियों में पात्रों की परस्पर व्यवहार शैली का ज्ञान होता है जैसे रामायणादि महाकाव्यों को पढ़ने से ज्ञान होता है कि रामादि के समान लोक में आचरण करना चाहिए रावणादि के समान नहीं।
4. **शिवेतरक्षतये** – काव्य–रचना का चतुर्थ प्रयोजन है, शिव से इतर अर्थात् मंगल से भिन्न जो अमगंल है उससे रक्षा करना। आचार्य मम्मट ने इसका उदाहरण देते हुए कहा है 'आदित्यादेर्मयूरादीनामिवानर्थनिवारणम्' अर्थात् मयूर भट्ट आदि के द्वारा जब 'सूर्यशतक' की रचना की गई तो उनको कुष्ठ रोग रूपी अनर्थ से मुक्ति प्राप्त हुई। इस प्रकार काव्य–रचना से अमंगल–निवारण स्पष्ट है।
5. **सद्यः परनिर्वृतये** – काव्य का सर्वप्रमुख प्रयोजन 'सद्यः परनिर्वृत्ति' है । आचार्य मम्मट ने भी इस प्रयोजन को अत्यन्त विशिष्ट मानते हुए इसके लिए अपनी वृत्ति में दो विशेषण पदों से इसे सुशोभित किया है – 'सकलप्रयोजनमौलिभूतम्' अर्थात्

सम्पूर्ण प्रयोजनों में अग्रणी शीर्षस्थलवत् एवं 'विगलितवेद्यान्तरमानन्दम्' अर्थात् परम आनन्द की अनुभूति के समान। काव्य के निर्माण अथवा पाठ के साथ ही जो एक विशेष प्रकार के आन्तरिक आनन्द की प्राप्ति होती है वह अलौकिक आनन्दानुभूति ही काव्य का सबसे प्रमुख प्रयोजन है। इस आनन्दानुभूति की वेला में पाठक संसार का सब कुछ भूलकर काव्य जगत् में तल्लीन हो जाता है।

6. **कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे** – इसके अतिरिक्त काव्य का अन्तिम प्रयोजन प्रियतमा के समान सरसतापूर्ण उपदेश देना भी है। उपदेश तीन प्रकार के माने जाते हैं। 'प्रभुसम्मितशब्दप्रधानवेदादिशास्त्रेभ्यः' अर्थात् प्रभुसम्मित उपदेश जिनके उदाहरण वेदादि शास्त्र है। जिस प्रकार राजाज्ञा बिना विचार किए अक्षरशः पालन करने योग्य होती हैं। इसी प्रकार वेदादिशास्त्रों के वचन उनके अर्थ का विचार किए बिना अक्षरशः पालन करने योग्य हैं। 'सुहृत्सम्मितार्थतात्पर्यवत्पुराणादीतिहासेभ्यश्च' अर्थात् मित्र वचन आदि के समान इतिहासपुराण आदि से विलक्षण। इतिहास पुराणादि अर्थ प्रधान होते हैं। इसलिए वेदादि के समान उनका अक्षरशः पालन आवश्यक नहीं है। उसी प्रकार जैसे मित्र अपने मित्र को उचित तथा अनुचित का परामर्श देता है, परन्तु उसका परामर्श शब्दप्रधान न होकर अर्थप्रधान होता है। काव्य की शैली इन दोनों उपदेश शैलियों से भिन्न तीसरे प्रकार की शैली 'कान्तासम्मित' उपदेश शैली है। इस शैली में शब्द तथा अर्थ की प्रधानता न होकर रस की प्रधानता होती है। अथात् काव्य कान्ता के समान सरस बनाकर उपदेश प्रस्तुत करता है। अतः सरसतापूर्ण काव्य के विषय में प्रयत्न करना चाहिए; ऐसा आचार्य मम्मट का मत है।

इस प्रकार आचार्य मम्मट ने काव्यप्रकाश में काव्य के जिन छः प्रयोजनों का निरूपण किया, लगभग उसी प्रकार के काव्यप्रयोजनों का प्रतिपादन अन्य आचार्यों ने भी किया हैं। कुछ आचार्यों के काव्यप्रयोजन द्रष्टव्य हैं –

आचार्य वामन ने काव्य के केवल दो प्रयोजन माने हैं :–

''काव्यं सद्दृष्टादृष्टार्थं प्रीतिकीर्तिहेतुत्वात्''

एक कीर्तिं और दूसरा प्रीति या आनन्द।

इनमें प्रीति दृष्ट–प्रयोजन एवं कीर्ति अदृष्ट–प्रयोजन है। इन्होंने कीर्ति को अत्यधिक महत्त्व दिया।

आचार्य भामह ने काव्यप्रयोजनों का वर्णन इस प्रकार किया है :–

धर्मार्थकाममोक्षेषु वैचक्षण्यं कलासु च।
करोति कीर्तिं प्रीतिं च साधुकाव्यनिबन्धनम्।।

अर्थात् उत्तम काव्य की रचना धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष रूप चारों पुरूषार्थों तथा समस्त कलाओं में निपुणता और कीर्ति एवं प्रीति को उत्पन्न करने वाली होती है। भामह के इस काव्यप्रयोजन को उत्तरवर्ती आचार्यों ने अत्यन्त आदरपूर्वक अपनाया। इनके अनुसार प्रीति एवं कीर्ति के अतिरिक्त पुरूषार्थचतुष्टय, कला तथा व्यवहार आदि में निपुणता की प्राप्ति भी काव्य का प्रयोजन है।

आचार्य कुन्तक के अनुसार –

काव्य की रचना से सुन्दर तथा सरस ढंग से चतुर्वर्ग–प्राप्ति, व्यवहार का ज्ञान तथा आनन्दानुभूति रूप चमत्कार उत्पन्न होता है।

धर्मादिसाधनोपायः सुकुमारक्रमोदितः।
काव्यबन्धोऽभिजातानां हृदयाह्लादकारकः।।

व्यवहारपरिस्पन्दसौन्दर्यं व्यवहारिभिः।
सत्काव्याधिगमादेव नूतनौचित्यमाप्यते।।

चतुर्वर्गफलास्वादमप्यतिक्रम्य तद्विदाम्।
काव्यामृतरसेनान्तश्चमत्कारो वितन्यते।।

कुन्तक ने काव्यप्रयोजन को अधिक स्पष्ट किया हैं–

काव्य की रचना अभिजात अर्थात् श्रेष्ठ कुल में उत्पन्न राजकुमारादि के लिए सुन्दर एवं सरस ढंग से कहा गया धर्म, अर्थ, काम व मोक्ष की सिद्धि का सरल मार्ग हैं। सत्काव्य के परिज्ञान से सब प्रकार के जनों के व्यवहार का पूर्ण एवं सुन्दर ज्ञान होता है। इसके अतिरिक्त सहृदयों के हृदय में चतुर्वर्गफल प्राप्ति से बढ़कर आनन्दानुभूति रूप चमत्कार उत्पन्न होता है।

आचार्य भरत ने काव्य अथवा नाट्य का प्रयोजन इस प्रकार व्यक्त किया है–

उत्तमाधममध्यानां नराणां कर्मसंश्रयम्।
हितोपदेशजननं धृतिक्रीडासुखादिकृत्।।

दुःखार्त्तानां श्रमार्त्तानां शोकार्त्तानां तपस्विनाम्।
विश्रान्तिजननं काले नाट्यमेतद् भविष्यति।।

धर्म्यं यशस्यमायुष्यं हितं बुद्धिविवर्धनम्।
लोकोपदेशजननं नाट्यमेतद् भविष्यति।।

उत्तरवर्ती आचार्यों ने भरत के इन्हीं काव्य–प्रयोजनों को आधार बनाकर अपने काव्यप्रयोजनों का निरूपण किया।

इस प्रकार पूर्ववर्ती आचार्यों ने जिन काव्य–प्रयोजनों का प्रतिपादन किया था उनका और भी परिमार्जन करके काव्यप्रकाशकार ने सबसे अधिक सुन्दर एवं विस्तृत रूप में काव्यप्रयोजन का निरूपण किया है। इनमें से 'यशसे' तथा 'अर्थकृते' कविनिष्ठ प्रयोजन हैं। क्योंकि काव्य से यश एवं अर्थ प्राप्ति कवि को ही होती है। 'व्यवहारविदे' एवं 'कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे' सामाजिक या पाठकगत प्रयोजन हैं तथा 'शिवेतरक्षतये' एवं 'सद्यःपरनिर्वृत्तये' कवि एवं सामाजिक दोनों से सम्बद्ध हैं। परन्तु सभी आचार्यों ने इस प्रकार का विभाजन नहीं किया है।

1.2.3 काव्य–हेतु –

प्रसंग – उपर्युक्त छः प्रकार के प्रयोजनों की सिद्धि में सहायक उस विलक्षण काव्य की उत्पत्ति के हतुओं को प्रतिपादित करते हुए आचार्य मम्मट कहते है :–

शक्तिर्निपुणता लोकशास्त्रकाव्याद्यवेक्षणात्।
काव्यज्ञशिक्षयाभ्यास इति हेतुस्तदुद्भवे।।3।।

व्याख्या – अर्थात् कवि में रहने वाली उसकी स्वाभाविक प्रतिभारूप शक्ति, लोक, शास्त्र तथा काव्य के पर्यालोचन से उत्पन्न निपुणता तथा काव्य को जानने वाले गुरु से शिक्षा का अभ्यास उस काव्य की उत्पत्ति के कारण कहे गये हैं।

प्रस्तुत कारिका में आचार्य मम्मट ने काव्य–रचना–शक्ति की सामर्थ्य के लिए तीन हेतुओं की समष्टि को प्रमुखता दी है :–

1. **शक्ति** – शक्ति को परिभाषित करते हुए उन्होनें कहा है ''शक्तिः कवित्वबीजरूपः संस्कारविशेषः यां विना काव्यं न प्रसरेत्, प्रसृतं वा उपहसनीयं स्यात्। अर्थात् शक्ति कवित्व बीजरूप संस्कार विशेष है, जिसके बिना काव्यरचना नहीं हो सकती और अगर तुकबन्दी के रूप में हो भी जाए तो उपहास योग्य होगी। अतः काव्यरचना करने के लिए 'शक्ति' या 'प्रतिभा' महत्त्वपूर्ण कारण है।

2. **निपुणता** – निपुणता का अर्थविस्तार करते हुए आचार्य मम्मट कहते है **'लोकस्य स्थावरजङ्गमात्मकस्य लोकवृत्तस्य, शास्त्राणां छन्दोव्याकरणाभिधान–कोशकलाचतुर्वर्गगजतुरगखड्गादिलक्षणग्रन्थानाम्, काव्यानां च महाकवि–सम्बन्धिनाम् आदिग्रहणादितिहासादीनां च विमर्शनाद् व्युत्पत्तिः।**

लोक अर्थात् स्थावर व जङ्गम संसार के व्यवहार के, शास्त्र अर्थात् छन्द, व्याकरण, कोश (अमरकोशादि), कला (भरतादिप्रणीत नृत्यगीतादि चौसठ प्रकार की कला के प्रतिपादक ग्रन्थों से), चतुर्वर्ग अर्थात् धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष आदि के प्रतिपादक ग्रन्थों, हाथी–घोड़े एवं खड्ग आदि के लक्षण ग्रन्थों और महाकवि संबंधी काव्यों आदि के ग्रहण से इतिहासादि के पर्यालोचन से उत्पन्न 'व्युत्पत्ति' विशेष प्रकार का ज्ञान 'निपुणता' कहलाती है।

3. **काव्यज्ञशिक्षयाभ्यास** – ''काव्यं कर्तुं विचारयितुं च ये जानन्ति तदुपदेशेन करणे योजने च पौनःपुन्येन प्रवृत्तिरिति।'' अर्थात् काव्य की रचना–शैली तथा उसके गुण–दोषों को विवेचित करना जानने वाले विद्वानों के उपदेश के अनुसार काव्य–निर्माण में बार–बार प्रवृत्ति आदि को काव्य की उत्पत्ति में हेतु माना गया है।

आचार्य मम्मट के अनुसार ये तीनों मिलकर समष्टि रूप से उस काव्य की उत्पत्ति के हेतु हैं। इन तीनों की मिलकर कारणता हैं अलग–अलग नहीं। इसे मम्मट ने स्पष्ट किया है 'त्रयः समुदिताः न तु व्यस्ताः' तीनों में से एक का भी अभाव होने पर काव्य की प्रवृत्ति नहीं हो सकती। आचार्य मम्मट के पूर्ववर्ती आचार्यों में भी काव्य–हेतुओं को लेकर ज्यादा विचार–भिन्नता नहीं है।

वामन ने भी (1) लोक (2) विद्या (3) प्रकीर्ण इन तीनों को काव्य का अङ्ग एवं काव्य–निर्माण की क्षमता प्राप्त करने का साधन बताया हैं।

लोको विद्या प्रकीर्णं च काव्याङ्गानि। लोकवृत्तं लोकः शब्दस्मृत्यभिधानकोश–छन्दोविचितिकला– कामशास्त्र–दण्डनीतिपूर्वा विद्या। लक्ष्यज्ञत्वमभियोगो वृद्धसेवावेक्षणं प्रतिभानमवधानं च प्रकीर्णम्।

वामन ने अपने ग्रन्थ में 20 सूत्रों का काव्याङ्गों के निरूपण में उपयोग किया है। मम्मट ने इन्हें एक कारिका में निबद्ध कर दिया। मम्मट ने वामन के लोक एवं विद्या दोनों को 'लोकशास्त्रकाव्याद्यवेक्षणात् निपुणता' के अन्तर्गत कर दिया तथा प्रकीर्ण में से शक्ति अलग कर अन्य का 'काव्यज्ञशिक्षयाभ्यासः' में अन्तर्भाव कर दिया।

भामह ने भी इसी प्रकार के काव्य–साधनों का निरूपण किया है।

1.2.4 काव्य–लक्षण –

प्रसंग – मंगलाचरण, काव्य–प्रयोजन तथा काव्य–हेतुओं का विवेचन करने के पश्चात् उस विलक्षण काव्य का स्वरूप निरूपण करते हुए आचार्य कहते हैं :–

(सू.1) तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृती पुनः क्वापि।

व्याख्या – दोषों से रहित, गुणयुक्त और साधारणतः अलङ्कार सहित परन्तु कहीं–कहीं अलङ्कार रहित शब्द और अर्थ दोनों की समष्टि काव्य कहलाती है।

इस प्रकार प्रस्तुत कारिका से यह ज्ञात होता है कि आचार्य मम्मट न शब्द तथा अर्थ दोनों को संयुक्त रूप से काव्य माना है। अकेला शब्द या अकेला अर्थ काव्य नहीं हैं। 'तत्' सर्वनाम पद 'काव्यं यशसे...' कारिका में प्रयुक्त काव्य का परामर्शक है लक्षण में प्रयुक्त तत् का तात्पर्य है काव्य। इन शब्द व अर्थ के तीन विशेषण दिए गए हैं–(1) अदोषौ, (2) सगुणौ, (3) अनलंकृती पुनः क्वापि। अर्थात् वे शब्द व अर्थ दोष रहित हों, माधुर्यादि गुणों से युक्त हो तथा अलङ्कार सहित हो परन्तु जहाँ रस की प्रतीति हो रही हो वहाँ अलङ्कार स्पष्ट

न होने पर भी काव्यत्व की हानि नहीं है। इस प्रकार तीन विशेषणो से युक्त शब्द व अर्थ की समष्टि का नाम काव्य है।

1. **अदोषौ** – इस शब्द और अर्थ के विशेषण से काव्यप्रकाशकार का अभिप्राय यह है कि काव्यत्व के विघटक जो 'च्युतसंस्कार' आदि प्रबल दोष हैं, उनसे रहित शब्द तथा अर्थ काव्य है। कोई भी दोष स्वरूप से दोष नहीं होता अपितु जब वह रसानुभूति में बाधक होता है तभी दोष कहा जाता है। इसलिए जो दोष प्रबल होने के कारण रसानुभूति में बाधक हो उन प्रबल दोषों से रहित शब्द तथा अर्थ काव्य है। दोष प्रकरण में मम्मट ने पद दोष, अर्थ दोष, वाक्य दोष एवं रसदोष रूप स दोषों का विस्तार से वर्णन किया हैं।

2. **सगुणौ** – इस विशेषण से आचार्य मम्मट का अभिप्राय है कि काव्य सर्वदा गुणसहित होना चाहिए। गुण–रहित शब्दार्थ में काव्यत्व नहीं माना जाना चाहिए। माधुर्यादि गुणों का उदाहरण एवं लक्षण सहित विस्तृत निरूपण अष्टम उल्लास में किया गया है।

3. **अनलङ्कृती पुनः क्वापि** – काव्य में अलङ्कारों की उपस्थिति को आचार्य मम्मट महत्त्व देते हैं किन्तु उनके अनुसार जहाँ रस प्रधान हो वहाँ यदि अलङ्कार काव्य में स्पष्ट रूप से नहीं भी हों तो भी काव्य की उत्कृष्टता पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता है। इस कथन की पुष्टि के लिए उन्होंने निम्न श्लोक उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया हैः–

यः कौमारहरः स एव हि वरस्ता एव चैत्रक्षपा–
स्तेचोन्मीलितमालतीसुरभयः प्रौढाः कदम्बानिलाः।
सा चैवास्मि तथापि तत्र सुरतव्यापारलीलाविधौ
रेवारोधसि वेतसीतरुतले चेतः समुत्कण्ठते।।

जिस (प्रियतम) ने कौमार्यहरण किया वही पति है, वे ही चैत्रमास की रात्रियाँ हैं, वही मालती के पुष्पों से सुगन्धित धीर–गम्भीर कदम्ब की वायु है, मैं भी वही हूँ (अर्थात् सभी सामग्री चिर परिचित और अनुभूत है कुछ भी नवीनता नहीं है) फिर भी आज नर्मदा के तट पर उन्हीं काम–क्रीड़ाओं क लिए चित्त उत्कण्ठित हो रहा है।

प्रस्तुत श्लोक में कोई स्पष्ट अलङ्कार नहीं है, परन्तु रस प्रधान होने से मम्मट ने इसे उत्तम–काव्य में माना है। प्रस्तुत श्लोक में 'चित्त की उत्कण्ठा' का कोई भी कारण उपस्थित न होने पर भी चित्त की उत्कण्ठा रूप कार्य हो रहा है। अतः कारण बिना कार्य होना विभावना (विभावना विना हेतुं कार्योत्पत्तिर्यदुच्यते) अलङ्कार की प्रतीति हैं इसे अन्य प्रकार से भी स्पष्ट किया जा सकता है–'चित्त की उत्कण्ठा के अभाव के समस्त कारण उपस्थित हैं किन्तु चित्त की उत्कण्ठा का अभाव रूप कार्य नहीं हो रहा । इस प्रकार कारण के होने पर भी कार्य का न होना रूप–विशेषोक्ति (सति हेतौ फलाभावे) अलङ्कार की प्रतीति होती है।

काव्यप्रकाशकार आचार्य मम्मट के पूर्ववर्ती आचार्यों ने भी 'काव्यलक्षण' करते समय शब्द और अर्थ दोनों को सम्मिलित रूप से ही काव्य माना है तथा शब्द और अर्थ दोनों की ही प्रधानता स्वीकार की है। भामह आदि के द्वारा प्रस्तुत काव्य–लक्षण निम्नलिखित हैं :–

आचार्य भामह का काव्यलक्षण – मम्मट के पूर्ववर्ती आचार्यों में साहित्यशास्त्र के भीष्म पितामह भामह का काव्यलक्षण सर्वाधिक प्राचीन है। उन्होंने –

'शब्दार्थौ सहितौ काव्यं गद्यं पद्यं च तद् द्विधा।

अर्थात् शब्द एवं अर्थ सह रूप से (एक साथ) काव्य हैं, वह गद्य एवं पद्य रूप से दो प्रकार का है।

आचार्य दण्डी का काव्यलक्षण :–

'शरीरं' तावदिष्टार्थव्यवच्छिना पदावली।

अर्थात इष्ट अर्थ से युक्त पदावली काव्य है। आचार्य दण्डी ने शब्द को प्रधानता दी। मनोरम या अभीष्ट अर्थ से युक्त पद–समूह काव्य है।

आचार्य वामन का काव्यलक्षण :–

आचार्य वामन के अनुसार **'रीतिरात्मा काव्यस्य'** अर्थात् रीति ही काव्य की आत्मा है। आचार्य वामन ने भामह एवं दण्डी के काव्यलक्षण में प्राण–प्रतिष्ठा करने का प्रयत्न किया। उन्होनें काव्य के शरीर की चिन्ता न करके उसकी आत्मा का अनुसन्धान करने का कार्य किया।

आचार्य कुन्तक का काव्यलक्षण :–

शब्दार्थौ सहितौ वक्रकविव्यापारशालिनि।
बन्धे व्यवस्थितौ काव्यं तद्विदाह्लादकारिणि।।

अर्थात् रसज्ञों के हृदय को आनन्दित करने वाले, कवि की चमत्कारपूर्ण उक्तियों से युक्त बन्ध में सम्यक् रूप से स्थित, सहभाव से युक्त शब्द व अर्थ काव्य है।

कुन्तक के इस लक्षण में अन्य आचार्यों के लक्षणों का समावेश हो जाता है। कुन्तक का यह लक्षण अधिक विस्तृत एवं स्पष्ट है। इस लक्षण में 'शब्दार्थौ सहितौ' का, दण्डी की 'इष्टार्थ व्यवच्छिन्ना' (तद्विदाह्लादकारिणि में) का तथा 'वक्र–कवि व्यापार' में ध्वनि एवं रस (आनन्दवर्धन का व्यंजना व्यापार तथा राजशेखर के रस) का अन्तर्भाव हो जाता है।

आचार्य आनन्दवर्धन ने 'काव्यस्यात्मा ध्वनिः' कहकर ध्वनि को काव्य की आत्मा माना। उनके मत में ध्वनि ही काव्य का जीवनाधायक तत्त्व है। उसक बिना सुन्दर शब्द व अर्थ भी निर्जीव देह के समान त्याज्य है।

आचार्य क्षेमेन्द्र औचित्य को काव्य की आत्मा स्वीकार करते हैं। उनके मत में अलङ्कारों एवं गुणों का काव्य में तभी महत्त्व है जब उनका औचित्यपूर्वक प्रयोग हो, औचित्य के अभाव में वे गुण एवं अलङ्कार नही रहते। आचार्य विश्वनाथ ने 'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्' में रसयुक्त वाक्य को काव्य माना।

मम्मट के काव्य–लक्षण की विशेषता –

आचार्य मम्मट का काव्य लक्षण अन्य आचार्यों के काव्य–लक्षणों की अपेक्षा अधिक परिमार्जित है। कुन्तक के द्वारा अनेक कारिकाओं में प्रस्तुत वक्तव्य को मम्मट ने आधी कारिका में समाविष्ट कर दिया। उन्होंने 'अदोषौ' एवं 'सगुणौ' पद जोड़कर काव्य–लक्षण का नया दृष्टिकोण प्रस्तुत किया। अन्य किसी भी आचार्य ने काव्य–लक्षण में गुण–दोष की चर्चा नहीं की। कितना भी सुन्दर काव्य क्यों न हो यदि एक भी उत्कट दोष आ जाए तो उसके गौरव को कम कर देता है। जैसे एक छोटा सा कलङ्क (धब्बा) चन्द्रमा के सौन्दर्य को कम कर देता है।

मम्मट ने इसीलिए गुण एवं अलङ्कारों से पूर्व दोषों की चर्चा की है। शरीर के संस्कार में भी दोषापनयन करने के पश्चात् ही गुणाधान एवं अलङ्कार विधान किया जाता है। काव्य में भी सर्वप्रथम दोष का अपनयन आवश्यक है। तदन्तर ही गुणाधानरूप संस्कार संभव है; ये दोनों अपरिहार्य हैं। तत्पश्चात् अलङ्कार की बारी आती है। 'अनलंकृती पुनः क्वापि' कहकर मम्मट ने अलङ्कारों की इन दोनों की अपेक्षा गौणता सूचित की है।

सांराशतः यह कहा जा सकता है कि मम्मट के शब्द और अर्थ दोनों को समष्टि रूप से काव्य मानने में प्रायः पूर्ववर्ती विद्वान भी सहमत हैं। इस प्रकार थोड़े शब्दों में भाव–गाम्भीर्य के द्वारा मम्मट ने अपने काव्यलक्षण को अत्यन्त उपादेय एवं सुन्दर बना दिया है।

1.2.5 काव्य–भेद–

प्रसंग – इस प्रकार काव्यलक्षण करने के बाद काव्यप्रकाशकार उसके मुख्य तीन भेदों का संक्षेप में उल्लेख करते है। सर्वप्रथम उत्तम काव्य 'ध्वनि' का लक्षण करते हुए कहते हैं :–

1.2.5.1 उत्तम काव्य–

(सू.2) इदमुत्तममतिशयिनि व्यङ्ग्ये वाच्याद् ध्वनिर्बुधैः कथितः।।4।।

व्याख्या – वाच्य अर्थ की अपेक्षा व्यंग्य अर्थ के अधिक चमत्कारयुक्त होने पर काव्य उत्तम होता है और विद्वानों ने उसको ध्वनि काव्य के नाम से कहा है।

प्रस्तुत कारिका में 'उत्तम–काव्य' की विशेषता आचार्य मम्मट के अनुसार 'ध्वनि' अर्थात् व्यङ्ग्य अर्थ की प्रधानता है। जिस काव्य में व्यङ्ग्य अर्थ का सौन्दर्य इतना प्रभावशाली हो जाये कि उसके समक्ष वाच्यार्थ भी गौण हो जाये तो वह 'ध्वनि–काव्य' की श्रेणी में परिगणित होता है। आचार्य मम्मट ने कारिका में प्रयुक्त 'बुधैः' का अर्थ अपनी वृत्ति में 'वैयाकरणैः' कहकर स्पष्ट किया है। इससे यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि 'ध्वनि' शब्द का प्रयोग मुख्य रूप से वैयाकरणों ने किया तथा आचार्य आनन्दवर्धन ने इसे व्याकरणशास्त्र से ग्रहण किया। ध्वनि का स्वरूप भी आचार्य मम्मट ने वैयाकरणों के अनुसार ही प्रदर्शित किया–

'प्रधानभूतस्फोटरूपव्यङ्ग्यव्यंजकस्य शब्दस्य ध्वनिरिति व्यवहारः'

अर्थात् प्रधानभत् स्फोट रूप व्यङ्ग्य की अभिव्यक्ति कराने में समर्थ शब्द 'ध्वनि' है। उसके पश्चात् वैयाकरणों का अनुकरण करने वाले साहित्यशास्त्र के आचार्यों ने वाच्यार्थ को गौण बना देने वाले व्यङ्ग्यार्थ एवं उसकी अभिव्यक्ति में समर्थ व्यंजक शब्द–दोनों (शब्दार्थयुगल) के लिए ध्वनि पद का प्रयोग प्रारम्भ कर दिया।

स्फोटवाद वैयाकरणों का प्रमुख सिद्धान्त है। स्फोट शब्द की व्युत्पत्ति **'स्फुटति अर्थः यस्मात् स स्फोटः'** इस प्रकार की जाती है अर्थात् जिससे अर्थ की प्रतीति हो उसे स्फोट कहते हैं। यह स्फोट पद–स्फोट, वाक्यस्फोट आदि रूप से आठ प्रकार का होता है। गकार, औकार व विसर्जनीय के योग से बना 'गौः' पद जब गाय का बोध कराता है वह श्रोत्र से सुनाई देने वाली ध्वनि नहीं अपितु उसमें व्यक्त मानस 'स्फोट' है क्योंकि श्रोत्र से सुनाई देने वाली ध्वनि तो क्षणिक है जो गकार आदि एक–एक वर्ण के उच्चारण के तुरन्त बाद नष्ट हो जाती है। किन्तु प्रत्येक वर्ण को सुनने से एक संस्कार उत्पन्न होता है जो पूरे वर्ण–समुदाय को ग्रहण करने वाली मानसिक पद की प्रतीति को उत्पन्न करता हैं। इसी का नाम पदस्फोट हैं इसी प्रकार वाक्यस्फोट आदि भी जानना चाहिए।

ध्वनिकाव्य का उदाहरण देते हुए निम्न श्लोक उद्धृत करते हैं :–

निःशेषच्युतचन्दनं स्तनतटं निर्मृष्टरागोऽधरो
नेत्रे दूरमनंजने पुलकिता तन्वी तवेयं तनुः।
मिथ्यावादिनि दूति बान्धवजनस्याज्ञातपीडागमे
वापीं स्नातुमितो गतासि न पुनस्तस्याऽधमस्यान्तिकम्।।

अर्थ :– तुम्हारे स्तन के अग्रभाग का चन्दन बिल्कुल छूट गया है। अधर का राग बिल्कुल साफ हो गया है, ऑखों का अंजन पुँछ गया है और तुम्हारा यह कृश शरीर रोमांचित हो रहा है। अपनी सखी की पीड़ा को न समझने वाली और झूठ बोलने वाली तू यहाँ से बावड़ी में नहाने गयी थी न कि उस अधम नायक के पास ?

यहाँ कहने वाली नायिका तथा सुनने वाली दूती दोनों ही यह जानती थी कि उस नायक के साथ रमण करने ही गई थी। वक्ता तथा बोद्धा के वैशिष्ट्य से तथा विशेषकर 'अधम' शब्द से यहाँ व्यङ्ग्यार्थ वाच्यार्थ की अपेक्षा कहीं अधिक विलक्षण रूप से प्रकट हो रहा है

कि नायिका दूती से यह कहना चाहती है कि ''मैं तुम्हारे द्वारा तथा नायक के द्वारा किये गये विश्वासघात को जान चुकी हूँ।''

1.2.5.2 मध्यम काव्य

प्रसंग – उत्तम काव्य का लक्षण एवं उदाहरण करने के पश्चात् मध्यम काव्य का लक्षण एवं उदाहरण प्रस्तुत करते हुए आचार्य मम्मट कहते हैं :

(सू.3) अतादृशि गुणीभूतव्यङ्ग्यं व्यङ्ग्ये तु मध्यमम्।

व्याख्या – जिस काव्य में व्यङ्ग्य अर्थ वाच्य अर्थ से अधिक चमत्कारकारी नहीं होता। उस प्रकार के काव्य को गुणीभूतव्यङ्ग्य या मध्यम काव्य कहा जाता है, अर्थात् जहाँ पर व्यङ्ग्य अर्थ की अपेक्षा वाच्यार्थ ही विलक्षण प्रतीत होता हो तथा व्यङ्ग्य अर्थ वाच्यार्थ की सिद्धि के लिए उसका सहायक बनकर स्वयं गौण हो जाता है, वहाँ गुणीभूतव्यङ्ग्य (मध्यम काव्य) होता है। गुणीभूतव्यङ्ग्य के आठ भेदों का पंचम उल्लास में विस्तारपूर्वक निरूपण किया गया है।

ग्रामतरूणं तरूण्या नववंजुलमंजरीसनाथकरम्।
पश्यन्त्या भवति मुहुर्नितरां मलिना मुखच्छाया।।

बेंत के वृक्ष की सद्य तोड़ी गई नवीन मंजरी को हाथ में लेकर खड़े हुए ग्राम के युवक को देखकर युवती के मुख की कांति मलिन हो गई।

यहाँ ग्राम के तरूण को बेंत के लतागृह में मिलने का समय देकर युवती समय पर पहुँचने में असमर्थ रही। युवक वहाँ समय पर पहुँच गया और प्रमाणस्वरूप वहाँ से बेंत की मंजरी को तोड़कर ले आया। यहाँ युवक का युवती के लिए यह व्यङ्ग्य कि तुम समय पर संकेत स्थान पर मिलने नहीं आयी, वाच्यार्थ की अपेक्षा अधिक चमत्कारी न होकर गुणीभूत हो गया हैं, अतः यह मध्यमकाव्य का उदाहरण है। वाच्य और व्यङ्ग्य यदि समान स्थिति में हो वहाँ व्यङ्ग्य के वाच्यातिशायी न होने से व्यङ्ग्य गुणीभूत हो जाता है।

1.2.5.3 (अधम काव्य) चित्र काव्य –

प्रसंग – उत्तम तथा मध्यम काव्य का लक्षण करने के पश्चात् आचार्य मम्मट अधमकाव्य का लक्षण एवं उदाहरण देते हुए कहते हैं:–

(सू.4) शब्दचित्रं वाच्यचित्रमव्यङ्ग्यं त्ववरं स्मृतम्।।5।।

व्याख्या – व्यङ्ग्यार्थ से रहित शब्दचित्र तथा अर्थचित्र दो प्रकार का अधम काव्य कहा गया है।
'चित्रकाव्य' गुण तथा अलङ्कार युक्त होने से कहा जाता है। अव्यङ्ग्य का अभिप्राय स्पष्ट रूप से प्रतीयमान व्यङ्ग्य अर्थ से रहित काव्य है। 'अवर' का अर्थ अधम है। 'अधम काव्य' का उदाहरण यथा–

स्वच्छन्दोच्छलदच्छकच्छकुहरच्छातेतराम्बुच्छटा
मूर्च्छन्मोहमहर्षिहर्षविहितस्नानाह्निकाह्नाय वः।
भिद्यादुद्यदुदारदर्दुरदरी दीर्घादरिद्रद्रुम–
द्रोहोद्रेकममहोर्मिमेदुरमदा मन्दाकिनी मन्दताम्।

प्रस्तुत उदाहरण में केवल शब्दों के अनुप्रासजन्य चमत्कार के अतिरिक्त कोई व्यङ्ग्यार्थ नहीं है, अतः यह अधम काव्य का उदाहरण हैं।
यहाँ वृत्त्यनुप्रास भी है। यह शब्दचित्र का उदाहरण है। अर्थचित्र का उदाहरण इस प्रकार है –

विनिर्गतं मानदमात्ममन्दिराद् भवत्युपश्रुत्य यदृच्छयापि यम्।
ससम्भ्रमेन्द्रद्रुतपातितार्गला निमीलिताक्षीव भियामरावती।।

शत्रुओं के अभिमान को चूर करने वाले जिस (हयग्रीव) को यो ही घूमने के लिए अपने महल से निकला हुआ सुनकर भी घबराए हुए इन्द्र के द्वारा जिसकी अर्गला डाल दी गई हैं इस प्रकार की अमरावती ने भय से अपनी आँखे बन्द कर ली।

यहां 'भिया निमीलिताक्षीव अमरावती जाता' में उत्प्रेक्षा अलङ्कार है तथा उत्प्रेक्षा में ही कवि का प्रधान रूप से तात्पर्य है । यद्यपि यहाँ वीररस है किन्तु कवि का उसमें तात्पर्य न होने से इसे 'चित्र–काव्य' ही माना गया ळें

1.3 पारिभाषिक शब्दावली

नियतिकृत – ब्रह्मा की सृष्टि नियति के नियमों के अधीन अर्थात् नियति अथवा अदृष्ट के सिद्धान्त पर स्थिर है। परन्तु कवि की सृष्टि 'नियतिकृत नियम–रहिता' है। उसकी सृष्टि नियति के किसी भी प्रकार के नियमों से बन्धी नहीं है अपितु स्वतंत्र है।

नवरसरुचिराम् – ब्रह्मा की सृष्टि की अपेक्षा कवि की सृष्टि में चौथी विशेषता यह दिखलायी है कि ब्रह्मा की सृष्टि में मधुर, अम्ल, लवण, कटु, कषाय और तिक्त केवल छः प्रकार के रस पाये जाते हैं।

शिवेतरक्षतये – काव्य–रचना का चतुर्थ प्रयोजन है, शिव से इतर अर्थात् मंगल से भिन्न जो अमगंल है उससे रक्षा करना।

प्रभुसम्मित – 'प्रभुसम्मितशब्दप्रधानवेदादिशास्त्रेभ्यः' अर्थात् प्रभुसम्मित उपदेश जिनके उदाहरण वेदादि शास्त्र है। जिस प्रकार राजाज्ञा बिना विचार किए अक्षरशः पालन करने योग्य होती हैं।

कान्तासम्मित – काव्य की शैली इन दोनों उपदेश शैलियों से भिन्न तीसरे प्रकार की शैली 'कान्तासम्मित' उपदेश शैली है।

शक्ति – शक्ति को परिभाषित करते हुए उन्होनें कहा है ''शक्तिः कवित्वबीजरूपः संस्कारविशेषः यां विना काव्यं न प्रसरेत्, प्रसृतं वा उपहसनीयं स्यात्। अर्थात् शक्ति कवित्व बीजरूप संस्कार विशेष है, जिसके बिना काव्यरचना नहीं हो सकती और अगर तुकबन्दी के रूप में हो भी जाए तो उपहास योग्य होगी।

काव्य – दोषों से रहित, गुणयुक्त और साधारणतः अलङ्कार सहित परन्तु कहीं–कहीं अलङ्कार रहित शब्द और अर्थ दोनों की समष्टि काव्य कहलाती है।

1.4 अभ्यासार्थ प्रश्न

बोध–प्रश्न –

प्र.1 मम्मट के अनुसार काव्य–प्रयोजनों की संख्या है –
(अ) तीन (ब) चार
(स) छः (द) पांच ( )

प्र.2 काव्य–हेतु कितने प्रकार के होते हैं ?
(अ) तीन (ब) पाँच
(स) सात (द) चार ( )

प्र.3 सर्वश्रेष्ठ काव्य भेद है –
(अ) ध्वनि (ब) गुणीभूतव्यङ्ग्य
(स) शब्दचित्र (द) अर्थचित्र ( )

प्र.4 'गुणीभूतव्यङ्ग्य' काव्य है –
(अ) मध्यम (ब) उत्तम
(स) अधम (द) अवर ( )

प्र.5 काव्यशरीर माना गया है :–
(अ) गुण (ब) अलङ्कार
(स) छंद (द) शब्दार्थ ( )

प्र.6 सकलप्रयोजनमौलिभूत है :–
(अ) यश (ब) अर्थ
(स) सद्यः परनिर्वृत्ति (द) अमंगलनिवृत्ति ( )

प्र.7 काव्य–प्रयोजनों का विवेचन कीजिए।
प्र.8 उत्तम काव्य का लक्षण एवं उदाहरण बताइयें।
प्र.9 'गुणीभूतव्यङ्ग्यकाव्य' को स्पष्ट कीजिए।
प्र.10 काव्य–हेतुओं का वर्णन कीजिए।

बोध–प्रश्नों के उत्तर –

उ. 1 (स)
उ. 2 (अ)
उ. 3 (अ)
उ. 4 (अ)
उ. 5 (द)
उ. 6 (स)
उ. 7 देंखे इकाई – 1.2.2
उ. 8 देखें इकाई – 1.2.5.1
उ. 9 देखें इकाई – 1.2.5.2
उ. 10 देखें इकाई – 1.2.3

1.5 सारांश

प्रस्तुत विवेचना से आपने मङ्गलाचरण, काव्य के अनुबंध–चतुष्टय, प्रयोजन, हेतु, काव्य–स्वरूप तथा काव्य के तीन भेदों ध्वनिकाव्य, गुणीभूतव्यङ्ग्य काव्य तथा शब्दार्थचित्रकाव्य के विषय में विस्तारपूर्वक जाना। तीन प्रकार के काव्यों में 'ध्वनिकाव्य' ही सर्वोत्कृष्ट है। 'ध्वनिकाव्य' उसको कहते है जिसमें वाच्यार्थ की अपेक्षा व्यङ्ग्यार्थ कहीं अधिक विलक्षण प्रतीत होता है। इसके विपरीत जहाँ व्यङ्ग्यार्थ की अपेक्षा वाच्यार्थ अधिक वा उसके तुल्य चमत्कारजनक होता है, उसे 'गुणीभूत–व्यङ्ग्यकाव्य' कहते हैं। जहाँ व्यङ्ग्य का सर्वथा अभाव होता है, उसे चित्रकाव्य कहते हैं। इस प्रकार ध्वनिकाव्य, उत्तम काव्य को कहते हैं । इस प्रकार ध्वनिकाव्य उत्तम, गुणीभूत व्यङ्ग्य मध्यम तथा चित्रकाव्य अधम श्रेणी में गिना जाता हैं।

1.6 संदर्भ ग्रंथ सूची

1. काव्यप्रकाशः, आचार्य विश्वेश्वर सिद्धान्त शिरोमणि, ज्ञानमण्डल प्रकाशन, वाराणसी, 1960.
2. काव्यप्रकाशः, डॉ. श्रीनिवास शास्त्री. हिन्दी भवन, इलाहाबाद, 1969.
3. काव्यप्रकाशः, बालबोधिनीसहित, भण्डारकर ओरिएंटल रिसर्च इंस्टीट्यूट, पुणे,1952.
4. संस्कृत–काव्यशास्त्र एवं काव्यपरम्परा, प्रो. राधावल्लभ त्रिपाठी, प्रतिभा प्रकाशन, नई दिल्ली, 2004.

इकाई–2

काव्यप्रकाश–द्वितीय उल्लास (कारिका संख्या 6 से 12 पर्यन्त)

इकाई की रूपरेखा

2.0 उद्देश्य
2.1 प्रस्तावना
2.2 शब्द एवं अर्थ का स्वरूप (कारिका संख्या 6 से 8 पर्यन्त)
 2.2.1 समस्त अर्थों की व्यंजकता
 2.2.2 संकेतग्रह के उपाय
 2.2.3 संकेतग्रह के विषय
 2.2.4 अभिधा–शक्ति
2.3 लक्षणा–शक्ति (कारिका संख्या 9 से 12 पर्यन्त)
 2.3.1 लक्षणा के भेद
  2.3.1.1 उपादान–लक्षणा एवं लक्षण–लक्षणा
  2.3.1.2 शुद्धा–लक्षणा
  2.3.1.3 मुकुलभट्ट के ताटस्थ्य सिद्धान्त का खण्डन
  2.3.1.4 शुद्धा एवं गौणी लक्षणा के भेद
  2.3.1.5 गौर्वाहीकः में अर्थप्रतीति के भिन्नभिन्न मत
2.4 पारिभाषिक शब्दावली
2.5 अभ्यासार्थ प्रश्न
2.6 सारांश
2.7 संदर्भ ग्रंथ सूची

2.0 उद्देश्य

इस इकाई को पढने के पश्चात् आप जान सकेगें –

- कि काव्य–लक्षण में प्रतिपादित शब्द व अर्थ का क्या स्वरूप है, शब्द व अर्थ के कितने भेद हैं।
- शब्द की कौन–सी शक्तियाँ हैं, जो अर्थ का बोध कराने में सहायक हैं।
- अभिधा एवं लक्षणा के विस्तृत निरूपण के साथ यह भी जान सकेगें कि मीमांसकों द्वारा
  प्रतिपादित तात्पर्य वृत्ति का क्या स्वरूप है एवं मम्मट ने किस प्रकार से उसका खण्डन किया है।

2.1 प्रस्तावना

प्रथम इकाई में आपने मम्मट द्वारा प्रतिपादित काव्य प्रयोजन, काव्य–हेतु, काव्य–लक्षण एवं काव्य–भेदों का निरूपण पढ़ा। **'तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृती पुनः क्वापि'** – इस काव्य–लक्षण में जिन शब्द एवं अर्थ का काव्य रूप में निरूपण किया है उनके स्वरूप एवं भेद का प्रस्तुत इकाई में विस्तार से निरूपण किया जाएगा। तीन प्रकार के शब्दों से तीन प्रकार के अर्थों की प्रतीति के लिए अभिधा, लक्षणा एवं व्यंजना रूप से मानी गयी त्रिविध शब्द शक्तियों में से अभिधा एवं लक्षणा का विस्तार से वर्णन किया जायेगा। साथ ही तात्पर्यवृत्ति का विस्तार से परिचय प्रस्तुत किया जाएगा।

2.2 शब्द एवं अर्थ का स्वरूप

प्रसंग – द्वितीय उल्लास का प्रारम्भ करते हुए मम्मट काव्य–लक्षण में आए हुए 'शब्दार्थों' का विवेचन करने के लिए क्रम से शब्द व अर्थ के स्वरूप को कहते हैं –

शब्द का स्वरूप –

(सू.5) स्याद्वाचको लाक्षणिकः शब्दोऽत्र व्यंजकस्त्रिधा।

व्याख्या – अत्र से तात्पर्य है –'यहाँ' इससे 'काव्य में' इस प्रकार का अर्थ लेना चाहिए अर्थात् काव्य में वाचक, लाक्षणिक एवं व्यंजक तीन प्रकार का शब्द होता है।

अन्य शास्त्रों में वाचक तथा लक्षक दो प्रकार के शब्द प्रायः माने जाते हैं किन्तु साहित्यशास्त्र में तीसरे व्यंजक शब्द का निरूपण भी किया गया है। कारिका में 'अत्र' पद लिखने का अभिप्राय यह ह कि यद्यपि अन्य शास्त्रों में व्यजंक शब्द नहीं माना गया परन्तु काव्य में व्यजंक शब्द के बिना कोई चमत्कार नहीं रह जाएगा। इसलिए 'यहाँ' काव्य में तीनों प्रकार के शब्द माने गए हैं –

वाचक शब्द – वाचक शब्द मुख्यार्थ का बोधक होता है । अतः सर्वप्रथम वाचक शब्द का निरूपण किया गया।

लाक्षणिक शब्द – लाक्षणिक शब्द लक्ष्यार्थ का बोधक होता है। यह सदा वाचक शब्द के ऊपर आश्रित रहता है इसलिये वाचक के पश्चात् लाक्षणिक शब्द का प्रयोग किया गया।

व्यंजक शब्द – व्यंजक शब्द व्यंग्यार्थ का बोध कराता है। यह वाचक एवं लाक्षणिक दोनों की अपेक्षा रखता है। इसलिए इन दोनों के पश्चात् व्यंजक शब्द का स्थान रखा गया है।

यहाँ विशेष ध्यातव्य है कि शब्दों का यह विभाग केवल शब्द की उपाधियों का है न कि शब्दों का। क्योंकि किसी भी शब्द के लिए ऐसा निश्चित विभाग नहीं किया जा सकता है कि अमुक शब्द केवल वाचक है या अमुक शब्द केवल लक्षक है अथवा अमुक शब्द केवल व्यंजक है। एक ही शब्द वाचक भी हो सकता है लक्षक भी हो सकता है एवं व्यंजक भी हो सकता है। एक ही व्यक्ति जिस प्रकार उपाधि भेद से कभी वाचक व कभी पाठक कहा जा सकता है उसी प्रकार एक ही शब्द उपाधि भेद से कभो वाचक कभी लाक्षणिक व कभी व्यंजक होता है।

प्रसंग – अर्थ का स्वरूप – जिस प्रकार उपाधिभेद से शब्द के तीन विभाग किए गए उसी प्रकार उपाधि भेद से अर्थ भी तीन प्रकार का होता है।

(सू.6) वाच्यादयस्तदर्थाः स्युः

व्याख्या – वाच्य (लक्ष्य तथा व्यंग्य) आदि उन (वाचक, लाक्षणिक एवं व्यंजक शब्दों) के अर्थ (भी तीन प्रकार) के होते हैं।

वाच्यादि का अर्थ है वाच्य, लक्ष्य एवं व्यङ्ग्य।

वाच्यार्थ – वह अर्थ जिसका बोध वाचक शब्द करवाता है।

लक्ष्यार्थ – वह अर्थ जिसका बोध लाक्षणिक अथवा लक्षक शब्द करवाता है।

व्यङ्ग्यार्थ – वह अर्थ जिसका बोध व्यंजक शब्द करवाता है।

प्रसंग – भारतीय साहित्य में शब्दबोध का विवेचन व्याकरण, न्याय एवं मीमांसा शास्त्र में विशेष रूप से किया गया है। व्याकरण में पद–पदार्थों का विवेचन है अतः इसे 'पद–शास्त्र' भी कहते हैं, न्याय में विशेष रूप से प्रमाणों का विवेचन है अतः न्याय को 'प्रमाणशास्त्र' कहा जाता है तथा वाक्यार्थ शैली का विशेष विवेचन मीमांसाशास्त्र में किया गया है। अतः मीमांसा को वाक्यशास्त्र कहा गया है। अर्थविवेचन में मीमांसको का भिन्न मत हैं उसी मत का प्रदर्शन यहाँ मम्मट ने किया है –

(सू.7) 'तात्पर्यार्थोऽपि केषुचित्'।।6।।

व्याख्या – 'किन्हीं कुमारिलभट्ट के अनुयायी पार्थसारथिमिश्र आदि ('अभिहितान्वयवादी' मीमांसकों) के मत में तात्पर्यार्थ (इन तीन के अतिरिक्त चौथा) भी होता हैं'।

मीमांसकों में भी वाक्यार्थ के विषय में कई मत पाये जाते हैं जिनमें 'अभिहितान्वयवाद' एवं 'अन्विताभिधानवाद' प्रमुख हैं। कुमारिलभट्ट एवं उनके अनुयायी पार्थसारथि मिश्र आदि 'अभिहितान्वयवाद' को मानते हैं इसके विपरीत प्रभाकर एवं उनके अनुयायी शालिकनाथ मिश्र आदि अन्विताभिधानवाद मानने वाले हैं।

मम्मट ने 'अभिहितान्वयवाद' के सिद्धान्त का परिचय इस प्रकार दिया है –

आकाङ्क्षा–योग्यता–सन्निधिवशात् वक्ष्यमाणस्वरूपाणां पदार्थानां समन्वये तात्पर्यार्थोऽपि विशेषवपुरपदार्थोऽपि वाक्यार्थः समुल्लसतीति 'अभिहितान्वयवादिनां' मतम्।

'जिनका स्वरूप आगे कहा जाएगा ऐसे पदार्थों का आकाङ्क्षा, योग्यता एवं सन्निधि के बल से परस्पर सम्बन्ध होने से पदों से प्रतीत होने वाला अर्थ पदार्थ न होने पर भी (तात्पर्य विषयीभूत अर्थ होने के कारण) विशेष प्रकार का तात्पर्य रूप व्याख्यार्थ प्रतीत होता है यह 'अभिहितान्वयवादियों' का मत है।

इस अनुच्छेद में प्रयुक्त आकाँक्षा, योग्यता एव सन्निधि शब्दों का अर्थ समझना आवश्यक है –

आकाँक्षा – यह श्रोता की जिज्ञासा रूप है । एक पद सुनने के पश्चात् वाक्य के अन्य पदों को सुने बिना पूरे अर्थ का ज्ञान नही होता है। अतः वाक्य के अगले पद को सुनने की इच्छा उत्पन्न होती है यही आकाँक्षा है। आकाँक्षा से रहित 'गोरश्वः पुरुषो हस्ती' आदि पदों से वाक्य नहीं बनता। अतः साकाँक्ष पदों का समुदाय ही वाक्य कहा जाता हैं।

योग्यता – योग्यता का अभिप्राय है – 'पदार्थों के परस्पर सम्बन्ध में बाधा का अभाव''। जहाँ पदार्थों के परस्पर सम्बन्ध में बाधा होती है ऐसे पद–समुदाय को आकाँक्षा होने पर भी वाक्य नहीं कहा जा सकता। जैसे **'अग्निना सिंचति'** इसका अर्थ है 'अग्नि से सींचता है', यहाँ अग्नि शब्द से जिस अर्थ का बोध होता है उसके द्वारा सिंचन कर्म सम्भव नहीं हैं। अतः यहाँ पदार्थों के परस्पर सम्बन्ध में बाधा है। अतः योग्यता न होने के कारण यह पद–समुदाय वाक्य नहीं कहा जा सकता।

सन्निधि – इसका तात्पर्य है 'एक ही वक्ता द्वारा बिना विलम्ब के पदों का उच्चारण'। यदि अलग–अलग वक्ता एक–एक पद का उच्चारण करे अथवा एक ही वक्ता पदों में काल अथवा अन्य अविवक्षित पदों का अन्तराल उपस्थित करे तो सन्निधि का अभाव होन से वह वाक्य नहीं बनता।

इस प्रकार आकाँक्षा–योग्यता एवं सन्निधि से युक्त पदसमुदाय ही वाक्य कहलाता है।

अभिहितान्वयवाद में – अर्थ बोध का क्रम इस प्रकार है–

1. पहले भिन्न–भिन्न पदों से केवल अनन्वित पदार्थ उपस्थित होते हैं अर्थात् पहले हम अलग–अलग पद के अर्थ को जानते हैं। उनके परस्पर सम्बन्ध को नहीं। जानते–जैसे 'गौश्चलति'– यहाँ हम पहले 'गौः' पद से मात्र उसके अर्थ–सास्नादिमान् पशु का बोध करते हैं तथा 'चलति' पद से 'चलने की क्रिया' रूप अर्थ का बोध करते हैं। इन दोनों पदों के परस्पर सम्बन्ध का बोध नहीं करते'।

2. पदार्थों की उपस्थिति (पद के अर्थ मात्र को जानने) के पश्चात् उन पदों की आकाँक्षा, योग्यता एवं सन्निधि के बल से उन पदार्थों के परस्पर सम्बन्ध से जिस नए अर्थ का बोध होता है, उसे जानते हैं। यह नया अर्थ (जो पदार्थों के परस्पर सम्बन्ध से ज्ञात हुआ है) तात्पर्यार्थ कहलाता है। यह तात्पर्यार्थ 'अपदार्थः' अर्थात् पदों का

अर्थ नहीं है अपितु पूरे वाक्य का अर्थ है अतः वाक्यार्थ कहलाता है। इस वाक्यार्थ का बोध अभिधा से नहीं अपितु तात्पर्यवृत्ति से होता है। पहले अभिहित (अभिधा से प्राप्त) अर्थों के बाद में अन्वय (परस्पर सम्बन्ध का) का निरूपण करने से यह सिद्धान्त 'अभिहितान्वयवाद' कहलाता है।

मीमांसकों का दूसरा सिद्धान्त अन्विताभिधानवाद है जिसके प्रवर्तक प्राभाकर मीमांसक है। इस सिद्धान्त को मम्मट ने इस प्रकार प्रस्तुत किया है –

वाच्य एवं वाक्यार्थ इति 'अन्विताभिधानवादिनः'।

अर्थात् वाक्यार्थ (पदों के द्वारा अन्वित पदार्थ की उपस्थिति रूप अर्थ) वाच्य है। इसका तात्पर्य है कि पहले 'केवल' पदार्थ अभिहित हो एवं बाद में उनका अन्वय हो – यह मानना ठीक नहीं है। बल्कि अभिधा से जिस अर्थ का बोध होता है वह पहले से अन्वित ही होता है अर्थात् जब हम पदार्थों का बोध करते हैं तब परस्पर सम्बन्धित अर्थ का ही बोध करते हैं अतः अन्वित (परस्पर सम्बन्धित) पदार्थों का ही अभिधान (अभिधा के द्वारा बोध) होने से यह मत 'अन्विताभिधानवाद' कहलाता है। इसके बोध के लिए तात्पर्य नामक शक्ति की आवश्यकता नहीं है।

2.2.1 समस्त अर्थों की व्यंजकता –

प्रसंग – मम्मट ने ऊपर वाच्य, लक्ष्य एवं व्यङ्ग्य रूप जो तीन प्रकार के अर्थ बताए ये सभी अर्थ व्यंजक होते हैं अर्थात् तीनों ही प्रकार के अर्थ व्यङ्ग्यार्थ का बोध कराने में निमित्त बनते हैं। इसी बात को मम्मट ने इस प्रकार बताया है –

(सू.8) सर्वेषां प्रायशोऽर्थानां व्यंजकत्वमपीष्यते।

व्याख्या – अर्थात् प्रायः सभी अर्थों का व्यंजकत्व भी (साहित्यशास्त्र में) माना जाता है।

वाच्य–अर्थ का व्यजंकत्व –

माए धरोवअरणं अज्ज हु णत्थित्ति सहिअं तुमए।
ता भण किं करणिज्जं एमेअ ण वासरों ठाइ।।
संस्कृतच्छाया– (मातर्गृहोपकरणमद्य खलु नास्तीति साधितं त्वया।
तद्भण किं करणीयमेवमेव न वासरः स्थायी ।।)

अर्थात् हे मातः! आज घर की सामग्री नहीं है ऐसा आपने बताया है तो अब यह बताओ क्या करना चाहिए क्योंकि दिन स्थायी नहीं हैं (अर्थात् थोड़ी देर में दिन अस्त हो जाएगा।)

यहाँ (कहने वाली वधू) स्वच्छन्द विचरण करना चाहती हैं यह बात व्यंग्य है। जो वाच्यार्थ से व्यक्त हो रहा हैं।

लक्ष्यार्थ का व्यंजकत्व :–

साहेन्ती सहि सुहअं खणे खणे दूम्मिआसि मज्झकए।
सब्भावणेहकरणिज्जसरिसअं दाव विरइवं तुमए।।
संस्कृतच्छाया– (साधयन्ती सखि सुभगं क्षणे क्षणे दूनासि मत्कृते।
सद्भावस्नेहकरणीयसदृशकं तावद् विरचितं त्वया।।)

हे सखि, उस सुन्दर के पास बार–बार आकर तुमने मेरे कारण अत्यन्त कष्ट उठाया। (मेरे प्रति) अपनी सद्भावना एवं स्नेह के अनुरूप तुम्हारे द्वारा किया गया।

यहाँ 'मेरे प्रिय के साथ रमण करके तुमने शत्रुता निभाई है' यह लक्ष्यार्थ हैं तथा उसके कामुक विषयक अपराधत्व का प्रकाशन व्यङ्ग्य है। इस व्यङ्ग्य के प्रकाशन में लक्ष्यार्थ निमित्त है।

व्यङ्ग्यार्थ का व्यंजकत्व –

उअ णिच्चलणिप्पंदा भिसिणीपत्तम्मि रेहइ बलाआ।
णिम्मलमरगअभाअणपरिट्ठिआ संखसुत्ति व्व।।

**संस्कृतच्छाया– (पश्य निश्चल निष्पन्दा विसिनीपत्रे राजते बलाका।
निर्मलमरकतभाजनपरिस्थिता शङ्खशुक्तिरिव।।)**

देखो, कमल के पत्ते पर निश्चल और बिना हिले–डुले बैठी हुई बलाका निर्मल मरकत–मणि के पात्र में रखी हुई शङ्ख–शुक्ति की तरह विदित होती है।

यहाँ बलाका के निश्चल होने से उसकी निडरता सूचित होती है एवं उससे उस स्थान का जनरहित होना व्यंजित होता है। अतः यही संकेतस्थान हैं ऐसा अर्थ व्यङ्ग्यार्थ की व्यजंना से द्योतित होता है। यहाँ संकेत स्थान रूप व्यंग्य के बोध का निमित्त स्थान का विजनत्व रूप व्यंग्य है।

वाचक का स्वरूप :–

प्रसंग – तीन प्रकार के शब्द एवं अर्थों का निरूपण करके अब मम्मट वाचक आदि तीनों प्रकार के शब्दों का स्वरूप कहते हैं –

(सू.9) साक्षात्सङ्केतितं योऽर्थमभिधत्ते स वाचकः।।7।।

व्याख्या – अर्थात् जो शब्द साक्षात् संकेतित अर्थ को (अभिधाशक्ति के द्वारा) कहता है वह 'वाचक' शब्द कहलाता है।

कारिका में 'सङ्केतितः' अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। सङ्केतित का अर्थ है संकेत द्वारा प्राप्त। लोक– व्यवहार में बिना सङ्केत–ग्रह के शब्द के अर्थ की प्रतीति नहीं होती। शब्द सङ्केत की सहायता से ही अर्थ की प्रतीति कराता है अतः जिस शब्द का जिस अर्थ में बिना व्यवधान के सङ्केत ग्रहण होता हैं वह शब्द उस अर्थ का वाचक होता है। इसे मम्मट ने इस प्रकार प्रतिपादित किया है– इहागृहीतसंकेतस्य शब्दस्यार्थ–प्रतीतेरभावात् संकेतसहाय एवं शब्दोऽर्थविशेषं प्रतिपादयति इति यस्य यत्राव्यवधानेन संकेतो गृह्यते स तस्य वाचकः।

2.2.2 संकेतग्रह के उपाय –

(1) आवापोद्वाप द्वारा, (2) व्याकरण, (3) उपमान, (4) कोश, (5) आप्तवाक्य, (6) व्यवहार, (7) वाक्यशेष, (8) विवृति अर्थात् व्याख्या (9) सिद्ध अर्थात् ज्ञात पद के सान्निध्य से संकेतग्रह होता हैं।

(1) आवापोद्वाप का तात्पर्य है – उत्तम वृद्ध के द्वारा मध्यम वृद्ध को 'गामानय' आज्ञा दी गई तदनन्तर गाय लाने पर 'गां बधान अश्वमानय' इस प्रकार की आज्ञा दी गई। मध्यम वृद्ध द्वारा उसके अनुरूप ही क्रिया की गई। इस व्यवहार में एक शब्द को हटाकर दूसरे शब्द का तथा एक अर्थ के स्थान पर दूसरे अर्थ का निवेश किया गया इसी को आवापोद्वाप कहते हैं इस समूचे व्यवहार को देखकर बालक गां, आनय, अश्वं, बधान आदि के ठीक–ठीक अर्थ समझ लेता है। यह लोक व्यवहार संकेतग्रह का प्रधान साधन है।

(2) 'भू सत्तायाम्' 'साधकतमं करणम्' आदि सूत्रों से भू धातु एवं करण आदि पदों का संकेत–ग्रह व्याकरण द्वारा होता है।

(3) 'यथा गौस्तथा गवयः' यह उपमान प्रमाण का उदाहरण है जो व्यक्ति गौ को जानता है परन्तु गवय (नीलगाय) को नहीं जानता है। उसको गौ के सदृश गवय होता है। इस वाक्य के द्वारा गवय पद का संकेत–ग्रह होता है।

(4) कोश एवं आप्तवाक्य अर्थात् पिता आदि विश्वसनीय जन के वचनों द्वारा भी संकेत–ग्रह होता हैं।

(5) व्यवहार का उदाहरण तो आवापोद्वाप ही है।

(6) विवृति अर्थात् व्याख्या भी संकेतग्रह का साधन है।

(7) वाक्यशेष एवं सिद्धपद की सन्निधि से अज्ञात अर्थ वाले पद के अर्थ का भी ज्ञान हो जाता है। इस प्रकार संकेत–ग्रह के द्वारा प्राप्त अर्थ का बोध करवाने वाला शब्द वाचक कहलाता है।

2.2.3 संकेतग्रह के विषय –

प्रसंग – संकेतग्रह किसमें होता हैं यह एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण विषय है। मम्मट ने अपना मत इस प्रकार प्रस्तुत किया है –

(सूत्र10) संकेतितश्चतुर्भेदो जात्यादिर्जातिरेव वा।

व्याख्या – अर्थात् संकेतित अर्थ जाति आदि (अर्थात् जाति, गुण, क्रिया एवं यदृच्छा) चार प्रकारों में होता है। अथवा (मीमांसकों के मत में) केवल जाति में संकेतग्रह होता है।

संकेतग्रह किसमें होता है इस प्रश्न का समाधान विवेचकों ने अनेक प्रकार से किया है। कोई जाति में संकेतग्रह मानते हैं, कोई व्यक्ति में एवं कोई जातिविशिष्ट व्यक्ति में। यद्यपि साधारण रूप से व्यवहार किसी व्यक्ति में ही होता हैं इसलिए संकेतग्रह व्यक्ति में ही होना चाहिए। किन्तु व्यक्ति में संकेत–ग्रह मानने से 'आनन्त्य' एवं 'व्यभिचार' दो प्रकार के दोषों की संभावना रहती है।

आनन्त्य दोष – यदि व्यक्ति में संकेतग्रह माना जाए तो जिस व्यक्ति विशेष में संकेत–ग्रह हुआ है उस शब्द से उस व्यक्ति विशेष की ही प्रतीति होगी अन्य व्यक्तियों की नही। अतः अलग–अलग व्यक्तियों को जानने के लिए अलग–अलग संकेत ग्रहण करना होगा। ऐसी स्थिति में व्यक्तियों के अनन्त होने से उनकी प्रतीति कराने के लिए अनन्त शक्तियाँ माननी पड़ेगी। यही 'आनन्त्य दोष' है।

व्यभिचार दोष – यदि इस आनन्त्य दोष से बचने के लिए हम यह मानें कि अन्य व्यक्तियों में संकेत–ग्रह के लिए अलग–अलग शक्तियाँ मानने की आवश्यकता नहीं हैं, दो–चार व्यक्तियों में व्यवहार से संकेत–ग्रह हो जाता हैं एवं शेष व्यक्तियों का बोध बिना संकेत–ग्रह के ही हो जाएगा तो 'व्यभिचार दोष' उत्पन्न होता है । 'व्यभिचार का अर्थ है नियम का उल्लँघन'। शब्द संकेत की सहायता से ही अर्थ की प्रतीति कराता है ऐसा नियम है। अब यदि यह माना जाए कि गो शब्द से बिना संकेत–ग्रह के ही अनेक गो–व्यक्तियों का बोध होता है तो यह नियम का उल्लँघन हो जाता है। इस प्रकार व्यभिचार दोष आता है।

जात्यादि – अतः व्यक्ति में संकेतग्रह मानना उचित नहीं। साहित्यशास्त्री इस विषय में वैयाकरणों का अनुकरण करते हैं। महाभाष्यकार ने कहा है– **चतुष्टयी शब्दानां प्रवृत्तिः जातिशब्दाः गुणशब्दाः क्रियाशब्दाः यदृच्छाशब्दाश्चतुर्धाः** – इस प्रकार जातिशब्द, गुणशब्द, क्रियाशब्द एवं यदृच्छाशब्द इस तरह से शब्दों का चार प्रकार का विभाग किया गया है। ये व्यक्ति की चार उपाधियाँ है– जाति, गुण, द्रव्य, क्रिया। यदि व्यक्ति में संकेत–ग्रह माना जाये तो 'गौः शुक्लः चलः डित्थः' इस व्यवहार से चार शब्दों से चार अलग–अलग व्यक्तियों का बोध होगा जबकि ये एक ही व्यक्ति के लिए प्रयुक्त क्रमशः जातिवाचक, गुणवाचक, क्रियावाचक एवं यदृच्छावाचक शब्द हैं। अतः व्यक्ति की इन चार उपाधियों में ही संकेत ग्रहण मानना उचित है।

उपाधि – **उपाधिः द्विविधः** – उपाधि दो प्रकार की मानी गई है (1) वस्तुधर्मः – वस्तु का यथार्थ धर्म – यह दो प्रकार का ह – **वस्तुधर्मोऽपि द्विविधः सिद्धः साध्यश्च** – वस्तु का धर्म सिद्ध एवं साध्यरूप से दो प्रकार का है।

सिद्ध–धर्म – सिद्धोऽपि द्विविधः पदार्थस्य प्राणप्रदो विशेषाधानहेतुश्च। सिद्ध–धर्म भी दो प्रकार का है– एक तो वस्तु का प्राणप्रद धर्म जिसके बिना वस्तु का अस्तित्व ही सभव नहीं है। यह प्राणप्रद धर्म है जाति। जैसे –गौ व्यक्ति में गोत्व जाति। वाक्यपदीय में कहा गया है – 'न हि गौः स्वरूपेण गौर्नाप्यगौः गोत्वाभिसम्बन्धात् गौः' अर्थात् गौः स्वरूप से न तो गौ है न अगौ, वह तो गोत्व से सम्बन्ध के कारण गौ है।

द्वितीय सिद्ध धर्म है गुण, जो अस्तित्व को प्राप्त वस्तु में विशेषता उत्पन्न करता है जिसके कारण कृष्णः गौः, शुक्लः गौः, आदि विशेष व्यवहार होता है अतः विशेषाधान का हेतु है।

साध्यः – साध्यः पूर्वापरीभूतावयवः क्रिया – साध्य का तात्पर्य है संकल्प से लेकर पूर्णता को प्राप्त सकल व्यापार। जैसे दाल आदि पकाने के संकल्प से प्रारम्भ किया गया चूल्हा जलाना आदि कार्य से लेकर दाल के पूरी तरह बनने तक का सकल व्यापार–कलाप 'पाक' क्रिया है। तात्पर्य यह है कि कार्यारम्भ में प्रवृत्ति से लेकर सिद्धि तक होने वाले सभी व्यापार उक्त क्रिया के ही अंग होते हैं।

यदृच्छा शब्द – किसी व्यक्ति विशेष के वाचक डित्थ, डवित्थ आदि शब्दों का अन्त्य बुद्धि से गृहीत होने वाला (गकार, औकार, विसर्जनीय आदि के नाम से) क्रम भेद से रहित (बिना क्रम के बुद्धि में एक साथ उपस्थित होने वाला स्फोटरूप) स्वरूप को वक्ता की अपनी स्वेच्छा द्वारा पदार्थों में उपाधिरूप से सन्निविष्ट किया जाता है।

जातिरेव वा – मीमांसकों का सिद्धान्त है कि जाति आदि चारों के स्थान पर केवल जाति में ही शब्द की शक्ति का संकेत–ग्रह होता है। अर्थात् केवल जाति को ही शब्दों का प्रवृत्तिनिमित्त मानना उचित है। अनुगत अर्थात् एकाकार प्रतीति के कारण को 'सामान्य' या जाति कहते हैं। मीमांसकों ने गुण, क्रिया एवं यदृच्छा शब्दों में भी जाति का अनुसन्धान किया है।

गुण में 'सामान्यत्व' अथवा जाति – जैसे शंख, दूध, बर्फ आदि अनेक शुक्ल पदार्थों में 'शुक्लः शुक्लः' यह अनुगत अर्थात् एकाकार प्रतीति होती है। इसका कारण 'शुक्लत्व–सामान्य' है जो शंख, दूध एवं बर्फ तीनों के 'शुक्ल' में विद्यमान है। 'जाति' का ही अपर नाम सामान्य है। इसका लक्षण है – **'अनुवृत्तिप्रत्ययहेतुः सामान्यम्'** – अर्थात् अनुगत–एकाकार प्रतीति का कारण सामान्य है, जैसे दस घट व्यक्तियों में 'घटः घटः' इस एकाकार प्रतीति का कारण 'घटत्व सामान्य' है; इसी प्रकार भिन्न–भिन्न वस्तुओं में रहने वाले शुक्ल गुण में जो शुक्लः दुग्धः, शुक्लः शंखः आदि व्यवहार होता है वह 'शुक्लत्व सामान्य' के कारण होता है।

क्रियाशब्दों में सामान्य – गुड़, तण्डुल आदि अनेक पदार्थों मे रहने वाली पाक क्रिया में 'पाकः पाकः' इस प्रकार अनुगत प्रतीति का कारण पाकत्व सामान्य है।

'यदृच्छा शब्दों में सामान्य' – इसी प्रकार भिन्न–भिन्न व्यक्तियों द्वारा उच्चरित यदृच्छा शब्द एवं प्रतिक्षण परिणमन के कारण विद्यमान अनेक अर्थों में भी सामान्य का अनुसन्धान किया जा सकता है अर्थात् बाल–वृद्ध–शुक आदि द्वारा उच्चार्यमाण डित्थ या देवदत्त आदि एक व्यक्ति वाचक शब्द–व्यक्तियों में अनेकत्व मानकर उनमें अनुगत प्रतीति कराने वाली 'डित्थत्व' आदि जाति की कल्पना की जा सकती है।

इस प्रकार मम्मट ने 'जातिरेव वा' के द्वारा मीमांसकों के मत का प्रतिपादन किया है।

उद्धरण–व्याख्या –

परमाण्वादीनान्तु गुणमध्यपाठात् पारिभाषिकं गुणत्वम् –

अर्थ – परम–अणु आदि का गुणों के बीच पाठ होने से परिभाषा से निर्धारित गुणत्व है।

आचार्य मम्मट ने व्यक्ति की चार उपाधियों में संकेत–ग्रह माना है। वस्तु का प्राणप्रद धर्म जाति एवं विशेषाधान हेतु धर्म को गुण मानना चाहिए। किन्तु वैशेषिक दर्शन में शुक्लादि

रूप के समान 'परिमाण' को भी गुण माना गया है तथा उसके दो विभाग किए गए अणुपरिमाण एवं महत् परिमाण। इनके भी पुनः दो भेद किए गए । (1) अणु परिमाण (2) परम–अणु परिमाण। इसी प्रकार महत् परिमाण के भी दो भेद किए गए – (1) महत् परिमाण (2) परम महत् परिमाण।

इनमें परम–अणु परिमाण केवल परमाणु संज्ञक पदार्थ अर्थात् पृथिव्यादि द्रव्यों के सबसे सूक्ष्म एवं अविभाज्य अवयव में रहता है। यह परम–अणु परिमाण 'परमाणु' रूप सूक्ष्मतम पदार्थ का प्राणप्रद धर्म है विशेषाधान हेतु नहीं। अतः परम–अणु–परिमाण के वाचक परमाणु–परिमाण को जाति वाचक शब्द मानना चाहिए। वैशेषिक दर्शन में उसका पाठ गुणों में किया गया है। इसका क्या कारण है इसका उत्तर ग्रन्थकार ने यह दिया है कि 'परम–अणु–परिमाण' जाति वाचक शब्द ही है। परन्तु जैसे लोक में अन्य अर्थों में प्रसिद्ध 'गुण' 'वृद्धि' आदि शब्दों का व्याकरणशास्त्र में विशेष प्रयोग होता है उसी प्रकार वैशेषिक दर्शन में परम–अणु–परिमाण की गुणों में गणना की गयी है।

उद्धरण–व्याख्या –

गुण–क्रियायदृच्छानान्तु वस्तुतः एकरूपाणामाश्रयभेदाद् इव लक्ष्यते यथैकस्य मुखस्य खड्ग–मुकुर–तैलाद्यालम्बनभेदात्।

गुण, क्रिया एवं यृदच्छा के एक रूप होने पर भी आश्रय के भेद से उनमें भेद सा दिखलाई देता है। जैसे एक ही मुख का तलवार, दर्पण तथा तेल आदि आश्रयों के भेद से (प्रतिबिम्बों में भेद सा प्रतीत होता है वह वास्तविक नहीं औपाधिक भेद है। इसी प्रकार गुण आदि में प्रतीत होने वाला भेद भी केवल औपाधिक भेद है।)

जाति में संकेत–ग्रह मानने से समस्त गौ व्यक्तियों की उपस्थिति हो जाती है। इसी प्रकार गुण–द्रव्य–क्रिया आदि में भी संकेत–ग्रह मानने पर समस्त शुक्लादि पदार्थों का बोध हो सकता है। अतः इनमें अलग–अलग संकेत–ग्रह मानने की आवश्यकता नहीं।

यह शङ्का उपस्थित होती है कि दूध–वस्त्र–हिम आदि में रहने वाला शुक्ल भिन्न प्रतीत होता है, इसी प्रकार भात पकाना, ईंटों को पकाना आदि क्रियाओं में पाक आदि क्रिया भी भिन्न प्रतीत होती है इसलिए एक जगह शुक्लादि पद से संकेत–ग्रह करने से काम नहीं चलेगा। क्योंकि जैसे भिन्न–गोव्यक्तियों में से एक व्यक्ति में संकेत–ग्रह मानने में 'आनन्त्य' एवं 'व्यभिचार' दोष आते हैं । उसी प्रकार शंख, दूधादि में आश्रित शुक्लादि गुणों एवं पाकादि क्रियाओं में से एक में संकेत–ग्रह मानने से 'आनन्त्य' एवं 'व्यभिचार' दोष आ सकते हैं।

इस शङ्का का उदाहरण ग्रन्थकार ने इस प्रकार दिया है कि शुक्लादि गुण एवं पाकादि क्रियाओं का भिन्न–भिन्न पदार्थों में जो अलग–अलग रूप दिखाई देता है उसका कारण वास्तविक भेद नहीं अपितु आलम्बन भेद है। जैसे एक ही मुख तलवार, दर्पण, तेल, पानी आदि में भिन्न–भिन्न प्रकार का दिखाई देता है यह भिन्नता आलम्बन के भेद से है वास्तविक नहीं है इसी प्रकार भिन्न–भिन्न पदार्थों में दिखाई देने वाली शुक्लादि गुणों की तथा पाकादि क्रिया की भिन्नता भी औपाधिक है वास्तविक नहीं।

नैयायिक मत – नैयायिक 'तद्वान्' अर्थात् तद् (जाति) विशिष्ट व्यक्ति में संकेत–ग्रह मानते हैं। उनके अनुसार केवल जाति या केवल व्यक्ति में संकेतग्रह मानना उचित नहीं है। केवल व्यक्ति में संकेत–ग्रह मानने से 'आनन्त्य एवं व्यभिचार दोष उत्पन्न होते हैं। केवल जाति में संकेतग्रह करने से जाति की उपस्थिति होती है। व्यक्ति का बोध नहीं होता अतः जातिविशिष्ट व्यक्ति में संकेत–ग्रह मानना उचित है।

बौद्धमत – बौद्ध 'अपोह' में संकेत–ग्रह मानते हैं। अपोह का अर्थ है 'तदभिन्न–भिन्नत्व' या अतद्–व्यावृति। इसका तात्पर्य है घट शब्द का उच्चारण करने पर तद् अर्थात् घट से भिन्न

(इतर सकल पदार्थ) से भिन्न। अर्थात् घट 'अघट' (अतद्) अर्थात् घटभिन्न सारे जगत् से भिन्न हैं।

अपोह बौद्धों का पारिभाषिक शब्द हैं – उसका अर्थ अतद्व्यावृत्ति हैं। अर्थात् (घट कहने पर घटभिन्न की व्यावृत्ति 'अपोह' है। बौद्ध दस घट व्यक्तियों में 'घटः घटः' इस अनुगत प्रतीति का कारण अपोह मानते हैं।

2.2.4 अभिधा–शक्ति –

(सूत्र11) स मुख्योऽर्थस्तत्र मुख्यो व्यापारोऽस्याभिधोच्यते।।8।।

व्याख्या – वह संकेतित अर्थ मुख्य अर्थ है उस अर्थ का बोध कराने वाले शब्द का जो मुख्य व्यापार है वह अभिधा कहलाता है।

मम्मट ने वाच्य, लक्ष्य एवं व्यङ्ग्य रूप जो तीन अर्थ बतलाए थे उनमें वाच्यार्थ को मुख्यार्थ कहा जाता है। 'मुखमिव मुख्यः' जैसे शरीर के समस्त अवयवों में मुख प्रधान है इसी प्रकार समस्त अर्थों में वाच्यार्थ प्रधान है क्योंकि वह सबसे पहले उपस्थित होने वाला एवं साक्षात् संकेत से प्राप्त अर्थ है। इस वाच्यार्थ या मुख्यार्थ का बोध करवाने वाला शब्द का व्यापार अभिधा व्यापार या अभिधा शक्ति कहलाता है। यह शब्द की स्वाभाविक शक्ति है।

2.3 लक्षणा–शक्ति

प्रसंग – लक्ष्यार्थ का बोध करवाने वाली शब्द की जो शक्ति है लक्षणा कहलाती है। मम्मट ने इसका लक्षण इस प्रकार दिया है–

(सूत्र 12) मुख्यार्थबाधे तद्योगे रूढितोऽथ प्रयोजनात्।
अन्योऽर्थो लक्ष्यते यत् सा लक्षणारोपिता क्रिया।।9।।

व्याख्या – मुख्यार्थ का बाध होने पर उससे सम्बद्ध जिस अन्य अर्थ की रूढि अथवा प्रयोजन विशेष से प्रतीति होती है वह आरोपित व्यापार लक्षणा कहलाता है।

लक्षणा के तीन महत्त्वपूर्ण पक्ष है –

मुख्यार्थ बाध – जब कहे गए अर्थ में अन्वय अथवा तात्पर्य की उपपत्ति नहीं होती है तव वहाँ मुढचार्यबाध होता है । इस प्रकार मुख्यार्थ बाध दो प्रकार से होता है– (1) अन्वयानुपपत्ति – जैसे – 'गङ्गायां घोषः' इस उदाहरण में गङ्गा का अर्थ जल की धारा एवं घोष का अर्थ आभीरपल्ली घोषियों की बस्ती है। गङ्गा की धारा के ऊपर घोषियों की बस्ती नहीं रह सकती इसलिए यहाँ अन्वय के अनुपपन्न हाने के कारण गङ्गा पद से लक्षणा से तट रूप अर्थ का बोधक होता है। नागेशभट्ट ने (2) तात्पर्यानुपपत्ति को लक्षणा का कारण माना है।

तद्योगे – तद् से तात्पर्य है मुख्यार्थ। उस मुख्यार्थ के साथ सम्बद्ध अर्थ की ही प्रतीति लक्षणा का कारण माना है। जैसे – 'गङ्गायां घोषः' में मुख्यार्थ (जल प्रवाह में घोष) की अनुपपत्ति होने से गङ्गा के साथ सामीप्य सम्बन्ध से सम्बन्धित तट रूप अर्थ का बोध लक्षणा से होता है। इसी प्रकार अन्य सम्बन्धों को भी जानना चाहिए।

रूढितोऽथ प्रयोजनात् – मुख्यार्थ बाध होने पर उससे सम्बन्धित अन्य अर्थ की प्रतीति के दो हेतु माने गए हैं – (1) रूढि (2) प्रयोजन

रूढि लक्षणा – रूढि का तात्पर्य है किसी शब्द का किसी अर्थ विशेष में प्रसिद्ध होना – जैसे 'कर्मणि कुशलः' कुशल का अर्थ है 'कुशान् लाति सः' अर्थात् 'कुशों को लाने वाला' ऐसा अर्थ करने पर 'कर्मणि कुशलः' में अन्वय की उपपत्ति नहीं होती अतः मुख्यार्थ बाध होता है। कुशों को लाने में अत्यन्त विचक्षणता की आवश्यकता होती है अतः कुशल शब्द लक्षणा द्वारा सादृश्य सम्बन्ध से दक्षता या निपुणता का बोध कराता है। कुशल शब्द निपुणता अर्थ में रूढ हो गया है अतः यहाँ रूढि से लक्षणा हुई।

प्रयोजनवती लक्षणा – 'गङ्गातटे घोषः' ऐसा कहने पर उस गाँव की शीतलता एवं पवित्रता का वैसा बोध नहीं होता जैसा 'गङ्गायां घोषः' कहने पर होता है। इस गाँव की शीतलता एवं पावनता गङ्गा सदृश ही है एवं अन्य गाँवों से अतिशय है –इस प्रयोजन का बोध करवाने हेतु जिस लक्षणा की प्रवृत्ति होती है वह प्रयोजनवती लक्षणा हैं।

2.3.1 लक्षणा के भेद

2.3.1.1 उपादान–लक्षणा एवं लक्षण–लक्षणा

प्रसंग – लक्षणा शब्दशक्ति के भेदों का विवेचन करते हुए मम्मट सर्वप्रथम उसके दो भेद प्रस्तुत करते हैं – उपादानलक्षणा एवं लक्षण–लक्षणा। इन दोनों का लक्षण प्रस्तुत कारिका में इस प्रकार किया गया है –

(सू.13) स्वसिद्धये पराक्षेपः परार्थं स्वसमर्पणम्।
उपादानं लक्षणं चेत्युक्ता शुद्धैव सा द्विधा।।10।।

व्याख्या – उपादान – स्वसिद्धये पराक्षेपः – अर्थात् (वाक्य में प्रयुक्त किसी पद का) अपने (स्व) अन्वय की सिद्धि (सिद्धये) के लिए (परापेक्षः) अन्य अर्थ का आक्षेप (ग्रहण) करना 'उपादान' कहलाता हैं।

लक्षण – (वाक्य में प्रयुक्त किसी पद का) परार्थं अर्थात् पर के हेतु (दूसरे की अन्वय सिद्धि के लिए) स्व का समर्पण (अपने मुख्य अर्थ का परित्याग) 'लक्षण' कहलाता है।

अर्थात् जब वाक्य में प्रयुक्त कोई पद अपने अन्वय की सिद्धि के लिए अन्य अर्थ को ग्रहण करता है तो अन्य का अपने समीप आदान (उपादान) करने से यह उपादान लक्षणा है परन्तु जब कोई पद पर के अन्वय की सिद्धि के लिए अपने मुख्य अर्थ को छोड़ देता है तब वह उसका उपलक्षण मात्र होने से (उप) लक्षणलक्षणा कहलाती है। लक्षणा के ये दोनों भेद शुद्धा के ही हैं।

उपादान लक्षणा के उदाहरण –

कुन्ताः प्रविशन्ति, यष्टयः प्रविशन्ति–

इन दोनों उदाहरणों में कुन्त एवं यष्टि को प्रवेशन क्रिया के कर्ता के रूप में दिखाया गया है। प्रवेशन क्रिया बिना चैतन्य के संभव नहीं हैं। अतः अर्थ की अनुपपत्ति होती है एवं कुन्त तथा यष्टियाँ संयोग सम्बन्ध से सम्बन्धित पुरुषों का अपने प्रवेश की सिद्धि हेतु आक्षेप करती है । अतः अपने अन्वय की सिद्धि के लिए पर (स्वसंयोगी पुरूष) का आक्षेप (आदान) करने के कारण उपादान लक्षणा है। कुन्तों की तीक्ष्णता एवं यष्टियों की बहुलता का बोध कराना प्रयोजन है। इस प्रकार यहाँ प्रयोजनवती उपादान लक्षणा है।

मुकुलभट्ट एक मीमांसक है उन्होंन उपादान लक्षणा का एक अन्य उदाहरण प्रस्तुत किया है– **गौरनुबन्ध्यः** – इसकी व्याख्या इस प्रकार की जाती है 'गौ का आलम्भन करना चाहिए' इस वाक्य में वेदोक्त आलम्भन गौ का सम्भव नहीं क्योंकि मीमांसक गौ पद से गोत्व जाति में संकेत ग्रहण करते हैं। अतः जाति तो नित्य है, उसका आलम्भन कैसे सम्भव है। अतः मुख्यार्थ की उपपत्ति न होने से जाति के द्वारा व्यक्ति का आक्षेप (पर का आक्षेप) होने से यह उपादान लक्षणा का उदाहरण है।

इसके लिए मुकुलभट्ट ने युक्ति दी है – **'विशेष्यं नाभिधा गच्छेत् क्षीणशक्तिः विशेषणे'** इति न्यायात् –अर्थात् अभिधा शब्दशक्ति विशेषण (गोत्व जाति) में ही क्षीण हो गयी, अतः विशेष्य (गौ व्यक्ति) का बोध नहीं करा सकती। इस युक्ति से 'गौः' से गौ व्यक्ति का बोध करने में लक्षणा आवश्यक है।

मम्मटकृत खण्डन – मम्मट ने उपादान लक्षणा के इस उदाहरण का खण्डन किया है। उनके मत मे लक्षणा प्रवृत्ति हेतु रूढ़ि या प्रयोजन में से किसी एक का होना आवश्यक है। किन्तु मुकुलभट्ट द्वारा प्रस्तुत इस उदाहरण में दोनों में से किसी का भी ग्रहण नहीं है। अतः

यहाँ लक्षणा मानना उचित नहीं है। व्यक्ति एवं जाति में अविनाभाव सम्बन्ध है क्योंकि जाति व्यक्ति के बिना नहीं रहती। अतः जाति के द्वारा व्यक्ति का स्वतः आक्षेप हो जाता है इसके लिए लक्षणा शब्दशक्ति की आवश्यकता नहीं है जैसे 'क्रियताम्' से कर्ता पद, 'कुरु' से कर्म पद तथा 'प्रविश' से 'गृहम्' एवं 'पिण्डीम्' से 'भक्षय' का स्वतः ग्रहण हो जाता हैं उसी प्रकार जाति से व्यक्ति का ग्रहण हो जाता है।

पीनो देवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते – मुकुलभट्ट ने इसे वाक्य लक्षणा का उदाहरण दिया है। किन्तु मम्मट ने इस उदाहरण को अर्थापत्ति का विषय मानते हुए लक्षणा का खण्डन किया है। मम्मट के अनुसार 'मोटा देवदत्त दिन में नहीं खाता है' इस वाक्य में भोजन के बिना पीनत्व संभव न होने से रात्रि भोजन रूप अर्थ की आपत्ति होने से यह लक्षणा का नहीं अपितु अर्थापत्ति का विषय है। यहाँ 'देवदत्त मोटा हैं' यह अनुपपद्यमान अर्थ है एवं रात्रिभोजन उसका उपपादकीभूत अर्थ है – अर्थापत्ति का लक्षण भी यही है– **"अनुपपद्यमानार्थदर्शनात् तदुपपादकीभूतार्थान्तरप्रकल्पनम् अर्थापत्तिः'** अर्थात् अर्थ के उपपद्यमान न होने पर उसके उपपादकीभूत अर्थ की कल्पना अर्थापत्ति है। प्रस्तुत उदाहरण में पीनत्व रूप अर्थ भोजन के बिना संभव नहीं है। अतः अनुपपद्यमान होने से उस (पीनत्व) के उपपादक रूप रात्रि भोजन की कल्पना है अतः यह अर्थापत्ति का ही विषय है यहाँ लक्षणा मानना उचित नहीं है।

लक्षण–लक्षणा का उदाहरण – मम्मट ने लक्षण लक्षणा का उदाहरण ' गङ्गायां घोषः' दिया है। गङ्गा के मुख्य (जलप्रवाह रूप) अर्थ में घोष रूप अर्थ की उपपत्ति न होने से यहाँ मुख्यार्थ बाध है तथा गङगा शब्द सामीप्य सम्बन्ध से सम्बन्धित तट रूप अर्थ का लक्षणा द्वारा बोध कराता है। शैत्य एवं पावनत्व की अतिशयता का बोध कराना प्रयोजन है।

यहाँ गङ्गा शब्द पर के अन्वय की सिद्धि के लिए अपने मुख्य (जलप्रवाह रूप) अर्थ का त्याग (स्वसमर्पण) करके तट रूप अर्थ का बोध कराता है अतः यह लक्षण– लक्षणा का उदाहरण हैं।

2.3.1.2 शुद्धा–लक्षणा –

प्रसंग – कारिका में कथित 'शुद्धैव सा द्विघा' कहकर उपादान एवं लक्षणलक्षणा को मम्मट ने शुद्धा–लक्षणा कहा है। इसे स्पष्ट करते हुए मम्मट कहते हैं –

उभयरूपा चेयं शुद्धा उपचारेणामिश्रितत्वात्।

व्याख्या – अर्थात् उपरोक्त दोनों लक्षणा शुद्धा है उपचार से मिश्रित न होने के कारण।

मम्मट ने उपचार को शुद्धा एवं गौणी का भेदक धर्म माना है उपचार से अमिश्रित शुद्धा, उपचार से मिश्रित गौणी। उपचार का लक्षण है – **उपचारो हि नाम अत्यन्तं विशकलितयोः पदार्थयोः सादृश्यातिशयमहिम्ना भेदप्रतीतिस्थगनमात्रम्**–अर्थात् दो अत्यन्त भिन्न पदार्थों में सादृश्य की अतिशयता दिखाने हेतु भेद की प्रतीति का न होना उपचार कहलाता है। जैसे **'सिंहो माणवकः'** यहाँ सिंह एवं माणवक (बच्चा) में अत्यन्त भिन्नता है किन्तु बालक में शौर्य, क्रौर्य आदि के सादृश्यातिशय के कारण 'सिंहो माणवकः' इस प्रकार का प्रयोग कर दिया जाता है यह प्रयोग उपचार मूलक होने से गौण प्रयोग है जहाँ भी इस प्रकार का प्रयोग होता है वह गौणी लक्षणा का उदाहरण है। सादृश्यसम्बन्ध से इतर सामीप्यादि सम्बन्ध जब लक्षणा का प्रयोजक होता है तो वह शुद्धा लक्षणा कहलाती है।

2.3.1.3 मुकुलभट्ट के ताटस्थ्य सिद्धान्त का खण्डन

मम्मट उपचार को शुद्धा एवं गौणी का भेदक धर्म मानते हैं किन्तु मुकुलभट्ट ऐसा नहीं मानते उनके मत में उपचार का मिश्रण शुद्धा में भी होता है तथा गौणी में भी। इसलिए उन्होंने शुद्धापचार एवं गौणोपचार भेद से उपचारमिश्रा लक्षणा के दो भेद करके फिर उनके

सारोपा व साध्यवसाना भेद किए है तथा शुद्धा लक्षणा का उपादान एवं लक्षण लक्षणा रूप से दो भेद मानकर कुल छः प्रकार की लक्षणा मानी है।

मुकुलभट्ट ने 'ताटस्थ्य' को शुद्धा और गौणी का भदक धर्म माना हैं। ताटस्थ्य का तात्पर्य है लक्ष्यार्थ एवं लक्षकार्थ का भेद। उनके अनुसार गौणी लक्षणा में लक्ष्यार्थ एवं लक्षकार्थ में सादृश्यातिशय के कारण अभेद प्रतीत होता है। जैसे 'गौर्वाहीकः' में गौ एवं वाहीक अर्थों का अभेद प्रतीत होता है किन्तु शुद्धा में लक्ष्यार्थ एवं लक्षकार्थ में भेद या 'ताटस्थ्य' होता है। जैसे– 'कुन्ताः प्रविशन्ति', ' गङ्गायां घोषः' इन दोनों उदाहरणों में लक्ष्यार्थ व लक्षकार्थ का अभेद नहीं अपितु भेदरूप ताटस्थ्य की प्रतीति है। इसलिए 'तटस्थे लक्षणा शुद्धा' शुद्धा लक्षणा तटस्थ में होती है ऐसा मुकुलभट्ट का मानना है।

मम्मट ने इसका खण्डन प्रस्तुत किया है 'अनयोर्लक्ष्यस्य लक्षकस्य च न भेदरूपं ताटस्थम्' अर्थात् इन दोनों उदाहरणों (कुन्ताः प्रविशन्ति, गङ्गायां घोषः) में लक्ष्यार्थ एवं लक्षकार्थ में भेद रूप ताटस्थ्य नहीं है। क्योंकि तट आदि लक्ष्यार्थ है तथा गङ्गा आदि शब्द लक्षका है। इन लक्ष्यार्थ (तट) एवं लक्षका (जल प्रवाह) में अभेद प्रतीति होने पर ही शैत्य एवं पावनत्व धर्मों की अतिशयता का प्रयोजन सिद्ध होता है। यदि तट एवं जलप्रवाह (लक्ष्यार्थ एवं लक्षकार्थ) में भेद प्रतीति मानेंगे तो गङ्गा का सम्बन्ध मात्र प्रतीत होने पर 'गङ्गातटे घोषः' एवं ' गङ्गायां घोषः' इन दोनों में क्या अन्तर रहेगा क्योंकि गङ्गातटे घोषः का मुख्य अर्थ 'गङ्गा के तट पर घोष है' में गङ्गा का सम्बन्ध मात्र प्रतीत होता है तथा गङ्गाया घोषः में गङ्गा (जलप्रवाह रूप अर्थ) एवं तट (लक्ष्यार्थ) में भेद प्रतोति मानने पर गङ्गा के सम्बन्धमात्र की प्रतीति होती है अतः ऐसा अर्थ मानने पर दोनों वाक्यों के अर्थ में कोई अन्तर ही नहीं रहेगा। ऐसी स्थिति में लक्षणा एवं अभिधा से प्राप्त अर्थों में क्या भेद रहेगा। अतः ताटस्थ्य को शुद्धा और गौणी का भेदक मानना उचित नहीं हैं।

2.3.1.4 शुद्धा एवं गौणी लक्षणा के भेद –

सारोपा –

(सू.14) सारोपान्या तु यत्रोक्तौ विषयी विषयस्तथा।

व्याख्या – अर्थात् जहाँ आरोप्यमाण (उपमान) तथा आरोपविषय (उपमेय) दोनों शब्दशः कथित होते हैं वह सारोपा लक्षणा होती है।

आरोप्यमाण एवं आरोपविषय अर्थात् उपमान एवं उपमेय दोनों अपने स्वरूप का अपह्नव किए बिना (शब्दतः) सामानाधिकरण्य से निर्दिष्ट किए जाते हैं वह सारोपा लक्षणा होती है।

जैसे– 'गौर्वाहीकः' यहाँ गौ आरोप्यमाण (उपमान) है तथा वाहीक आरोपविषय (उपमेय) है दोनों का स्वरूप अपह्नव किए बिना सामानाधिकरण्य से निर्दिष्ट है अतः यह सारोपा लक्षणा का उदाहरण है तथा सादृश्य सम्बन्ध होने से गौणी लक्षणा है।

(सू.15) साध्यवसाना –

विषय्यन्तःकृतेऽन्यस्मिन् सा स्यात् साध्यवसानिका।।11।।

व्याख्या – विषयी अर्थात् आरोप्यमाण (उपमान) के द्वारा अन्य अर्थात् आरोप के विषय (उपमेय) के निगीर्ण कर लिए जाने पर साध्यवसाना लक्षणा होती है।

यहाँ उपमान के द्वारा उपमेय का निरीक्षण कर लिया जाता है। गौ एवं वाहीक दोनों का अलग–अलग शब्दशः ग्रहण न करके वाहीक के लिए 'गौरयम्' अथवा 'गौर्जल्पति' इस प्रकार का प्रयोग किया जाता है तो वह साध्यवसाना लक्षणा बन जाती है सादृश्य सम्बन्ध के कारण प्रवृत्त हुई यह भी गौणी लक्षणा है।

इस प्रकार हमने देखा कि गौणी एवं शुद्धा दोनों प्रकार की लक्षणा के सारोपा एवं साध्यवसाना रूप दो–दो भेद बनते हैं –

**(सू 16) भेदाविमौ च सादृश्यात् सम्बन्धान्तरतस्तथा।
गौणौ शुद्धौ च विज्ञेयौ।**

व्याख्या – इमौ – ये (सारोपा व साध्यवसाना रूप) दोनों भेद सादृश्य से तथा (सादृश्य को छोड़कर) अन्य सम्बन्ध से होने पर क्रमशः गौण एवं शुद्ध (लक्षणा) के भेद समझने चाहिए।

गौणी सारोपा एवं साध्यवसाना के उदाहरण –

सारोपा का 'गौर्वाहीकः' एवं साध्यवसाना का 'गौरयम्' उदाहरण सादृश्यमूलक होने से गौणी के उदाहरण ही हैं। इसी प्रकार गौर्जल्पति भी साध्यवसाना गौणी का ही उदाहरण हैं। गौणी साध्यवसाना के इस उदाहरण में लक्षणा वृत्ति से लक्ष्य अर्थ क्या प्रतीत होता हैं इस विषय में मम्मट ने तीन पक्षों को प्रस्तुत किया है–

2.3.1.5 'गौर्वाहीकः' में अर्थप्रतीति के भिन्न भिन्न मत

उद्धरण–व्याख्या –

(1) अत्र हि स्वार्थसहचारिणो गुणा जाड्यमान्द्यादयो लक्ष्यमाणा अपि गोशब्दस्य परार्थाभिधाने प्रवृत्तिनिमित्तत्वमुपयान्ति।

अत्र (अर्थात् गौरयम् आदि गौणी साध्यवसाना के उदाहरणों के गौ शब्द के) अपने अर्थ के सहचारी जड़ता, मन्दता आदि गुण लक्षणा द्वारा बोधित होकर भी गौ शब्द के द्वारा (वाहीक रूप) दूसरे अर्थ को अभिधा से बोधित करने में प्रवृत्ति निमित्त बन जाते हैं ऐसा कुछ आचार्य मानते हैं।

इस मत का तात्पर्य है कि सर्वप्रथम अभिधा शक्ति द्वारा गो–शब्द से गो– अर्थ का बोध होता है। तदनन्तर लक्षणा के द्वारा गो–अर्थ के सहचारिगुण जड़ता व मन्दता का बोध होता है इसका तात्पर्य यह है कि गोगत जड़ता–मन्दता यहाँ लक्ष्यार्थ है। ये लक्ष्यार्थ रूप जड़ता–मन्दता गो–शब्द से वाहीक अर्थ का अभिधा के द्वारा बोध कराने में प्रवृत्ति निमित्त बनते हैं। अर्थात् वाहीक अर्थ का बोध अभिधा से होता हैं तथा गो–गत जड़ता–मन्दता इस अभिधा की प्रवृत्ति के निमित्त बनते हैं। इस प्रकार वाहीक यहाँ पर वाच्यार्थ ही प्रतीत होता है।

उद्धरण–व्याख्या –

(2) स्वार्थसहचारिगुणाभेदेन परार्थगता गुणा एव लक्ष्यन्ते, न परार्थोऽभिधीयते–

गोशब्द के अपने सहचारी (जड़ता एवं मन्दता) गुणों से अभिन्न रूप में वाहीकगत गुणों का लक्षणा से बोध होता है।

अर्थात् वाहीकगत गुण (जड़ता, मन्दतादि) लक्ष्यार्थ हैं। (परन्तु वे वाहीक अर्थ के अभिधया बोधन में प्रवृत्ति निमित्त नहीं होते हैं।) यह अन्य मानते हैं।

इस मत का तात्पर्य है कि अभिधा से गो शब्द से गो–अर्थ का बोध होने के पश्चात् गो–गत जड़ता–मन्दता आदि गुणों से अभिन्न (सदृश) होने के कारण लक्षणा द्वारा वाहीकगत जड़ता–मन्दता का बोध होता है। तथा गुण चूँकि गुणी के बिना नहीं रहते अतः अविनाभाव सम्बन्ध से गुणी–वाहीक का बोध हो जाता है। इस प्रकार वाहीकगत जड़ता–मन्दता यहाँ लक्ष्यार्थ है।

उद्धरण–व्याख्या –

(3) साधारणगुणाश्रयत्वेन परार्थ एव लक्ष्यत इत्यपरे।

अर्थात् (गौ और वाहीक दोनों के) समान गुणों के आश्रय रूप से वाहीक अर्थ ही लक्षणा द्वारा उपस्थित होता है यह अन्य लोग मानते हैं।

इस मत के अनुसार लक्षणा के द्वारा न तो गोगत गुणों का एवं न ही वाहीकगत गुणों का बोध होता है अपितु गौ एवं वाहीक दोनों में रहने वाले समान गुणों के आश्रयभूत वाहीक अर्थ का ही लक्षणा से बोध होता हैं इस प्रकार वाहीकार्थ ही लक्ष्यार्थ है।

मम्मट के कुछ टीकाकार 'अपरे' का 'न परे इति अपरे' इस प्रकार व्याख्या करते हुए अपरे का **'स्वीयाः'** अर्थात् मम्मट के अपने लोगों का मत मानते हैं। किन्तु मम्मट के ग्रन्थ से इस प्रकार का कोई संकेत प्राप्त नहीं होता। इस प्रकार तीनों मत में लक्ष्यार्थ भिन्न है–

प्रथम मत में गोगत जड़ता–मन्दता लक्ष्यार्थ है।
द्वितीय मत में वाहीकगत जड़ता–मन्दता लक्ष्यार्थ है।
तृतीय मत में वाहीक लक्ष्यार्थ है।

शुद्धा सारोपा–साध्यवसाना लक्षणा के उदाहरण– मम्मट ने इसके दो उदाहरण इस प्रकार प्रस्तुत किए हैं–

'आयुर्घृतम्' 'आयुरेवेदम्–इत्यादौ च सादृश्यान्यत् कार्यकारणभावादिसम्बन्धान्तरम्। एवमादौ च कार्यकारणभावादिलक्षणपूर्वे आरोपाध्यवसाने।

'घी आयु है' अथवा 'यह आयु ही है' इत्यादि में सादृश्य से भिन्न कार्यकारण भाव सम्बन्ध है। इस प्रकार के उदाहरणों में कार्यकारणभाव सम्बन्ध पूर्वक आरोप एवं अध्यवसान होते हैं।

आयुर्घृतम् – यहाँ 'घी आयु है' वाक्य में आरोप्यमाण आयु एवं आरोपविषय घी है' दोनों अनपह्नुत स्वरूप है अर्थात् शब्दशः दोनों का ग्रहण किया गया है। यहाँ घी आयु का कारण है अतः दोनों के मध्य कार्यकारणभाव सम्बन्ध है अतः यह शद्धा लक्षणा का उदाहरण है तथा आरोप विषय एवं आरोप्यमाण दोनों का शब्दशः ग्रहण होने से सारोपा है।

'आयुरेवेदम्' अथवा 'आयुः पिबामि' साध्यवसाना के उदाहरण हैं क्योंकि यहाँ विषयी (आरोप्यमाण) द्वारा विषय (आरोपविषय) का निगीरण किया गया है।

गाणी लक्षणा के दोनों भेदों में 'गौर्वाहीकः' गौरयम्' दोनों भेदों में भेद होने पर भी तादात्म्य प्रतीति (लक्षणा से) होती है। (उन दोनो के) सर्वथा अभेद का बोध कराना (गौणी लक्षणा का) प्रयोजन है।

शुद्धा लक्षणा के 'आयुर्घृतम्' व 'आयुरेवेदं' दोनों भेदों में कार्य–कारणभाव सम्बन्ध है यहाँ 'घी' की अन्य आयुष्य के कारणों से विलक्षणता एवं नियम से (अवश्य ही आयु का) कारणता बताना प्रयोजन है।

इसके अतिरिक्त अन्य सम्बन्ध भी शुद्धा लक्षणा के प्रवर्तक है–तादर्थ्य (उसके लिए होने) से उपचार (अन्य के लिए अन्य के वाचक शब्द का प्रयोग) होता है जैसे– इन्द्र के पूजन के हेतु स्थापित स्थूणा तादर्थ्य सम्बन्ध से 'इन्द्र' ही कहलाती है 'इन्द्रार्था स्थूणा' इन्द्रः– इति। स्वस्वामिभाव सम्बन्ध – स्व–स्वामिभाव सम्बन्ध से अन्य शब्द का अन्यत्र प्रयोग होता है – जैसे राजकीयः पुरुषः 'राजा'। राजा के (विशेष कृपापात्र) पुरुष को 'राजा' कह दिया जाता है। अवयवावयविभाव सम्बन्ध – जैसे अग्रहस्त के लिए 'हस्त' शब्द का प्रयोग होता है।

इसी प्रकार तात्कर्म्य (उस कर्म को करने के कारण) से भी 'अतक्षा तक्षा' इस प्रकार का औपचारिक प्रयोग होता है। ब्राह्मण है किन्तु बढ़ई का कार्य करता है अतः तात्कर्म्य से तक्षा न होने पर भी उसे तक्षा कह दिया जाता है।

(सूत्र 17) लक्षणा तेन षड्विधा।।12।।

इस प्रकार मम्मट ने लक्षणा के छः भेदों का प्रतिपादन किया है। मम्मट ने लक्षणा निरूपण में मुकुलभट्ट की 'अभिधावृत्तिमातृका' ग्रन्थ का प्रचुर उपयोग किया है। इसकी पुष्टि 'लक्षणा तेन षड्विधा' इस पंक्ति से होती हे। लक्षणा का यह छः' प्रकार का विभाग मूलतः मुकुलभट्ट ने किया है तथा मम्मट ने उनका अनुकरण किया है।

2.4 पारिभाषिक शब्दावली

1.	**वाचक**	–	साक्षात्संकेतित अर्थ का बोध कराने वाला शब्द वाचक कहलाता ह।
2.	**लाक्षणिक**	–	लक्षणा का आश्रयभूत शब्द लाक्षणिक कहलाता है।
3.	**व्यंजक**	–	व्यंजना व्यापार से युक्त शब्द व्यंजक कहलाता है।
4.	**व्यभिचार**	–	व्यभिचार का तात्पर्य है नियम का उल्लंघन।
5.	**जाति**	–	वस्तु का प्राणप्रद धर्म जाति है जिसके कारण वस्तु अस्तित्व में आती है।
6.	**गुण**	–	सजातीयों का भेदक धर्म (विशेषाधान हेतु) गुण कहलाता है। जैसे–शुक्ला गौः में शुक्ल गुण कपिलादिगौ से अलग करता है।
7.	**क्रिया**	–	पूर्वापरीभूतावयवः–अर्थात् संकल्प से प्रारम्भ कर कार्य पूर्ण होने तक का सारा व्यापार–कलाप क्रिया कहलाता है।
8.	**अपोह**	–	अतद्व्यावृत्ति–अर्थात् तद् से भिन्न की व्यावृत्ति अपोह कहलाती है अथवा तद्भिन्नभिन्नत्व अपोह है।

2.5 अभ्यासार्थ प्रश्न

बोध–प्रश्न –

1. मम्मट के अनुसार शब्द कितने प्रकार के हैं ?
   (अ) दो   (ब) पांच
   (स) तीन   (द) चार   ( )
2. अभिधा शब्दशक्ति किसका बोध कराती है ?
   (अ) अभिधा   (ब) लक्ष्यार्थ
   (स) व्यग्ङ्यार्थ   (द) वाच्यार्थ   ( )
3. लक्षणा से किस अर्थ का बोध होता है ?
   (अ) वाच्यार्थ   (ब) लक्ष्यार्थ
   (स) तात्पर्यार्थ   (द) व्यग्ङ्यार्थ   ( )
4. मीमांसकों ने संकेतग्रह का विषय किसे माना है ?
   (अ) जाति   (ब) गुण
   (स) क्रिया   (द) व्यक्ति   ( )
5. बौद्ध संकेतग्रह मानते हैं –
   (अ) जाति में   (ब) व्यक्ति में
   (स) अपोह में   (द) गुण में   ( )
6. आरोपिता शब्दशक्ति है –
   (अ) अभिधा   (ब) लक्षणा
   (स) व्यंजना   (द) तात्पर्यवृत्ति   ( )
7. 'आयुर्घृतम्' उदाहरण है –
   (अ) सारोपा गौणी   (ब) साध्यवसाना गौणी
   (स) शुद्धा सारोपा   (द) शुद्धा साध्यवसाना   ( )
8. मुकुलभट्ट ने उपादान लक्षणा का उदाहरण दिया –
   (अ) कुन्ताः प्रविशन्ति   (ब) गङ्गायां घोषः
   (स) कर्मणि कुशलः   (द) गौरनुबन्ध्यः   ( )
9. लक्षणा शब्दशक्ति का लक्षण लिखकर उसकी व्याख्या कीजिए।
10. 'गौर्वाहीकः' में लक्षणा की सिद्धि कीजिए तथा अर्थ प्रतीति के विविध मतों का विवेचन किजिए।
11. सारोपा एवं साध्यवसाना के भेद को स्पष्ट कीजिए।
12. व्यक्ति में संकेतग्रह मानने में क्या दोष हैं ?

13. सर्वेषां प्रायशोऽर्थानां व्यंजकत्वमपीष्यते' कारिकांश की सोदाहरण व्याख्या कीजिए।

बोध–प्रश्नों के उत्तर –

उ. 1. स

उ. 2. द

उ. 3. ब

उ. 4. अ

उ. 5. स

उ. 6. ब

उ. 7. स

उ. 8. द

उ. 9. देखिए इकाई 2.3

उ. 10. देखिए इकाई 2.3.1.4 एवं 2.3.1.5

उ. 11. देखिए इकाइ 2.3.1.4

उ. 12. देखिए इकाई 2.2.3

उ. 13. देखिए इकाई 2.2.1

2.6 सारांश

प्रस्तुत इकाई में आपने त्रिविध शब्द एवं त्रिविध अर्थ का विस्तार से अध्ययन किया। इसी सन्दर्भ में तात्पर्यार्थ का विवेचन भी किया गया। शब्द की त्रिविध शक्तियों में से अभिधा एवं लक्षणा का विस्तार से अध्ययन किया। संकेतग्रह व्यक्ति की जात्यादि चार उपाधियों में होता है या केवल जाति में इस विषय पर मीमांसकों, बौद्धों एवं नैयायिकों के मत को जाना तथा लक्षणा के षड्विध भेदों का उदाहरण सहित वर्णन पढ़ा।

2.7 संदर्भ ग्रंथ सूची

1. काव्यप्रकाशः, आचार्य विश्वेश्वर सिद्धान्त शिरोमणि, ज्ञानमण्डल प्रकाशन, वाराणसी, 1960.
2. काव्यप्रकाशः, डॉ. श्रीनिवास शास्त्री. हिन्दी भवन, इलाहाबाद, 1969.
3. काव्यप्रकाशः, बालबोधिनीसहित, भण्डारकर ओरिएंटल रिसर्च इंस्टीट्यूट, पुणे,1952.
4. संस्कृत–काव्यशास्त्र एवं काव्यपरम्परा, प्रो. राधावल्लभ त्रिपाठी, प्रतिभा प्रकाशन, नई दिल्ली, 2004.

इकाई–3

काव्यप्रकाश–द्वितीय उल्लास (कारिका संख्या 13 से 20) एवं तृतीय उल्लास

इकाई की रूपरेखा

3.0 उद्देश्य
3.1 प्रस्तावना
3.2 द्वितीय उल्लास – व्यंजना (कारिका 13 से 20 पर्यन्त)
    3.2.1 लक्षणामूला व्यंजना
        3.2.1.1 अभिधा–प्रयोजन प्रतीति में असमर्थ
        3.2.1.2 लक्षणा–प्रयोजन प्रतीति में असमर्थ
        3.2.1.3 विशिष्ट में लक्षण मानना असंगत
3.3 अभिधामूला व्यंजना
3.4 तृतीय उल्लास – आर्थी व्यंजना (कारिका 21 से 23 पर्यन्त)
3.5 पारिभाषिक शब्दावली
3.6 अभ्यासार्थ प्रश्न
3.7 सारांश
3.8 संदर्भ ग्रंथ सूची

3.0 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई पढ़कर आप –

- व्यंग्यार्थ को भेदों सहित जान सकेंगे।
- व्यंजनावृत्ति की अपरिहार्यता समझ सकेंगे।
- लक्षणामूला एवं अभिधामूला व्यंजना को जान सकेंगे।
- आर्थी व्यंजना को भी भेदों सहित जान सकेंगे।

3.1 प्रस्तावना

इकाई 2 में आपने शब्द एवं अर्थ के स्वरूप एवं अभिधा एवं लक्षणा के विषय में विस्तार से पढ़ा। लक्षणा की प्रवृत्ति प्रयोजन के निमित्त से होती है, यह प्रयोजन रूप व्यंग्य व्यंजना के द्वारा जाना जाता है। व्यंजना के दो भेद हैं (1) शाब्दी व्यंजना (2) आर्थी व्यंजना। शब्द पर आश्रित व्यंजना शाब्दी व्यंजना एवं अर्थों पर आश्रित व्यंजना आर्थी व्यंजना कहलाती है। व्यंग्य के भेद एवं दोनों प्रकार की व्यंजना का भेदों एवं उदाहरणों सहित इस इकाई में विस्तार से निरूपण किया जाएगा।

3.2 द्वितीय उल्लास – व्यंजना (कारिका 13 से 20 पर्यन्त)

प्रसंग – इकाई दो में हमने लक्षणा के छः भेद पढ़े। लक्षणा की प्रवृत्ति का हेतु रूढ़ि या प्रयोजन को माना गया। प्रयोजन वस्तुतः व्यंग्य रूप माना गया है क्योंकि प्रयोजन की प्रतीति व्यंजना व्यापार द्वारा होती है इसे स्पष्ट करते हुए मम्मट कहते हैं :–

(सू. 18) व्यङ्ग्येन रहिता रूढौ सहिता तु प्रयोजने

व्याख्या – अर्थात् रूढ़ि में तो लक्षणा व्यंग्य से रहित किन्तु प्रयोजन में व्यंग्य से युक्त होती है।

प्रसंग – यह व्यङ्ग्य गूढ़ एवं अगूढ़ रूप से दो प्रकार का माना गया है –

(सू.19) तच्च गूढमगूढं वा।

व्याख्या – तत् का तात्पर्य है व्यङ्ग्य। गूढ़ व्यङ्ग्य उसे कहते है जो दुर्ज्ञेय एवं मात्र सहृदय–संवेद्य हो।

अगूढ व्यङ्ग्य वह है जो सामान्य जन को भी आसानी से गम्य हो। उदाहरणों से इनका स्वरूप स्पष्ट हो जाएगा –

मुखं विकसितस्मितं वशितवक्रिमप्रेक्षितं
समुच्छलितविभ्रमा गतिरपास्तसंस्था मतिः।
उरो मुकुलितस्तनं जघनमंसबन्धोद्धुरं
बतेन्दुवदनातनौ तरुणिमोद्गमो मोदते।।

मुख पर मुस्कुराहट खिल रही है, वक्रता दृष्टि की दास हो रही ह, चलने में हाव–भाव छलक रहे हैं, बुद्धि मर्यादा का अतिक्रमण कर रही है। वक्ष–स्थल पर स्तनों की कलियाँ निकल रही है, जाँघे अवयवों के बन्ध से उभर रही है। बड़ी प्रसन्नता की बात है कि उस चन्द्रवदनी के शरीर में यौवन का उभार किलोल कर रहा है।

प्रस्तुत श्लोक में मुस्कुराहट का खिलना (खिलना फूलों का धर्म हैं अतः मुख से उसका सम्बन्ध लक्षणा से ही संभव है) लक्षणा से स्मित के अतिशय रूप व्यङ्ग्य को प्रकट करता है। इसी प्रकार चेतन के धर्म 'वशीकरण' के प्रेक्षित में सम्बन्ध से वक्रभाव की स्वाधीनता लक्षित होती है। किसी मूर्त द्रव पदार्थ के धर्म 'छलकने' का गति से सम्बन्ध जोड़ने से विभ्रमों का बाहुल्य लक्षित होता है व सकल मनोहारित्व व्यङ्ग्य है। 'मर्यादा के त्याग' रूप चेतन के धर्म का मति के साथ सम्बन्ध अधीरता को लक्षित करता है जिससे अनुरागातिशय व्यङ्ग्य द्योतित हो रहा है। 'मुकुलितत्व' रूप पुष्प के धर्म का स्तनों के साथ सम्बन्ध काठिन्य या उभार को लक्षित करता है तथा आलिंगनयोग्यत्व व्यङ्ग्य है। 'उद्धुरत्व' का जंघाओं के साथ सम्बन्ध से उनकी रमणीयता लक्षित है। इससे रतियोग्यत्व व्यङ्ग्य है।

इस प्रकार इस श्लोक में स्थित व्यङ्ग्य सर्वजनसंवेद्य नहीं है केवल सहृदयजनसंवेद्य है अतः गूढ़ व्यङ्ग्य का उदाहरण है।

अगूढ व्यङ्ग्य – **श्रीपरिचयाज्जडा अपि भवन्त्यभिज्ञा विदग्धचरितानाम्।**
उपदिशति कामिनीनां यौवनमद एव ललितानि ।।

लक्ष्मी की प्राप्ति हो जाने पर मूर्ख भी चतुरों के व्यवहार को समझने वाले हो जाते हैं। यौवनमद ही कामिनियो को ललितों का उपदेश कर देता है।

यहाँ 'उपदेश' चेतना का धर्म है जो यौवनमद में संभव नहीं इसलिए उससे 'आविष्करोति' अर्थ लक्षित होता है तथा मनोहारित्व व्यङ्ग्य है। जो सर्वजनसंवेद्य होने से स्पष्टतः प्रकट है।

इस प्रकार लक्षणा –

(सू.20) तदेषा कथिता त्रिधा।।13।।

अव्यङ्ग्य (रूढ़ि) अर्थात् व्यङ्ग्यरहित (लक्षणा), गूढ़व्यङ्ग्या एवं अगूढव्यङ्ग्या तीन प्रकार की होती है।

(सू.21) तद्भूर्लाक्षणिकः।

उस लक्षणा का आश्रयभूत शब्द लाक्षणिक कहलाता है । सूत्र में तद् से तात्पर्य 'शब्द' है, भू का तात्पर्य है आश्रय।

(सू.22) तत्र व्यापारो व्यंजनात्मकः

अर्थात् प्रयोजन रूप व्यङ्ग्य की प्रतीति करवाने वाला व्यंजना नाम का व्यापार है।

3.2.1 लक्षणामूला व्यंजना

प्रसंग – इस प्रयोजन की प्रतीति अभिघा या लक्षणा के द्वारा संभव नहीं है अतः एकमात्र व्यंजना द्वारा ही इसकी प्रतीति होती है। इसी विषय को मम्मट ने इस रूप में प्रस्तुत किया है–

(सू.23) यस्य प्रतीतिमाधातुं लक्षणा समुपास्यते।।14।।
फले शब्दैकगम्येऽत्र व्यंजनान्नापरा क्रिया।।

व्याख्या – जिस (प्रयोजन विशेष) की प्रतीति कराने के लिए लक्षणा का आश्रय लिया जाता है (अनुमान आदि से नहीं) शब्द मात्र से गम्य उस फल के विषय म व्यंजना से इतर कोई व्यापार नहीं होता।

इसका तात्पर्य है कि जिस प्रयोजन रूप व्यङ्ग्य की प्रतीति के लिए लक्षणा का प्रयोग किया जाता है उस व्यङ्ग्य की प्रतीति में किसी लाक्षणिक शब्द के अतिरिक्त अन्य कोई व्यापार नहीं हो सकता– अभिधा से उस अर्थ का बोध नहीं हो सकता इसी का वर्णन करते हुए मम्मट कहते है :–

3.2.1.1 अभिधा प्रयोजन प्रतीति में असमर्थ

(सू.25) नाभिधा समयाभावात्

व्याख्या – समय अर्थात् संकेत का अभाव होने से अभिधा से उस अर्थ का बोध नहीं हो सकता।

अभिधा साक्षात् संकेतित अर्थ का बोध करवाती है। प्रयोजन रूप अर्थ में संकेत ग्रहण न होने से उसका बोध अभिधा द्वारा संभव नहीं है।

जैसे 'गङ्गायां घोषः' उदाहरण में अभिधा से गङ्गा शब्द से जलप्रवाह रूप अर्थ का बोध होता है। मुख्य अर्थ में अन्वय की उपपत्ति न होने से गङ्गा शब्द लक्षणा के द्वारा गङ्गा तट का बोध कराता है। 'गङ्गातटे घोषः' ऐसा कहने पर जिस शीतत्व व पावनत्व की अतिशयता का बोध नहीं हो सकता उस पावनता एवं शीतलता की अतिशयता का बोध प्रयोजन हैं। गङ्गा शब्द का मुख्यार्थ शीतत्व–पावनत्व नहीं है अतः गङ्गा शब्द का शीतत्व पावनत्व में संकेत ग्रहण नहीं है इसलिए अभिधा शब्दशक्ति के द्वारा असंकेतित शीतत्व–पावनत्व का बोध नहीं हो सकता।

3.2.1.2 लक्षणा प्रयोजन प्रतीति में असमर्थ

(सू.25) हेत्वाभावान्न लक्षणा।।15।।

व्याख्या – प्रयोजन रूप अर्थ का बोध लक्षणा से भी नहीं हो सकता क्योंकि लक्षणा की प्रवृत्ति के तीन हेतु हैं (1) मुख्यार्थ बाध (2) तत्सम्बन्धित अन्य अर्थ की प्रतीति (3) रूढ़ि अथवा प्रयोजन। प्रयोजन के लक्षणा से बोध में इन तीनों में से कोई हेतु नहीं है। अतः लक्षणा की प्रवृत्ति यहाँ संभव नहीं है।

यदि हम यहाँ लक्षणा की प्रवृत्ति करवाने का हठ करें तो शीतत्व–पावनत्व रूप प्रयोजन को लक्ष्यार्थ मानना पड़ेगा ऐसी स्थिति में उससे पूर्व प्रतीत होने वाले तटरूप अर्थ को मुख्यार्थ मानना पड़ेगा जबकि वह लक्ष्यार्थ है। इसके अतिरिक्त यहाँ लक्षणा की प्रवृत्ति का कोई प्रयोजन भी दिखाई नहीं देता। इसी विषय को मम्मट ने इस प्रकार प्रस्तुत किया है–

(सू.26) लक्ष्यं न मुख्यं नाप्यत्र बाधो योगः फलेन नो।
न प्रयोजनमेतस्मिन् न च शब्दः स्खलद्गतिः।।16।।

व्याख्या – अर्थात् लक्ष्यार्थ मुख्य अर्थ नहीं है, न उसका यहाँ पर बाध है, न उसका फल के साथ सम्बन्ध है तथा इसमें कोई प्रयोजन भी नहीं है एवं शब्द स्खलद्गति भी नहीं है।

लक्ष्यं न मुख्यं – लक्षणा से शीतत्व पावनत्व रूप प्रयोजन की प्रतीति में हमें 'तट' को मुख्यार्थ मानना पड़ेगा। किन्तु गङ्गातटे घोषः यह लक्ष्यार्थ है इसे मुख्यार्थ मानना उचित नहीं।

नाप्यत्र बाधः – यदि हम लक्षणा की प्रवृत्ति हेतु 'तट' को एक क्षण के लिए मुख्यार्थ मान भी लें तो तट पर घोष होने में अर्थ की अनुपपत्ति नहीं है अर्थात् उसका यहाँ बाध नहीं है। अभिधा से ही अर्थ की प्रतीति हो जाएगी अतः मुख्यार्थ बाध न होने से लक्षणा की प्रवृत्ति का कोई निमित्त नहीं है।

योगः फलेन नो – इसके अतिरिक्त शीतत्व पावनत्व का तट के साथ कोई संबंध भी दिखाई नहीं देता जबकि लक्षणा से जिस अर्थ की प्रतीति होती है, उसका मुख्यार्थ से सम्बन्ध होता है। यदि 'तट' को मुख्यार्थ माने तो संबंधित अर्थ भी शीतत्वादि को मानना पड़ेगा जबकि शीतत्व आदि का तट के साथ संबंध नहीं है।

न प्रयोजनमेतस्मिन् – लक्षणा की प्रवृत्ति हेतु प्रयोजन मानना भी आवश्यक है किन्तु यहां कोई प्रयोजन दिखाई नहीं देता। अतः प्रयोजन रूप व्यंग्य की प्रतीति हेतु अन्य कोई प्रयोजन मानकर लक्षणा की प्रवृत्ति का औचित्य दिखाई नहीं देता।

न च शब्दः स्खलद्गति :– लाक्षणिक शब्द क्षीण सामर्थ्य भी नहीं है। अर्थात् प्रयोजन की प्रतीति में असमर्थ नहीं है। अर्थात् गंङ्गा शब्द प्रयोजन रूप अर्थ की प्रतीति कराने में समर्थ है।

'गङग्ायां घोषः' उदाहरण में हम इसे स्पष्टतया समझ सकते हैं– गङ्गा शब्द (घोष का आधार बनने के लिए) जलप्रवाह अर्थ में बाधित होता है इसलिए लक्षणा से 'तट' रूप अर्थ का बोध कराता है यदि इसी प्रकार तट (यदि गङ्गा शब्द का मुख्य अर्थ हो व घोष का आधार बनने की योग्यता उसमें न हो) भी बाधित हो तो लक्षणा के द्वारा शीतत्व–पावनत्व रूप प्रयोजन का लक्षणा से बोध कराएगा– परन्तु न तो तट यहाँ गङ्गा शब्द का मुख्यार्थ है न ही उसका बाध होता है (इस प्रकार लक्षणा के प्रथम हेतु की निवृत्ति हो जाती है।)

यदि गङ्गा शब्द का (कल्पित मुख्य) अर्थ तट माना भी जाए तो तट का लक्षणीय (जिनका लक्षणा से बोध करना प्रयोजन है) शीतत्व–पावनत्व के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है क्योंकि इन धर्मों का सम्बन्ध गङ्गा के मुख्य अर्थ (जल प्रवाह) से है अतः लक्षणा के द्वितीय हेतु की निवृत्ति हो जाती है।

प्रयोजन को लक्ष्यार्थ मानने में कोई अन्य प्रयोजन भी नहीं है इस प्रकार लक्षणा के तृतीय हेतु की भी निवृत्ति हो जाती है। प्रयोजन को इसलिए भी लक्ष्यार्थ नहीं माना जा सकता क्योंकि गङ्गा शब्द तट के समान प्रयोजन का प्रतिपादन करने में क्षीण सामर्थ्य भी नहीं है।

प्रसंग – यदि व्यंजना विरोधी प्रयोजन को ही लक्ष्यार्थ मानना चाहें एवं उसके लिए किसी अन्य प्रयोजन को सिद्ध करने का प्रयत्न करें तो भी यह उचित नहीं क्योंकि उस दशा में दूसरा प्रयोजन भी लक्ष्य होगा इसलिए उसकी प्रतीति के लिए तीसरे प्रयोजन की आवश्यकता होगी। फिर उस तीसरे प्रयोजन के लिए चौथे प्रयोजन की आवश्यकता होगी इस प्रकार 'अनवस्था दोष' होगा। इसे मम्मट ने इस प्रकार व्यक्त किया है–

(सू.27) एवमप्यनवस्था स्याद् या मूलक्षयकारिणी।

व्याख्या – इस प्रकार यदि प्रयोजन लक्षित होता है (ऐसा माना जाय) तो उसे अन्य प्रयोजन से और उसे भी अन्य प्रयोजन से (लक्षित मानना होगा) इस प्रकार (प्रयोजन की अविश्रान्त परम्परा की कल्पना के कारण मूलभूत प्रथम प्रयोजन रूप) प्रस्तुत अर्थप्रतीति में भी बाधा डालने वाली (मूलक्षयकारिणी) अनवस्था होगी।

3.2.1.3 विशिष्ट में लक्षणा मानना असंगत

(सू.28) प्रयोजनेन सहितं लक्षणीयं न युज्यते।।17।।

व्याख्या – प्रयोजन सहित (अर्थात् शैत्य–पावनत्वादि विशिष्ट तीर को) लक्ष्यार्थ (लक्षणीय) मानना संगत नहीं है।

लक्षणावादी आचार्य व्यंजना के निराकरण हेतु एक अन्य पक्ष उपस्थित करते हैं– उनके अनुसार लक्षणा के द्वारा पावनत्वादि धर्म से युक्त तट की प्रतीति को लक्ष्यार्थ मानना चाहिए तथा 'गङ्गातटे घोषः' गङ्गा के तट पर घोष है इससे अधिक (पावनत्वादि विशिष्ट तीर) अर्थ की प्रतीति (उस लक्षणा का) प्रयोजन है इस प्रकार (पावनत्वादि) विशिष्ट में लक्षणा हो सकती है अतः अलग से व्यंजनावृत्ति को मानना व्यर्थ है। लक्षणावादियों के इस मत को मम्मट ने पूर्वपक्ष के रूप में प्रस्तुत किया है।

यहाँ व्यंजनाविरोधियों का तात्पर्य यह है कि जिस प्रयोजन की प्रतीति के लिए व्यंजना वृति को स्वीकार करना चाहते हो यदि लक्षणा के द्वारा प्रयोजन विशिष्ट तट की प्रतीति ही माने तो व्यंजना की क्या आवश्यकता रह जाएगी अर्थात् लक्षणा से केवल 'तट' की प्रतीति नहीं अपितु शीतत्व –पावनत्व रूप धर्मों सहित 'तट' की प्रतीति को लक्ष्यार्थ माना जाए तो व्यंजनावृत्ति की व्यर्थता सिद्ध होती है।

कारिका में विशिष्ट का अर्थ है विशेष (शीतत्व–पावनत्व रूप विशेष) से युक्त (विशिष्ट) तट। विशेष युक्त को लक्ष्यार्थ मानना उचित नहीं है।

प्रसंग – मम्मट ने प्रयोजन सहित तट को लक्ष्यार्थ मानने को असङ्गत मानते हुए कारण प्रस्तुत किया है–

(सू.29) ज्ञानस्य विषयो ह्यन्यः फलमन्यदुदाहृतम्।

अर्थात् ज्ञान का विषय अन्य है एवं ज्ञान का फल अन्य है।

व्याख्या – विशिष्ट को लक्ष्यार्थ इसलिए नहीं माना जा सकता क्योंकि ज्ञान का विषय एवं ज्ञान का फल दोनों अलग–अलग हैं। ज्ञान का विषय ज्ञान से पहले विद्यमान रहता है तथा ज्ञान का फल ज्ञान के पश्चात् होता है। विषय ज्ञान का कारण होता है इसलिए उसकी स्थिति ज्ञान के पहले रहती है तथा फल ज्ञान का कार्य होता है इसलिए उसकी उत्पत्ति ज्ञान के बाद होती है।

लक्षणाजन्य ज्ञान का विषय तटादि तथा उसके फल शैत्य–पावनत्वादि की स्थिति अलग–अलग है इन दोनों को समकालीन नहीं माना जा सकता अर्थात् 'प्रयोजन से युक्त तट' (विशिष्ट) को लक्ष्यार्थ मानना उचित नहीं है। क्योंकि प्रयोजन फल है व तट विषय – दोनों की एक साथ प्रतीति संभव नहीं है।

नैयायिक एवं मीमांसक ज्ञान का विषय तो समान ही मानते हैं किन्तु ज्ञान का फल नैयायिकों के मत में 'अनुव्यवसाय' एवं मीमांसकों के अनुसार 'ज्ञातता' है।

सूत्र की वृत्ति में मम्मट ने इन दोनों सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है–

प्रत्यक्षादेर्नीलादिविषयः फलन्तु प्रकटता संवित्तिर्वा।

अर्थात् प्रत्यक्ष आदि ज्ञान का विषय नीलादि है तथा फल (मीमांसकों के मत में) प्रकटता (ज्ञातता) एवं (नैयायिकों के अनुसार) संवित्ति अर्थात् अनुव्यवसाय है।

अनुव्यवसाय – न्यायसिद्धान्त के अनुसार प्रत्यक्षादि प्रमाणों के द्वारा पहले घट या नील आदि विषयों का ग्रहण होता है। इस घट–पटादि का ज्ञान कैसे होता है इस प्रश्न के समाधान क लिए नैयायिक –'अनुव्यवसाय' की कल्पना करते हैं– अनुव्यवसाय का अर्थ है ज्ञान का ज्ञान। पहले हमें 'अयं घटः' इस प्रकार का ज्ञान होता है उसके बाद **'घटज्ञानवानहं'** अथवा **'घटमहं जानामि'** इस प्रकार का ज्ञान होता है, इनमें 'यह घट हैं' इस प्रकार का पहला ज्ञान 'व्यवसायात्मक' है उसके बाद 'मैं घट को जानता हूँ' या 'मुझे घट का ज्ञान होता है' यह दूसरा ज्ञान 'अनुव्यवसाय' कहलाता है। 'अयं घटः ' इस व्यवसायात्मक ज्ञान (प्रथम ज्ञान) का विषय 'घट' है तथा 'अहं घटं जानामि' इस दूसरे ज्ञान (अनुव्यवसायात्मक) का विषय 'घटज्ञान' है। यह दूसरा ज्ञान अपने विषय व्यवसायात्मक घटज्ञान से उत्पन्न होता है। इसीलिए वह 'अनुव्यवसाय' कहलाता है यह अनुव्यवसाय घटज्ञान का फल है। अर्थात् घटज्ञान का विषय घट है तथा घटज्ञान का फल अनुव्यवसाय है– इस प्रकार ज्ञान का विषय एवं ज्ञान का फल अलग–अलग होने से इन दोनों की समकालीन उत्पत्ति नहीं हो सकती।

ज्ञातता सिद्धान्त – मीमांसक भी ज्ञान का विषय तो घटादि को ही मानते हैं किन्तु घटज्ञान का फल अनुव्यवसाय न मानकर ज्ञातता अथवा प्रकटता मानते हैं। उनके अनुसार 'अयं घटः' इस प्रकार का ज्ञान होने के बाद 'ज्ञातो मया घटः' इस प्रकार की प्रतीति होती है। इस प्रतीति में घट मे रहने वाला ज्ञातता धर्म भासता है यह धर्म ज्ञान से पहले घट में नहीं था। ज्ञान होने के पश्चात् उत्पन्न हुआ है। ज्ञान इसका कारण है कारण के बिना कार्य उत्पन्न नहीं होता इसलिए ज्ञान के बिना ज्ञातता धर्म उत्पन्न नहीं होता। इस प्रकार ज्ञान का विषय 'घट' ज्ञान के कार्य (फल) ज्ञातता से अलग है दोनों की समकालीन उत्पत्ति नहीं हो सकती।

प्रसंग – इसी प्रकार 'गङ्गायां घोषः' में लक्षणा का विषय तट है एवं फल शीतत्व पावनत्व। दोनों की समकालीन उत्पत्ति नहीं हो सकती अतः प्रयोजन से युक्त तट को लक्ष्यार्थ मानना असंगत है अपने इसी मन्तव्य को मम्मट ने यहाँ प्रस्तुत किया है–

(सू.30) विशिष्टे लक्षणा नैव

इसकी व्याख्या पूर्व में कर दी गई।

(सू.31) विशेषाः स्युस्तु लक्षिते ।।18 ।।

व्याख्या – लक्षित अर्थ में विशेष हो सकते हैं अर्थात् पहले लक्षणा से केवल तट की उपस्थिति होने के बाद लक्षणामूलक व्यंजना से उस तटादिरूप लक्ष्य अर्थ में शैत्य–पावनत्व आदि प्रयोजनों की प्रतीति हो सकती है।

अर्थात् तट आदि (रूप लक्ष्यार्थ) में जो पावनत्व आदि विशेष (प्रयोजनभूत धर्म प्रतीत होते) हैं वे अभिधा, तात्पर्या तथा लक्षणा से भिन्न व्यापार से गम्य हैं और व्यंजना, ध्वनन, द्योतन आदि शब्दों से वाच्य उसे (व्यंजना) अवश्य मानना चाहिए। (उसके बिना प्रयोजन का बोध नहीं हो सकता।)

3.3 अभिधामूला व्यंजना

प्रसंग – अभिधामूला व्यंजना – लक्षणामूला व्यंजना के पश्चात् अभिधामूला व्यंजना का वर्णन मम्मट ने इस प्रकार किया है–

(सूत्र32) अनेकार्थस्य शब्दस्य वाचकत्वे नियन्त्रिते।
संयोगाद्यैरवाच्यार्थधीकृद् व्यापृतिरंजनम्।। 19।।

व्याख्या – अर्थात् संयोग आदि के द्वारा अनेकार्थक शब्दों 'के वाचकत्व के (किसी एक अर्थ में) नियन्त्रित' हो जाने पर (उससे भिन्न) अवाच्य अर्थ की प्रतीति कराने वाला (शब्द का) व्यापार व्यंजना (अर्थात् अभिधामूला व्यंजना) कहलाता है।

अनेकार्थक शब्द का संयोग आदि हेतुओं के द्वारा एक अर्थ में नियन्त्रण हो जाने पर भी उससे जो अन्य अर्थ की प्रतीति होती है उस प्रतीति का बोध कराने वाला शब्द व्यापार 'अभिधामूला व्यंजना' नाम से कहा जाता ह।

यहाँ प्रश्न उत्पन्न होता है अनेकार्थक शब्द का एकार्थ में नियन्त्रण करने वाले संयोगादि का क्या अभिप्राय है। इस जिज्ञासा की निवृत्ति के लिए ग्रन्थकार ने वाक्यपदीय की दो कारिकाएँ प्रस्तुत की है–

संयोगो विप्रयोगश्च साहचर्यं विरोधिता।
अर्थः प्रकरणं लिङ्गं शब्दस्यान्यस्य सन्निधिः ।।
सामर्थ्यमौचिती देशः कालो व्यक्तिः स्वरादयः।
शब्दार्थस्यानवच्छेदे विशेषस्मृतिहेतवः।।

(1)	संयोग	(2)	विप्रयोग	(3)	साहचर्य
(4)	विरोधिता	(5)	अर्थ	(6)	प्रकरण
(7)	लिङ्ग	(8)	अन्य शब्द की सन्निधि	(9)	सामर्थ्य
(10)	औचित्य	(11)	देश	(12)	काल
(13)	(पुल्लिङ्ग, स्त्रीलिङ्ग, आदि) व्यक्ति			(14)	स्वर

(अनेकार्थक) शब्द के अर्थ का निर्णय न होने पर विशेष अर्थ में निर्णय कराने के कारण होते हैं। जैसे – 'सशंखचक्रो हरिः' 'अशंखचक्रो हरिः' इन दोनों उदाहरणों में शंख चक्र सहित हरि (संयोग से) तथा शंखचक्ररहित हरि (विप्रयोग से) (हरि शब्द) अच्युत अर्थ में नियन्त्रित होता है।

हरि शब्द अनेकार्थक है कोश में अश्व, सूर्य, कृष्ण, विष्णु, वानर, सिंह आदि अनेक अर्थ हरि के माने गए हैं किन्तु शंख चक्र का योग केवल 'विष्णु' से ही है अतः शंखचक्र संयोग से 'सशंखचक्रो हरिः' में हरि अच्युत (विष्णु) में नियन्त्रित हो गया इस प्रकार शंखचक्र में विप्रयोग से भी हरि को अच्युत के अर्थ में नियन्त्रित कर देता है।

इस प्रकार **'राम–लक्ष्मणौ'** में साहचर्य के कारण राम और लक्ष्मण दोनों शब्द दशरथ पुत्र में, 'रामार्जुनगतिस्तयोः' में (राम व अर्जुन इन दोनों शब्दों का विरोधिता के कारण) क्रमशः परशुराम एवं कार्तवीर्य अर्जुन अर्थ में नियन्त्रण होता है।

'स्थाणुं भज भवच्छिदे' (अर्थात् संसार से पार जाने के लिए स्थाणु का भजन कर) यहाँ स्थाणु शब्द प्रयोजनरूप अर्थ के कारण शिव में नियन्त्रित हो जाता हैं।

सर्वं जानाति देवः – यहाँ प्रकरण के कारण देव शब्द 'युष्मद्' (आप) अर्थ में नियन्त्रित हो जाता है।

'कुपितो मकरध्वजः' – कोप कामदेव का लिङ्ग है अतः समुद्र, औषधि विशेष एवं कामदेव के वाचक 'मकरध्वज' का अर्थ कोप रूप लिङ्ग (चिह्न) के कारण 'कामदेव' में नियन्त्रित हो जाता है।

देवस्य पुरारातेः– देव शब्द अनेकार्थक है किन्तु पुराराति शब्द की सन्निधि के कारण 'शिव' अर्थ में नियन्त्रित हो जाता है।

मधुना मत्तः पिकः – कोयल मधु से मत्त हो रहा है –यहाँ अनेकार्थक (शहद, पराग, वसन्त) मधु शब्द सामर्थ्य के कारण 'वसन्त' अर्थ में नियन्त्रित हो रहा है क्योंकि कोयल को मत्त बनाने की सामर्थ्य वसन्त में ही है।

पातु वो दयितामुखम् (पत्नी का मुख आपकी रक्षा करे) अनेकार्थक मुख शब्द औचित्य के कारण 'साम्मुख्य' अर्थात् आनुकूल्य अर्थ में नियन्त्रित हो जाता हैं।

भात्यत्र परमेश्वरः (यहाँ परमेश्वर शोभित होते हैं) इसमें राजधानीरूप देश के कारण (अनेकार्थक परमेश्वर शब्द) राजा अर्थ में नियन्त्रित हो जाता है।

चित्रभानुर्विभाति (चित्रभानु चमक रहा है) यहाँ अनेकार्थक चित्रभानु शब्द दिन म सूर्य तथा रात्रि में अग्नि अर्थ में नियन्त्रित हो जाता है।

मित्रं भाति (मित्र शोभित होता है) यहाँ नपुँसकलिङ्ग में प्रयुक्त होने के कारण अनेकार्थक मित्र शब्द सुहृत् अर्थ में नियन्त्रित हो जाता है। पुल्लिङ्ग में 'मित्र' सूर्य का वाचक हैं।

इन्द्रशत्रु आदि में वेद में हो स्वर अर्थविशेष का बोधक होता हैं काव्य में नहीं इसलिए उसके लौकिक उदाहरण नहीं दिए हैं।

कारिका में 'स्वरादि' में आदि पद से अभिनय आदि का ग्रहण होता है। अभिनय आदि के संकेत से भी एकार्थ में नियन्त्रण होता है इस प्रकार संयोगादि के द्वारा अन्य अर्थ के बाधकत्व का निवारण हो जाने पर भी अनेकार्थ जो कहीं दूसरे अर्थ का प्रतिपादन करता है; वहाँ अभिधा नहीं हो सकती क्योंकि अभिधा के अर्थ का तो वहाँ नियन्त्रण हो जाता है तथा मुख्यार्थ बाध आदि का अभाव होने कारण वहाँ लक्षणा भी नहीं हो सकती। उसकी प्रतीति तो व्यंजना व्यापार से ही हो सकती है। उदाहरण से यह अधिक स्पष्ट हो जाता है।

भद्रात्मनो दुरधिरोहतनोर्विशालवंशोन्नतेः कृतशिलीमुखसंग्रहस्य।
यस्यानुपप्लुतगतेः परवारणस्य दानाम्बुसेकसुभगः सततं करोऽभूत्।।

सुन्दर रूप वाले, दूसरों से अनभिभवनीय शरीर वाले, उच्च कुल में उत्पन्न, बाणों का संग्रह करने वाले, अबाधित गति वाले, शत्रुओं का निवारण करने वाले उस राजा का हाथ (हाथी की सूँड के समान) सदा दान के जल से सुन्दर रहता था।

प्रस्तुत श्लोक में राजा की स्तुति की जा रही हैं इसलिए इसमें जितने भी अनेकार्थक शब्द हैं सभो प्रकरण के कारण राजा के पक्ष में नियन्त्रित हो जाते हैं फिर भी उनमें हाथी परक दूसरे अर्थ व उसके साथ उपमानोपमेयभाव की प्रतीति होती है। राजा के लिए प्रयुक्त सारे विशेषण हाथी के पक्ष में भी लगते हैं। इस दूसरे अर्थ की प्रतीति अभिधामूला व्यंजना के द्वारा होती है। यह दूसरा अर्थ इस प्रकार है–

भद्रजाति वाले, दुरधिरोह (जिस पर चढ़ना कठिन हैं), जिसकी पीठ की हड्डी विशाल और उन्नत है, जिसकी गति धीर है, जिसने (अपने मदजल के कारण) भ्रमरों का संग्रह कर रखा है इस प्रकार के उत्तम हाथी (परवारण) की सूँड (राजा के हाथ क समान) मद–जल के बहने से सदा सुन्दर प्रतीत होती है।

(सू.33) तद्युक्तो व्यंजकः शब्दः।

तद् अर्थात् व्यजंना व्यापार से युक्त शब्द व्यंजक कहलाता हैं।

(सू.34) यत् सोऽर्थान्तरयुक् तथा।
अर्थोऽपि व्यंजकस्तत्र सहकारितया मतः ।।20।।

चूंकि वह (व्यंजक शब्द) दूसरे अर्थ के योग से (अर्थात् अपने मुख्यार्थ का बोधन करने के बाद) उस अन्य अर्थ का बोधक होता है इसलिए उसके साथ सहकारी रूप से अर्थ भी व्यंजक होता है।

तात्पर्य यह है कि व्यंजना शब्दशक्ति के द्वारा व्यंजक शब्द जब अन्य अर्थ का बोध कराता है तो उसके साथ सहकारी रूप से (पूर्व) अथ भी व्यंजक होता है।

3.4 तृतीय उल्लास – आर्थी व्यंजना (कारिका 21 से 23 पर्यन्त)

(सू.35) अर्थाः प्रोक्ताः पुरा तेषाम्।

व्याख्या (कारिका 21) – तेषाम् अर्थात् वाचक, लाक्षणिक एवं व्यंजक शब्दों के अर्थ (वाच्य, लक्ष्य एवं व्यग्ङ्य) पूर्व में ही कह दिए गए। उन अर्थों पर आश्रित व्यंजना (आर्थी व्यंजना) का निरूपण प्रारम्भ होता है।

(सू.36) अर्थव्यंजकतोच्यते।

अर्थात् उनकी अर्थव्यंजकता (अर्थात् उन अर्थों पर आश्रित आर्थी व्यंजना) का वर्णन करते हैं।

मम्मट ने वाचक, लक्षक व व्यंजक तीन प्रकार के शब्द तथा वाच्य, लक्ष्य, व्यङ्ग्य तीन प्रकार के अर्थों का पूर्व में (द्वितीय उल्लास में) प्रतिपादन किया। लाक्षणिक शब्द के प्रसङ्ग में प्रयोजन बोध के लिए व्यंजनावृत्ति की अनिवार्य आवश्यकता का भी उन्होंने प्रतिपादन किया। व्यंजना दा प्रकार की होती है–शाब्दी व्यंजना एवं आर्थी व्यंजना। शाब्दी व्यंजना दो प्रकार की है अभिधामूला एवं लक्षणामूला। शाब्दी व्यंजना के दोनों भेदों का निरूपण करने के बाद आर्थी व्यंजना के भेदों का उदाहरण सहित प्रतिपादन करते हैं।

(सू.37) वक्तृबोद्धव्यकाकूनां वाक्यवाच्यान्यसन्निधेः।।21।।
प्रस्तावदेशकालादेःवैशिष्ट्यात् प्रतिभाजुषाम्।
योऽर्थस्यान्यार्थधीहेतुर्व्यापारो व्यक्तिरेव सा।।22।।

व्याख्या – (1) वक्ता, (2) बोद्धव्य, (3) काकु, (4) वाक्य, (5) वाच्य, (6) अन्यसन्निधि, (7) प्रस्ताव, (8) देश, (9) काल, (10) आदि शब्द से ग्राह्य चेष्टादि के वैशिष्ट्य से सहृदयों (प्रतिभायुक्त जनों) को अन्यार्थ की प्रतीति कराने वाला अर्थ का जो व्यापार है वह 'आर्थी व्यंजना' ही कहलाता हैं।

बोद्धव्य का अर्थ प्रतिपाद्य (अर्थात् जिससे बात कही जाय वह) है। 'काकु' ध्वनि के विकार को कहते हैं (भिन्नकण्ठध्वनिर्धीरैः काकुरित्यभिधीयते' इस प्रकार ध्वनि का निरूपण किया गया है) प्रस्ताव का अर्थ है प्रकरण। अर्थ का (वाच्य, लक्ष्य, व्यङ्ग्य रूप अर्थ का) व्यापार आर्थी व्यंजना कहलाता है।

क्रमेणोदाहरणानि–

1. **वक्ता के वैशिष्ट्य में व्यंजना का उदाहरण :–**
   अइपिहुलं जलकुंभं घेत्तूण समागदह्मि सहि तुरिअम् ।
   समसेअसलिलणीसासणीसहा वीसमामि खणम् ।।
   संस्कृतच्छाया – (अतिपृथुलं जलकुम्भं गृहीत्वा समागतास्मि सखि त्वरितम्।
   श्रमस्वेदसलिलनिःश्वासनिःसहा विश्राम्यामि क्षणम्।।)

हे सखि, मैं बड़ा भारी पानी का घड़ा लेकर भागी चली आ रही हूँ। परिश्रम के कारण पसीना और निःश्वास से परेशान हो गयी हूँ, इसलिए थोड़ी देर (यहाँ बैठकर) सुस्ताऊँगी।

इसमें (वक्ता के वैशिष्ट्य से) चौर्यरत छिपाने की प्रतीति होती है।

इसका अभिप्राय यह है कि कोई स्त्री पानी भरने के बहाने उपनायक के पास गयी और उसके साथ सम्भोग करके आ रही है। छिपकर किये गये इस सुरत के चिह्नरूप पसीना आदि उसके मुख पर स्पष्ट रूप से व्यक्त हो रहे हैं। उनको देखकर शायद सखी चौर्यरत की शंका कर बैठे, इसलिए कहने वाली स्त्री उस शंका के निवारण के लिए पहले ही कह देती है कि पानी का घड़ा लेकर और जल्दी–जल्दी चलकर आने के कारण यह सब हो रहा है। अर्थात् इस प्रकार वह अपने चौर्यरत को छिपाने का प्रयत्न कर रही है यह बात वक्ता के वैशिष्ट्य से व्यंग्य है।

2. **बौद्धव्य के वैशिष्ट्य में व्यंजना का उदाहरण :–**
ओण्णिद्दं दोव्वल्लं चिंता अलसत्तणं सणीससिअम्।
मह मंदभाइणीए केरं सहि तुह वि अहह परिहवइ।।
संस्कृतच्छाया – (औन्निद्रयं दौर्बल्यं चिन्तालसत्वं सनिःश्वसितम्।
मम मन्दभागिन्याः कृते सखि त्वामपि अहह परिभवति।।)

हे सखि, मुझ मन्दभागिनी के कारण नींद का न आना, दुर्बलता, चिन्ता, आलस्य, निःश्वास आदि तुमको भी भोगने पड़ रहे हैं यह बड़े खेद की बात है।

इसमें दूती का उस (नायिका) के कामुक के साथ भोग व्यंग्य है।

हिन्दी के निम्नलिखित पद्य को वक्ता तथा बौद्धव्य दोनों के वैशिष्ट्य में विशेष अर्थ की व्यंजना के उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है–

यदि अवसर किन कामना निज पूरन करि लेहु।
ये दिन फिर ऐहैं नहीं यह क्षण भंगुर देहु। ।

दोहे का अर्थ स्पष्ट है। यदि इसका वक्ता या बोद्धव्य कोई कामुक व्यक्ति है तो उससे विषय वासना की पूर्ति व्यंग्य होगी और यदि उसका वक्ता या बोद्धव्य कोई विरक्त पुरुष है तो उससे धर्म साधना या मोक्ष–प्राप्ति व्यंग्य होगी। इस प्रकार यह एक ही दोहा वक्ता और बोद्धव्य दोनों के वैशिष्टय में होने वाली आर्थी व्यंजना का उदाहरण है।

3. **काकु के वैशिष्ट्य में व्यंजना का उदाहरण :–**
तथाभूतां दृष्ट्वा नृपसदसि पांचालतनयां
वने व्याधैः सार्धं सुचिरमुषितं वल्कलधरैः।
विराटस्यावासे स्थितमनुचरितारम्भनिभृतं
गुरुः खेदं खिन्ने मयि भजति नाद्यापि कुरुषु।।

इस प्रकार वक्ता तथा बोद्धव्य के वैशिष्ट्य में 'आर्थी व्यंजना' के दो उदाहरण देने के बाद 'काकु' द्वारा व्यंजना का तीसरा उदाहरण देते हैं। 'काकु' शब्द का अर्थ विशेष प्रकार की कण्ठध्वनि अर्थात् बोलने का विशेष प्रकार का लहजा होता है। उस बोलने के विशेष ढंग से भी अर्थ की व्यंजना होती है। इसके प्रतिपादन के लिए 'वेणीसंहार' नाटक के प्रथम अङ्क में से भीम की उक्ति को उदाहरणरूप में प्रस्तुत किया गया है। इस प्रसंग में भीम और सहदेव का संवाद हो रहा है। भीम के क्रोध को देखकर सहदेव भीम से कहते है कि आपके इस प्रकार के व्यापार को सुनकर 'कदाचित् खिद्यते 'गुरुः' शायद गुरु अर्थात् युधिष्ठिर नाराज हो। उसके उत्तर में भीमसेन कह रहे हैं कि गुरुः खेदमपि जानाति' अच्छा गुरु अर्थात् युधिष्ठिर नाराज होना भी जानते हैं तो फिर उस राजसभा में पांचाली (द्रापदी) की उस प्रकार की (बाल तथा वस्त्र खींचे जाने की) अवस्था को देखकर (गुरु नाराज नहीं हुए उनको क्रोध नहीं आया) फिर वन में वल्कल धारण कर चिरकाल (बारह वर्ष) तक व्याधों के साथ रहते रहे (तब भी उनको क्रोध नहीं आया) फिर विराट के घर में (रसोइया आदि के) अनुचित कार्यों को करके छिपकर जो हम रहे (उस समय गुरु को क्रोध नहीं आया) और

आज भी उनको कौरवों पर तो क्रोध नहीं आ रहा है। पर मैं कौरवों पर क्रोध करता हूँ तो मेरे ऊपर नाराज होते हैं।

यहाँ मेरे ऊपर नाराज होना उचित नहीं है। कौरवों पर नाराज हाना उचित है यह 'काकु' से प्रकाशित होता है।

काक्वाक्षिप्त की ध्वनिरूपता में शंका–समाधान

यहाँ पर एक शंका यह हो सकती है कि आगे चलकर पंचम उल्लास में गुणीभूतव्यग्ङ्य काव्य के आठ भेदों की गणना करायी है, उनमें 'वाच्यसिद्धयङ्गव्यङ्ग्य' और काक्वाक्षिप्तव्यङ्ग्य' नाम से गुणीभूतव्यङ्ग्य काव्य के दो भेद गिनाये गये हैं और वहाँ भी 'वेणीसंहार' से ली गयी भीम की इसी प्रकार की निम्नलिखित उक्ति को काक्वाक्षिप्तव्यङ्ग्य के उदाहरण रूप में प्रस्तुत किया गया है–

**मथ्नामि कौरवशतं समरे न कोपाद्
दुःशासनस्य रुधिरं न पिबाम्युरस्तः।
संचूर्णयामि गदया न सुयोधनोरु
सन्धिं करोतु भवतां नृपतिः पणेन।।**

अर्थात् यदि तुम्हारे राजा युधिष्ठिर किसी शर्त पर कौरवों के साथ सन्धि कर लें तो क्या मैं युद्ध में सौ कौरवों का नाश करना छोड़ दूँगा ? अथवा दुःशासन की छाती का खून नहीं पीऊँगा ? अथवा गदा से दुर्योधन की जाँघ नहीं तोडूँगा ? यह इसका वाच्य अर्थ है। परन्तु भीम के बोलने के ढंग से काकु द्वारा यह व्यक्त होता है, भले ही युधिष्ठिर सन्धि कर लें पर मैं तो यह सब काम करके ही रहूँगा।

यहाँ काकु से आक्षिप्त अर्थ होने से इसे गुणीभूतव्यङ्ग्यकाव्य माना गया है। 'तथाभूताम्' इत्यादि प्रकृत उदाहरण भी उसी प्रकार का है, इसलिए इसे भी काक्वाक्षिप्त होने से अथवा वाच्यसिद्धि का अंग होने से गुणीभूतव्यङ्ग्य ही मानना उचित है। फिर उसे ध्वनि काव्य के उदाहरणरूप में कैसे प्रस्तुत किया गया है? यहां शंका हो सकती है? उसके निवारण के लिए ग्रन्थकार कहते हैं कि–

यहाँ काकु (से लभ्य अर्थ) वाच्य की सिद्धि का अंग है, इसलिए गुणीभूतव्यङ्ग्य (काव्य) है (ध्वनिकाव्य नहीं है) यहा शंका नहीं करनी चाहिए। क्योंकि प्रश्नमात्र से भी काकु की विश्रान्ति हो सकती है। (अर्थात् यहाँ काकु केवल प्रश्नमात्र में ही विश्रान्त हो जाती है। उससे व्यंग्यार्थ आक्षिप्त नहीं होता है)

इसका अभिप्राय यह है कि काकु से एक तो यह प्रश्न निकलता है कि गुरु मेरे ऊपर नाराज हो रहे हैं, कौरवों पर नहीं? और दूसरी बात प्रतीत होती है कि युधिष्ठिर का मुझ पर क्रोध करना उचित नहीं है, इनको मेरे स्थान पर कौरवों पर क्रोध करना चाहिये था। यह दूसरी बात व्यंग्य अर्थ है। परन्तु वह काकु से जो प्रश्न सूचित होता है उसकी सिद्धि का अंग प्रतीत होता है, इसलिए वाच्यसिद्धि का अंग होने से यह गुणीभूतव्यग्ङ्य होना चाहिये यह पूर्वपक्ष का भाव है। ग्रन्थकार उसके उत्तर में कहते हैं कि इस व्यङ्ग्य अर्थ को काकु का अंग मानने की आवश्यकता नहीं है क्योंकि यह काकु की विश्रान्ति तो प्रश्न मात्र में ही हो सकती है, उससे व्यंग्यार्थ आक्षिप्त नहीं होता है। इसलिए यहाँ व्यङ्ग्य अर्थ न काक्वाक्षिप्त है एवं न ही वाच्य सिद्धि का अंग है अतः यह ध्वनि काव्य का उदाहरण हो सकता है। वैसे तो यह ध्वनिकाव्य के उदाहरणरूप में नहीं, केवल काकु की व्यंजकता का उदाहरण दिया गया है।

वाक्य–वैशिष्ट्य में व्यंजना :–

**तइआ मह गंडत्थलणिमिअं दिठ्ठिं ण णेसि अण्णत्तो।
एण्हिं सच्चेअ अहं ते अ कवाला ण सा दिठ्ठि ।।**

संस्कृतच्छाया – (तदा मम गण्डस्थलनिमग्नां दृष्टिं नानैषीरन्यत्र। इदानीं सैवाहं तौ च कपोलौ न सा दृष्टिः।।)

अर्थ – उस समय मेरे गाल पर बंधी हुई अपनी दृष्टि को कहीं और नहीं ले जा रहे थे, अब मैं वही हूँ, गाल भी वही है किन्तु वह दृष्टि नहीं है।

यहाँ मेरे गाल पर प्रतिबिम्बित मेरी सखी को देखते समय तुम्हारी दृष्टि कुछ और प्रकार की थी किन्तु अब उसके चले जाने पर वैसी नहीं रही – नायिका के वाक्य से नायक का प्रच्छन्नकामुकत्व व्यक्त होता है।

5. **वाच्यवैशिष्ट्य में व्यंजना का उदाहरण :–**
उद्देशोऽयं सरसकदलीश्रेणिशोभातिशायी
कुंजोत्कर्षाङ्कुरितरमणीविभ्रमो नर्मदायाः।
किंचैतस्मिन् सुरतसुहृदस्तन्वि ते वान्ति वाता
येषामग्रे सरति कलिताकाण्डकोपो मनोभूः ।।

हे तन्वि (इस विशेषण से मदनवेदना–ग्रस्तत्व सूचित होता है), सरस हरी–हरी केलों की पंक्ति से अत्यन्त सुन्दर लगने वाला और कजों के उत्कर्ष के कारण रमणियों के हाव–भावों को अङ्कुरित कर देने वाला नर्मदा (केवल सामान्य नदीमात्र नहीं अपितु 'नर्म रतिसुखं ददाति इति नर्मदा' जो असाधारण रतिसुख का प्रदान करनेवाली है उसी) का ऊँचा प्रदेश है और वहाँ सुरत के मित्र (पुनः–पुनः सुरत के लिए उत्तेजना देने वाले) वे वायु बहते हैं जिनके आगे (वसन्त आदि रूप) अवसर के न होने पर भी चाप धारण किये हुए (अत्यन्त उग्र रूप में उत्तेजना देने वाला) कामदेव चलता है।

यहाँ सुरत के लिए (कुंज के) भीतर चलो यह (वाच्यवैशिष्ट्य से) व्यंङ्ग्य है।

यहाँ नर्मदा के उन्नत प्रदेशरूप स्थानविशेष तथा उसके विशेषणीभूत वायु, कुंज आदि रूप वाच्य के वैशिष्ट्य से उक्त व्यंङ्ग्य की प्रतीति होती है, इसलिए यह वाच्यवैशिष्ट्य का उदाहरण दिया गया है।

वाक्य और वाच्य वैशिष्ट्य का अन्तर

वक्ता और बोद्धव्य के वैशिष्ट्य में जैसे आर्थी–व्यंजना के दो भेद अलग–अलग कहे गये हैं, उसी प्रकार 'वाक्य' और 'वाच्य' के वैशिष्ट्यकृत भेद से भी आर्थी–व्यंजना के दो अलग–अलग भेद माने गये हैं। इन भेदों में भी एक ही उदाहरण दोनों भेदों का बन सकता है। उनमें केवल प्राधान्य–अप्राधान्य की विवक्षा से ही अन्तर हो जाता है। जब 'वक्ता' का प्राधान्य विवक्षित हो तब वही पद्य वक्तृ वैशिष्ट्य का उदाहरण बन जाता है और जब 'बोद्धव्य' का प्राधान्य विवक्षित हो तब वही पद्य बोद्धव्य–वैशिष्ट्य' का उदाहरण बन सकता है। इसी प्रकार जहाँ 'वाक्य' का प्राधान्य विवक्षित हो वहाँ वही पद्य 'वाक्य वैशिष्ट्य' का उदाहरण हो सकता है और जहाँ उसके 'वाच्य' अर्थ का प्राधान्य विवक्षित हो वहाँ वही वाच्य वैशिष्ट्य का उदाहरण बन सकता है। यह केवल विवक्षा के ऊपर आश्रित भेद है।

6. **अन्यसन्निधि के वैशिष्ट्य में व्यंजना का उदाहरण :–**
णोल्लेई अणेल्लमणा अत्ता मं घरभरम्मि सअलम्मि।
खणमतं जई संझई होइ ण व होई वीसामो।
संस्कृतच्छाया – (नुदत्यनार्द्रमनाः श्वश्रूर्मां गृहभरे सकले।
क्षणमात्रं यदि सन्ध्यायां भवति न वा भवति विश्रामः।।)

निर्दय (अनार्द्रमनाः) सास घर के सारे काम मुझसे ही कराती है इसलिए कभी मिलता है तो शाम के समय थोड़ा सा विश्राम मिल जाता है नहीं तो कभी वह भी नहीं मिलता है।

यहाँ सन्ध्या का समय संकेतकाल है यह बात (गुरुजन आदि की सन्निधि के वैशिष्ट्य से दूत आदि रूप किसी) तटस्थ के प्रति (नायिका) के द्वारा सूचित की जा रही है।

यहाँ अन्य लोगों के पास में उपस्थित होने के कारण स्पष्ट रूप से संकेत–काल आदि के विषय में बात करना संभव न होने से इस प्रकार के तटस्थ दूत आदि को सन्ध्या के समय मिलने का अवसर निकल सकता है यह बात व्यंजना से सूचित की गयी है।

व्याख्या (कारिका 22) –

7. प्रस्ताव के वैशिष्ट्य में व्यंजना का उदाहरण :–

सुव्वइ समागमिस्सदि तुज्झ पिओ अज्ज पहरमेत्तेण।
एमे अ किंत्ति चिठ्ठसि ता सहि सज्जेसु करणिज्जम्।।
संस्कृतच्छाया– (श्रूयते समागमिष्यति तव प्रियोऽद्य प्रहरमात्रेण।
एवमेव किमिति तिष्ठसि तत् सखि सज्जय करणीयम्।।)

हे सखि, सुनते हैं कि तुम्हारे प्रिय आज पहर भर के भीतर आ जायेगे। तो ऐसे ही क्यों बैठी हो (उनके लिए भोजन या अपने शृंगार आदि) करने योग्य कार्यों की तैयारी करो।

यहाँ उपपति के पास जाने के लिए उद्यत किसी (अभिसारिका) को उसकी सखी मना कर रही है कि (अब) यह (अभिसार करना) उचित नहीं है।

8. देश के वैशिष्ट्य में व्यंजना का उदाहरण :–

अन्यत्र यूयं कुसुमावचयं कुरुध्वमत्रास्मि करोमि सख्यः।
नाहं हि दूरं भ्रमितुं समर्था प्रसीदतायं रचितोऽञ्जलिर्वः।।

हे सखियों, तुम कहीं और जाकर फल तोडो, यहाँ मैं तोड़ रही हूँ। मैं दूर चलने में समर्थ नहीं हूँ। इसलिए तुम्हारे हाथ जोड़ती हूँ मुझ पर कृपा करो (और आप और कहीं जाकर अपना काम करो यहाँ मुझे अपना काम करने दो)।

यहाँ यह एकान्त स्थान है इसलिए प्रच्छन्न कामुक को तुम यहाँ भेज दो यह अपनी किसी विश्वस्त सहेली के प्रति कोई कह रही है। अतः यहाँ स्थान (देश) के वैशिष्ट्य में व्यङ्ग्य निकल रहा है।

9. काल के विशिष्ट्य में व्यंजना का उदाहरण :–

इस प्रकार देश के वैशिष्ट्य में व्यंजकत्व का उदाहरण देने के बाद अब काल के वैशिष्ट्य में व्यंजकत्व का उदाहरण आगे देते हैं –

गुरुअणपरवस पिअ किं भणामि तुह मंदभाइणी अहकम्।
अज्ज पवासं वच्चसि वच्च सअं जेव्व सुणसि करणिज्जम्।
संस्कृतच्छाया – (गुरूजनपरवश प्रिय किं भणामि तव मन्दभागिनी अहकम्। अद्य प्रवासं व्रजसि व्रज स्वयमेव श्रोष्यसि करणीयम्।)

गुरुजनों के परवश हे प्रिय! मैं मन्दभागिनी तुमसे क्या कहूँ (वस्तुतः तो न तुम जाना चाहते हो और न मैं भेजना चाहती हूँ। परन्तु माता–पिता आदि गुरुजनों की आज्ञा के कारण) आज (इस वसन्तकाल में) यदि जा रहे हो तो जाओ, (आगे) क्या करना चाहिए यह बात (मेरी मृत्यु के बाद) तुमको स्वयं सुनने को मिल जायगी।

यहाँ आज वसन्त के समय यदि तुम जाते हो तो मैं तो जीवित न रहूँगी, तुम्हारी क्या गति होगी यह मैं नही जानती। यह व्यक्त होता है।

10. आदि पद से ग्राह्य चेष्टा का व्यंजकत्व –

(कारिका में आये हुए) आदि पद के ग्रहण से चेष्टा आदि का (ग्रहण करना चाहिए)। उनमें से चेष्टा (के वैशिष्टय में व्यंजकत्व) का (उदाहरण) जैसे –

द्वारोपान्तनिरन्तरे मयि तया सौन्दर्यसारश्रिया
प्रोल्लास्योरुयुगं परस्परसमासक्तं समासादितम्।

आनीतं पुरतः शिरोंऽशुकमधः क्षिप्ते चले लोचने
वाचस्तत्र निवारितं प्रसरणं सङ्कोचिते दोर्लते।।

मेरे दरवाजे के समीप पहुँचने पर उस अनिन्द्य सुन्दरी ने अपनी दोनों जाँघों को फैलाकर एक दूसरे से चिपटा लिया। सिर पर घूँघट डाल लिया, आंखे नीची कर लीं, बोलना बन्द कर दिया और अपनी भुजाएँ सिकोड़ ली।

यहाँ चेष्टा से प्रच्छन्न (रुप में स्थित) कान्तविषयक अभिप्रायविशेष व्यङ्ग्य है। यहाँ ग्रन्थकार ने जिज्ञासा की निवृत्ति के लिए आर्थी व्यंजना के दस भेदों के अलग–अलग उदाहरण दिये हैं। वक्ता आदि के परस्पर संयोग से दो–दो तीन–तीन आदि के भेद से भी इनके उदाहरण दिए जा सकते हैं। जैसे विश्वनाथ ने साहित्यदर्पण में 'कालो मधु...' उदाहरण प्रस्तुत किया।

(सू.38) शब्दप्रमाणवेद्योऽर्थो व्यनक्त्यर्थान्तरं यतः।
अर्थस्य व्यंजकत्वे तच्छब्दस्य सहकारिता।। 23।।

व्याख्या – क्योंकि शब्द–प्रमाण से गम्य अर्थ ही अर्थान्तर को व्यक्त करता है इसलिए अर्थ के व्यंजकत्व में शब्द भी सहकारी होता है।

शाब्दी व्यंजना के प्रसंग में दिखाया गया कि शब्द मुख्य रूप से व्यंजक होता है उसके साथ अर्थ भी उसका सहकारी होता है इसी प्रकार आर्थी व्यंजना में अर्थ मुख्य रूप से व्यंजक होता है किन्तु उसके साथ शब्द भी उसका सहकारी होता है। अर्थात् एक की व्यंजकता में दूसरे की सहकारिता होती है।

कारिका में 'शब्द' (प्रमाण से गम्य अर्थ, अर्थान्तर को व्यक्त करता है) इससे सूचित होता है कि अनुमान आदि अन्य प्रमाणों से वेद्य अर्थ व्यंजक नहीं होता। अर्थात् केवल शब्द–प्रमाण से गम्य अर्थ ही अन्य अर्थ का व्यंजक होता है।

3.5 पारिभाषिक शब्दावली

समय	– इसका अर्थ है संकेत।
गूढ़	– जिसे समझना केवल सहृदय जनों (प्रतिभावान्) के लिए ही संभव हो।
अनवस्था	– किसी कल्पना की अविश्रान्त परम्परा
विशिष्ट	– विशेष (धर्मों से) युक्त विशिष्ट हैं जैसे शीतत्व पावनत्व (धर्मों) से युक्त तट
प्रकटता	– मीमांसकों के अनुसार प्रकटता (ज्ञातता) ज्ञान का फल है।
संवित्ति	– नैयायिकों के अनुसार संवित्ति (अनुव्यवसाय) ज्ञान का फल है।
अभिधामूला	– जिसके मूल में अभिधा है अर्थात् अभिधा के पश्चात् जिसकी प्रवृत्ति होती है।
लक्षणामूला	– जिसके मूल में लक्षणा है अर्थात् अभिधा के बाद लक्षणा तत्पश्चात् व्यंजना। ऐसी व्यंजना लक्षणा के पश्चात् प्रवृत्त होने से लक्षणा मूला कहलाती है।
काकु	– ध्वनि के विकार को काकु कहते हैं – भिन्नकण्ठध्वनिः काकु'

3.6 अभ्यासार्थ प्रश्न

बोध–प्रश्न

1. प्रयोजनवती लक्षणा व्यङ्ग्य के आधार पर कितने प्रकार की होती है।
   (अ) दो (ब) तीन
   (स) चार (द) पाँच ( )
2. आर्थी व्यंजना के कितने भेदों का ग्रन्थकार ने निरूपण किया है।
   (अ) दस (ब) पांच
   (स) छ (द) तीन ( )
3. मीमांसकों के अनुसार ज्ञान का फल है।
   (अ) संवित्ति (ब) विषय
   (स) ज्ञातता (द) इनमें से कोई नहीं ( )

4. प्रयोजन की प्रतीति होती हैं।
   (अ) अनुमान द्वारा (ब) अभिधा द्वारा
   (स) तात्पर्या द्वारा (द) व्यंजना द्वारा ( )
5. 'तच्च गूढमगूढं वा' की व्याख्या कीजिए।
6. **लक्ष्यं न मुख्यं नाप्यत्र बाधो योगः फलेन नो।**
   न प्रयोजनमेतस्मिन् न च शब्दः स्खलद्गतिः।। कारिका की विस्तार से व्याख्या कीजिए।
7. आर्थी व्यंजना का भेदों एवं उदाहरणों सहित निरूपण कीजिए।
8. विशिष्ट में लक्षणा मानने में क्या दोष हैं?

बोध–प्रश्नों के उत्तर

1. (ब)
2. (अ)
3. (स)
4. (द)
5. देखिए इकाई 3.2
6. देखिए इकाई 3.2.1.2
7. देखिए इकाई 3.4
8. देखिए इकाई 3.2.1.4

3.7 सारांश

प्रस्तुत इकाई में आपने शाब्दी व्यंजना के दोनों भेदों –अभिधामूला व्यंजना एवं लक्षणामूला व्यंजना का उदाहरणों सहित विस्तार से अध्ययन किया। प्रयोजन की प्रतीति में व्यंजना की अपरिहार्यता का विस्तृत विवेचन किया गया। अभिधा एवं लक्षणा से क्रमशः संकेतग्रह का अभाव एवं मुख्यार्थ बाधादिहेतुत्रय के अभाव के कारण प्रयोजन प्रतीति संभव नहीं है। विशिष्ट में भी लक्षणा को प्रवृत्ति नहीं हो सकती इन समस्त विषयों का सोदाहरण विस्तृत अध्ययन किया साथ ही आर्थी व्यंजना का भी उदाहरण सहित भेदों का निरूपण किया गया।

3.8 संदर्भ ग्रंथ सूची

1. काव्यप्रकाशः, आचार्य विश्वेश्वर सिद्धान्त शिरोमणि, ज्ञानमण्डल प्रकाशन, वाराणसी, 1960.
2. काव्यप्रकाशः, डॉ. श्रीनिवास शास्त्री. हिन्दी भवन, इलाहाबाद, 1969.
3. काव्यप्रकाशः, बालबोधिनीसहित, भण्डारकर ओरिएंटल रिसर्च इंस्टीट्यूट, पुणे,1952.
4. संस्कृत–काव्यशास्त्र एवं काव्यपरम्परा, प्रो. राधावल्लभ त्रिपाठी, प्रतिभा प्रकाशन, नई दिल्ली, 2004.

इकाई–4

काव्यप्रकाश–चतुर्थ उल्लास
(रस सम्बन्धी चार मतों का विवेचन)

इकाई की रूपरेखा

4.0 उद्देश्य
4.1 प्रस्तावना
4.2 लक्षणामूला ध्वनि भेद
  4.2.1 अविवक्षितवाच्यध्वनि
    4.2.1.1 अर्थान्तरसंक्रमितवाच्यध्वनि
    4.2.1.2 अत्यन्ततिरस्कृतवाच्यध्वनि
  4.2.2 विवक्षितवाच्यध्वनि
    4.2.2.1 असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यध्वनि
    4.2.2.2 असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यध्वनि के भेद
4.3 रसस्वरूप
  4.3.1 स्थायिभाव
  4.3.2 विभाव
  4.3.3 अनुभाव
  4.3.4 व्याभिचारिभाव
4.4 भरतमुनि का रसनिष्पत्ति सूत्र
  4.4.1 भट्टलोल्लट का उत्पत्तिवाद
  4.4.2 शङ्कुक का अनुमितिवाद
  4.4.3 भट्टनायक का भुक्तिवाद
  4.4.4 अभिनवगुप्त का अभिव्यक्तिवाद
  4.4.5 रस का अलौकिकत्व
4.5 रस
4.6 भाव
  4.6.1 रसाभास
  4.6.2 भावाभास
4.7 पारिभाषिक शब्दावली
4.8 अभ्यासार्थ प्रश्न
4.9 सारांश
4.10 संदर्भ ग्रंथ सूची

4.0 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़कर आप :–

- काव्य के भेदों में मुख्य रूप से ध्वनिकाव्य के भेदों को जान सकेगें।
- अविवक्षितवाच्य एवं विवक्षितवाच्य के अवान्तर भेदों को लक्षण एवं उदाहरण सहित जान सकेगें।

4.1 प्रस्तावना

यद्यपि काव्य लक्षण में शब्दार्थों के विशेषण भूत अदोषौ, सगुणौ तथा 'अनलंकृती पुनः क्वापि' के अनुसार शब्द एवं अर्थ के स्वरूप निरूपण के पश्चात् गुण, दोष, अलंकार का विवेचन होना चाहिए था किन्तु धर्मी के निरूपण करने पर ही (दोष, गुण) धर्मों की हेयता उपादेयता का ज्ञान हो सकता है। अतः यहाँ दोषादि के निरूपण को छोड़कर धर्मी (मुख्यभूत) काव्य के

भेदों का ही पूर्व में निरूपण किया जा रहा है। प्रस्तुत इकाई में ध्वनि के प्रमुख दो भेद अविवक्षितवाच्य एवं विवक्षितवाच्य का विस्तृत निरूपण किया जाएगा।

4.2 लक्षणामूला ध्वनि–भेद

मम्मट ने काव्य के उत्तम (ध्वनि) काव्य, गुणीभूतव्यङ्ग्य एवं चित्रकाव्य तीन भेद बतलाए। इनमें से जहाँ वाच्यार्थ की अपेक्षा व्यङ्ग्यार्थ अधिक चमत्कारी होता है उसे ध्वनिकाव्य कहते हैं। वह सबसे उत्तम काव्य माना जाता है इन तीन मुख्य भेदों के भी फिर अवान्तर भेद किए गए हैं। इसी प्रसङ्ग में सबसे पहले ध्वनिकाव्य के अवान्तर भेदों का विभाजन किया जा रहा है। वैसे तो मम्मट ने ध्वनि के भेदोपभेदों का भी बहुत अधिक विस्तार इस शास्त्र में किया है। परन्तु उसके मुख्य दो भेद हैं (1) अविवक्षितवाच्यध्वनि (2) विवक्षितवाच्यध्वनि। अविवक्षितवाच्यध्वनि का अपर नाम लक्षणामूलाध्वनि तथा विवक्षितवाच्यध्वनि का दूसरा नाम अभिधामूला ध्वनि है।

4.2.1 अविवक्षितवाच्य ध्वनि –

प्रसंग – लक्षणामूला ध्वनि में वाच्यार्थ की विवक्षा नहीं रहती इसलिए उसका नाम अविवक्षितवाच्यध्वनि रखा गया। इसके भी दो अवान्तर भेद हैं जिनका निरूपण मम्मट यहाँ कर रहे हैं –

(सू.39) अविवक्षितवाच्यो यस्तत्र वाच्यं भवेद् ध्वनौ।
अर्थान्तरे संक्रमितमत्यन्तं वा तिरस्कृतम्।।24।।

व्याख्या – अविवक्षित वाच्य (अर्थात् लक्षणामूला) जो ध्वनिभेद है उस ध्वनि में वाच्य या तो अर्थान्तर में संक्रमित हो जाता है या अत्यन्त तिरस्कृत हो जाता है इस प्रकार अविवक्षितवाच्य ध्वनि के 'अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य' एवं 'अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य' दो भेद बनते हैं। लक्षणामूला ध्वनि में गूढ़व्यङ्ग्य की प्रधानता होने पर ही जहाँ वाच्य अविवक्षित होता है वह अविवक्षितवाच्यध्वनि भेद कहलाता है अतः कारिका में प्रयुक्त सप्तम्यन्त 'ध्वनौ' को प्रथमान्त 'ध्वनिः' इस रूप में ग्रहण करना चाहिए ऐसा ग्रन्थकार अपनी वृत्ति में स्पष्ट करते है।

4.2.1.1 अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य –

उस अविवक्षित वाच्य ध्वनि में वाच्य विवक्षित नहीं होता अतः अनुपयुक्त होने के कारण (अपने किसी विशेष भेदरूप) अर्थान्तर में परिणत हो जाता है उसे 'अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य–ध्वनि' कहते हैं। उदाहरण से यह अधिक स्पष्ट हो जाएगा।

त्वामस्मि वच्मि विदुषां समवायोऽत्र तिष्ठति।
आत्मीयां मतिमास्थाय स्थितिमत्र विधेहि ।।

मैं तुम्हें कहता हूँ कि यहाँ विद्वानों का समुदाय उपस्थित है इसलिए अपनी बुद्धि को स्थिर करके रहना।

प्रस्तुत श्लोक में अपने शिष्य के प्रति विद्वान् की उक्ति है। यहाँ 'त्वाम्' पद का प्रयोग अन्यों से व्यावृत्त कर उस शिष्य की विशेषता को सूचित करता है। 'अस्मि' पद कहने वाले की विशेष हितभावना को व्यक्त करता है। इसी प्रकार 'वच्मि' पद अपने साधारण अर्थ को छोड़कर उपदश करता हूँ इस विशेष अर्थ का बोधन करता है। इस प्रकार इस श्लोक के पद अपने वाच्यार्थ के अनुपयुक्त होने से अर्थान्तर (अन्य अर्थ) में संक्रमित हो जाते हैं।

4.2.1.2 अत्यन्ततिरस्कृतवाच्यध्वनि –

अविवक्षितवाच्यध्वनि या लक्षणामूला ध्वनि का दूसरा भेद 'अत्यन्ततिरस्कृतवाच्यध्वनि' होता है। कहीं वाच्यार्थ अनुपपद्यमान होने से अत्यन्त तिरस्कृत हो जाता है। उसे अत्यन्ततिरस्कृतवाच्यध्वनि कहते हैं। उदाहरण से यह स्पष्ट हो जाएगा।

उपकृतं बहु तत्र किमुच्यते सुजनता प्रथिता भवता परम्।
विदधदीदृशमेव सदा सखे सुखितमास्स्व ततः शरदां शतम्।।

प्रस्तुत श्लोक में कोई (अपकृत व्यक्ति) अपकार करने वाले के प्रति विपरीत लक्षणा से यह कह रहा है –

आपने बड़ा उपकार किया, आपकी सज्जनता की कहाँ तक प्रशंसा की जाये, हे मित्र, सदा ऐसा ही करते हुए तुम सैंकड़ों वर्ष तक सुखी होकर इस संसार में रहो।

अपकारी मित्र के प्रति सताए गए व्यक्ति की यह उक्ति है। उसमें 'उपकृतम्' 'सुजनता' आदि शब्दों की मुख्य अर्थ में सङ्गति नहीं बैठती। इसलिए विपरीत लक्षणा द्वारा 'उपकृतम्' 'अपकृतम्' तथा 'सुजनता' दुर्जनता अर्थ के बोधक बन जाते हैं इस प्रकार वाच्यार्थ का अत्यन्त तिरस्कार हो जाता है तथा विपरीत लक्षणा से इस श्लोक का अर्थ बदल जाता है –

तुमने मेरा अत्यधिक अपकार किया तुम्हारी दुर्जनता की जितनी निन्दा की जाये कम है। हे मित्रद्रोही, इस प्रकार का अपकार करके तुम कभी सुखी मत रहना।

4.2.2 विवक्षितवाच्यध्वनि –

(सू.40) विवक्षितं चान्यपरं वाच्यं यत्रापरस्तु सः।

व्याख्या – जहाँ वाच्यार्थ विवक्षित होने पर भी अन्यपरक (व्यंग्यनिष्ठ) होता है वह (अभिधामूलावनि) विवक्षितान्यपरवाच्य नामक दूसरा भेद होता है।

कारिका में अन्यपर शब्द का अर्थ व्यंग्यनिष्ठ।

इस अभिधामूला व्यंजना या विवक्षितान्यपरवाच्य के दो भेद हैं –

(सू.41) कोऽप्यलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यो लक्ष्यव्यङ्ग्यक्रमः परः।।25।।

एक तो कोई (अनिर्वचनीय अनुभवैकगोचर रसध्वनिरूप) अलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य (जिसमें वाच्य और व्यङ्ग्य अर्थों के क्रम में प्रतीति नहीं होती है इस प्रकार का) तथा दूसरा संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य (जिसमें वाच्य तथा व्यङ्ग्य अर्थों का क्रम लक्षित होता हैं इस प्रकार का ध्वनिकाव्य) होता है।

4.2.2.1 असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यध्वनि –

अभिधामूला ध्वनि के असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य एवं संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य दो भेद किए हैं इनमें असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य ध्वनि रसादिध्वनि को कहते हैं। कारिका में 'अक्रमव्यङ्ग्य' न कहकर 'असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य' ध्वनि कहा है। इसका तात्पर्य यह है कि वाच्य और व्यङ्ग्य की प्रतीति का क्रम अवश्य होता है परन्तु शीघ्रता के कारण दिखाई नहीं देता। विभाव, अनुभाव एवं व्यभिचारि भावादि की प्रतीति ही रस नहीं है अपितु उनकी प्रतीति रसप्रतीति का कारण है। विभावादि की प्रतीति होने के बाद रस की प्रतीति होती है अतः क्रम अवश्य रहता है परन्तु जैसे कमल के सौ पत्तों को एक साथ रखकर उनमें सूई चुभायी जाय तो वह उन पत्रों का छेदन तो क्रम में करती है परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि वह एक साथ सौ पत्तों के पार पहुँच गयी है। इसी प्रकार रसानुभूति में विभावादि प्रतीति का क्रम होने पर भी उसकी प्रतीति न होने से उसको 'असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यध्वनि' कहा गया है।

4.2.2.2 असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यध्वनि भेद–

प्रसंग – इस असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यध्वनि के अनेक भेद हैं –

(सू.42) रसभावतदाभासभावशान्त्यादिरक्रमः।

भिन्नो रसाद्यलंकारादलङ्कार्यतया स्थितः।।26।।

व्याख्या – रस, भाव, तदाभास (अर्थात् रसाभास, भावाभास,) और भावशान्ति आदि (अर्थात् 1. भावोदय 2. भावशान्ति 3. भावसन्धि 4. भावशबलता) अलक्ष्यक्रम (ध्वनिप्रधान होने के कारण) अलंकार्य होने से 'रसवत्' आदि (अर्थात् रसवत्, प्रेय, ऊर्जस्विन्, समाहित इन चारों) अलंकारो से भिन्न हैं।

आदि (पद के ग्रहण से 1. भावोदय 2. भावसन्धि 3. भावशबलत्व का भी ग्रहण होता हैं) जहाँ रस आदि प्रधानरूप में स्थित होते है वहाँ वे अलंकार्य कहलाते हैं, जहाँ अन्य (वस्तु या अंलकार आदि रूप) वाक्यार्थ के प्रधान होने पर रसादि (उन वस्तु या अलंकार आदि के) अंग होते हैं उनमें (रसादि के) गुणीभूतव्यंग्य होने पर 1. रसवत् 2. प्रेय 3. ऊर्जस्विन् 4. समाहित आदि चार अलंकार होते हैं।

इस प्रकार (1) रस (2) भाव (3) रसाभास (4) भावाभास (5) भावोदय (6) भावशान्ति (7) भावसन्धि (8) भावशबलता ये आठों जब काव्य में प्रधान रूप से स्थित होते हैं तब रसादिरूप असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यध्वनि काव्य कहलाता है। जब ये वस्तु या अलंकारादि किसी अन्य के अंग बन जाते हैं तब गुणीभूतव्यङ्ग्य नामक काव्य भेद हो जाता है।

इन आठ भेदों में रस प्रधान है अतः सर्वप्रथम उसी का दो कारिकाओं द्वारा निरूपण किया जाता है।

4.3 रसस्वरूप –

(सू.43) कारणान्यथ कार्याणि सहकारीणि यानि च।
रत्यादेः स्थायिनो लोके तानि चेन्नाट्यकाव्ययोः।।27।।
विभावा अनुभावास्तत् कथ्यन्ते व्यभिचारिणः।
व्यक्तः स तैर्विभावाद्यैः स्थायी भावो रसः स्मृतः।।28।।

व्याख्या – लोक में रति आदिरूप स्थायी भाव के जो कारण, काय और सहकारी होते हैं वे यदि नाटक या काव्य में प्रयुक्त होते हैं तो क्रमशः विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भाव कहलाते हैं और उन विभावादि से व्यक्त वह (रति रूप) स्थायी भाव 'रस' कहलाता है।

इन कारिकाओं में विभाव, अनुभाव, व्याभिचारिभाव तथा स्थायिभाव स रस की निष्पत्ति का वर्णन किया गया है रति आदि की उत्पत्ति के जो कारण है वे विभाव शब्द से, कार्य अनुभाव शब्द से एवं सहकारी कारण व्यभिचारिभाव नाम से कहे जाते हैं।

4.3.1 स्थायिभाव –

रस की प्रक्रिया में आलम्बन तथा उद्दीपन विभाव, अनुभाव, व्याभिचारिभाव रस के बाह्य कारण हैं। रसानुभूति का आन्तरिक और मुख्य कारण स्थायिभाव है। स्थायिभाव मन के भीतर स्थिर रूप से रहने वाला प्रसुप्त संस्कार है जो अनुकूल आलम्बन तथा उद्दीपन रूप उद्बोधक सामग्री को प्राप्त कर अभिव्यक्त हो उठता है और हृदय में एक अपूर्व आनन्द का संचार कर देता है। इस स्थायिभाव की अभिव्यक्ति ही रसास्वादजनक या रस्यमान होने से रस शब्द से बोध्य होती है इसीलिए कारिका में व्यक्तः स तैर्विभावाद्यैः स्थायी भावो रसः स्मृतः।

अर्थात् इन विभाव, अनुभाव व व्यभिचारिभावो के संयोग से व्यक्त होने वाले स्थायिभाव को रस कहते हैं। व्यवहार दशा में मनुष्य को जिस–जिस प्रकार की अनुभूति होती है उसे ध्यान में रखकर साहित्य शास्त्र में आठ प्रकार के स्थायिभाव माने गए हैं–रति, हास, शोक, क्रोध, उत्साह, भय, जुगुप्सा, विस्मय। कुछ आचार्य निर्वेद को नौंवा स्थायिभाव मानते हैं।

ये नौ स्थायिभाव मनुष्य के हृदय में स्थायी रूप से सदा विद्यमान रहते हैं इसलिए स्थायिभाव कहलाते हैं।

4.3.2 विभाव –

रति आदि के कारण रूप विभाव दो प्रकार के होते हैं एक आलम्बन रूप दूसरा उद्दीपन रूप। सीता, राम आदि एक दूसरे की प्रीति के आलम्बनरूप कारण होते हैं क्योंकि सीता का देखकर राम में एवं राम को देखकर सीता के मन में रति की उत्पत्ति होती है। अतः ये आलम्बन विभाव कहलाते हैं तथा परस्पर रति या प्रेम की उत्पत्ति के कारण होते हैं।

इस रति को उद्बुद्ध करने वाली चाँदनी, उद्यान, नदीतीर आदि सामग्री को उद्दीपन विभाव कहा जाता है क्योंकि वे पूर्वोत्पन्न रति आदि को उद्दीप्त करने वाले हैं। रस की प्रक्रिया में ये रस का बाह्य कारण है। प्रत्येक रस के आलम्बन तथा उद्दीपन–विभाव अलग–अलग होते हैं।

4.3.3 अनुभाव–

आलम्बन तथा उद्दीपन भाव के समान अनुभाव एवं व्यभिचारिभाव उस आन्तर रसानुभूति से उत्पन्न, उसकी बाह्याभिव्यक्ति के प्रयोजक शारीरिक तथा मानसिक व्यापार हैं। रत्यादि का कार्यरूप काव्य या नाट्य में अनुभाव कहे जाते हैं। जो वाचिक या आंगिक अभिनय के द्वारा रत्यादि स्थायिभाव की आन्तर अभिव्यक्ति रूप अर्थ का बाह्यरूप से अनुभव कराता है उसे अनुभाव कहते हैं। रस को प्रकाशित करने वाले स्मित आदि बाह्य व्यापार अनुभाव कहलाते हैं। प्रत्येक रस के अलग–अलग अनुभाव होते हैं। अनुभाव वस्तुतः आन्तर रसानुभूति की बाह्य अभिव्यंजना के साधन हैं और उनमें शारीरिक व्यापार की प्रधानता रहती है, नट कृत्रिम रूप से इन अनुभावों का अभिनय करता है परन्तु अनुकार्य राम आदि की अन्तःस्थ रसानुभूति की बाह्य अभिव्यक्ति इन साधनों के द्वारा होती है, वे रसानुभूति के 'अनु पश्चात् भवन्ति इत्यनुभावाः' बाद में होते हैं, रसानुभूति के कार्य हैं अतः अनुभाव कहलाते हैं।

4.3.4 व्यभिचारिभाव –

उद्बुद्ध हुए स्थायिभावों की पुष्टि तथा उपचय में जो उनके सहकारी होते हैं उनको व्यभिचारिभाव कहते हैं। भरतमुनि व्यभिचारिभाव शब्द की निरुक्ति इस प्रकार करते हैं – वि अभि इत्येतावुपसर्गौ, चर इति गत्यर्थो धातुः। विविधम् आभिमुख्येन रसेषु चरन्तीति व्यभिचारिणः। वागङ्गसत्त्वोपेताः प्रयोगे रसान्नयन्तीति व्यभिचारिणः।

अर्थात् जो रसों में नाना रूप से विचरण करते हैं और रसों को पुष्ट कर आस्वाद के योग्य बनाते हैं उनको व्यभिचारिभाव कहते हैं इनकी संख्या 33 मानी गयी है।

4.4 भरतमुनि का रसनिष्पत्तिसूत्र

रस की निष्पत्ति का प्रथम उल्लेख भरतमुनि ने अपने नाट्यशास्त्र में किया –

विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद् रसनिष्पत्तिः –

अर्थात् विभाव, अनुभाव, व्यभिचारि भाव के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है। भरतमुनि का यह सूत्र सारे रस सिद्धान्त की आधार भित्ति है। भरतमुनि के इस सूत्र की व्याख्या के प्रयास में उत्तरवर्ती आचार्यों के द्वारा (1) उत्पत्तिवाद (2) अनुमितिवाद (3) भुक्तिवाद (4) अभिव्यक्तिवाद इन चार सिद्धान्तों का विकास हुआ। विभाव, अनुभाव एवं व्यभिचारिभावों के संयोग से रस निष्पत्ति होती है इस भरतसूत्र में 'निष्पत्ति' शब्द के चार अर्थ किए गए – भट्टलोल्लट के मत में निष्पत्ति का अर्थ 'उत्पत्ति', शङ्कुक के मत में 'अनुमिति', भट्टनायक के मत में 'भुक्ति' तथा अभिनवगुप्त के मत में अभिव्यक्ति हैं।

आचार्य मम्मट ने अपने ग्रन्थ में इन चारों का विस्तार से निरूपण किया है –

4.4.1 भट्टलोल्लट का उत्पत्तिवाद

विभावैर्ललनोद्यानादिभिरालम्बनोद्दीपनकारणैः रत्यादिको भावो जनितः, अनुभावैः कटाक्षभुजाक्षेपप्रभृतिभिः कार्यैः प्रतीतियोग्यः कृतः, व्यभिचारिभिर्निर्वेदादिभिः सहकारिभिरुपचितो मुख्यया वृत्त्या रामादावनुकार्ये तद्रूपतानुसन्धानान्नर्त्तकेऽपि प्रतीयमानो रस इति भट्टलोल्लटप्रभृतयः।

ललना, उद्यान आदि विभावो से रति आदि (स्थायिभाव) उत्पन्न हुआ, कार्यभूत कटाक्ष, भुजाक्षेप आदि अनुभावों से प्रतीति के योग्य किया गया एवं सहकारी रूप निर्वेदादि व्यभिचारि भावो से पुष्ट किया गया मुख्यरूप से अनुकार्यरूप राम आदि में और उनके स्वरूप का अनुकरण करने से नट में प्रतीयमान (अर्थात् आरोप्यमाण रत्यादि स्थायिभाव ही) रस कहलाता है।

भरतमुनि के व्याख्याकारों में भट्टलोल्लट उत्पत्तिवाद को मानने वाले हैं।

भट्टलोल्लट के मत में विभाव, अनुभाव आदि के संयोग से अनुकार्य राम आदि में रस की उत्पत्ति होती है। अनुभाव उस उत्पन्न हुए रस को प्रतीति योग्य बनाते हैं तथा व्यभिचारिभाव उस उत्पन्न रस के परिपोषक होते हैं इस प्रकार स्थायिभाव के साथ विभावों का उत्पाद्य–उत्पादकभाव, अनुभावों का गम्य–गमक भाव तथा व्यभिचारिभावों का पोष्य–पोषक भाव सम्बन्ध होता है इसलिए भरतसूत्र में जो 'संयोग' शब्द आया है उसके भट्टलोल्लट के मत में तीन अर्थ होते हैं–

विभावों के साथ संयोग उत्पाद्य–उत्पादक भाव, अनुभावों के साथ संयोग गम्यगमक भाव तथा व्यभिचारिभावों के साथ संयोग पोष्य पोषक भाव सम्बन्ध होता है इसी के अनुरूप 'निष्पत्ति' के भी तीन अर्थ होते हैं – जनितः', प्रतीतियोग्यः कृतः, उपचितः। अर्थात् विभावों के साथ संयोग अर्थात् उत्पाद्य–उत्पादक भाव सम्बन्ध से उत्पत्ति (जनितः) अनुभावों के साथ संयोग अर्थात् गम्य–गमक भाव सम्बन्ध से प्रतीति से प्रतीति योग्य (प्रतीतियोग्यः कृतः) तथा व्यभिचारि भावों के साथ पोष्य–पोषक भाव सम्बन्ध से पुष्ट (उपचितः) होता है। इस प्रकार निष्पत्ति का अर्थ क्रमशः उत्पत्ति, प्रतीति व पुष्टि अर्थ होता है।

भट्टलोल्लट के मत में मुख्यरूप से अनुकार्य राम आदि में रहता है तथा उसका अनुकती होने के कारण गौणरूप से नट में भी रस की स्थिति मानी जाती है। परन्तु सामाजिक में रस की उत्पत्ति नहीं मानी जाती।

भट्टलोल्लट के मत की न्यूनता – (1) इस मत की सबसे बड़ी कमी यह है कि इसमें मुख्य रूप से अनुकार्य तथा गौणरूप से नट में रस की उत्पत्ति, प्रतीति व पुष्टि मानी है। सामाजिक को रसानुभूति कैसे होती है इस पर विचार नहीं किया गया।
(2) अनुकार्य रूप राम–सीता आदि इस समय जगत् में उपस्थित नहीं है अतः इस समय किए जाने वाले अभिनय से उसमें रस की उत्पत्ति नहीं हो सकती, इसलिए उनके अनुकर्ता नट में भी रस की उत्पत्ति नहीं हो सकती।

4.4.2 शङ्कुक का अनुमितिवाद –

राम एवायम् अयमेव राम इति, न रामोऽयमित्यौत्तरकालिके बाधे रामोऽयमिति, रामः स्याद्वा न वाऽयमिति, रामसदृशोऽयमिति, च समयङ्मिथ्यासंशयसादृश्यप्रतीतिभ्यो विलक्षणया चित्रतुरगादिन्यायेन रामोऽयमिति प्रतिपत्त्या ग्राह्ये नटे –

'सेयं ममाङ्गेषु सुधारसच्छटा सुपूरकर्पूरशलाकिका दृशोः।
मनोरथश्रीर्मनसः शरीरिणी प्राणेश्वरी लोचनगोचरं गता।।

1. 'यह राम ही है' अथवा 'यह ही राम है' (इस प्रकार की सम्यक् प्रतीति), 2. 'यह राम नहीं है' इस प्रकार उत्तरकाल में बाधित होने वाली 'यह राम' है (इस प्रकार की मिथ्याप्रतीति), 3. 'यह राम है या नहीं (इस प्रकार संशयरूप प्रतीति) और 4. 'यह राम के समान है' (इस प्रकार की सादृश्य प्रतीति,) इन 1. सम्यक् प्रतीति, 2. मिथ्याप्रतीति, 3. संशयप्रतीति तथा 4. सादृश्यप्रतीतियों से भिन्न प्रकार की 'चित्र–तुरग–न्याय' से होनेवाली (पाँचवे प्रकार की) प्रतीति से ग्राह्य नट में–
मेरे अंगों में सुधारसके समान (आनन्ददायिनी), आँखो के लिए कर्पूरकी शलाकाके समान (शीतलतादायक) और मनके लिए शरीरधारिणो मनोरथश्री के समान यह प्राणेश्वरी मुझे अब दिखलायी दे रही है।

दैवादहमद्य तया चपलायतनेत्रया वियुक्तश्च।
अविरलविलोलजलदः कालः समुपागतश्चायम्।।

दैवात् मैं चंचल, बड़ी–बड़ी आँखोंवाली उस (प्रियतमा) से आज ही अलग हुआ और (आज ही) निरन्तर उमड़ते हुए मेघों से युक्त यह (सन्तापकारी वर्षा का) काल आ गया।

इत्यादिकाव्यानुसन्धानबलाच्छिक्षाभ्यासनिर्वर्तितस्वकार्यप्रकटनेन च नटेनैव प्रकाशितैः कारणकार्यसहकारिभिः कृत्रिमैरपि तथाऽनभिमन्यमानैर्विभावादिशब्दव्यपदेश्यैः 'संयोगात्' गम्यगमकभावरूपात्, अनुमीयमानोऽपि वस्तुसौन्दर्यबलाद्रसनीयत्वेनान्यानुमीयमानविलक्षणः स्थायित्वेन सम्भाव्यमानो रत्यादिर्भावस्तत्रासन्नपि सामाजिकानां वासनया चर्व्यमाणो रस इति श्रीशङ्कुकः।

इत्यादि काव्यों के अनुशीलन से तथा शिक्षा के अभ्याससे सिद्ध किये गए अपने (अनुभाव इत्यादि) कार्य से नट के ही द्वारा प्रकाशित किये जाने वाले, कृत्रिम होने पर भो कृत्रिम न समझे जाने वाले, विभाव आदि शब्दों से व्यवहृत होने वाले, कारण, कार्य और सहकारियों के साथ संयोग अर्थात् गम्य गमकभावरूप सम्बन्ध से, अनुमीयमान होने पर भी, वस्तु के सौन्दर्य के कारण तथा आस्वाद का विषय होने से अन्य अनुमीयमान अर्थो से विलक्षण स्थायिरूप से सम्भाव्यमान रति आदिभाव वहाँ (अर्थात् नट में वास्तव रूप में) न रहते हुए भी सामाजिक के संस्कारों से (स्वात्मगतत्वेन) आस्वाद किया जाता हुआ 'रस' कहलाता है। यह श्रीशंकुकका मत है। (इस मतमें भरत–सूत्रके 'निष्पत्ति' शब्दका अर्थ 'अनुमिति' और 'संयोग' शब्दका अर्थ गम्य–गमकभाव सम्बन्ध है।

शङ्कुक न्याय सिद्धान्त के अनुयायी हैं उन्होने भरत के इस सूत्र की दूसरे प्रकार से व्याख्या प्रस्तुत की है। उन्होंने सामाजिक के साथ रस का सम्बन्ध दिखलाने का प्रयास किया है इस व्याख्या के अनुसार नट कृत्रिम रूप से अनुभाव आदि का प्रकाशन करता है। उन कृत्रिम अनुभाव आदि को देखकर सामाजिक, नट में वस्तुतः विद्यमान न होने पर भी उसमें रस का अनुमान कर लेता है तथा अपनी वासना के वशीभूत होकर उस अनुमीयमान रस का आस्वादन कर लेता है। शङ्कुक के इस विवेचन में निम्नलिखित महत्त्वपूर्ण बातें प्रतिपादित है–

(1) शङ्कुक ने नट में रस को अनुमेय माना है। नट में यह प्रतीति (राम बुद्धि) 'चित्रतुरग न्याय' से होती है। घोड़े का चित्र देखकर यह घोड़ा है इस प्रकार का व्यवहार होता है इस प्रतीति को –
(अ) सत्य नहीं कहा जा सकता क्योंकि वह वस्तुतः घोड़ा न होकर चित्र मात्र है।
(ब) मिथ्या भी नहीं कहा जा सकता क्योंकि चित्र में तो घोड़ा ही है।
(स) संशयरूप भी नहीं कहा जा सकता – घोड़ा है या नहीं ऐसा संशय वहाँ नहीं है।
(द) सादृश्य रूप प्रतीति भी नहीं कहा जा सकता क्योंकि घोड़े के चित्र को देखकर यह घोड़े के सदृश है ऐसा भी नहीं कहा जा सकता।
इस प्रकार घोड़े के चित्र में होने वाला व्यवहार (1) सम्यक् (2) मिथ्या (3) संशय तथा (4) सादृश्य इन चारों प्रकार की प्रतीतियों में भिन्न होता है। इसी प्रकार नट में राम बुद्धि भी सम्यक्, मिथ्या, संशय एवं सादृश्य – इन चारों प्रतीतियों से विलक्षण होती है।
(2) रस की अनुमिति में राम–सीता आदि विभावों की प्रतीति तो चित्रतुरगन्याय से होती है, जिन अनुभाव एवं व्यभिचारिभाव लिङ्गों से सीतादि की रामविषयक रति आदि का कटाक्षादि से अनुमान होता है वह भी यथार्थ नहीं होता क्योंकि यथार्थ अनुभाव या व्यभिचारिभावादि तो यथार्थ राम–सीता में होंगे नट तो उनका अभिनय के द्वारा प्रदर्शन करता है अतः ये सभी कृत्रिम है तथा सामाजिक नट में इनका अनुमान कर लेता हैं इस प्रकार कृत्रिम राम–सीता रूप नट में कृत्रिम विभावादि के द्वारा आनुमानिक रस की प्रतीति होती है।
(3) इस मत के अनुसार भरत के रससूत्र के 'संयोगात्' शब्द का अर्थ 'गम्य–गमकभावसम्बन्धात्' होता है तथा 'निष्पतिः'' का अर्थ अनुमिति होता है।
(4) अनुमानिक रस–प्रतीति का आधार नट (कृत्रिम राम–सीतादि) होता है तथा सामाजिक उसका अनुमान करता है।
(5) यद्यपि अनुमान प्रमाण से हाने वाला ज्ञान परोक्ष होता है किन्तु रसानुमिति की विशेषता यह है कि यह अनुमिति होने पर भी अपरोक्ष अर्थात् प्रत्यक्षरूप होती है इसलिए इस अनुमित रस का सामाजिक को भी आस्वाद होता है।
(6) सामाजिक के रस के आस्वाद का कारण उसकी वासना एवं रसप्रतीति में विलक्षण अपरोक्षता की कल्पना है।

शङ्कुक के मत की न्यूनता –

(1) शङ्कुक ने सामाजिक में रस प्रतीति का प्रतिपादन तो किया किन्तु कृत्रिम रामादि में कृत्रिम विभावादि के द्वारा रति का अनुमान सामाजिक में रसानुभूति की समस्या का समाधान नहीं करता।
(2) रसानुभूति में अनुमिति के द्वारा साक्षात्कार संभव नहीं है क्योंकि अनुमिति से परोक्ष ज्ञान ही होता है अपरोक्ष नहीं।

4.4.3 भट्टनायक का भुक्तिवाद –

भट्टनायक ने सामाजिक को होने वाली साक्षात्कारात्मक रस प्रतीति में नये मार्ग का प्रतिपादन किया। उनका मत मम्मट ने इस प्रकार प्रस्तुत किया है–

'न ताटस्थ्येन नात्मगतत्वेन रसः प्रतीयते, नोत्पद्यते, नाभिव्यज्यते अपितु काव्ये नाट्ये चाभिधातो द्वितीयेन विभावादिसाधारणीकरणात्मना भावकत्वव्यापारेण भाव्यमानः स्थायी, सत्वोद्रेकप्रकाशानन्दमयसंविद्विश्रान्तिसतत्त्वेन भोगेन भुज्यते' इति भट्टनायकः।

अर्थात् न तटस्थ रूप से (नटगत या अनुकार्यगत रूप से) रस की प्रतीति (अनुमिति) होती है न उत्पत्ति होती हैं (क्योंकि तटस्थगत रस की उत्पत्ति या अनुमिति मानने से सामाजिक को रस का आस्वादन नहीं हो सकता) और न ही सामाजिक को आत्मगत रूप से रस की अभिव्यक्ति होती है क्योंकि अभिव्यक्ति तो सदा पूर्व से विद्यमान अर्थ की होती है रस केवल अनुभूति स्वरूप है अतः अनुभूति से भिन्न काल (अनुभूति से पूर्व या अनुभूति के पश्चात्) में रस की स्थिति नहीं होती अपितु काव्य अथवा नाट्य मे अभिधा आदि (लक्षणा, तात्पर्यादि) से

भिन्न विभावादि के साधारणीकरण रूप 'भावकत्व' व्यापार से साधारणीकृत रत्यादि स्थायिभाव सत्व के उद्रेक (सत्त्वगुण के आधिक्य) से प्रकाश एवं आनन्दमय अनुभूति की स्थिति के सदृश भोग से (भोजकत्व व्यापार से) आस्वादित किया जाता है।

भट्टनायक का 'भुक्तिवाद' विद्वानों के द्वारा सांख्यमतानुयायी सिद्धान्त माना गया है। सांख्य में सुख–दुख आदि अन्तःकरण के धर्म माने गये हैं आत्मा के नहीं किन्तु पुरुष का अन्तःकरण से सम्बन्ध होने के कारण पुरुष में उनकी औपाधिक प्रतीति होती है वास्तविक नहीं। इसी प्रकार सामाजिक में न रहने वाले रस का भोग होता हैं इस सादृश्य के आधार पर इस सिद्धान्त का सांख्यमतानुयायी कहा जाता है।

भट्टनायक के मत में –

1. अनुमान से रस प्रतीति उचित नहीं क्योंकि अनुमिति उस वस्तु की होती है जो प्रत्यक्षादि द्वारा पूर्व अनुभूत हो।
2. रस की उत्पत्ति मानना भी उचित नहीं–क्योंकि करुणादि रसों के दुःखोत्पादक होने से सामाजिकों की उनके प्रति प्रवृत्ति नहीं होगी।
3. अभिव्यक्ति उस वस्तु की होती है जो पूर्व सिद्ध हो। रस तो ऐसी अनुभूति हैं जो अनुभूति से पहले अथवा बाद के समय में नहीं रहती।

भट्टनायक ने 'संयोगात्' का अर्थ 'भोज्यभोजकभावसम्बन्धात्' तथा 'निष्पत्तिः' का अर्थ 'भुक्तिः' किया।

काव्य के शब्द अन्य शब्दों से विलक्षण होते हैं इनमें एक तो अभिधा व्यापार होता है एवं उससे भिन्न दो व्यापार भावकत्व एवं भोजकत्व होते हैं। इनमें अभिधा व्यापार वाच्यार्थादिविषयक होता हैं, भावकत्व व्यापार रस विषयक होता है तथा भोजकत्व व्यापार सहृदयविषयक होता है।

अभिधा के द्वारा काव्य के वाच्यार्थ को जानने के पश्चात् उससे विलक्षण भावकत्व व्यापार के द्वारा विभावादि राम–सीतादि पात्र अपने विशिष्ट अंश को त्यागकर साधारण नायक–नायिका मात्र रह जाते हैं अर्थात् राम अपने 'रामत्व' एवं सीता अपने 'सीतात्व' रूप विशेष का छोड़ देते हैं तथा सामान्य नायक या नायिका मात्र रह जाते है। अपने असाधारणत्व (विशेष) को छोड़कर साधारण हो जाना साधारणीकरण कहलाता है जो भावकत्व व्यापार का कार्य है। इस प्रकार
साधारणीकरण द्वारा रस के भावित हो जाने पर भोजकत्व व्यापार कार्य करता है। इस व्यापार से स्थायिभाव का भोग होता है। यह भोग चित्त की द्रुति या विस्तार रूप है, रजस् व तमस् के वैचिष्य से रहित सत्त्वमय है, निज चेतन स्वरूप है, परम–ब्रह्म के आस्वाद के सदृश है।

भट्टनायक के मत की न्यूनता –

भट्टनायक ने अपनी इस प्रक्रिया द्वारा सामाजिकगत रसानुभूति का उपपादन किया है। किन्तु उनके द्वारा कल्पित दो नवीन व्यापार 'भावकत्व' एवं 'भोजकत्व' अनुभवसिद्ध नहीं है साथ ही जिस स्थायिभाव का भोग बताया है वह राम–सीतादि गत है अथवा नट या सामाजिकगत इसका स्पष्टीकरण भी नहीं किया गया है।

4.4.4 अभिनवगुप्त का अभिव्यक्तिवाद–

लाके प्रमदादिभिः स्थाय्यनुमानेऽभ्यासपाटववतां काव्ये नाट्ये च तैरेव कारण–त्वादिपरिहारेण विभावनादिव्यापारवत्त्वादलौकिकविभावादिशब्दव्यावहार्य्यैर्ममैवैते, शत्रोरेवैते, तटस्थस्यैवेते, न ममैवैते, न शत्रोरेवैते, न तटस्थस्यैवैते, इति सम्बन्धविशेष स्वीकारपरिहारनियमानध्यवसायात् साधारण्येन प्रतीतैरभिव्यक्तः सामाजिकानां वासनात्मकतया स्थितः स्थायी रत्यादिको नियतप्रमातृगतत्वेन स्थितोऽपि साधारणोपायबलात् तत्कालविगलितपरिमितप्रमातृभाववशोन्मिषितवेद्यान्तरसम्पर्कशून्या– परिमितभावेन प्रमात्रा सकलसहृदयसंवादभाजा साधारण्येन स्वाकार इवाभिन्नोऽपि गोचरीकृतश्चर्व्यमाणतैकप्राणः, विभावादिजीविताविधिः, पानकरसन्यायेन चर्व्यमाणः पुर

इव परिस्फुरन्, हृदयमिव प्रविशन्, सर्वाङ्गीणमिवालिङ्गन्, अन्यत्सर्वमिव तिरोदधद्, ब्रह्मास्वादमिवानुभावयन्, अलौकिकचमत्कारकारी शृंगारादिको रसः।

लोक में प्रमदा आदि (अर्थात् प्रमदा, उद्यान, कटाक्ष, आदि विभाग, अनुभावादिके देखने) से (उन प्रमदादि में रहने वाले रति आदिरूप) स्थायी (भावों) के अनुमान करने में निपुण सहृदयों का काव्य तथा नाटकों में कारणत्व (कार्यत्व तथा सहकारित्व) आदि को छोड़कर विभावन आदि व्यापार (रत्यादीनाम् आस्वादयोग्यतानयनरूपाविर्भावनं अर्थात् रत्यादिको आस्वादयोग्य रूप प्रदान करना 'विभावन व्यापार' कहलाता है आदि पदसे 'अनुभावन' तथा 'व्यभिचारण' व्यापार का भी संग्रह होता है। इस प्रकार के आस्वाद योग्य रत्यादि को 'अनुभवविषयीकरणमनुभावनम्' अनुभव का विषय बनाना 'अनुभावन' तथा 'काये विशेषेण अभितः रत्यादीनां संचारणं व्यभिचारणम्' शरीर में रति आदि के प्रभाव का संचारण 'व्यभिचारण' व्यापार) से युक्त होने से विभावादि शब्दोंसे व्यवहार्य उन्हीं (प्रमदादि रूप कारण, कार्य, सहकारियों) से (जो) 'ये मेरे ही हैं' या 'शत्रु के ही हैं' या 'तटस्थके ही हैं' अथवा 'ये न मेरे ही हैं', 'न शत्रुके ही हैं' और 'न तटस्थके ही हैं' इस प्रकार के सम्बन्धविशेषका स्वीकार अथवा परिहार करने के नियमका निश्चय न होने से साधारण (अर्थात् विशेष व्यक्तिके सम्बन्ध से रहित) रूपसे प्रतीत होनेवाले (उन विभावादि) से ही अभिव्यक्त होनेवाला और सामाजिकों में वासनारूपसे विद्यमान रति आदि स्थायी (भाव) नियत प्रमाता (अर्थात् विशिष्ट एक सामाजिक) में स्थिर होने पर भी साधारणोपाय (अर्थात् व्यक्तिविशेष के सम्बन्ध के बिना प्रतीत होने वाले विभावादि) के बल से उसी (रसानुभवके) काल म (मैं ही इसका आस्वादनकर्ता हूँ, या ये विभावादि मेरे ही हैं, इस प्रकार के व्यक्तिगत भावनाओं रूप) परिमित प्रमातृभाव के नष्ट हो जाने से वेद्यान्तर सम्पर्क से शून्य और अपरिमित प्रमातृभाव जिसमें उदित हो गया है इस प्रकार के (प्रमाता) सामाजिक के द्वारा समस्त (सामाजिको के) हृदयों के साथ समानरूप से (व्यक्तिविशेष के सम्बन्ध से रहित साधारण्य से) अपनी आत्मा के समान (आस्वाद से) अभिन्न होने पर भी, (आस्वाद का) विषय होकर, (अर्थात् जैसे आत्म–साक्षात्कार में चिद्रूप से अभिन्न आत्मा को भी साक्षात्कार का 'विषय' माना जाता है, इसी प्रकार रसानुभूति में अनुभूति से अभिन्न होने पर भी रस को ('विषय' कहा जा सकता है), आस्वादमात्रस्वरूप (चर्व्यमाणतैकप्राणः), विभावादिकी स्थितिपर्यन्त ही रहने वाला, (इलायची, कालीमिर्च, शक्कर, इमली, आम आदि को मिलाकर तैयार किये गये प्रपाणक अर्थात्) पान के रस के समान (अर्थात् प्रपाणक की घटक –सामग्रीके रस से विलक्षण रस के समान) आस्वाद्यमान् साक्षात् प्रतीत होता हुआ–सा हृदय में प्रविष्ट होता हुआ–सा, समस्त अंगो का आलिङ्गन करता हुआ–सा, अन्य सबको तिरोभूत करता हुआ–सा, ब्रह्मसाक्षात्कार का अनुभव कराता हुआ–सा, अलौकिक आनन्द को प्रदान करने वाला (चमत्कारी) शृंगार आदि 'रस' होता है। (यह अभिनवगुप्तका मत है और यह आलङ्कारिकों का सिद्धान्त माना जाता है।)

भट्टनायक के साधारणीकरण व्यापार को अभिनवगुप्त ने स्वीकार किया परन्तु भावकत्व व भोजकत्व व्यापारों को अनावश्यक समझा। उनके अनुसार एक व्यंजना व्यापार द्वारा साधारणीकरण की प्रक्रिया हो जाती है तथा रस का आस्वादन भी हो जाता है अतः इन दोनों व्यापारों को मानना निरर्थक है। अभिनवगुप्त के अनुसार भरतसूत्र में 'संयोगात्' का अर्थ 'अभिव्यंग्य–अभिव्यंजकसम्बन्धात्' तथा 'निष्पत्तिः' का अर्थ 'अभिव्यक्तिः' है।

अभिनवगुप्त के अनुसार –

1. सामाजिकों के हृदय में स्थायिभाव वासनारूप से सूक्ष्म रूप से विद्यमान रहते हैं। लौकिक जीवन में ललना, उद्यान, कटाक्षादि द्वारा जिन्होंने रति आदि स्थायिभावों का अनुमान करने में कुशलता प्राप्त कर ली है उनमें यह वासना उतनी ही अधिक विकसित रूप में रहती हैं।
2. लोक में रति आदि भावों के जो कारण, कार्य व सहकारी हैं वे ही काव्य में अलौकिक विभाव, अनुभाव व व्यभिचारी भाव कहलाते हैं।

3. काव्य की अलौकिक व्यंजना शक्ति द्वारा विभाव आदि का साधारणीकरण हो जाता है, उनमें स्वकीयत्व, परकीयत्व व उपेक्षणीयत्व नष्ट हो जाता हैं व राम व सीता का विशिष्ट अंश तिरोहित होकर केवल युवक व युवती भाव अवशिष्ट रह जाता है।
4. साधारणीकरण होने पर सामाजिक की चित्तवृत्ति अपरिमित हो जाती है इससे रति आदि भावों का भी साधारणीकरण हो जाता है जिसका सहृदय जन अनुभव करते हैं।
5. सामाजिक को इस रसानुभूति का अपने से अभिन्न अनुभव होता है वह अपने अन्दर रस की चर्वणा करता हुआ अनुभव करता हैं।
6. रस का रूप केवल आस्वाद्यमान हैं जब तक विभावादि विद्यमान रहते हैं तभी तक रस की अनुभूति होती है विभावादि की प्रतीति अलग–अलग नहीं होती अपितु अखण्डात्मक होती है– पानकरसन्याय से। जैसे–पान चबाने पर कुछ क्षण तो पान, इलायची, शर्करा, लवङ्ग, कत्त्था आदि के स्वाद की अलग–अलग प्रतीति होती है किन्तु शीघ्र ही इन सबकी मिली जुली किन्तु इनके स्वाद से विलक्षण स्वाद की प्रतीति होती है जो अखण्डात्मक प्रतीति हैं इसी प्रकार रस की भी विभावादि से युक्त अखण्डात्मक प्रतीति होती है।
7. रस का आस्वादन अलौकिक है, यह हृदय में प्रविष्ट होता हुआ सा अनुभव होता हैं तथा अपने अतिरिक्त अन्य सकल ज्ञानों को तिरोहित कर देता है।
8. रस सदा व्यङ्ग्य होता हैं इसका कथन या तो रस–भाव आदि के द्वारा किया जाता हैं अथवा विभावादि के द्वारा। अन्वय–व्यतिरेक से यह विभावादि के द्वारा अभिव्यक्त होता है अर्थात् विभावादि के होने पर होता है नहीं होने पर नहीं होता।

   अभिनवगुप्त ने रस को अलौकिक माना हैं। मम्मट भी अभिनवगुप्त के मतानुयायी हैं यही कारण है कि अपने ग्रन्थ में उन्होंने अभिनवगुप्त के मत का विस्तार किया हैं तथा रस की अलौकिकता को सिद्ध करने वाली युक्तियों का भी निरूपण किया है।

4.4.5 रस का अलौकिकत्व :–

अभिनवगुप्त ने रस को अलौकिक कहा है। उसकी इस अलौकिकता का उपपादन ग्रन्थकार ने इस प्रकार किया है –

स च न कार्यः, विभावादिविनाशेऽपि तस्य सम्भवप्रसङ्गात्। नापि ज्ञाप्यः, सिद्धस्य तस्यासम्भवात्। अपि तु विभावादिभिर्व्यजितश्चर्वणीयः।

और वह (रस) कार्य नहीं है। (क्योंकि 'कार्य' मानने पर) विभावादिका नाश हो जाने पर भी (कुम्भकार की मृत्यु हो जाने पर भी जैसे घड़ा बना रहता है इस प्रकार) उसकी स्थिति सम्भव हो जायगी (जो कि होती नहीं है। इसलिए रस 'कार्य' नहीं है) और उसके पूर्वसिद्ध (अनुभव के पहले विद्यमान) न होने से वह 'ज्ञाप्य' भी नहीं है। अपितु विभावादि से व्यंजित और आस्वादयोग्य अर्थात् आस्वादकाल में ही विद्यमान रहता है।

रस कार्य नहीं है एवं रस ज्ञाप्य भी नहीं। लोक में जो भी पदार्थ है वे या तो कार्य है या ज्ञाप्य हैं। कार्य अपने निमित्त कारण के नष्ट होने के पश्चात् भी सत्ता में बने रहते हैं। रस को यदि कार्य मानेगें तो विभावादि उसके कारण माने जाएगें तथा विभावादि कारणों के नाश के पश्चात् भी रस रूप कार्य की स्थिति का प्रसङ्ग उपस्थित होगा जबकि रस को तो विभावादिजीविताविधिः

रस का स्वरूप माना गया है ऐसी स्थिति में रस को कार्य मानना उचित नहीं।

रस ज्ञाप्य भी नहीं माना जा सकता क्योंकि ज्ञाप्य पदार्थ ज्ञान के पूर्व एवं ज्ञान के पश्चात् भी विद्यमान रहता है जैसे घट–घट प्रकाशादि के द्वारा अनुभाव में आने से पूर्व विद्यमान रहता हैं तथा प्रकाशादि ज्ञापक हेतुओं के नष्ट हो जाने के बाद भी विद्यमान रहता हैं। किन्तु रस तो अनुभूति के पूर्वकाल एवं पश्चात् काल में विद्यमान नहीं रहता। वह तो स्वसंवदनगोचर हैं–अनुभूति काल में ही उसकी सत्ता रहती है।

कारकज्ञापकाभ्यामन्यत् क्व दृष्टमिति चेत्? न क्वचिद् दृष्टमित्यलौकिकत्व–द्धेर्भूमेतन्न दूषणम्।

कारक तथा ज्ञापक (हेतुओं) से अतिरिक्त (व्यंजक आदि हेतु) कहां पाये जाते है यह प्रश्न करो तो (हमारा उत्तर यह है कि) कहीं नही पाये जाते हैं, यह बात तो अलौकिकत्व की

सिद्धि का भूषण है, दूषण नहीं (इसलिए रस वस्तुतः न 'कार्य है और न 'ज्ञाप्य'। यह 'अलौकिक' है)।

रस कार्य एवं ज्ञाप्य नहीं हैं। किन्तु लोक में तो कारकहेतु एवं ज्ञापकहेतु दो ही प्रकार के हेतु देखे जाते है। रस कार्य नहीं है तो उसका कोई कारक हेतु नहीं है, रस ज्ञाप्य नहीं हैं अतः उसका कोई ज्ञापक हेतु भी नहीं है लोक में इन दो के अतिरिक्त कोई अन्य हेतु नहीं दिखाई देता किन्तु काव्य में इन दोनों से अलौकिक व्यंजक हेतु विभावादि विलक्षण है। अतः रस भी अलौकिक है यह रस की अलौकिकता को सिद्ध करते हैं यह अलौकिकता रस का भूषण है दूषण नहीं।

चर्वणानिष्पत्त्या तस्य निष्पत्तिरूपचरितेति कार्योऽप्युच्यताम्। लौकिक–प्रत्यक्षादिप्र – माणताटस्थ्यावबोधशालिमितयोगिज्ञानवेद्यान्तरसंस्पर्शरहितस्वात्ममात्रपर्यवसितपरिमितेत र– योगिसंवेदनविलक्षणलोकोत्तरस्वसंवेदनगोचर इति प्रत्येयोऽप्यभिधीयताम्।

आस्वादकी उत्पत्ति होने से उपचारसे उसकी भी उत्पत्ति कही जा सकती है इसलिए (रसको उपचार से) 'कार्य' भी कहा जा सकता है और 1. लौकिकप्रत्यक्षादि (से भिन्न) तथा 2. बिना प्रमाणों की सहायताके (प्रमाणताटस्थ्य) से होनेवाले मित–योगि–ज्ञान (अर्थात् बिना प्रमाणोंकी सहायता के योगजसामर्थ्य से सिद्ध युंजान योगियों के ज्ञान से भिन्न) तथा 3. वेद्यान्तरके संस्पर्श से रहित, स्वात्म (साक्षात्कार) मात्र में पर्यवसित, परिमित से भिन्न योगियों (अर्थात् युक्त योगियों) के ज्ञान से भिन्न, (लौकिक प्रत्यक्षादि प्रमाणों से जन्य लौकिक प्रत्यक्ष तथा युंजान एवं युक्त दोनों प्रकार के योगियों के ज्ञान से विलक्षण) लोकोत्तर अनुभूति का विषय होता है इसलिए (रस को उपचार से) 'ज्ञेय' भी कहा जाता है (परन्तु वस्तुतः वह न 'कार्य' है और न 'ज्ञाप्य, अपितु अलौकिक है)।

चर्वणा की (उत्पत्ति) निष्पत्ति से रस की उत्पत्ति कही जाती है अतः उपचारतः रस कार्य भी कहा जा सकता है इसी प्रकार रस को ज्ञाप्य भी कहा जा सकता है क्योंकि लौकिक प्रत्यक्ष ज्ञान को तीन भागों में विभक्त किया जा सकता है –

(1) अस्मदादि का प्रत्यक्ष

(2) मितयोगी का ज्ञान – जो बिना प्रमाणों के योग की सामर्थ्य से सिद्ध हो जाता हैं तथा

(3) परिमितेतर योगी अर्थात् परिपक्व योगी का ज्ञान– जो वेद्यान्तर अर्थात् अन्य वैद्य पदार्थ के संस्पर्श से रहित केवल आत्मानुभूति मात्र ही है।

रस की अनुभूति इन तीनों प्रमाणों से नहीं होती तथा रस की आत्मानुभूति भी इन तीनो अनभूतियों से विलक्षण होती हैं लोकोत्तर अनुभूति का विषय होने से रस को उपचारतः ज्ञेय भी कहा जा सकता है अतः रस अलौकिक है।

तद्ग्राहकं च न निर्विकल्पकं विभावादिपरामर्शप्रधानत्वात्। नापि सविकल्पकं चर्व्यमाणस्यालौकिकानन्दमयस्य स्वसंवेदनसिद्धत्वात्। उभयाभावस्वरूपस्य चाभया– त्मकत्वमपि पूर्ववल्लोकोत्तरतामेव गमयति न तु विरोधमिति श्रीमदाचार्याभिनवगुप्तपादाः।

(रस की प्रतीति में) विभावादिके परामर्शकी प्रधानता होने से निर्विकल्पक–ज्ञान उसका ग्राहक नहीं हो सकता है और आस्वाद्यमान अलौकिक आनन्दमय (रस) के स्वसंवेदनसिद्ध होने से सविकल्पक–ज्ञान भी उसका ग्राहक नहीं हो सकता है। तथा उभयाभावस्वरूपका (अर्थात् निर्विकल्पक तथा सविकल्पक दोनों से भिन्न उस रसका) उभयात्मकत्व (अर्थात् सविकल्पकत्व और निर्विकल्पकत्व) भी पहिले के समान लोकोत्तरता को ही बोधित करता है, विरोध को नहीं। यही श्रीमान् अभिनव–गुप्त–पादाचार्यका मत है।

ज्ञान दो प्रकार के हैं सविकल्पक ज्ञान एवं निर्विकल्पक ज्ञान रस का ग्रहण न सविल्पक ज्ञान से होता है न ही निर्विकल्पक ज्ञान से। सविकल्पक ज्ञान उसे कहते है जिसमें पदार्थ के स्वरूप के ज्ञान के साथ नाम, जाति, रूप आदि का भी ज्ञान होता है –नामजात्यादियोजनासहितज्ञानं सविकल्पकम्। जैसे 'घट, पट' आदि पदार्थो के स्वरूप के साथ नाम, जाति आदि का भी ज्ञान रहता है वह शब्द व्यवहार का विषय होता है। किन्तु

रसानुभूति तो स्वसंवेदनमात्र होती है उसका शब्द से व्यवहार नहीं किया जा सकता अतः नामाजात्यादि की प्रतीति वहाँ नहीं रहती। अतः रस सविकल्पक ज्ञान का विषय नहीं है।
रस निर्विकल्पक ज्ञान का विषय भी नहीं है क्योंकि निर्विकल्पक ज्ञान नाम, जाति आदि की योजना से रहित होता है—बालमूकादिविज्ञानसदृशं निर्विकल्पकम्। निर्विकल्पक ज्ञान केवल वस्तु मात्र का अवगाहन करने वाला होता है। जैसे – एक बालक जो घड़ी के विषय में कुछ नहीं जानता उसके सामने यदि घड़ी रखी जाती है तो वह घड़ी का ज्ञान उसी प्रकार करता है जैसा एक बड़ा आदमी। घड़ी का गोल डायल, नम्बर, सुइयाँ आदि की प्रतीति बालक भी हमारे समान ही करता है किन्तु उसके नाम, उपयोग आदि के विषय में नहीं जानता। बालक का यह ज्ञान 'कुछ हैं' इतना मात्र होने से निर्विकल्पक है जबकि बड़े व्यक्ति का ज्ञान सविकल्पक है। रस प्रतीति में विभावादि की उपस्थिति एवं उनका समूहालम्बनात्मक ज्ञान रहने से निर्विकल्पक ज्ञान रस ग्राहक नहीं हो सकता।
इस प्रकार दोनों ज्ञानों का विषय न होते हुए भी रस दोनों का विषय है। विभावादि की प्रतीति होने से तथा उनका शब्दशः व्यवहार होने से सविकल्पक ज्ञान का भी विषय है तथा स्वसंवेदन मात्र (अनिर्वचनीय) होने से निर्विकल्पक ज्ञान का भी विषय है। यही रस की अलौकिकता है।
आचार्य मम्मट अभिनवगुप्त के सिद्धान्त को स्वीकार करते हैं।
भरतसूत्र में विभावादि का एक साथ निर्देश किया गया—विभावानुभाव व्यभिचारिसंयोगाद् रसनिष्पत्तिः—इनका अलग—अलग निर्देश होना चाहिए था किन्तु एक साथ निर्देश क्यों किया गया इस का मम्मट स्पष्टीकरण इस प्रकार देते है :—
व्याघ्रादयो विभावा भयानकस्येव वीराद्भुतरौदाणाम्, अश्रुपातादयोऽनुभावाः श्रृङ्गारस्येव करूणभयानकयोः, चिन्तादयो व्यभिचारिणः श्रृङ्गारस्येव वीरकरुण भयानकानामिति पृथगनैकान्तिकत्वात् सूत्रे मिलिता निर्दिष्टाः।
व्याध्र आदि विभाव भयानकरसके समान वीर, अद्भुत तथा रौद्र (रस) के (भी हो सकते है), अश्रुपात आदि अनुभाव शृंगार के समान करूण तथा भयानकरसके (भी हो सकते है) चिन्ता आदि व्यभिचारिभाव श्रृंगार के समान वीर, करूण तथा भयानक के (भी हो सकते हैं) इसलिए उनके अलग—अलग अनैकान्तिक होने से (अर्थात् किसी एक ही रसके साथ निश्चित न होने से) सूत्र में (उनको) विभावादिको सम्मिलित रूप से ही निर्दिष्ट किया गया है।
किन्तु यदि कहीं इनमें से केवल एक या दो का वर्णन हो तो अन्य का तुरन्त आक्षेप हो जाता है रस प्रतीति तो इन तीनों से मिलकर ही होती है—इसके उदाहरण स्वरूप में श्लोक प्रस्तुत किया जा सकता हैं –
वियदलिमलिनाम्बुगर्भमघं मधुकरकोकिलकूजितैर्दिशां श्रीः।
धरणिरभिनवाङ्कुराङ्कटङ्का प्रणतिपरे दयिते प्रसीद मुग्धे।।
हे मुग्धे! आकाश भौंरो के समान काले—काले, जल से भरे हुए मेघों से आच्छादित हो रहा है, भौरों एवं कोयलों के कूजन से दिशाएं शोभायमान हो रही है आर पृथ्वी (सन्तापदायक होने से पत्थर काटने वाली लोहे की) टांकियों के समान अंकुरोवाली हो रही है। (ऐसी दशा में तुम्हारा मान अधिक देर तक टिकने वाला नहीं है।) इसलिए प्रियतम के प्रणाम करने पर मान जाओ (अपने हठ को छोड़ दो) इत्यादि में (केवल मुग्धा दयितारूप आलम्बन—विभाव और वर्षा ऋतु के मेघरूप उद्दीपन विभाव का ही वर्णन है। शेष अनुभाव, व्यभिचारिभाव आदिका आक्षेप से बोध होता है।)
इसी प्रकार अनुभाव एवं व्यभिचारी भावों के विषय में भी ज्ञातव्य है।

4.5 रस

(सू.44) श्रृङ्गारहास्यकरुणरौद्रवीरभयानकाः।
बीभत्साद्भुतसंज्ञौ चेत्यष्टौ नाट्ये रसाः स्मृताः।।29।।

व्याख्या – (सूत्र 44) – 1. शृंगार, 2. हास्य, 3. करूण, 4. रौद्र, 5. वीर, 6. भयानक, 7. वीभत्स और 8. अद्भुत – नाट्य में आठ रस माने जाते हैं।

शृंङ्गार रसः— तत्र शृंङ्गारस्य द्वौ भेदौ, सम्भोगो विप्रलम्भश्च। तत्राद्यः परस्परावलोकना—लिङ्गनाधरपानपरिचुम्बनाद्यन्तभेदत्वादपरिच्छेद्य इत्येक एवं गण्यते।

उन रसों में से शृंगार के दो भेद होते हैं (1) सम्भोग (शृंगार) और (2) विप्रलम्भ। उनमें से पहिला (अर्थात् सम्भोगशृंगार) परस्पर अवलोकन, आलिङ्गन, अधरपान, चुम्बन आदि अनन्त प्रकारका (असंख्येय हो जाता है, इसलिए उसके) भेदों की गणना सम्भव न होने से एक ही गिना जाता है।

संभोग शृङ्गार का उदाहरण द्रष्टव्य है—

शून्यं वासगृहं विलोक्य शयनादुत्थाय किंचिच्छनै—
र्निद्राव्याजमुपागतस्य सुचिरं निर्वर्ण्य पत्युर्मुखम्।
विस्रब्धं परिचुम्ब्य जातपुलकामालोक्य गण्डस्थलीं
लज्जानम्रमुखी प्रियेण हसता बाला चिरं चुम्बिता।।

(पति के बराबर अलग पंलग पर लेटी हुई नवोढ़ा नायिका ने) वासगृह (अर्थात् अपने लेटने के कमरे) को शून्य (अर्थात सखियों से खाली) देखकर अपनी खाट पर से तनिक सा उठकर और नींद का बहाना करके लेटे हुए पति के मुख को बहुत देर तक देखकर (ये सो रहे हैं ऐसा समझकर) निश्शंक भाव से चुम्बन कर लेने से (उसके) पति के कपोल पर (प्रसन्नताजन्य) रोमांच देखकर (नायिका यह समझ गयी कि वे जग रहे थे। इसलिए उसका मुख लज्जा से झुक गया। उस लज्जा से नम्र मुख वाली बाला को (पकड़कर) हंसते हुए प्रियतम (नायक) ने बहुत देर तक चुम्बन किया।

अपरस्तु अभिलाषविरहेर्ष्याप्रवासशापहेतुक इति पञ्चविधः।

दूसरा (अर्थात् विप्रलम्भशृंगार) अभिलाषा, ईर्ष्या, विरह, प्रवास तथा शाप (रूप पांच प्रकार के हेतुओं) से होने के कारण पांच प्रकार का होता है। इनके उदाहरण द्रष्टव्य है।

अभिलाषा—

प्रेमार्द्राः प्रणयस्पृशः परिचयादुद्गाढरागोदया—
स्तास्ता मुग्धदृशो निसर्गमधुराश्चेष्टा भवेयुर्मयि।
यास्वन्तःकरणस्य बाह्यकरणव्यापाररोधी क्षणा—
दाशंसापरिकल्पितास्वपि भवत्यानन्दसान्द्रो लयः।

उस सुन्दर नेत्रों वाली मालती की प्रेम से सनी हुई, प्रणय का स्पर्श करनेवाली तथा परिचय के कारण उद्गाढ़ (अर्थात् गुरूजन आदि के प्रतिबन्ध की भी चिन्ता न करने वाले) अनुराग से भरी हुई इस प्रकार की वे भावपूर्ण चेष्टाएं मेरे प्रति हो, जिनकी (इस समय अपने मन में) कल्पना करने पर भी तत्क्षण बाह्य इन्द्रियों को व्यापारशून्य बना देनेवाला अन्तःकरण का आनन्दमय लय—सा हो जाता है। (अर्थात् जिन चेष्टाओं की कल्पनामात्र से इस समय सब—कुछ सुध—बुध भूलकर मन आनन्दसागर में लीन हो जाता हैं।

विरह—

अन्यत्र व्रजतीति का खलु कथा नाप्यस्य तादृक् सुहृद्
यो मां नेच्छति नागतश्च हह हा कोऽयं विधेः प्रक्रमः।
इत्यल्पेतरकल्पनाकवलितस्वान्ता निशान्तान्तरे
बाला वृत्तविवर्तनव्यतिकरा नाप्नोति निद्रां निशि।।

एषा विरहोत्कण्ठिता।

वे कहीं और (किसी अन्य स्त्री के पास) चले गये हैं, यह तो (कुत्सित कथा) कुविचार है। (ऐसा तो कभी सम्भव हो ही नहीं सकता है। शायद किसी मित्र के कहने से कही चले गये हो, यह शंका भी नहीं बनती क्योंकि) उनका ऐसा कोई मित्र भी नहीं है जो मुझको न चाहता हो (अर्थात् मेरा अहित चिन्तन करता हो और उनको बहकाकर कहीं ले जाये), फिर भी वे (अब तक) आये नही, यह भाग्य का कैसा खेल है! इस प्रकार की अनेक कल्पनाओं के हृदय में व्याप्त हो जाने पर वह बिचारी (बाला) करवटें बदलती हुई (वृत्तः संजातः विवर्तानां पार्श्वपरिवर्तनानां व्यतिकरः सम्बन्धः समूहो वा यस्याः सा वृत्तविवर्तनव्यतिकरा) रातको सो नहीं पा रही है।

(अधिक रात तक गुरुजन आदि के पास बैठे रहने के कारण, सङ्कोचवश उसका पति उसके पास नहीं आ रहा है।) इसलिए यह विरहोत्कण्ठिता हैं।

प्रवास –

सा पत्युः प्रथमापराधसमये सख्योपदेशं बिना।
नो जानाति सविभ्रमाङ्गवलनावक्रोक्तिसंसूचनम्।
स्वच्छैरच्छकपोलमूलगलितैः पर्यस्तनेत्रोत्पला
बाला केवलमेव रोदिति लुठल्लोलालकैरश्रुभिः।।

वह पति के (अन्यस्त्रीप्रसङ्गरूप) प्रथम अपराध के समय सखियों के बतलाये बिना हाव–भाव से अंग को चलाकर वक्रोक्तियों से उलाहना देना नहीं जानती है। इसलिए खुले हुए और चंचल अलकों से उपलक्षित और (पर्यस्तनेत्रोत्पला परितः अस्ते क्षिप्ते नेत्रोत्पले यया सा पर्यस्तनेत्रोत्पला अर्थात्) आँखो को इधर–उधर करती हुई यह बिचारी (बाला) स्वच्छ गालों के किनारे से आँसू टपकाती हुई केवल रोती ही रहती हैं।

यहाँ नायक के परस्त्री सम्बन्ध को देखकर उत्पन्न ईर्ष्यादि के कारण यह विप्रलम्भश्रृंङ्गार का उदाहरण ह।

हास्य आदि रसों के क्रमशः उदाहरण प्रस्तुत है–

हास्यरस –

आकुंच्य पाणिमशुचिं मम मूर्ध्नि वेश्या
मन्त्राम्भसां प्रतिपदं पृषतैः पवित्रे
तारस्वनं प्रथितथूत्कमदात् प्रहारं
हा हा हतोऽहमिति रोदिति विष्णुशर्मा।।

वेश्या ने अपने अपवित्र हाथ को सिकोड़कर (मुट्ठी बाँधकर) जोर से थूत्कार करते हुए मन्त्रों के (द्वारा अभिमन्त्रित) जल–बिन्दुओं से प्रतिपद पवित्र किये हुए मेरे सिर पर प्रहार किया है, हाय–हाय मार डाला यह कहकर विष्णुशर्मा रो रहा है।

यह हास्य रस का उदाहरण है। विष्णु शर्मा की दशा को देखकर सबको हंसी आती है।

करुण रस –

हा मातस्त्वरिताऽसि कुत्र किमिदं हा देवताः क्वाऽऽशिषः
धिक् प्राणान् पतितोऽशनिर्हुतवहस्तेऽङ्गेषु दग्धे दृशौ।
इत्थं घर्घरमध्यरुद्धकरुणाः पौराङ्गनानां गिर–
श्चित्रस्थानपि रोदयन्ति शतधा कुर्वन्ति भित्तीरपि।।

हे मातः! इतनी जल्दी हमको छोड़कर कहाँ चली गयी। (अकस्मात् वज्रपातसदृश) यह क्या हुआ। (देवताओं की इतनी पूजा करनेवाली भी इस प्रकार चली गयी और देवता उसको बचा नहीं सके इसलिए) हा देवताओं, (आपकी भक्ति का क्या मूल्य रहा) हे ब्राह्मणों, (आप प्रतिदिन उनको चिरंजीवी होने का आशीर्वाद देते थे। पर आपके) आशीर्वाद कहाँ चले गये। (और उनके चले जाने के बाद भी अबतक बने रहनेवाले हमारे इन) प्राणों को धिक्कार है। (तुम्हारे अन्त्येष्टि संस्कार के समय) अग्नि वज्र बनकर तुम्हारे शरीरपर गिरा और तुम्हारे (शरीर के साथ सुन्दर स्नेह एवं दयासे पूर्ण) नेत्र भी भस्म हो गये। इस प्रकार उच्च स्वर से रोने के कारण भर्राती हुई बीच–बीच में रुक जाती हुई पुरवासिनी स्त्रियों की करुण–ध्वनि, चित्र में अंकित (नर, नारी आदि) को भी रुला रही है और भित्तियों के भी टुकड़े कर डालती हैं। यहाँ मृत राजमाता आलम्बन विभाव, दाहादि उद्दीपन विभाव, रोदन अनुभाव, ग्लानि, मूर्च्छा आदि व्यभिचारि भाव हैं।

रौद्ररस –

कृतमनुमतं दृष्टं वा यैरिदं गुरूपातकं
मनुजपशुभिर्निर्मर्यादैर्भवद्भिरुदायुधैः।
नरकरिपुणा सार्धं सभीमकिरीटिना –
मयमहमसृङ्मेदोमांसैः करोमि दिशां बलिम्।।

हाथ में शस्त्र लिये हुए (उदायुधैः) 'मर्यादा का पालन न करनेवाले' परपशुओं के सदृश जिन आप लोगों ने (आचार्य द्रोणका शिरश्छेदन रूप) यह महान् पातक किया है, अथवा (कृष्ण

आदि जिन्होंने उसका) अनुमोदन किया है, अथवा (भीम, अर्जुन, आदि जिन्होंने धृष्टद्युम्न को रोकने का) यत्न न करके खड़े–खड़े प्रसन्नतापूर्वक (इस पाप को) देखा है, (नरकासुर के शत्रु) कृष्ण, भीम तथा अर्जुन के सहित उन (धृष्टद्युम्न आदि) के रक्त, चर्बी और मांस से मैं अभी दिशाओं की बलि (पूजन) करता हूँ।
यहाँ 'पशुभिः' पद से बलिदान योग्यता सूचित होती है, 'उदायुधैः' पद से अत्यन्त दण्डनीयत्व सूचित होता है कर्त्ता, अनुमन्ता तथा द्रष्टा की क्रम से अपराध न्यूनता होती है किन्तु क्रोधातिशय से द्रष्टा कृष्ण नाम पहले लिया गया है।

वीररस –

क्षुद्राः संत्रासमेते विजहत हरयः क्षुण्णशक्रेभकुम्भा
युष्मद्देहेषु लज्जां दधति परममी सायका निष्पतन्तः।
सौमित्रे! तिष्ठ पात्रं त्वमसि नहि रुषां नन्वहं मेघनादः
किचिंद्भ्रूभङ्गलीलानियमितजलधिं राममन्वेषयामि।।

अरे क्षुद्र बन्दरों, तुम मत डरो, (क्योंकि इन्द्र के हाथी) ऐरावत के गण्डस्थल का भेदन करने वाले (मेरे) ये बाण तुम्हारे शरीर पर गिरने में लज्जा का अनुभव करते हैं (इसलिए तुम मत डरो, तुम्हार ऊपर इनका प्रहार नहीं होगा), हे लक्ष्मण, तुम भी हट जाओ, तुम (मेरे) क्रोध के (योग्य) पात्र नहीं हो, (जानते हो) मैं मेघनाद हूँ, (मैं तुम लोगों से क्या लडूँगा) मैं तो तनिक सी भौहे टेढ़ी करने मात्र से समुद्र को वश में कर लेने वाले राम को खोज रहा हूँ।
यहाँ राम आलम्बन विभाव है, समुद्रबन्धन उद्दीपन विभाग, राम का अन्वेषण एवं वानरों की उपेक्षा अनुभाव, गर्व व्याभिचारि भाव एवं राम से लड़ने का 'उत्साह' स्थायिभाव है।

भयानकरस –

ग्रीवाभङ्गाभिरामं मुहुरनुपतति स्यन्दने बद्धदृष्टिः
पश्चार्द्धेन प्रविष्टः शरतपतनभयाद् भूयसा पूर्वकायम्।
दर्भैरर्द्धावलीढैः श्रमविवृतमुखभ्रंशिभिः कीर्णवर्त्मा
पश्योदग्रप्लुतत्वाद्वियति बहुतरं स्तोकमुर्व्यां प्रयाति।।

सुन्दरता के साथ गर्दन घुमाकर पीछे आते हुए (हमारे) रथ पर बार–बार दृष्टि डालता हुआ, और बाण लगने के डर से अपने पीछे के आधे शरीर को अगले शरीर में घुसेड़ते हुए थक जाने से (हाँफते हुए) खुले हुए मुख से आधे खाये हुए तृणों को पृथ्वी पर गिराता हुआ, देखो, यह हरिण (लम्बी–लम्बी छलाँगे मारने के कारण मानो) आकाश में अधिक और पृथ्वीपर कम चलता है।
यहाँ राजा आलम्बन, अनुसरण उद्दीपन, गर्दन मोडना, भागना अनुभाव, त्रास, श्रम आदि व्यभिचारि भाव है, रथ या राजा से उत्पन्न भय स्थायिभाव हैं।

वीभत्सरस –

उत्कृत्योकृत्य कृत्तिं प्रथममथ पृथूत्सेधभूयांसि मांसा–
न्यंसस्फिक्पृष्ठपिण्डयाद्यवयवसुलभान्युग्रपूतीनि जग्ध्वा।
आर्त्तः पर्यस्तनेत्रः प्रकटितदशनः प्रेतरङ्कः करङ्का–
दङ्कस्थादस्थिसंस्थं स्थपुटगतमपि क्रव्यमव्यग्रमत्ति।।

पहिले खाल को उखाड़–उखाड़कर कन्धे, नितम्ब, पीठ, पिण्डली आदि अवयवों में ऊँचे ऊभरे हुए अधिक मात्रा में उपलब्ध, भयंकर–दुर्गन्धयक्त सड़े हुए मांस को खा चुकने के बाद, (दूसरा छीन न ले इस दृष्टि से) चारों और देखता हुआ, ओर दांत निकाले हुए, भूखा, दरिद्र प्रेत गोद में रखे हुए मुर्दे के हड्डी के भीतर लगे हुए और गड्ढों में स्थित (क्रव्य) कच्चे मांस को भी धीरे–धीरे खा रहा है।
यहाँ श्मशान में किसी प्रेत को मांसभक्षण में लगा हुआ देखकर माधव उसकी वीभत्स चेष्टाओं का वर्णन कर रहा हैं प्रेत आलम्बन, खाल उखाड़ना आदि उद्दीपन नाक बन्द करना, थूकना आदि अनुभाव व उद्वेग व्यभिचारि भाव है जुगुप्सा स्थायिभाव है।

अद्भुतरस –

चित्रं महानेष बतावतारः क्व कान्तिरेषाऽभिनवैव भङ्गि।
लोकोत्तरं धैर्यमहो प्रभावः काऽप्याकृतिर्नूतन एष सर्गः।।

यह बड़ा लोकोत्तर अवतार है। यह (अलौकिक) कान्ति और कहाँ (मिल सकती है। इसके उठने–बैठने आदि की) शैली बिलकुल नयी–सी (अलौकिक) है। इसका धैर्य भी लोकोत्तर है और पभाव भी अलौकिक है। इसकी आकृति अनिर्वचनीय है और (ब्रह्मा की सृष्टि से भिन्न) यह अलौकिक रचना है।

यहाँ वामनावतार को देखकर बलि कह रहे है वामन आलम्बन विभाव, कान्ति, गुणातिशय उद्दीपन विभाव, स्तुति आदि अनुभाव, मति, धृति हर्षादि व्यभिचारिभाव व 'विस्मय' स्थायिभाव है।

प्रसंग – इन रसों के स्थायिभाव इस प्रकार है–

(सू.45) रतिर्हासश्च शोकश्च कोधोत्साहौ भयं तथा।
जुगुप्सा विस्मयश्चेति स्थायिभावाः प्रकीर्तिताः।।30।।

व्याख्या – रति, हास, शोक, क्रोध, उत्साह, भय, जुगुप्सा तथा विस्मय ये क्रमशः आठ स्थायिभाव हैं।

स्थायीभाव के पश्चात् मम्मट ने व्यभिचारिभावों का निरूपण किया है।

(सू.46) निर्वेदग्लानिशङ्काख्यास्तथाऽसूयामदश्रमाः।
आलस्यं चैव दैन्यं च चिन्ता मोहः स्मृतिर्धृतिः।।31।।
व्रीडा चपलता हर्ष आवेगो जडता तथा।
गर्वो विषाद औत्सुक्यं निद्राऽपस्मार एव च।।32।।
सुप्तं प्रबोधोऽमर्षश्चाप्यवहित्थमथोग्रता।
मतिर्व्याधिस्तथोन्मादस्तथा मरणमेव च ।।33।।
त्रासश्चैव वितर्कश्च विज्ञेया व्यभिचारिणः।
त्रयस्त्रिंशदमी भावाः समाख्यातास्तु नामतः ।। 34।।

व्यभिचारि भावों की संख्या 33 मानी गई हैं–

1.	निर्वेद	2.	ग्लानि	3.	शङ्का
4.	असूया	5.	मद	6.	श्रम
7.	आलस्य	8.	दैन्य	9.	चिन्ता
10.	मोह	11.	स्मृति	12.	धृति
13.	व्रीडा	14.	चपलता	15.	हर्ष
16.	आवेग	17.	जडता	18.	गर्व
19.	विषाद	20.	औत्सुक्य	21.	निद्रा
22.	अपस्मार	23.	सोना	24.	जागना
25.	क्रोध	26.	अवहित्थ	27.	उग्रता
28.	मति	29.	व्याधि	30.	उन्माद
31.	मरण	32.	त्रास	33.	वितर्क

इन व्यभिचारिभावों में 'निर्वेद' को प्रथम ग्रहण करने का कारण यह है कि यह स्थायिभाव भी माना गया है, निर्वेद शान्त रस का स्थायिभाव भी माना गया हैं –

(सू. 47) निर्वेदस्थायिभावोऽस्ति शान्तोऽपि नवमो रसः।

निर्वेद जिसका स्थायिभाव है, इस प्रकार शान्त रस भी नवम रस है। इसका उदाहरण इस प्रकार है–

अहौ वा हारे वा कुसुमशयने वा दृषदि वा
मणौ वा लोष्ठे वा बलवति रिपौ वा सुहृदि वा।
तृणे वा स्त्रैणे वा मम समदृशो यान्ति दिवसाः
क्वचित् पुण्यारण्ये शिव शिव शिवेति प्रलपतः।।

साँप या मुक्ताहार, फूलों की सेज हो या पत्थर की शिला, बलवान् शत्रु हो या मित्र, तिनका अथवा स्त्रियों का समूह–सबमें समबुद्धि रखने वाले मेरे दिन किसी पवित्र तपोवन में 'शिव–शिव' ऐसा प्रलाप करते हुए व्यतीत होते हैं।

4.6 भाव

(सू.48) रतिर्देवादिविषया व्यभिचारी तथाऽञ्जितः।।35।।
भावः प्रोक्तः।

व्याख्या – देवादि विषयक रति और व्यङ्ग्य व्यभिचारिभाव 'भाव' कहलाते हैं (अर्थात् पुरुष–स्त्री विषयक रति को छोड़कर अन्य के प्रति रति भाव कहलाती है)

भाव का उदाहरण इस प्रकार है –

हरत्यघं सम्प्रति हेतुरेष्यतः शुभस्य पूर्वाचरितैः कृतं शुभैः।
शरीरभाजां भवदीयदर्शनं व्यनक्ति कालत्रितयेऽपि योग्यताम्।।

आपका दर्शन हम शरीरधारियों के लिए तीनों कालों में योग्यता प्रकट करता है–यह वर्तमान के पाप को नष्ट करता है, भविष्य में प्राप्त होने वाले कल्याण का कारण होता है है, पूर्व के पुण्य से प्राप्त हुआ है।

व्यङ्ग्य व्यभिचारिभाव का उदाहरण इस प्रकार है–

जाने कोपपराङ्मुखी प्रियतमा स्वप्नेऽद्य दृष्टा मया
या मां संस्पृश पाणिनेति रुदती गन्तुं प्रवृत्ता पुरः।
नो यावत् परिरम्य चाटुशतकैराश्वासयामि प्रियां
भ्रातस्तावदहं शठेन विधिना निद्रादरिद्रीकृतः।।

हे भाई। आज मैंने क्रोध के कारण स्वप्न में पराङ्मुखी प्रियतमा को देखा था। 'नहीं–नहीं' मुझे हाथ से मत छुओ? यह कहकर रोती हुई चल दी। जब तक मैं आलिङ्गन करके नाना प्रकार की खुशामद के द्वारा उसको मनाने का यत्न करता हूँ तब तक विधाता ने मेरी निद्रा भङ्ग कर दी।

यहाँ विधाता के प्रति 'असूया' व्यङ्ग्य है यह व्यभिचारिभाव हैं। अतः यह भाव के दूसरे भेद का उदाहरण है।

(सू. 49) तदाभासा अनौचित्यप्रवर्तिताः।

व्याख्या – उनका अनुचित रूप से वर्णन रसाभास एवं भावाभास कहलाता है।

तदाभास का अर्थ है रसाभास एवं भावाभास।

श्रृंङ्गारादि रसों अथवा भावों का अनुचित रूप से वर्णन रसाभास एवं भावाभास कहलाता है। यह अनौचित्य अनेक प्रकार का होता है। जैसे एक पुरूष का परस्त्री से प्रेम अथवा एक स्त्री का अनेक पुरुषों से प्रेम अनुचित हैं यदि इस प्रकार के प्रेम का वर्णन हो तो वह रसाभास कहलाएगा।

इसी प्रकार गुरु को आलम्बन बनाकर हास्यरस अथवा माता–पिता विषयक रौद्र या वीर रस, यज्ञीय पशु को आलम्बन मानकर वीभत्स, चाण्डालादि विषयक शान्त रस का वर्णन भी अनुचित माना गया हैं अतः ये रसाभास है। उदाहरण द्रष्टव्य हैं।

4.6.1 रसाभास–

स्तुमः कं वामाक्षि! क्षणमपि विना यं न रमसे
विलेभे कः प्राणान् रणमखमुखे यं मृगयसे।
सुलग्ने को जातः शशिमुखि! यमालिङ्गसि बलात्
तपःश्रीः कस्यैषा मदननगरि! ध्यायसि तु यम्।।

अर्थात् हे सुन्दर नेत्रों वाली। जिसके बिना तुमको क्षणभर भी चैन नहीं पड़ता है ऐसा कौन (भाग्यशाली) हैं जिसकी हम प्रशंसा करें, जिसने युद्ध रूप यज्ञ में अपने प्राणों की आहुति दी है जिसे तुम खोज रही हा, ऐसा कौन शुभमुहूर्त में उत्पन्न हुआ हैं। हे चन्द्रमुखि ! जिसका तुम बलात् (गाढ़) आलिङ्गन करती हो, हे मदननगरि तुम जिसका ध्यान करती हो ऐसी किसकी तप सम्पत्ति है।

यहाँ 'स्तुमः' आदि अनेक व्यापारों का वर्णन नायिका (वेश्या) के अनेक कामुक विषयक अभिलाषा को सूचित करता है। अतः रसाभास का उदाहरण है।

4.6.2 भावाभास–

राकासुधाकरमुखी तरलायताक्षी
सा स्मेरयौवनतरङ्गितविभ्रमाङ्गी।

तत्किं करोमि विदधे कथमत्र मैत्रीं
तत्स्वीकृतिव्यतिकरे क इवाभ्युपायः।।

वह पूर्णिमा के चन्द्र के समान मुखवाली, चंचल नेत्रोंवाली, उभरते नव यौवन से उद्भूत हावभावों से इठला रही है, सो अब मैं क्या करूँ। उसके साथ किस प्रकार मैत्री सम्बन्ध स्थापित करूँ अथवा उसकी स्वीकृति प्राप्त करने का क्या उपाय है।

यहाँ रावण की (सीता के प्रति) चिन्ता अनुचित है अतः यह भावाभास है।

(सू.50) भावस्य शान्तिरुदयः सन्धिः शबलता तथा।।36।।

व्याख्या – भाव की शान्ति, भाव का उदय, भावों की सन्धि तथा भावों की शबलता ये चार भी भावों के साथ ग्रहण किए जाने चाहिए।

भावशान्ति – किसी भाव का शान्त होना भावशान्ति है–

तस्या सान्द्रविलेपनस्तनतटप्रश्लेषमुद्राङ्कितं
किं वक्षश्चरणानतिव्यतिकरव्याजेन गोपाय्यते।
इत्युक्ते क्व तदित्युदीर्य सहसा तत्सम्प्रमाष्टु मया
साऽऽश्लिष्टा रभसेन तत्सुखवशात्तन्व्या च तद्विस्मृतम्।।

उसके गाढ़ विलेपन वाले स्तनों के अग्रभाग की मुद्रा से अङ्कित अपनी छाती को चरणों में झुकने के बहाने क्यों छुपा रहे हो ऐसा कहे जाने पर वह कहाँ है? यह कहकर उसको मिटाने के लिए मैंने उसका (स्वपत्नी का) गाढ़ आलिङ्गन किया उसके सुख के कारण वह भी उसको भूल गयी।

यहाँ किसी शठनायक द्वारा अपने मित्र के समक्ष पत्नी के कोप (रूप) भाव की शान्ति का वर्णन किया गया है।

भावोदय–

एकस्मिन् शयने विपक्षरमणीनामग्रहे मुग्धया
सद्यो मानपरिग्रहग्लपितया चाटूनि कुर्वन्नपि।
आवेगादवधीरितः प्रियतमस्तूष्णीं स्थितस्तत्क्षणं
माभूत्सुप्त इवेत्यमन्दवलितग्रीवं पुनर्वीक्षितः।।

एक ही शय्या पर लेटी हुई (नायक द्वारा) सपत्नी का नाम लेने पर तुरन्त रूठी हुई (नायिका) ने चाटुकारिता करने वाले प्रियतम को क्रोध में फटकार दिया और वह चुपचाप हो गया, उसी समय कहीं यह सो न जाये इस प्रकार गर्दन घुमाकर उसे देखने लगी।

यहाँ पत्नी के मन में औत्सुक्य भाव के उदय का वर्णन है।

भावसन्धि–

उत्सिक्तस्य तपःपराक्रमनिधेरभ्यागमादेकतः
सत्सङ्गप्रियता च वीररभसोत्फालश्च मां कर्षतः
वैदेहीपरिरम्भ एष च मुहुश्चैतन्यमामीलयन्ना–
नन्दी हरिचन्दनेन्दुशिशिरः स्निग्धो रुणध्यन्यतः।।

अभिमानशाली, तप व पराक्रम के निधिस्वरूप (परशुराम जी) क आगमन से उनके सत्सङ्ग का प्रेम और वीररस का आवेग मुझे खींच रहे हैं। दूसरी और हरिचन्दन के समान शीतल और स्निग्ध आनन्ददायक वैदेही का यह आलिङ्गन चैतन्य को विलुप्त सा करता हुआ रोक रहा है।

यहाँ आवेग और हर्ष की सन्धि है।

भावशबलता–

क्वाकार्यं शशलक्ष्मणः क्व च कुलं भूयोऽपि दृश्येत सा
दोषाणां प्रशमाय नः श्रुतमहो कोपेऽपि कान्तं मुखम्।
किं वक्ष्यन्त्यपकल्मषाः कृतधियः स्वप्नेऽपि सा दुर्लभा
चेतः स्वास्थ्यमुपैहि कः खलु युवा धन्योऽधरं धास्यति।

1. कहाँ यह अकार्य और कहाँ यह चन्द्रवंश (तर्क)
2. क्या वह फिर कभी देखन को मिलेगी (औत्सुक्य)
3. मैंने दोषों पर विजय प्राप्ति के लिए ही शास्त्रों का अध्ययन किया है (मति)

4. क्रोध में भी (उसका) मुख कैसा सुन्दर लगता था (स्मरण)
5. विद्वान् व धर्मात्मा लोग मुझे क्या कहेगे (शङ्का)
6. वह तो अब स्वप्न में भी दुर्लभ हो गयी (दैन्य)
7. अरे मन ! धीरज रखो (धृति)
8. न जाने कौन भाग्यशाली युवक उसके अधरो का पान करेगा (चिन्ता)

यहाँ इन आठ व्यभिचारिभावों (विर्तक, औत्सुक्य, मति, स्मरण, शङ्का, दैन्य, धृति, चिन्ता) का योग होने से भावशबलता है।

(सू.51) मुख्ये रसेऽपि तेऽङ्गित्वं प्राप्नुवन्ति कदाचन। (कारिका 37 पूर्वार्द्ध)

मुख्य रस के विद्यमान होने पर भी कहीं कही ये भावशान्ति आदि अङ्गित्व को प्राप्त होते हैं।

जिस प्रकार कोई भृत्य स्वयं के विवाह में राजा द्वारा अनुगत होने के कारण प्रधानता को प्राप्त होता है उसी प्रकार भावशान्ति आदि भी मुख्य रस के होने पर भी कभी–कभी प्रधानतया वर्णित होने से प्रधानता को प्राप्त होते हैं।

4.7 पारिभाषिक शब्दावली

1.	भरतसूत्र	–	विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद् रसनिष्पत्तिः।
2.	अविवक्षितवाच्यध्वनि	–	इसका अपर नाम लक्षणामूला ध्वनि है इसमें व्यङ्ग्यार्थ की प्रधानता होने से वाच्यार्थ अविवक्षित रहता है।
3.	अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य	–	जहाँ वाच्यार्थ अविवक्षित होकर अन्य अर्थ में परिवर्तित हो जाता है।
4.	अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य	–	जहाँ वाच्यार्थ अविवक्षित होकर अत्यन्त तिरस्कृत हो जाता है।
5.	विवक्षितवाच्यध्वनि	–	जहाँ वाच्यार्थ की विवक्षा बनी रहती है इसी का अपर नाम अभिधामूलाध्वनि है।
6.	अलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य	–	जहाँ वाच्य व व्यङ्ग्य अर्थों के क्रम की प्रतीति नहीं होती।
7.	संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य	–	जहाँ वाच्य एवं व्यङ्ग्य के क्रम की प्रतीति होती है
8.	विभाव	–	रसानुभूति के कारण को विभाव कहते हैं ये दो प्रकार के होते हैं (1) आलम्बन विभाव (2) उद्दीपन विभाव।
9.	अनुभाव	–	जो वाचिक या आङ्गिक अभिनय के द्वारा रत्यादि स्थायीभावों की आन्तर अभिव्यक्ति का बाह्यरूप में अनुभव कराता है वह अनुभाव है वे रस के कार्य कहलाते हैं।
10.	व्यभिचारिभाव	–	उद्बुद्ध हुए स्थायिभावों की पुष्टि तथा उपचय में जो सहकारी होते हैं वे व्यभिचारि भाव कहलाते हैं।

4.8 अभ्यासार्थ प्रश्न

बोध–प्रश्न

1. अविवक्षितवाच्यध्वनि में वाच्य की स्थिति हैं।
   (अ) प्रधान (ब) तिरस्कृत
   (स) वाच्य होता ही नहीं (द) विवक्षित ( )
2. अलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य का तात्पर्य है–
   (अ) वाच्य व व्यङ्ग्य की प्रतीति एक साथ होती है।

(ब) वाच्य की प्रतीति व्यङ्ग्य के बाद होती है।
(स) वाच्य की प्रतीति ही नहीं होती हैं।
(द) वाच्य की प्रतीति व्यङ्ग्य से पूर्व होती है किन्तु काल की क्षिप्रता के कारण यह क्रम दिखाई नहीं देता ( )

3. रसों की संख्या हैं–
(अ) छः (ब) सात
(स) दस (द) नौ ( )

4. रसाभास से तात्पर्य हैं–
(अ) रस का सम्यक् वर्णन (ब) रस के सदृश वर्णन
(स) रस का अनुचित वर्णन (द) रस का सुन्दर वर्णन ( )

5. अभिनवगुप्त के रसविषयक सिद्धान्त का विवेचन कीजिए?
6. साधारणीकरण से क्या तात्पर्य है?
7. व्यभिचारिभावों से आप क्या समझते हैं?
8. **'अविवक्षितवाच्यो यस्तत्र वाच्यं भवेद् ध्वनौ।**
अर्थान्तरे संक्रमितमत्यन्तं वा तिरस्कृतम्।।' कारिका की व्याख्या कीजिए।

बोध–प्रश्नों के उत्तर

1. ब
2. द
3. द
4. स
5. देखिए इकाई 4.4.4
6. देखिए इकाई 4.4.3 एवं 4.4.4
7. देखिए इकाई 4.3.4
8. देखिए इकाई 4.2.1.1 व 4.2.1.2

4.9 सारांश

प्रस्तुत इकाई में आपने ध्वनि काव्य के भेदों के विषय में जाना। ध्वनिकाव्य के अविवक्षितवाच्यध्वनि एवं विवक्षितवाच्यध्वनि का अध्ययन किया। अविवक्षितवाच्यध्वनि– अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य एवं अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य रूप से दो प्रकार का होता है इन दोनों का उदाहरण सहित आपने अध्ययन किया। विवक्षितवाच्यध्वनि (या अभिधमूलाध्वनि) के असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य एवं संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य रूप से दो भेद होते हैं इनमें सें असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यध्वनि का आपने भेदों एवं उदाहरणों सहित विस्तार से अध्ययन किया।

4.10 संदर्भ ग्रंथ सूची

1. काव्यप्रकाशः, आचार्य विश्वेश्वर सिद्धान्त शिरोमणि, ज्ञानमण्डल प्रकाशन, वाराणसी, 1960.
2. काव्यप्रकाशः, डॉ. श्रीनिवास शास्त्री. हिन्दी भवन, इलाहाबाद, 1969.
3. काव्यप्रकाशः, बालबोधिनीसहित, भण्डारकर ओरिएंटल रिसर्च इंस्टीट्यूट, पुणे,1952.
4. संस्कृत–काव्यशास्त्र एवं काव्यपरम्परा, प्रो. राधावल्लभ त्रिपाठी, प्रतिभा प्रकाशन, नई दिल्ली, 2004.

इकाई–5

काव्यप्रकाश – चतुर्थ उल्लास (कारिका संख्या 37 से अन्त तक)

इकाई की रूपरेखा

5.0 उद्देश्य
5.1 प्रस्तावना
5.2 विवक्षितवाच्यध्वनि (कारिका 37 उत्तरार्द्ध तथा 38 पूर्वार्द्ध)
  5.2.1 शब्दशक्त्युत्थध्वनि (कारिका 38 उत्तरार्द्ध तथा 39 पूर्वार्द्ध)
  5.2.2 अर्थशक्त्युत्थध्वनि (कारिका 39 उत्तरार्द्ध, 40 तथा 41 पूर्वार्द्ध)
    5.2.2.1 स्वतः सम्भवी
    5.2.2.2 कविप्रौढ़ोक्तिसिद्ध
    5.2.2.3 कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्ध
  5.2.3 शब्दार्थोभयशक्त्युत्थ (कारिका 41 उत्तरार्द्ध – प्रथम चरण)
5.3 ध्वनि के इक्यावन भेद (कारिका 41 उत्तरार्द्ध – द्वितीय चरण से 44 पर्यन्त)
5.4 पारिभाषिक शब्दावली
5.5 अभ्यासार्थ प्रश्न
5.6 सारांश
5.7 संदर्भ ग्रंथ सूची

5.0 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई पढ़कर आप –

- विवक्षितवाच्यध्वनि के स्वरूप को जान सकेंगे।
- शब्दशक्त्युत्थ, अर्थशक्त्युत्थ एवं उभयशक्त्युत्थ भेदों का विस्तृत विवेचन पढ़ेंगे।
- ध्वनि के शुद्ध इक्यावन एवं इन भेदों की संसृष्टि एवं सङ्कर से कुल 10455 ध्वनिभेदों का अध्ययन करेंगे।

5.1 प्रस्तावना

आचार्य मम्मट ने चतुथ उल्लास का प्रारम्भ उत्तम काव्य के भेदों से किया। अविवक्षितवाच्य एवं विवक्षितवाच्य ध्वनि रूप दो प्रमुख भेदों एवं अविवक्षितवाच्यध्वनि का सम्पूर्ण भेदों सहित निरूपण चतुर्थ इकाई में विस्तार से किया गया। इस इकाई में ध्वनि के विवक्षितवाच्य ध्वनि भेद का सकल भेदों एवं उदाहरणों सहित विस्तृत निरूपण किया जाएगा। विवक्षितवाच्यध्वनि या अभिधामूलाध्वनि के शब्दशक्त्युत्थ, अर्थशक्त्युत्थ एवं उभयशक्युत्थ भेदों का विस्तृत विवेचन इस इकाई में किया जाएगा।

5.2 विवक्षितवाच्यध्वनि

(सू.52) अनुस्वानाभसंलक्ष्यक्रमव्यंग्यस्थितिस्तु यः ।।37।।
शब्दार्थोभयशक्त्युत्थस्त्रिधा स कथितो ध्वनिः।

अर्थ – जिस ध्वनि में ध्वनि–प्रतिध्वनि के समान आगे–पीछे के क्रम से व्यंग्य की स्थिति का पता चलता है, उस ध्वनि को संलक्ष्य क्रम व्यंग्य ध्वनि कहते हैं। यह ध्वनि शब्द शक्ति से उत्पन्न और अर्थ शक्ति से उत्पन्न और शब्द तथा अर्थ दोनों शक्ति से उत्पन्न होने के कारण तीन प्रकार की होती है।

शब्दशक्तिमूलक अनुरणन (प्रतिध्वनि) रूप व्यंग्य पहला, अर्थशक्तिमूलक अनुरणनरूप व्यंग्य दूसरा, और शब्दार्थोभयशक्तिमूलक अनुरणनरूप व्यंग्य तीसरा – इस भाँति संलक्ष्यक्रम व्यंग्य नामक ध्वनि के ये तीन भेद व्यवहृत होते हैं।

5.2.1 शब्दशक्त्युत्थध्वनि

प्रसङ्ग – उनमें से शब्दशक्ति से उद्भूत दो प्रकार के व्यङ्गयों का निरूपण आगे वाली कारिका में किया गया है

(सू.53) अलङ्कारोऽथ वस्त्वेव शब्दाद्यत्रावभासते।।38।।
प्रधानत्वेन स ज्ञेयः शब्दशक्त्युद्भवो द्विधा।

व्याख्या –

अर्थ – जहाँ पर मुख्यतया अलङ्कार अथवा केवल वस्तु ही शब्दों द्वारा प्रकट हो वहाँ अलङ्कार अथवा वस्तु के भेद से दो प्रकार क शब्द शक्त्युद्भव व्यंग्य होते हैं।

वस्त्वेवेति अनलङ्कारं वस्तुमात्रम्। आद्यो यथा–

यहाँ यह केवल वस्तु से तात्पर्य अलङ्कार रहित वस्तु मात्र से है। उनमें से प्रथम अर्थात् शब्दशक्तिमूलक अलङ्कार ध्वनि का उदाहरण :–

उल्लास्य कालकरवालमहाम्बुवाहं देवेन येन जरठोर्जितगर्जितेन।
निर्वापितः सकल एव रणे रिपूणां धाराजलैस्त्रिजगति ज्वलितः प्रतापः।।

(प्रकरण प्राप्त राज पक्ष में अर्थ) कठोर और बलिष्ठ सिंहनाद करने वाले जिस राजा ने वैरिघातक खड्ग की बड़ी धारा रूप जल के विस्तार को बहुत प्रखर करके पानी से त्रिभुवन में जगमगाते हुए अपने शत्रुओं के बड प्रतापों को युद्धस्थल में बुझा डाला वह बड़ा प्रतापी था।

(इन्द्रपक्ष में व्यंग्य अर्थ–) गम्भीर गरजने वाले इन्द्र नामक देवता ने वर्षा ऋतु सूचक काले रङ्ग के नवीन बादलों को प्रकटकर शब्दायमान जलधाराओं से जल के शत्रुओं की बड़ी उष्णता को बुझाकर छोड़ा। (यह ऐसा प्रभावशाली देवता है)

यहाँ (इन्द्र पक्ष तथा राज पक्ष में) वाक्य की असम्बद्धार्थकता न हो जाए इसलिए प्राकरणिक (राज पक्ष) एवं अप्राकरणिक (इन्द्र पक्ष) के उपमान – उपमेय भाव की कल्पना की जाती है अतः उपमा अलङ्कार व्यङ्ग्य है।

तिग्मरुचिरप्रतापो विधुरनिशाकृद्विभो मधुरलीलः।
मतिमानतत्त्ववृत्तिः प्रतिपदपक्षाग्रणीर्विभाति भवान्।।55।।

अर्थ – हे स्वामिन्! आप दुष्टों पर कठोर हैं और सज्जनों से मनोहर प्रीति रखते हैं। आप शत्रुओं के घातक है। आपकी चेष्टाएँ मनभावनी है। आप बुद्धि और मान का यथोचित व्यवहार करते हैं तथा प्रत्येक स्थल पर आत्मपक्षवालों के नेता होकर सर्वत्र सुशोभित रहते हैं।

अत्रैकैकस्य पदस्य द्विपदत्वे विरोधाभासः।

यहाँ पर मूल में "तिग्मरुचि" (सूर्य) होकर भी अप्रताप (प्रताप रहित), विधु (चन्द्रमा) होकर भी अनिशाकृत् (रात्रि न करने वाले), विभु (दीप्तिहीन) होकर भी विभाति (विशेष चमकते हैं) मधु (वसन्तु ऋतु) होकर भी अलीलः (क्रीड़ा रहित), मतिमान् (बुद्धिमान) होकर भी अतत्त्ववृत्ति (निरर्थक विचार करने वाले) प्रतिपत् (प्रतिपदा तिथि) होकर भी अपक्षाग्रणीः (किसी पक्ष के प्रारम्भ में न रहनेवाले) आदि एक–एक पद को दो–दो भिन्न पदों में तोड़ देन के कारण विरोधाभास नामक अलङ्कार व्यंग्य है।

अमितः समितः प्राप्तैरुत्कर्षैर्हर्षद प्रभो।
अहितः सहितः साधुयशोभिरसतामसि ।।

अर्थ – हे शत्रुघाती और मित्रों के लिये सुखदायी स्वामिन्! युद्ध में प्राप्त की हुई आपकी प्रशंसा सीमा रहित है। आप खलों के शत्रु तथा सद्गुण विशिष्ट है।

अत्रापि विरोधाभासः।

यहाँ पर भी अमित, समित और अहित, सहित आदि शब्दों द्वारा विरोधाभास अलङ्कार ही व्यंग्य है।

काव्य में ध्वनि या व्यङ्ग्यार्थ की सदा प्रधानता होती है जहाँ पर जो प्रधान होता है वह अलङ्कार्य कहा जाता है उपर्युक्त चारों उदाहरणों में अलङ्कार ध्वनि प्रधान है अतः अलङ्कार्य है किन्तु ब्राह्मणश्रमणन्याय से उसे अलङ्कार कह दिया जाता है।

वस्तुमात्रव्यङ्ग्य–

पंथिअ! ण एत्थ सत्थरमत्थि मणं पत्थरत्थल गामे।
उण्णअपओहरं पेक्खिऊण जइ वससि ता वससु।।58।।
छाया –पथिक! नात्र स्रस्तरमस्ति मनाक् प्रस्तरस्थले ग्रामे।
उन्नतपयोधरं प्रेक्ष्य यदि वससि तद्वस।।

अर्थ – (कोई नायिका दूती बनकर किसी पथिक रूप नायक से कहती है–) हे पथिक! इस पत्थर से भरे (वा मूर्खप्राय) गाँव में कहीं चटाई बिछौना आदि नहीं है; परन्तु यदि चढ हुए मेघ (वा उभरे स्तनों) को देख तुम यहीं ठहरना चाहते हो तो ठहर जाओ।

यहाँ पर कहने वाली नायिका का यह तात्पर्य व्यंग्य है कि यदि तुम उपभोग के लिये समर्थ हो तो यहाँ पर ठहरो।

5.2.2 अर्थशक्त्युत्थध्वनिभेद–

प्रसङ्ग – अर्थशक्त्युत्थ ध्वनि के बारह भेद माने गए है। इनमें पहले (1) स्वतः सम्भवी (2) कविप्रौढोक्तिसिद्ध (3) कविनिबद्ध वक्तृ प्रौढोक्तिसिद्ध – तीन भेद किए जाते है। इन तीनों के वस्तु एवं अलङ्कार ध्वनि दो भेद होकर 3x2=6 भेद बनते हैं ये छह भेद व्यंग्य व व्यंजक दोनों होने से द्विगुण होकर बारह बनते हैं –

(1) स्वतः सम्भवी–

(1) वस्तु से वस्तु व्यंग्य (2) वस्तु से अलङ्कार व्यंग्य
(3) अलङ्कार से वस्तु व्यंग्य (4) अलङ्कार से अलङ्कार व्यंग्य

(2) कविप्रौढोक्ति सिद्ध

(1) वस्तु से वस्तु व्यंग्य (2) वस्तु से अलङ्कार व्यंग्य
(3) अलङ्कार से वस्तु व्यंग्य (4) अलङ्कार से अलङ्कार व्यंग्य

(3) कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्ध

(1) वस्तु से वस्तु व्यंग्य (2) वस्तु से अलङ्कार व्यंग्य
(3) अलङ्कार से वस्तु व्यंग्य (4) अलङ्कार से अलङ्कार व्यंग्य

(सू. 54)अर्थ शक्त्युद्भवोऽप्यथा व्यंजकः सम्भवी स्वतः ।।39।।
प्रौढोक्तिमात्रात्सिद्धो वा कवेस्तेनोम्भितस्य वा।
वस्तु वालङ्कृतिर्वेति षड् भेदोऽसौ व्यनक्ति यत्।।40।।
वस्त्वलङ्कारमथ वा तेनायं द्वादशात्मकः।

व्याख्या –

अर्थ – अर्थशक्तिमूलक व्यंग्य स्वतःसम्भवी, कवि प्रौढ़ोक्ति मात्र सिद्ध और कवि निबद्ध वक्तृ प्रौढ़ोक्ति सिद्ध इस भाँति से तीन प्रकार का होता है – ये तीनों वस्तु और अलङ्कार युक्त होने से छः प्रकार के हुए और उन छहों में भी वस्तु और अलङ्कार भी व्यंग्य होते हैं। इस प्रकार अर्थशक्तिमूलक व्यंग्य की संख्या बारह हो जाती है।

स्वतः सम्भवी से तात्पर्य उस ध्वनि से नहीं है जो केवल कवि ही के कथन मात्र से सिद्ध हो; किन्तु बाह्य संसार में भी जो उचित रीति से सम्भाव्यमान (विद्यमान) हो। जो पदार्थ बाह्य संसार में न हो केवल कवि ने ही अपनी विशिष्ट कल्पना से रच लिया हो वह कवि प्रौढ़ोक्तिमात्र सिद्ध कहलाता है। यदि कवि ने किसी वक्ता द्वारा ऐसी बात कहलाई हो तो वह कवि निबद्ध वक्तृ प्रौढ़ोक्ति सिद्ध होगा। इस प्रकार प्रौढ़ोक्ति मात्र सिद्ध के दो प्रकार के भेद हुए। स्वतःसंभवी समेत ये तीन भेद (अर्थशक्तिमूलक) ध्वनि के हुए। ये तीनों भेद वस्तु

और अलङ्कार युक्त होने से छः प्रकार के हुए। अब उन छहों का व्यंग्य अर्थ भी वस्तु और अलङ्कार विशिष्ट होने से प्रत्येक के दो–दो भेद फिर होंगे। अतः वे सब मिलाकर अर्थशक्तिमूलक ध्वनि के बारह भेद होते है।

5.2.2.1 स्वतःसम्भवी–

सर्वप्रथम स्वतः सम्भवी के चार उदाहरण क्रम से प्रस्तुत हैः–

अलसशिरोमणि धुत्ताणं अग्गिमो पुत्ति धणसमिद्धिमओ।
इअ भणिएण णअङ्गी पप्फुलविलोअणा जाआ।।

छाया– अलसशिरोमणिर्धूर्तानामग्रिमः पुत्रि धनसमृद्धिमयः।
इति भणितेन नताङ्गी प्रफुल्लविलोचना जाता।।

अर्थ – (किसी नायिका से कोई प्रौढ़ा स्त्री कहती है –) हे बेटी! यह तुम्हारा चुना हुआ वर (पति) आलसी पुरूषों का अगुआ है, धूर्तों में प्रथम है; परंतु धन संपत्ति से भरा पूरा है। इतना सुनते ही उस नतागी नायिका की आँखें खिल उठी।

यहाँ वह मेरे ही उपभोग के योग्य हैं यह वस्तु (प्रफुल्लविलोचनरूप) वस्तु से व्यंग्य है।

धन्यासि या कथयसि प्रिससंगमेऽपि
विश्रब्धचाटुकशतानि रतान्तरेषु।
नीवीं प्रति प्रणिहिते तु करे प्रियेण
सख्यः शपामि यदि किंचिदपि स्मरामि।।

अर्थ – (कोई सौभाग्यवती नायिका अपनी सखी को संबोधन करके कहती है –) हे सखि! तू तो धन्य है कि अपने वल्लभ के साथ सुरत केलि के अवसर में बीच–बीच में विश्वास युक्त सैकड़ों मीठे बचन बोलती है; परंतु मैं तो शपथपूर्वक कहती हूँ कि मेरा पति ज्योंही नीवी के निकट हाथ लाता है त्योंही फिर क्या–क्या होता है मुझे कुछ भी स्मरण नहीं रहता।

यहाँ पर कहने वाली नायिका अपनी सखी को अभागिन और अपने को परमानंद का पात्र समझकर धन्या बतलाती है। अतः सखी को धन्या कहने और वास्तव में अपने को ही धन्या सूचित करने के कारण यहाँ पर व्यतिरेकालङ्कार व्यंग्य है।

दर्पान्धगन्धगजकुम्भकपाटकूट–
संक्रान्तिनिघ्नघनशोणितशोणशोचिः।
वीरैर्व्यलोकि युधि कोपकषायकान्तिः
कालीकटाक्ष इव यस्य करे कृपाणः।।

अर्थ – मतवाले गन्धगजों के कपाट सदृश दृढ़ कपोलों के अग्रभाग पर प्रहार कर उसमें धँसे हुए घने रक्त के लाल रङ्ग से सनी चमकदार तलवार को क्रोध से अत्यन्त लाल कालिका माता के कटाक्ष के समान उस राजा के हाथ में वीरों ने चमकती हुई देखा।

यहाँ पर कालिका के कटाक्ष के समान कृपाण की उपमा बतलाने से उपमा अलङ्कार द्वारा यह वस्तु व्यक्त होती है कि वह वीर क्षण भर में शत्रुओं की समस्त सेना का संहार कर डालेगा।

गाढकान्तदशनक्षतव्यथासङ्कटादरिवधूजनस्य यः।
ओष्ठविद्रुमदलान्यमोचयन्निर्दशन्युधि रुषा निजाधरम्।।

अर्थ – उस राजा ने युद्धस्थल में क्रोध से अपने निचले ओठ को चबाकर शत्रुविलासिनियों के मूँगे के पत्र के सदृश ओठों को उनके पतियों द्वारा कसकर काटे जाने रूप पीड़ाओं के संकट से छुड़ा दिया। यहाँ अलङ्कार से अलङ्कार व्यंग्य है इन उदाहरणों में व्यंजक अर्थ स्वतः सम्भवी है।

5.2.2.2 कविप्रौढ़ोक्तिसिद्ध –

कवि प्रौढ़ोक्तिमात्र सिद्ध व्यंजक अर्थवाली ध्वनि के चार भेदों के उदाहरण अब आगे प्रदर्शित किये जा रहे हैं।

प्रथमतः वस्तु से वस्तु की व्यंजना का उदाहरण :–

कैलासस्य प्रथमशिखरे वेणुसंमूर्च्छनाभिः
श्रुत्वा कीर्तिं बिबुधरमणीगीयमानां यदीयाम्।
स्रस्तापाङ्गाः सरसविसिनीकाण्डसंजातशंका
दिङ्मातङ्गा श्रवणपुलिने हस्तमावर्त्तयन्ति।।

अर्थ – कैलास पर्वत की सबसे ऊँची चोटी पर देवाङ्गनाओं द्वारा बाँसुरी की ध्वनि के साथ गाई जाने वाली (जिस) राजा की कीर्ति को सुनकर दिग्गज गण रसीले कमलनालों (डण्ठलों) के भ्रम से आँखें तिरछी करके अपने कानों के प्रान्त भागों पर शुण्डादण्ड फेरने लगते है।

यहाँ पर केवल कवि की प्रौढ़ोक्ति से सिद्ध कीर्ति के कानों में प्रवेश करने पर कमल तन्तु के भ्रम से कानों पर शुण्डादण्ड का फेरना आदि वस्तु से, जिन दिग्गजों को गीत के अर्थ तक का ज्ञान नहीं है, उनके भी चित्त में कमलतन्तु आदि की बुद्धि उत्पन्न कर देने के कारण उस राजा की कीर्ति अति अद्भुत चमत्कारिणी है यह वस्तु ध्वनित होती है।

केसेसु बलामोडिअ तेण अ समरम्मि जअसिरी गहिआ।
जह कन्दराहिं विहुरा तस्स दढं कंठअम्मि संठविआ।।
छाया– केशेषु बलात्कारेण तेन च समरे जयश्रीगृहीता।
यथा कन्दराभिर्विधुरास्तस्य दृढं कण्ठे संस्थापिताः।। इति संस्कृतम्

अर्थ – उस राजा ने युद्धक्षेत्र में बलपर्वूक विजयलक्ष्मी को केशों द्वारा पकड़ कर खींच लिया और कन्दराओं ने उस राजा के शत्रुओं को अपने गलों में लपेट लिया (तात्पर्य यह है कि राजा के शत्रुगण अतिशय भयभीत होकर पर्वतों की कंदराओं में जा छिपे आर वहाँ से बाहर भी नहीं निकले) यहाँ पर केश–ग्रहण के देखने से कामोद्दीपन होने के कारण कंदराएँ उस राजा के शत्रुओं को मानो गले लगाती हैं, यह उत्प्रेक्षालङ्कार है। एक ओर संग्राम में विजय देख, राजा के शत्रुगण भागकर गिरि कन्दरा में छिप गये वह काव्यहेतु नामक अलंङ्कार है। उस राजा के बैरी भागकर नहीं छिपे; किंतु उनके पराजय का विचार करके कंदराएं ही उन्हें नहीं छोड़ती, इस प्रकार अपह्नुति अलंङ्कार भी है।

कवि प्रौढ़ोक्तिमात्र सिद्ध अलंङ्कार से वस्तु की व्यञ्जना का उदाहरणः–

गाढ़ालिङ्गणरहसुज्जुअम्मि दइए लहुं समोसरइ।
माणंसिणीण माणो पीलणभीअ व्व हिअआहिं।।66।।
छाया– गाढालिङ्गनरभसोद्यते दयिते लघु समपसरति।
मनस्विन्या मानः पीडनभीत इव हृदयात्।। इति संस्कृतम्

अर्थ – जब प्रियतम हठात् (नायिका के शरीर के) निर्भर आलिङ्गन के लिये उद्यत हो गया तब मनस्विनी नायिका का मान भी दबाये जाने के भय से झटपट दूर हो गया।

अत्रोत्प्रेक्षया प्रत्यालिङ्गनादि तत्र विजृम्भते इति वस्तु।

यहाँ पर उत्प्रेक्षालङ्कार द्वारा प्रत्यालिङ्गन आदि कार्यों की अवश्यम्भाविता रूप वस्तु प्रकट की गई है।

कवि प्रौढ़ोक्तिमात्र सिद्ध अलङ्कार से अलङ्कार की व्यञ्जना का उदाहरण :–

जा ठेरं व हसन्ती कइवअणंबुरुहबद्धविणिवेसा।
दावेइ भुअणमण्डलमण्णं बिअ जअइ सा वाणी।।
या स्थविरमिव हसन्ती कविवदनाम्बुरुहबद्धविनिवेशा।
दर्शयति भुवनमण्डलमन्यदिव जयति सा वाणी। संस्कृतम्

अर्थ – कवियों के मुख पंकज में स्थिरतापूर्वक निवास करने वाली जो सरस्वती देवी समस्त संसार को अन्य पदार्थ की भाँति (और का और) दिखलाती हुई बह्मा पर बूढ़े की तरह हँसती है वह विजयिनी हैं।

यहाँ पर उत्प्रेक्षालङ्कार द्वारा अद्भुत चमत्कार के कारणरूप नवीन संसार को कमलरूप जड़ पदार्थ के आसन पर बिना बैठे ही (चेतन रूप कवि मुख पङ्कज के आधार पर होकर) सरस्वती देवी निर्माण करती हैं ऐसा व्यतिरेकालङ्कार प्रकट हो रहा है।

(ऊपर के इन चारों उदाहरणों में कविप्रोढ़ोक्तिमात्र सिद्ध व्यञ्जक दिखलाये गये है)

5.2.2.3 कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्ति–

कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्ति के उदाहरण इस प्रकार है–

जे लंकागिरिमेहलासु खलिआ संभोगखिण्णोरई
फारुप्फुल्लफणावलीकवलणे पत्ता दरिद्दत्तणम्।
ते एह्णिं मलअणिला विरहिणीणीसाससंपक्किणो
जादा झत्ति सिसुत्तणे वि बहला तारुण्णपुण्णा विअ।।

छाया– ये लङ्कागिरिमेखलासु स्खलिताः सम्भोगखिन्नोरगी –
स्फारोत्फुल्लफणावलीकवलने प्राप्ता दरिद्रत्वम्।
त इदानीं मलयानिला विरहिणीनिःश्वाससम्पर्किणो
जाता झटिति शिशुत्वेऽपि बहलास्तारुण्यपूर्णा इव।

अर्थ – जो वायु के झोंक लङ्का के पर्वतों की चट्टानों से नीचे गिरकर सम्भोग के परिश्रम से थकी हुई, नागिनी के फैले और ऊपर की ओर उठाये हुए फणों की पंक्ति से निगले–जाने के कारण दुर्बल (परिमाण में अल्प) हो गये हैं वे ही अब मलयानिल के रूप में परिणत होकर विरहिणी स्त्रियों की उष्ण साँसों का सम्पर्क पाकर फिर प्रारम्भावस्था ही की भाँति अत्यन्त पुष्ट से हो गये हैं।

यहाँ पर श्वास के सम्बन्ध से पुष्टि को प्राप्त होने वाले वायु के झोंके क्या–क्या नहीं करते ऐसी वस्तु से वस्तु ही की व्यञ्जना होती है।

सहि विरइऊण माणस्य मञ्झ धीरत्तणेण आसासम्।
पिअदंसणबिहलंखलखणम्मि सहसत्ति तेण ओसरिअम्।।69।।
(सखि विरचय्य मानस्य मम धीरत्वेनाश्वासम्
प्रियदर्शनविशृंङ्खलक्षणे सहसेति तेनापसृतम्) इति संस्कृतम्

अर्थ – (कोई नायिका अपनी सखी से कहती है–) हे सखि! तुम्हारे समझाने पर मेरे धैर्य ने मेरे चित्त के मान को संभालने का समाश्वासन तो दिया था; परन्तु जब अपने प्रिय को देखकर मैं उत्कण्ठावश चंचल हो गई तो वह धीरज सहसा भाग गया।

यहाँ पर बिना प्रार्थना किये ही प्रसन्न हो जाना रूप वस्तु से बिना कारण के कार्योत्पत्ति रूप विभावना नामक अलङ्कार है। अथवा प्रिय के दर्शन रूप सौभाग्य के बल से धीरज नहीं रखा जा सकता यह उत्प्रेक्षा अलङ्कार भी माना जा सकता है।

ओल्लोल्लकरअरअणख्खएहिं तुह लोअणेसु मह दिण्णम्।
रत्तंसुअं पसाओ कोवेण पुणे इमेण अक्कमिआ।।70।।
(आद्रार्द्रकरजरदनक्षतैस्तव लोचनयोर्मम दत्तम्।
रक्तांशुकं प्रसादः कोपेन पुनरिमे नाक्रान्ते।।) इति संस्कृतम्

अर्थ – (कोई नायक अपनी नायिका की आँखें क्रोध से लाल–लाल देखकर पूछता है) हे प्रिय! तुम रुष्ट क्यों हो? उसके उत्तर में नायिका कहती है कि हे प्रिय! ये मेरी आँखें क्रोध से लाल नहीं हैं; किन्तु आपके शरीर में (अन्य स्त्री के दिये हुए) नवीन नख ओर दाँत के घावों ने इन आँखों को लाल किरण रूप प्रसाद अर्पण किया है।

यहाँ पर तुम्हारी आँखें लाल क्यों हैं ? इस प्रश्न के उत्तर रूप उत्तर अलङ्कार द्वारा न केवल तुम अपने नवीन–नवीन नखक्षतों ही को छिपा रहे हो; किन्तु मैं उनकी प्रसादपात्री भी हुई यह वस्तु व्यञ्जित होती है।

महिलासहस्सभरिए तुह हिअए सुहअ सा अमाअन्ती।
अणुदिणमणण्ण कम्मा अङ्गं तणुअं वि तणुएइ।।
(महिलासहस्रभरिते तव हृदये सुभग सा अमान्ती।
अनुदिनमनन्यकर्मा अङ्गं तन्वपि तनयति।।)

अर्थ – नायिका की सखी नायक से कहती है कि हे सुन्दर! सहस्रों धूर्त स्त्रियों से भरे हुए तुम्हारे हृदय में अपने समाने के लिये पर्याप्त स्थान न पाकर वह (स्त्री) अपने अत्यन्त ही

दुर्बल शरीर को और भी अधिक दुबला कर रही है। उसे रात दिन किसी और कार्य के करने का अवसर ही नहीं मिलता है।

यहाँ पर हेतु अलङ्कार द्वारा दुबले शरीर को और भी अधिक दुबला करके भी वह स्त्री तुम्हारे हृदय में स्थान नहीं पाती है, इस प्रकार के कारण के वर्तमान रहने पर भी कार्य न होना रूप विशेषोक्ति नामक अलङ्कार व्यक्त है।

5.2.3 शब्दार्थोभयशक्त्युथ

प्रसङ्ग – उभय अर्थात् शब्द व अर्थ दोनों से उत्पन्न होने वाला ध्वनि एक ही प्रकार का है –

(सू.55) शब्दार्थोभयभूरेकः।

व्याख्या –

अर्थ – शब्द और अर्थ उभयशक्तिमूलक ध्वनि एक ही प्रकार की है (इसके भेद नहीं होते) जैसे–

अतन्द्रचन्द्राभरणा समुद्दीपितमन्मथा।
तारकातरला श्यामा सानन्दं न करोति कम्।।

रात्रिपक्ष में अर्थ – प्रकटरूपवाला चन्द्रमा जिसका भूषण है, जो काम को जगानेवाली है, और जिसमें झिलमिलाते चंचल तारे दिखाई पड़ते हैं – ऐसी रात्रि किस पुरूष को आनन्दित नहीं करती?

श्यामा स्त्री के पक्ष में अर्थ – निरालस्य और चन्द्राकार रूप शिरोभूषण वाली, भली भाँति कामभाव को उत्तेजित करनेवाली और चञ्चल ताराविशिष्ट नेत्रोंवाली श्यामा (सोलह वर्ष की अवस्था वाली) नायिका किस पुरूष को सानन्द नहीं करती?

अत्रोपमा व्यङ्ग्या।

यहाँ पर रात्रि और श्यामा नायिका का उपमानोपमेयभाव व्यङ्ग्य है। इस प्रकार ध्वनि काव्य के सब मिलाकर अठारह भेद हुए – जिन्हें आगे कह रहे हैं–

(56) भेदा अष्टादशास्य तत्।।41।।

अर्थ – इस प्रकार उक्तरीति से इस (ध्वनि काव्य) के अठारह भेद हुए। इस ध्वनि के उन अठारह भेदों को इस प्रकार गिनना चाहिये। अविवक्षित वाच्य के प्रथम दो भेद (अर्थान्तर सङ्कमित और अत्यन्त तिरस्कृत) हुए। फिर विवक्षितान्यपरवाच्य के भेदों में से असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग नामक दूसरा भेद। इस संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग के शब्दशक्ति एवं अर्थशक्ति मूलक बारह और उभय शक्तिमूलक एक इस प्रकार सब मिलाकर अठारह हुए।

यदि पूछा जाय कि रसादि के तो अगणित भेद होते हैं यहाँ पर केवल अठारह ही क्यों गिने गये तो उत्तर म ग्रन्थकार कहते हैं–

(सू.57) रसादीनामनन्तत्वाद्भेद एको हि गण्यते।

अर्थ – रसादि की संख्या अपरिमित होने से उसका केवल एक ही भेद गिना जाता है।

अपरिमित संख्या कहने का तात्पर्य यह है कि नौ तो रस हैं उनमें से पहिले शृङ्गार ही के दो भेद हैं – (1) सम्भोग और (2) विप्रलम्भ। इन में से सम्भोग ही के अनेक भेद है। जैसे – (1) नायिका और नायक का परस्पर एक दूसरे को देखना (2) आलिङ्गन (3) सर्वाङ्ग चुम्बन इत्यादि (4) फूल बटोरना (5) जलक्रीड़ा (6) सूर्यास्त (7) चन्द्रोदय (8) छहों ऋतुओं (वसन्त, ग्रीष्म, वर्षा, शरत्, हेमन्त, और शीत) आदि का वर्णन इत्यादि। ऐसे ही विप्रलम्भ शृंगार के अभिलाष, विरह, ईर्ष्या, प्रवास और शाप आदि के कारणवाले पाँच भेद बताये जा चुके है। उनमें भी विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भाव आदि की विचित्रता है। इस पर भी नायिका और नायक क उत्तम, मध्यम और अधम प्रकृतिवाले होने से कई प्रकार के भेद होंगे। फिर देश, काल, अवस्था आदि भेदों के कारण भी अनेकभेद होंगे। रसों की क्या गणना की जाय? असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य का साधारणतया विशेष भेद न करके रसादि रूप ध्वनि का केवल एक ही भेद गिना गया हैं।

(सू.59) वाक्ये द्व्युत्थः

अर्थ – उभयशक्ति मूलक ध्वनि केवल वाक्य ही में होती है, पदादिक में नहीं।

(सू. 59) पदेऽप्यन्ये।

अर्थ – और अन्य (शब्दार्थोभयशक्तिमूलक ध्वनि को छोड़कर) अर्थान्तर सङ्क्रमितवाच्य आदि ध्वनि के भेद (वाक्यों की भाँति) पदों में भी होते हैं।

"भी" कहने का यह तात्पर्य है कि उक्त सत्रह भेद वाक्यों में तो होते ही है। जैसे शरीर के एक भाग नासिका या नितम्ब आदि में पहिनाये गये मोतीयुक्त नथ अथवा मणिमय कांची आदि से सुन्दरी स्त्री शोभित होती है वैसे ही केवल एक पद से प्रकाश्य व्यंग्य द्वारा वाक्यव्यंग्या भी सरस्वती शोभित होती है। अब पद प्रकाश्य व्यंग्य के उदाहरण क्रमशः दिये जाते हैं।

यस्य मित्राणि मित्राणि शत्रवः शत्रवस्तथा।
अनुकम्प्योऽनुकम्प्यश्च स जातः स च जीवति ।।

अर्थ – जिस मनुष्य के मित्र यथार्थ मित्र (विश्वास पात्र) हैं, जिसके शत्रु यथार्थ में शत्रुवत् व्यवहार करने योग्य हैं (अर्थात् जिनका चारों ओर से दमन करना आवश्यक है) तथा जिसके दया के योग्य व्यक्ति वास्तव में स्नेह के पात्र ही हैं उसी मनुष्य का जन्म सफल और प्रशंसायोग्य है।

यहाँ पर द्वितीय मित्र, शत्रु और अनुकम्प्य शब्द क्रम से विश्वासपात्र, चारों ओर से दमन करने योग्य और स्नेहपात्र रुप अर्थान्तर में सङ्क्रान्त (परिणत) हो गये है।

खलववहारा दीसन्ति दारुणा जहवि तहवि धीराणम्।
हिअअवअस्सवहुमआ ण हु ववसाआ विमुज्झन्ति ।।
(खलव्यवहारा दृश्यन्ते दारुणा यद्यपि तथापि धीराणाम्।
हृदयवयस्यबहुमता न खलु व्यवसाया विमुह्यन्ति।।) इति संस्कृतम्

अर्थ – यद्यपि धूर्त मनुष्यों के चरित्र बहुत ही दुःखदायी दिखाई पड़ते हैं, तथापि धीर स्वभाव के लोग, जो अपने मित्ररूप मन के अनुमोदन को स्वीकार करते हैं, अपने उद्योग से नहीं चूकते।

यहाँ पर "विमुह्यन्ति" यह पद अत्यन्त तिरस्कृत वाच्य है।

लावण्यं तदसौ कान्तिस्तद्रूपं स वचःक्रमः।
तदा सुधास्पदमभूदधुना तु ज्वरो महान् ।।

अर्थ – वह अपूर्व सौंदर्य, वैसी क्रान्ति, वैसा आकार और वह बोलने का ढंग तब तो अमृत के समान लगता था; परन्तु अब तो (उसके वियोग हो जाने पर) उसका स्मरण भी परम दुःखदायी ज्वर–सा प्रतीत होता है।

यहाँ पर "तद्" (वह) इत्यादि पदों से केवल अनुभव का विषय यही अर्थ प्रतीत होता है।

मुग्धे! मुग्धतयैव नेतुमखिलः कालः किमारभ्यते
मानं धत्स्व धृतिं बधान ऋजुतां दूरे कुरु प्रेयसि।
सख्यैवं प्रतिबोधिता प्रतिवचस्तामाह भीतानना
नीचैः शंस हृदि स्थितो हि ननु मे प्राणेश्वरः श्रोष्यति।।

अर्थ – (किसी नायिका से उसकी सखी कहती हैः–) हे मुग्धे! (विवेक शून्य स्त्री) तू क्यों मुग्धता से अपना सब समय (यौवनकाल) बिता देना चाहती है। अरे! तू मान कर, धीरज धर, अपने प्रियतम के सम्बन्ध में भोलापन (मुग्धता) छोड़ दे। जब नायिका ने सखी के ऐसे शिक्षा–वचन सुने तो भय से व्याकल वदन होकर बोल उठी कि अरे सखि! धीरे–धीरे बोलो नही ंतो मेरे हृदय में स्थित प्राणनाथ सुन लेंगे।

यहाँ "भीतानना" व्यंजक पद है यह असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य पदद्योत्य का उदाहरण है। इसी प्रकार अन्य उदाहरण सन्दर्भग्रन्थों में दृष्टव्य है। यहाँ विस्तार के भय से उनका निरूपण नहीं किया जा रहा।

(सू. 60) प्रबन्धेऽप्यर्थशक्तिभूः ।।42।।

अर्थ – अर्थशक्तिमूलक ध्वनि वाक्य तथा पद से प्रकाश्य होने के अतिरिक्त प्रबन्ध के सम्बन्ध से भी प्रकाश्य है। इस प्रकार अर्थशक्त्युत्थ प्रबन्धगत बारह भेद और हो जाते हैं–

अलं स्थित्वा श्मशानेऽस्मिन् गृध्रगोमायुसंकुले।
कङ्कालबहले घोरे सर्वप्राणिभयङ्करे।।
न चेह जीवितः कश्चित्कालधर्ममुपागतः।
प्रियो वा यदि वा द्वेष्यः प्राणिनां गतिरीदृशी।।

अर्थ – (सायंकाल के समय मृत बालक को लेकर श्मशान में आये हुए उसके प्रिय जनों को दिन शेष रहते ही लौटा देने के लिये श्मशानवासी गृध्र कहता है–) गिद्ध और सियारों से भरे, बहुत से कंकालों वाले, घने और सब प्राणियों के लिये भयानक इस श्मशान में अधिक समय तक आप लोगों के ठहरने से क्या लाभ?

जो जीव मृत्यु को प्राप्त हो चुका है, वह चाहे किसी का भी प्रिय हो वा शत्रु हो फिर से जी नहीं सकता सभी प्राणियों की ऐसी ही गति होती है।

उक्त वचन दिन में शक्ति रखने वाले (दिन में ही देखने वाले) गृध्र के कहे हुए हैं, जो चाहता है कि मृत बालक के प्रियजन उसे छोड़कर चले जावें।

5.3 ध्वनि के इक्यावन भेद

यहाँ तक ध्वनि के कुछ 35 + 12 = 47 भेद गिनाए गए इनमें सलंक्ष्यक्रम व्यंग्य के – 2 शब्दशक्तिमूलक, 12 अर्थशक्तिमूलक तथा 1 उभयशक्तिमूलक कुल 15 भेद हुए। इनमें एक असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य का भेद जोड़ने पर 16 तथा दो अविवक्षितवाच्यध्वनि के (अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य, अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य) भेद जोड़कर कुल 18 भेद हो गए। इनमें उभयशक्त्युथ को छोड़कर शेष 17 भेद वाक्यगत व पदगत रूप से दो प्रकार के (17 x 2 = 34) होकर 34 भेद बने इसमें उभय शक्तिमूलक भेद जोड़कर – 35 भेद बनें इनमें अर्थशक्तिमूलक के 12 प्रबन्धगत भेद भी होते है। इस प्रकार 35 + 12 = 47 कुछ भेद हुए। अब अगले सूत्र में चार और भेदों की (47 + 4 = 51) गणना करते हैं।

(सू.61) पदैकदेशरचना वर्णेष्वपि रसादयः।

(1) पद के एकदेश (प्रकृति प्रत्ययादि) (2) रचना (वैदर्मी आदि) (3) वर्णों एवं प्रबन्ध में भी रस आदि (अलंक्ष्यक्रमव्यंग्य) होता है।

पद के एक भाग में धातु रूप प्रकृति द्वारा रस की व्यञ्जकता का उदाहरण–

रइकेलिहिअणिअसणकरकिसलअरुद्धणअणजुअलस्स।
रुद्दस्स तइअणअणं पव्वईपरिचुम्बिअं जअइ।।
(रतिकेलिहृतनिवसनकरकिसलयरुद्धनयनयुगलस्य।
रुद्रस्य तृतीयनयनं पार्वतीपरिचुम्बितं जयति।।) इति संस्कृतम्।।

अर्थ – रतिक्रीड़ा के समय महादेवजी के द्वारा वस्त्र हर लिये जाने के कारण पार्वती ने जब अपने दोनों हाथों से (पति की) दोनों आँखों को ढँक लिया तब तीसरे ललाट लोचन को (मूँदने का कोई अन्य उपाय न देख) चूम लिया। महादेव जी की वह (तीसरी) आँख विजयी (सर्वोत्कृष्ट) है।

यहाँ पर जयति यह क्रिया पद आया है। शोभते ऐसा नहीं कहा। यद्यपि आँखों का मूँदना रुपी व्यापार तो तीनों में था तथापि तीसरी आँख से, जो चुम्बनरूप अद्भुत व्यापार द्वारा मँद ली गईं यही शेष दोनों आँखों की अपेक्षा उसकी उत्कृष्टता है।

प्रेयान्सोऽयमपाकृतः सशपथं पादानतः कान्तया
द्वित्राण्येव पदानि वासभवनाद्यावन्न यात्युन्मनाः।
तावत्प्रत्युत पाणिसम्पुटगलन्नीवीनिबन्धं धृता
धावित्वैव कृतप्रणामकमहो प्रेम्णो विचित्रा गतिः।।98।।

अर्थ – "वह प्रिय नायक जब शपथपूर्वक नायिका के चरणों पर गिरा और फिर भी नायिका ने उसका अनादर किया तो जब तक वह उदास होकर घर से दो–तीन पग भी आगे न जाने पाया कि तब तक नायिका ने दौड़कर हाथ जोड़ प्रणाम कर उसे पकड़ लिया। इस बीच में नायिका की नीवी खुली जा रही थी जिसे वह अपने हाथ से सँभाले हुए थी। अहो! प्रेम की गति विचित्र होती है।

यहाँ पर "पदानि" (पगो) ऐसा कहा है न कि "द्वाराणि" (द्वारों तक) लिखा। "द्वाराणि" को छोड़ "पदानि" कथन का यह भाव है कि नायिका नायक के द्वार तक पहुँचने के विलम्ब को सह नहीं सकती थी। इससे उस नायिका के औत्सुक्य की विशेषता प्रकट होती है। प्रत्ययरूप पद के एक भाग में सुप् (संज्ञा सम्बन्धी) और तिप् (क्रिया सम्बन्धी) विभक्तियों की व्यंजकता का उदाहरण –

पथि पथि शुकचञ्चूचारुराभाङ्कुराणां
दिशि दिशि पवमानो वीरुधां लासकश्च।
नरि नरि किरति द्राक् सायकान्पुष्पधन्वा
पुरि पुरि विनिवृत्ता मानिनीमानचर्चा ।।99।।

अर्थ – मार्ग के प्रत्येक भाग में नये उगे हुए अङ्कुर शुकों की चोंच के समान मनोहर दिखाई पड़ते हैं और प्रत्येक दिशाओं में लताओं को नचानेवाली हवा भी बह रही है। कामदेव भी प्रत्येक मनुष्य पर शीघ्र ही बाण प्रहार कर रहा है तथा प्रत्येक नगर में मानिनी स्त्रियों के मान धारण की चर्चा समाप्त हो गई है।

अत्र किरतीति किरणस्य साध्यमानत्वम्। निवृत्तेति निवर्त्तनस्य सिद्धत्वम्। तिङा सुपा च तत्रापि क्तप्रत्ययेनाऽतीतत्वं द्योत्यते।

यहाँ पर "किरति" इस क्रियापद से किरण फेंकने रूप व्यापार की सिद्धि है और निवृत्ता इस पद से निवृत्त (मिटी) हुई यह बात भो सिद्ध है। "किरति" में तिङ् क्रिया की विभक्ति और विनिवृत्ता में क्त प्रत्ययान्त प्रातिपदिक में सुप् (संज्ञा की) विभक्ति लगी है। क्त प्रत्यय से अतीतत्व का बोध होता है।

सुप् और तिङ् सम्बन्धी एक और उदाहरणः–

लिखन्नास्ते भूमिं बहिरवनतः प्राणदयितः
निराहाराः सख्यः सततरुदितोच्छूननयनाः।
परित्यक्तं सर्वं हसितपठितं पञ्जरशुकैः
तवावस्था चेयं विसृज कठिने! मानमधुना।।100।।

अर्थ – प्रिय तो घर के बाहर बैठा सिर झुकाये भूमि पर कुछ लिख रहा है और उपवास करने वाली सखियों की आँखें निरन्तर रोते रहने से सूज रही हैं, पिंजरे में बन्द शुकों ने भी हँसना और पढ़ना छोड़ दिया और तुम्हारी भी यह अवस्था हो गई। हे कठोर चित्तवाली नायिका! अब तो तू अपना मान छोड़ दे।

यहाँ पर "लिखन्" (लिखता हुआ) न कि "लिखति" (लिखता है) और "आस्ते" (है) है। न कि क्रिया समाप्ति द्योतक "आसीत्" (था) यह पद है। तात्पर्य यह कि जब तक तुम (नायिका) मान परित्याग करके, प्रसन्न न हो जाओगी तब तक ऐसा ही व्यापार चलता रहेगा। और यहाँ पर "भूमिं" (पृथ्वी को) ऐसा कहा है और "भूमौ" (पृथ्वी पर) ऐसा नहीं कहा, इससे यह भाव निकलता है कि कुछ समझ बूझ कर नहीं लिख रहा है – ये बातें सप् और तिङ् विभक्तियों द्वारा स्पष्ट सूचित हो रही हैं।

वचनस्य यथा

वचन की व्यंजकता का उदाहरण –

ताणं गुणग्गहणाणं ताणुक्कंठाणं तस्स पेम्मस्स।
ताणं भणिआणं सुन्दर! एरिसिअं जाअमवसाणम्।।102।।

छाया– तेषां गुणग्रहणानां तासामुत्कण्ठानां तस्य प्रेम्णः।
तासां भणितीनां सुन्दर! ईदृशं जातमवसानम्।।

अर्थ – हे सुन्दर नायक! वैसी गुणग्राहिता का, वैसी उत्सुकता का, उस प्रकार के प्रेम का तथा वैसी चाटु भरी उक्तियों का आज यह परिणाम हुआ।

यहाँ गुणग्रहण आदि का बहुत्व एवं प्रेम का एकविधत्व (क्रमशः बहुवचन एवं एकवचन से) द्योत्य ह।

पुरूष व्यत्यय की व्यंजकता का उदाहरण –

रे रे चञ्चललोचनाञ्चितरुचे! चेतः! प्रमुच्य स्थिर –
प्रेमाणं महिमानमेणनयनामालोक्य किं नृत्यसि।
किं मन्ये विहरिष्यसे बत हतां मुञ्चान्तराशामिमा –
मेषा कण्ठतटे कृता खलु शिला संसारवारान्निधौ।।103।।

अर्थ – (कोई शान्तचित्त वैरागी अपने आप को मन ही मन धिक्कारता और हँसता हुआ कहता है –) हे चञ्चल नेत्र वाली कामिनी में रुचि रखने वाले मेरे मन! तुम निश्चल प्रेम की महिमा से युक्त विरक्तावस्था को छोड़कर इस मृगनयनी को देख क्यों नाच रहे हो ? क्या तुम समझते हो कि हम इसके साथ विहार करेंगे? अरे! इस दुराशा को छोड़ो यह (स्त्री या कामना) संसार रूपी समुद्र में डुबाने के लिए गले में यह बाँधी गयी पत्थर की शिला है।

यहाँ पर "त्वं मन्ये, अहं विहरिष्यसे" ऐसा न कहकर "त्वं मन्यसे, अहं विहरिष्ये" ऐसा वाक्य कहना चाहिये था; किन्तु "प्रहासे च मन्योपपदे मन्यतेरुत्तम एकवच्च" (1।4।106) पाणिनिरचित अष्टाध्यायी के सूत्रानुसार पुरुष का व्यत्यय अर्थात् मध्यम पुरुष के स्थान में प्रथम पुरुष का और प्रथम पुरुष के स्थान में मध्यम पुरुष का प्रयोग हुआ है और यह पुरुष व्यत्यय प्रहास के भाव को व्यक्त करता हैं।

पूर्व निपात की व्यंजकता का उदहारण :

येषां दोर्बलमेव दुर्बलतया ते सम्मताः तैरपि
प्रायः केवलनीतिरीतिशरणैः कार्यं किमुर्वीश्वरैः।
ये क्ष्माशक्र! पुनः पराक्रमनयस्वीकारकान्तक्रमा
स्ते स्युर्नैव भवादृशास्त्रिजगति द्वित्राः पवित्राः परम् ।।104।।

अर्थ – (कोई कवि किसी राजा की प्रशंसा में कहता है–) हे पृथ्वीतल के इन्द्र! जिन राजाओं के पास केवल भुजा ही बल है (नीति का नहीं) वे दुर्बल ही माने जाते है। उन राजाओं के द्वारा भी लोगों की इष्टसिद्धि नहीं हो सकती जो केवल नीति शास्त्र ही के भरोसे रहते है। परन्तु जो राजा लोग पराक्रम और नीति दोनों को अंगीकार कर उत्तम क्रम से चलनेवाले हैं – ऐसे आप के समान पवित्र प्रशंसा–भाजन त्रिभुवन में कदाचित् दो या तीन ही होंगे, अधिक नहीं।

इस श्लोक में "पराक्रम नय" वाक्यांश में "नय" शब्द में अल्पाच्तर (स्वर वर्णो की न्यूनता) होने के कारण "अल्पाच्तरम्" (2।2।34) इस पाणिनि विरचित अष्टाध्यायी के सूत्र द्वारा उसे पूर्व में रखना चाहिये था जिससे "नय पराक्रम" वाक्यांश व्युत्पन्न होता; किन्तु "पराक्रम" पद के "अभ्यर्हित" (श्रेष्ठ) होने के कारण "अभ्यर्हितंच" इस वररुचि विरचित वार्तिक के द्वारा उसका पूर्व निपात हुआ। अतः "पराक्रम" पद की प्रधानता व्यक्त हुई।

विभक्ति विशेष की व्यंजकता का उदाहरणः–

प्रधनाध्वनि धीरधनुर्ध्वनिभृति विधुरैरयोधि तव दिवसम्।
दिवसेन तु नरप भवानयुद्ध विधिसिद्धसाधुवादपदम् ।।105।।

अर्थ – हे राजन् ! वीरों के धनुष की गम्भीर टंकार से पूर्ण युद्ध के स्थल में आपके वैरी लोग दिन भर लड़ते ही रह गये (विजय नहीं प्राप्त कर सके) फिर भी आप से पार नहीं पा सके। किन्तु ब्रह्मा और सिद्धगणों से वाह–वाह की ध्वनि द्वारा प्रशंसित आपने एक ही दिन में युद्ध समाप्त कर दिया और विजय प्राप्त कर ली।

यहाँ पर "दिवसेन" (एक ही दिन में) यह पद "अपवर्गे तृतीया" (2।3।6) इस पाणिनि सूत्र के अनुसार कार्य की समाप्ति का प्रकाशक है।

(क रूप तद्धित प्रत्यय द्वारा प्रकृति के एक भाग की व्यंजकता का उदाहरणः–)

भूयो भूयः सविधनगरीरथ्यया पर्यटन्तं
दृष्ट्वा दृष्ट्वा भवनवलभीतुङ्गवातायनस्था।
साक्षात्कामं नवमिव रतिर्मालती माधवं यद्
गाढोत्कण्ठाललितलुलितैरङ्गकैस्ताम्यतीति ।।106।।

अर्थ – घर में अँटारी की ऊँची खिड़की पर बैठकर रति के समान सुन्दरी मालती नामक नायिका साक्षात् कामदेव के समान सुन्दर माधव नामक नायक को बारंबार निकट की गली में घूमते हुए देखकर प्रबल उत्कण्ठायुक्त हो, बहुत ही मुरझाये हुए दया के योग्य शरीरावयवों से दबली होती हुई चली जाती है।

यहाँ पर "अंगकैः" (दया योग्य शरीरावयवों द्वारा) पद में जो "क" रूप तद्धित प्रत्यय है वह अनुकम्पा (करुणा) योग्य दशा को प्रकट करता है।

(उपसर्ग रूप प्रकृति के एक देश की व्यञ्जकता का उदाहरणः–

परिच्छेदातीतः सकलवचनानामविषयः
पुनर्जन्मन्यस्मिन्ननुभवपथं यो न गतवान्।
विवेकप्रध्वंसादुपचितमहामोहगहनो
विकारःकोऽप्यन्तर्जडयति च तापं च कुरुते।।107।।

अर्थ – (मालती माधव नाटक में माधव नामक नायक अपने मित्र मकरन्द से) कुछ ठिकाना नहीं है, सब प्रकार के कथनों से भी जिसका निरूपण नहीं हो सकता, जो कभी जन्मान्तर में भी हमारे अनुभव–पथ में अवतीर्ण नहीं हुआ, जो विवेक को भली भाँति नष्ट करके महामोह बढ़ाकर दुर्लङ्घ्य हो गया है, वह अनिर्वचनीय कामज विकार मेरे अन्तःकरण को मोहित करता है और पीड़ा उत्पन्न करता है।

यहाँ पर "प्रध्वंस" शब्द में "प्र" उपसर्ग समूल विवेक के नाश को व्यक्त करता है।

(अनेक प्रकृति प्रत्ययादि पदैकदेश की व्यंजकता का शृंगाररस में उदाहरणः–)

तरुणिमनि कलयति कलामनुमदनधनुर्भ्रुवोः पठत्यग्रे।
अधिवसति सकलललनामौलिमियं चकितहरिणचलनयना।।

अर्थ – भयभीत मृग के समान चंचल नेत्रों वाली यह नायिका सब सुन्दरी स्त्रियों की शिरोभूषण हो जाती है, जब कि तरुणावस्था की कलाओं को सीखती और भौंहों को कामदेव के धनुष के समीप रखकर उसके व्यापारों की शिक्षा प्राप्त करती है,

यहाँ पर "तरुणिमनि" (युवावस्था में) इस पद में इमनिच् प्रत्यय की, "अनुमदनधनुः" (कामदेव के धनुष के समीप) इस पद में अव्ययीभाव समास की और "मौलिम्" (शिर पर) इस पद में कर्मभूत आधाररूप स्वरूप की क्रमशः व्यंजकता है। यद्यपि "तरुणिमनि" तरुणत्व में, "अनुमदनधनुः" मदनधनु के समीप में, और "मौलिं" मौलि पर, इन सब उदाहरणों में "त्वं" इत्यादि के साथ वाचकत्व की तुल्यता अवश्य है; तथापि "तरुणिमनि" आदि में तरुणत्व आदि की अपेक्षा कोई स्वरूप की विशेषता है ही, जिससे चमत्कार उत्पन्न होता है। उसी के द्वारा इन प्रत्ययों में भी व्यञ्जकता प्राप्त होती है।

(सू. 62) भेदास्तदेकपंचाशत्

वें सब भेद मिलकर संख्या में इक्यावन होते हैं।

इन भेदों का निरूपण ऊपर किया जा चुका है।

(सू. 63) तेषामन्योन्ययोजने।।43।।

सङ्करेण त्रिरुपेण संसृष्टया चैकरूपया।

अर्थ – इन भेदों के परस्पर मिलाने और तीन प्रकार के संकर तथा एक प्रकार की संसृष्टि के मिलाने से (परस्पर गुणन कर देने से) और भी अनेक भेद हो जाते है।

मूलकारिका का अर्थ स्पष्ट करते हुए ग्रन्थकार कहते हैं कि केवल शुद्ध इक्यावन ही भेद नहीं होते; किन्तु इन इक्यावन भेदों के साथ तीन प्रकार के संकर अर्थात् (1) संशयास्पदत्व (जहाँ दो व्यंग्यों में से कौन प्रधान है इसका निर्णय न हो सके) (2) अनुग्राह्यानुग्राहकता (जहाँ दो व्यंग्यों में अङ्गाङ्गिभाव हो (अर्थात् एक प्रधान और दूसरा अप्रधान हो) (3) एकव्यंजकानुप्रवेश (जहाँ पर एक ही व्यंग्य अर्थ की सिद्धि के लिये दो व्यंग्य प्रयुक्त हो) और (4) परस्पर निरपेक्ष रूप एक प्रकार की संसृष्टि (तिल तण्डुल की भाँति ऐसा संमिश्रण

कि दानों व्यंग्य विलग विलग स्पष्ट दिखाई पड़ें अथवा दोनों की समप्रधानता हो)। इन चारों भेदों के परस्पर संमिश्रण वा गुणन करने से–

(सू. 64) वेदखाब्धिवियच्चन्द्राः (1–0–4–0–4)

अर्थ – वेद (4) ख (0) अब्धि (4) वियत् (0) और चन्द्र (1) संख्यक अर्थात् "अंकानां वामतोगतिः" के अनुसार 10404 भेद हो जाते हैं।

शुद्धभेदैः सह

और इन्हें भी फिर शुद्ध भेद के साथ जोड़ देने से

(सू. 65) शरेषुयुगखेन्दवः (1–0–4–5–5) ।।44।।

अर्थ – शर (5) इषु (5) युग (4) ख (0) और इन्दु (1) अर्थात् 10455 भेद होते हैं।

इस प्रकार काव्यप्रकाशकार के अनुसार ध्वनि के संकर, संसृष्टि तथा शुद्ध भेदों को मिलाकर 10455 कुलभेद बनते हैं।

5.4 पारिभाषिक शब्दावली

1. **संलक्ष्यक्रमव्यंग्यध्वनि** – जिसमें वाच्य एवं व्यंग्य का क्रम दिखाई देता है।
2. **शब्दशक्त्युत्थ** – जिस ध्वनि का मूल शब्द की शक्ति हो
3. **अर्थशक्त्युत्थ** – जिस ध्वनि का मूल अर्थ की शक्ति हो
4. **कविप्रौढोक्तिसिद्ध** – कवि के द्वारा प्रतिभामात्र से निर्मित
5. **कविनिबद्धवक्तृप्रौढ़ोक्तिसिद्ध** – कवि के द्वारा निबद्ध वक्ता की प्रतिभा मात्र से निर्मित
6. **स्वतः सम्भवी** – केवल कवि कथन से नहीं अपितु उचित रुप से बाह्य संसार में पाया जाता है।

5.5 अभ्यासार्थ प्रश्न

बोधप्रश्न

1. **अलङ्कारोऽथ वस्त्वेव शब्दाद्यत्रावभासते**
   प्रधानत्वेन स ज्ञेयः शब्दशक्त्युत्थः द्विधा।। कारिका की व्याख्या कीजिए।
2. अर्थशक्तिमूलक ध्वनि के बारह भेद कौनसे हैं ?
3. "शब्दार्थोभयभूरेकः" व्याख्या कीजिए।
4. "रसानामनन्तत्वाद् भेद एको हि गण्यते से क्या तात्पर्य है।
5. पदैकदेशरचनावर्णेष्वपि रसादयः। स्पष्ट कीजिए।

बोधप्रश्नों के उत्तर

1. देखिए इकाई 5.2.1
2. देखिए इकाई 5.2.2
3. देखिए इकाई 5.2.3
4. देखिए सूत्र नं. 57 की व्याख्या
5. देखिए सूत्र नं. 61 की व्याख्या

5.6 सारांश

प्रस्तुत इकाई में आपने विवक्षितवाच्यध्वनि का विस्तार से अध्ययन किया। विवक्षितवाच्यध्वनि के प्रमुख 16 भेद (1) असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य (15) संलक्ष्यक्रमव्यंग्य तथा दो भेद वाले अविवक्षितवाच्य कुल 18 प्रकार की ध्वनियों का भेदों सहित तथा यथासंभव उदाहरण एवं स्पष्टीकरणपूर्वक अध्ययन किया इस प्रकार ध्वनि के प्रमुख इक्यावन शुद्ध भेदों को जाना। उनके परस्पर मिश्रण से उत्पन्न एवं उन्हें मिलाकर कुल 10455 ध्वनिभेदों को जाना।

5.7 संदर्भ ग्रंथ सूची

1. काव्यप्रकाशः, आचार्य विश्वेश्वर सिद्धान्त शिरोमणि, ज्ञानमण्डल प्रकाशन, वाराणसी, 1960.
2. काव्यप्रकाशः, डॉ. श्रीनिवास शास्त्री. हिन्दी भवन, इलाहाबाद, 1969.

इकाई–6

काव्यप्रकाश – पंचम उल्लास (कारिका 45 से 47)

इकाई की रूपरेखा

6.0 उद्देश्य
6.1 प्रस्तावना
6.2 गुणीभूत व्यङ्ग्य
    6.2.1 अगूढ व्यङ्ग्य
    6.2.2 अपरस्याङ्ग व्यङ्ग्य
    6.2.3 वाच्यसिद्ध्यङ्ग व्यङ्ग्य
    6.2.4 अस्फुट व्यङ्ग्य
    6.2.5 सन्दिग्ध व्यङ्ग्य
    6.2.6 तुल्यप्राधान्य व्यङ्ग्य
    6.2.7 काक्वाक्षिप्त व्यङ्ग्य
    6.2.8 असुन्दर व्यङ्ग्य
6.3 पारिभाषिक शब्दावली
6.4 अभ्यासार्थ प्रश्न
6.5 सारांश
6.6 संदर्भ ग्रंथ सूची

6.0 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई पढ़कर आप –

- गुणीभूत व्यङ्ग्य के भेदों को विस्तार से जान सकेगें।
- शब्दशक्तिमूलक ध्वनि की वाच्याङ्गता को जान सकेगें।
- अर्थशक्तिमूलक ध्वनि की वाच्याङ्गता उदाहरणपूर्वक जान सकेगें।

6.1 प्रस्तावना

प्रथम उल्लास में काव्य के तीन भेद बतलाए गए थे – (1) ध्वनिकाव्य (2) गुणीभूत व्यङ्ग्य (3) चित्रकाव्य। जहॉ व्यङ्ग्यार्थ वाच्यार्थ की अपेक्षा अधिक चमत्कारी होता है वह ध्वनिकाव्य कहा जाता है किन्तु जहॉ व्यङ्ग्यार्थ ऐसा (वाच्यार्थ से अधिक चमत्कारी) नहीं होता वह गुणीभूत व्यङ्ग्य कहलाता है। ध्वनिकाव्य के सकल भेदोपभेदों का अध्ययन करने के पश्चात् इस इकाई में गुणीभूतव्यङ्ग्य रूप मध्यम काव्य के भेदों का निरूपण किया जा रहा है।

6.2 गुणीभूत व्यङ्ग्य

एवं ध्वनौ निर्णीते गुणीभूतव्यङ्ग्यप्रभेदानाह –

प्रसंग – इस प्रकार ध्वनि काव्य का निर्णय कर चुकने पर अब गुणीभूत व्यंङ्ग्य रूप (मध्यम काव्य) के भेदों के प्रदर्शनार्थ ग्रन्थकार कहते हैं–

(सू.66) अगूढमपरस्याङ्गं वाच्यसिद्ध्यङ्गमस्फुटम्।
सन्दिग्धतुल्यप्राधान्ये काक्वाक्षिप्तमसुन्दरम् ।।45।।

व्यङ्ग्यमेवं गुणीभूतव्यङ्ग्यस्याष्टौ भिदाः स्मृताः।

व्याख्या –

अर्थ – गुणीभूत व्यंग्य के आठ भेद माने गए हैं। जैसे – (1) अगूढ़ (जिसे सामान्य जन भी अनायास जान सकें), (2) अपराङ्ग (अपर का अंग अर्थात् उपकारक) (3) वाच्यसिद्ध्यंग (जो वाच्य अर्थ की सिद्धि उसका कारण हो) (4) अस्फुट (जिसे सहृदय लोग भी कठिनाई से समझ सकें गूढ़ व्यङ्ग्य), (5) सन्दिग्धप्राधान्य (जहाँ पर इस बात का सन्देह हो कि वाच्य अर्थ प्रधान है या व्यंग्य अर्थ, (6) तुल्य प्राधान्य (जहाँ पर व्यंग्य अर्थ एवं वाच्य अर्थ दोनों समान चमत्कारकारी हो), (7) काकुध्वनि से आक्षिप्त (तुरन्त ही प्रकाशित) और (8) असुन्दर (जहाँ पर चमत्कार की उत्पत्ति के लिये वाच्य अर्थ की भी अपेक्षा रहे)।

कामिनीकुचकलशवद् गूढं चमत्करोति, अगूढं तु स्फुटतया वाच्यायमानमिति गुणीभूतमेव।

जो व्यंग्य सुन्दरी स्त्री के कुम्भतुल्य स्तन के समान गूढ़ अर्थात् कुछ ढका हुआ और कुछ प्रकट रहता है वही चमत्कार जनक होता ह किन्तु जो अगूढ़ अर्थात् वाच्य अर्थ की भाँति स्पष्टरूप से प्रकट रहता है वह (स्त्री के अनावृत स्तन के समान) चमत्कार जनक नहीं होता। अतएव ऐसा व्यंग्य मध्यम काव्य में गिना जाता है।

(आठों भेदों के उदाहरण क्रमशः नीचे लिखे जाते हैं–)

6.2.1 अगूढ व्यंग्य –

अगूढ़ व्यंग्य मे अर्थान्तर सक्रंमित वाच्य का उदाहरण :–

यस्यासुहृत्कृततिरस्कृतिरेत्य तप्त–
सूचीव्यधव्यतिकरेण युनक्ति कर्णौ।
काञ्चीगुणग्रथनभाजनमेष सोऽस्मि
जीवन्न सम्प्रति भवामि किमावहामि ।।

अर्थ – (विराट्नगर में वृहन्नला के रूप में कालयापन करने वाले पाण्डुपुत्र अर्जुन कीचक के पराभव से दुखित द्रौपदी से अपनी दीन दशा का वर्णन करते हुए कहते हैं–) पूर्वकाल में मैं इतना प्रतापी था कि मेरा शत्रु अपने को धिक्कार देकर स्वयं मेरी शरण में आकर तपी हुई लोहे की सलाई से अपने कानों को बेधता था; परन्तु अब वही मैं यहाँ करधनी गूंथने का व्यापार कर रहा हूँ। मैं तो मानो जीता ही नहीं हूँ। अतः मैं क्या कर सकता हूँ।

अत्र जीवन्नित्यर्थान्तरसंक्रमितवाच्यस्य।

यहाँ पर जीवन शब्द उपयुक्त जीवन (इष्ट कार्य की पूर्ति करने में समर्थ) के लिये अर्थान्तर संक्रमित है। अतएव मेरे ऐसे जीवन से मर जाना ही भला था, ऐसा व्यंग्य अर्थ अगूढ़ (स्पष्ट ही प्रतीयमान) है।

(अगूढव्यंग्य में अत्यन्त तिरस्कृत वाच्य का उदाहरणः–)

उन्निद्रकोकनदरेणुपिशङ्गिताङ्गा
गायन्ति मञ्जु मधुपा गृहदीर्घिकासु।
एतच्चकास्ति रवेर्नवबन्धुजीव –
पुष्पच्छदाभमुदयाचलचुम्बि बिम्बम् ।।

अर्थ – (कवि प्रातःकाल का वर्णन करते हुए कहता है –) खिले हुए लाल कमल की धूलि से पीले रंगवाले भौंरे घर की बावलियों पर मधुर स्वर से गुंजार कर रहे है और उदयगिरि का चुम्बन करने वाला सूर्य का यह बिम्ब भी नये दुपहरिया फूल की पंखुड़ियों की भाँति चमक रहा है।

अत्र चुम्बनस्यात्यन्ततिरस्कृतवाच्यस्य।

यद्यपि "चुम्बन" शब्द का अर्थ दो प्राणियों का परस्पर वक्त्रसंयोग है तथापि यहाँ पर केवल (जड़ पदार्थों ही के दिखाई देनेवाले) संयोग के लिये वह प्रयुक्त हुआ है। प्रातःकाल के वर्णन में अत्यन्त तिरस्कृत वाच्य के रूप में यह भी एक अगूढ़ व्यंग्य का उदाहरण है।

(अर्थ शक्तिमूलक व्यंग्य में अगूढ़ व्यंग्यरूप मध्यम काव्य का उदाहरणः–)

अत्रासीत् फणिपाशबन्धनविधिः शक्त्या भवद्देवरे
गाढं वक्षसि ताडिते हनुमता द्रोणाद्रिरत्राहृतः।
दिव्यैरिन्द्रजिदत्र लक्ष्मणशरैर्लोकान्तरं प्रापितः
केनाप्यत्र मृगाक्षि! राक्षसपतेः कृत्ता च कण्ठाटवी।।115।।

अर्थ – (पुष्पक विमान पर विराजमान श्रीरामचन्द्र जी सीता जी को लंका युद्धक्षेत्र दिखलाते हुए कहते हैं) हे मृगलोचने! यहाँ पर नागपाश में बाँधे जाने का कार्य संघटित हुआ था। जब तुम्हारे देवर की छाती में शक्तिद्वारा कठोर घाव लगा था तब हनुमान जी यहीं पर द्रोणाचल को उठा लाये थे। इसी स्थान पर लक्ष्मण ने दिव्य अस्त्रों द्वारा मेघनाद को परलोक भेजा था, और यहीं पर किसी ने राक्षस राज रावण के कण्ठवन का छेदन किया था।

अत्र केनाप्यत्रेत्यर्थशक्तिमूलानुरणनरूपस्य। "तस्याप्यत्र" इति युक्तः पाठः।

यहाँ पर "केनापि" (किसी ने) इस शब्द का अर्थ शक्तिमूलक अनुरणनरूप व्यंग्य "मैंने" ऐसा अर्थ अगूढ़ (स्पष्ट) है। अतएव यह मध्यम काव्य का उदाहरण है। "तस्याप्यत्र" ऐसा पाठ रखने से यह श्लोक उत्तम काव्य का उदाहरण बनाया जा सकता है।

6.2.2 अपरस्याङ्गव्यङ्ग्यम्

अपरस्य रसोदेर्वाच्यस्य वा (वाक्यार्थीभूतस्य) अंग रसादि अनुरणनरूपं वा। यथा गुणीभूत व्यंग्य का दूसरा भेद "अपरस्याङ्गम" (इतर का अङ्ग) ऐसा कहा है। इसका तात्पर्य यह है कि किसी अन्य रस आदि का अथवा वाच्यार्थ का (वाक्य के तात्पर्य की प्रधानता वाले वाक्य का) अंग कोई और रसादिक बन गया हो। अथवा अनुरणनरूप संलक्ष्यक्रम व्यंग्य ही हो तो "अपरस्याङ्गम्" (पर का अङ्ग) समझना चाहिये।

(एक रस शगार के पर (करुण) के अंगीभूत होने का उदाहरण –

अयं स रशनोत्कर्षी पीनस्तनविमर्दनः।
नाभ्यूरुजघनस्पर्शी नीवीविस्रंसनः करः ।।116।।

अर्थ – (युद्धस्थल में गिरे हुए राजा भूरिश्रवा के कटे हुए हाथ को लेकर विलाप करती हुई उसकी विधवा रानी कहती है) अरे वही हाथ है जो (मेरी) करधनी को खींचता, मोटे–मोटे स्तनों को मर्दन करता, नाभि, उरु और जघन का स्पर्श करता तथा नीवीं के बंधनों को ढीला कर देता था।

अत्र शृङ्गारः करुणस्य।

यहाँ पर शृंगार रस करूण रस का अंग बन गया है। (तात्पर्य यह है कि वर्णन का मुख्य विषय तो भूरिश्रवा की वधू का विलाप करूण रसात्मक है; परन्तु उसके हाथों के व्यापारों का वर्णनरूप जो शृंगार है वह मुख्य न होकर गौण है। यह करुण (पर का) का अंगरूप मध्यम काव्य का उदाहरण है।)

(भाव के अंगीभूत रस का उदाहरणः–)

कैलासालयभाललोचनरुचा निर्वर्त्तितालक्तक–
व्यक्तिः पादनखद्युतिर्गिरिभुवः सा वः सदा त्रायताम्।

स्पर्द्धाबन्धसमृद्धयेव सुदृढं रूढा यया नेत्रयोः
कान्तिः कोकनदानुकारसरसा सद्यः समुत्सार्यते।।117।।

अर्थ – (महादेव जी के प्रणाम करने पर पार्वती जी के मानभङ्ग का वर्णन करते हुए कवि कहता है–) कैलासवासी भगवान् शिव जी के ललाट–लोचन की ज्योति से पार्वती जी के पैरों में जो महावर के रंग की लाल कान्ति उत्पन्न हो गयी है और उससे चरण–नखों की जो चटकीली शोभा हो गई वह (शोभा) सदा तुम लोगों की रक्षा करे। विजयेच्छा से निरंतर उद्दीप्त जिस (शोभा) के द्वारा चिरकाल से बढ़ी हुई लाल कमल के सद्दश (श्री पार्वती जी के नेत्रों की) कान्ति तुरन्त ही निवृत्त कर दी जाती है।

अत्र भावस्य रसः।

यहॉ पर कवि का पार्वती विषयक (रति नामक) भक्ति भाव प्रधान है और वह भाव भवानी विषयक श्रृंगार रस का अंग बन गया है।

(एक भाव के अंगीभूत भावान्तर का उदाहरणः–)

अत्युच्चाः परितः स्फुरन्ति गिरयः स्फारास्तथाम्भोधय–
स्तानेतानपि बिभ्रती किमपि न क्लान्तासि तुभ्यं नमः।
आश्चर्येण मुहुर्मुहुः स्तुतिमिति प्रस्तौमि यावद्भुव–
स्तावद्बिभ्रदिमां स्मृतस्तव भुजो वाचस्ततो मुद्रिताः ।।118।।

अर्थ – (कवि किसी राजा की स्तुति में कहता है –) हे पृथ्वी देवि! तुम बहुत ऊॅचे–ऊॅचे पहाड़ों और विस्तीर्ण समुद्रों को सॅभालती हुई कुछ भी नहीं थकी हो अतः मैं तुम्हें प्रणाम करता हूॅ। हे राजन्! जब तक मैं ऐसा कह कर पृथ्वी ही की प्रशंसा करता हूॅ तब तक उस पृथ्वी को भी सॅभालने वाली आपकी भुजाओं का स्मरण हो जाता है आर मेरी वाणी रूक जाती है – अर्थात् फिर आगे कुछ भी नहीं कहते बन पड़ता।

अत्र भूविषयो रत्याख्यो भावो राजविषयस्य रतिभावस्य।

यहॉ पर पृथ्वी विषयक रति नामक भाव, राज विषयक भक्तिभाव का अंग बन गया है।

(भाव के अंगीभूत रसाभास और भावाभास का उदाहरणः–)

बन्दीकृत्य नृपद्विषां मृगदृशस्ताः पश्यतां प्रेयसां
श्लिष्यन्ति प्रणमन्ति लान्ति परितश्चुम्बन्ति ते सैनिकाः।
अस्माकं सुकृतैर्दृशोः निपतितोऽस्यौचित्यवारान्निधे
विध्वस्ता विपदोऽखिलास्तदिति तैः प्रत्यर्थिभिः स्तूयसे।।119।।

अर्थ – (कोई कवि किसी राजा की स्तुति में कहता हैः–) हे राजन्! आपकी सेना के योद्धागण शत्रुओं की मृगनयनी स्त्रियों को बन्दी करके उनके पतियों के सामने ही उनका आलिङ्गन करते, कोप शान्त्यर्थ उन्हें प्रणाम करते, पकड़ लेते और सर्वाङ्ग चुम्बन भी करते हैं। आपके वैरी लोग यह कहकर आपकी स्तुति करते हैं कि हे राजन्! आप उचित कार्यकर्ता लोगों में प्रधान है। आप हमारे पूर्वकृत पुण्यों के प्रभाव से दृष्टिगोचर हुए है। अब हमारी सब विपत्तियॉ दूर हो गईं।

अत्र भावस्य रसाभासभावाभासौ प्रथमार्धद्वितीयार्धद्योत्यौ।

इस श्लोक में पूर्वार्द्ध द्वारा अननुरक्ता स्त्रियों पर सैनिकों की काम चेष्टा श्रृंगार रस का आभास प्रकाशित है तथा शत्रुओं द्वारा स्तुति किये जाने से राजविषयक भावाभास भी उदाहृत है और ये दोनों रसाभास और भावाभास राजविषयक भक्ति भाव के अंग बन गये है।

(भाव के अंगीभूत भावशान्ति का उदाहरणः–)

अविरलकरवालकम्पनैर्भ्रुकुटीतर्जनगर्जनैर्मुहुः।
ददृशे तव वैरिणां मदः स गतः क्वापि तवेक्षणे क्षणात्।।120।।

अर्थ – हे राजन्! आप के शत्रुओं का जो गर्व निरतंर तलवार चलाने, भौहें टेढ़ी करके डॉटने–डपटने और सिंहनाद करने में बारम्बार प्रकट होता दिखाई पड़ता था,वह आप के सामने आते ही न जानें कहॉ लुप्त हो गया?

अत्र भावस्य भावप्रशमः।

यहॉ पर गर्वरूप व्यभिचारी भाव की शान्ति राजविषयक भक्तिभाव का अंग हो गई है।

(भाव के अङ्गीभूत भावोदय का उदाहरणः–)

साकं कुरङ्गकदृशा मधुपानलीलां
कर्तुं सुहृद्भिरपि वैरिणि ते प्रवृत्ते।
अन्याभिधायि तव नाम विभो! गृहीतं
केनापि तत्र विषमामकरोदवस्थाम्।।121।।

अर्थ – हे स्वामिन्! आपका शत्रु अपने मित्रों के बीच बैठकर ज्यों ही मृगनयनी स्त्रियोंके साथ मद्यपान की क्रीड़ा में प्रवृत्त होना चाहता था कि इतने में किसी ने धोखे से ही आप का नाम ले लिया! बस उसी समय हे महाराज! आप के शत्रु की कुछ विलक्षण–सी (भय जनित विकार से कम्प आदि की पैदा करने वाली) दशा हो गई।

अत्र त्रासोदयः।

यहॉ पर शत्रुगत त्रास नामक भाव का उदय राजविषयक भक्ति भाव का अंग हो गया है।

(भाव के अङ्गीभूत भाव–सन्धि का उदाहरणः–)

असोढा तत्कालोल्लसदसहभावस्य तपसः
कथानां विश्रम्भेष्वथ च रसिकः शैलदुहितुः।
प्रमोदं वो दिश्यात्कपटबटुवेषापनयने
त्वराशैथिल्याभ्यां युगपदभियुक्तः स्मरहरः ।।122।।

अर्थ – ब्रह्मचारी का वेश धारण करने वाले महादेव जी एक ओर तो पार्वती जी के बाल्यकाल में प्रकट होने वाले तपस्या के दुःसह भाव की अवस्था को नहीं सह सकते थे और दूसरी ओर पार्वती जी की विश्वासयुक्त बातचीत भी उन्हें अत्यन्त रोचक लगती थी। अतएव छल से धारण किये हुए ब्रह्मचारी वेश के परित्याग करने में एक साथ ही शीघ्रता और शिथिलता से युक्त वे (महादेव जी) तुम लोगों को महानन्द प्रदान करें।

अत्रावेगधैर्ययोः सन्धिः

यहॉ पर आवेग और धैर्यरूप भावों की सन्धि शिवविषयक रति भाव की अंगीभूता है।

(भाव के अङ्गीभूत भाव शबलत्व का उदाहरणः–)

पश्येत्कश्चिच्चल चपल रे का त्वराऽहं कुमारी
हस्तालम्बं वितर ह ह हा व्युत्क्रमः क्वासि यासि।
इत्थं पृथ्वीपरिवृढ भवद्विद्विषोऽरण्यवृत्तेः
कन्या कंचित्फलकिसलयान्याददानाऽभिधत्ते।।123।।

अर्थ – हे पृथ्वीनाथ! आपके वन में निवास करने वाले शत्रु की कुमारी कन्या फल और नये पत्ते चुनते समय किसी कामुक को देख इस प्रकार कहती है कि अरे! कहीं कोई हम लोगों को देख न ले! हे चपल! तू यहॉ से भाग जा। अरे इतनी शीघ्रता क्यों? मैं तो अभी कुमारी

हूँ। अरे मुझे अपने हाथ का सहारा तो दे। हाय! ऐसा करना अनुचित है! अरे! तू कहाँ है? क्या चला ही जाता है?

अत्र शङ्काऽसूयाधृतिस्मृतिश्रमदैन्यविबोधौत्सुक्यानां शबलता।

यहाँ पर क्रम से शंका, असूया, धैर्य, स्मरण, श्रम, दीनता, विबोध और औत्सुक्य आदि व्यभिचारी भावों की शबलता राजविषयक भक्ति भाव का अंग बन गई है।

एते च रसवदाद्यलङ्काराः । यद्यपि भावोदयभावसन्धिभावशबलत्वानि नालङ्कारतया उक्तानि तथापि कश्चिद् ब्रूयादित्येवमुक्तम्।

इन्हीं ऊपर कहे गये गुणीभूत रसादिकों का नाम रसवत् आदि अलङ्कार है, (जहाँ पर रस गुणीभूत हो वह रसवत्, जहाँ भाव गुणीभूत हो वह प्रेयस्, जहाँ पर रसाभास और भावाभास गुणीभूत हों वह ऊर्जस्वि और जहाँ भावशान्ति गुणीभूत हो वह समाहित अलङ्कार कह कर वर्णन नहीं किया है, तथापि जो कोई इन तीनों को भी अलंकार मानता हो उसके लिए ऐसा कहा गया है।

यद्यपि ऐसा विषय तो कहीं न मिलेगा कि जहाँ पर ध्वनिकाव्य और गुणीभूत व्यंग्य का किसी न किसी भेद के साथ संकर (क्षीर–नीर मिश्रणवत्) वा संसृष्टि (तिल–तण्डुलवत् मिश्रण) न हो जाय; परन्तु "प्राधान्येन व्यपदेशा भवन्ति" अर्थात् मुख्यता ही के कारण नामकरण किया जाता है – इस न्याय के अनुसार कहीं पर किसी के मुख्य चमत्कार के कारण उसी का नाम लिया जाता है। जहाँ पर रसादिक स्वयं अंगी (प्रधान) बनकर चमत्कार उत्पन्न करें वहाँ पर ध्वनि काव्य होता है और जहाँ पर वे केवल अंगीभूत (अप्रधान) बनकर विशेष चमत्कार उत्पन्न करें, वहाँ पर गुणीभूत व्यंग्य वा मध्यमकाव्य होता है।

(शब्दशक्तिमूलक अनुरणनरूप उपमालङ्कार (जो संलक्ष्यक्रम व्यंग्य में गिना जाता है) की वाच्याङ्गता में (वाच्यार्थ के उत्कर्ष में) "अपरस्याङ्ग" रूप गुणीभूत व्यंग्य का उदाहरणः–)

जनस्थाने भ्रान्तं कनकमृगतृष्णान्धितधिया
वचो वैदेहीति प्रतिपदमुदश्रुप्रलपितम्।
कृतालङ्काभर्तुर्वदनपरिपाटीषु घटना
मयाप्तं रामत्वं कुशलवसुता नत्वधिगता।।124।।

अर्थ – (राजसेवा से खिन्न चित्त किसी कवि का कथन है–) मैंने जनस्थान (मनुष्यों की बस्ती या पंचवटी वन) के बीच, कनकमृगतृष्णा (मृग तृष्णा के समान मिथ्या स्वर्ण की प्राप्ति के लिए या सोने के मृगरूप मारीच को पकड़ने) के लोभ से बुद्धि के अन्धे हो चक्कर लगाये, वैदेहि (निश्चय करके दो या हे सीते!) ऐसे शब्द कह–कहकर पग–पग पर आँसू भी बहाये तथा दुष्ट स्वामी की मुख भंगी आदि के अनुसार उनकी पर्याप्त सेवा भी की (या लंकेश रावण के शिरसमूह पर बाणों की वर्षा की)। उक्त प्रकारों से मैंने श्री रामचन्द्र जी की समता तो कर ली; परन्तु फिर भी मुझे उनकी तरह "कुशलवसुता" (धनसम्पत्ति का सत्फल या सीता जी) नहीं प्राप्त हुई।

अत्र शब्दशक्तिमूलानुरणनरूपो रामेण सहोपमानोपमेयभावो वाच्याङ्गतां नीतः।

यहाँ पर शब्दशक्तिमूलक संलक्ष्यक्रम व्यंग्य में श्री रामचन्द्र जी के साथ याचक के उपमानोपमेय भाव को वाच्य अर्थ का उपकारक बना दिया है। (अर्थात् रामचन्द्र जी के अर्थ में घटित होने वाले व्यंग्य अर्थ को) प्रकरणानुसार याचक के पक्ष में घटित होने वाले वाच्यार्थ का अंग (अप्रधान रूप से उपकारक) बना दिया है।

(अर्थशक्तिमूलक अनुरणनरूप संलक्ष्यक्रम व्यंग्य में वस्तु का वाच्यार्थ के अंगीभूत होने वाले "अपरस्याङ्गं" का उदाहरणः–)

आगत्य सम्प्रति वियोगविसंष्ठुलाङ्गी–
मम्भोजिनीं क्वचिदपि क्षपितत्रियामः।
एनां प्रसादयति पश्य शनैः प्रभाते
तन्वङ्गि! पादपतनेन सहस्ररश्मिः।।125।।

अर्थ – हे कृशाङ्गि! अन्यत्र कहीं रात बिता कर आनेवाला सहस्र किरणों वाला सूर्य अब प्रातःकाल धीरे–धीरे आकर विरह से संकुचित गात्र वाली इस कमलिनी को पाद–पतन द्वारा (किरण सम्पर्क, वा चरणों पर प्रणाम करने की क्रिया से) प्रसन्न कर रहा है।

अत्र नायकवृत्तान्तोऽर्थशक्तिमूलो वस्तुरूपो निरपेक्षरविकमलिनीवृत्तान्ताध्यारोपेणैव स्थितः।

यहाँ पर अर्थशक्तिमूलक व्यंग्य में वस्तुरूप नायक–नायिका का वृत्तान्त स्वतन्त्र कमलिनी और सूर्य के वृत्तान्त पर अध्यारोप करके प्रकट किया गया है।

6.2.3 वाच्यसिद्ध्यङ्गं यथा –

एक वक्तृगत वाच्य सिद्ध्यङ्ग का उदाहरण –

भ्रमिमरतिमलसहृदयतां प्रलयं मूर्च्छां तमः शरीरसादम्।
मरणं च जलदभुजगजं प्रसह्य कुरुते विषं वियोगिनीनाम्।।126।।

अर्थ – मेघरूपी सर्प से उत्पन्न विष (जल या हलाहल) बलपूर्वक विरहिणी स्त्रियों को चक्कर, अनभिलाष, (अनिच्छा) उदासीनता – निश्चेष्टता, मूर्च्छा, अन्धापन, शारीरिक दुर्बलता और मरणासन्न दशा उत्पन्न करता है।

अत्र हालाहलं व्यङ्ग्यं भुजगरूपस्य वाच्यस्य सिद्धिकृत्।

यहाँ पर विष शब्द का अर्थ हालाहल व्यंग्य है। वह भुजगरूप वाच्य अर्थ की सिद्धि का उपकारक है।

यथा वा –

(भिन्नवक्तृगतवाच्यसिद्ध्यंग का उदाहरणः–)

गच्छाम्यच्युत दर्शनेन भवतः किं तृप्तिरुत्पद्यते
किन्त्वेवं विजनस्थयोर्हतजनः सम्भावयत्यन्यथा।
इत्यामन्त्रणभङ्गिसूचितवृथावस्थानखेदालसा–
माश्लिष्यन्पुलकोत्कराञ्चिततनुर्गोपीं हरिः पातु वः।।127।।

अर्थ – (श्रीकृष्ण जी से एकान्त में भेंट होने पर कोई गोपी कहती है–) हे अच्युत! मैं जाती हूँ, क्या आपके दर्शन से कभी चित्त को संतोष भी होता है? परन्तु करें क्या? इस प्रकार से एकान्त में मिलित दो जनों (स्त्री–पुरुषों) के विषय में दुष्ट लोग कुछ और ही (व्यभिचार विषयक) कल्पना करने लगते है। ऐसे विशिष्ट (सार्थक, साभिप्राय) सम्बोधन सहित विशेष स्वर से उस स्थान पर व्यर्थ ठहरने की सूचना देकर जो गोपी खेद से अलसाई जा रही थी उसे आलिङ्गन करते हुए रोमांचित शरीर भगवान् श्रीकृष्ण तुम लोगों की रक्षा करें।

अत्राच्युतादिपदव्यङ्ग्यमामंत्रणेत्यादिवाच्यस्य। एतच्चैकत्रैकवक्तृगतत्वेन अपरत्र भिन्नवक्तृगतत्वेनेत्यनयोर्भेदः।

यहाँ अच्युत (अस्खलित वा निर्दोष) आदि पदों का व्यंग्य अर्थ आमन्त्रण (सम्मति प्रदान) आदि पदों के वाच्य अर्थ की सिद्धि का कारण है।

उक्त दोनों वाच्यसिद्ध्यंग, गुणीभूत व्यंग्य के उदाहरणों में भेद इस बात का है कि पूर्व उदाहरण में कवि ही स्वयं एक वक्ता है और पिछले उदाहरण में श्लोक के पूर्वार्द्ध में गोपी और उत्तरार्द्ध में कवि (यों भिन्न–भिन्न) दो वक्ता हैं।

6.2.4 अस्फुटं यथा–

अस्फुट व्यंग्य रूप मध्यम काव्य का उदाहरण –

अदृष्टे दर्शनोत्कण्ठा दृष्टे विच्छेदभीरूता।
नादृष्टेन न दृष्टेन भवता लभ्यते सुखम्।।127।।

अर्थ – (कोई स्त्री अपने प्रेमपात्र से कहती हैं–) हे प्रिय! आपको न देख पाने से मेरे चित्त में आपके दर्शन की लालसा बढ़ती है और दर्शन पाने पर वियोग का भय रहता है। अतएव चाहे आपका दर्शन मिले या न मिले दोनों अवस्था में आपके द्वारा सुख की प्राप्ति नहीं होती।

अत्रादृष्टो यथा न भवसि वियोगभयं च यथा नोत्पद्यते तथा कुर्या इति क्लिष्टम्।

यहॉ पर "हे प्रिय! आप ऐसा कार्य कीजिये जिससे आप अदृष्ट (न दिखाई देने वाले) भी न हों और ऐसा काम करें जिससे आपके वियोग का दुःख भी न हो" ऐसा व्यंग्य अथ बड़ी कठिनाई से बोधगम्य होता हैं।

6.2.5 सन्दिग्धप्राधान्यं यथा –

जहॉ पर प्रधान अर्थ सन्देहविशिष्ट हो ऐसे मध्यम काव्य का उदाहरण :–

हरस्तु किंचित्परिवृत्तधैर्यश्चन्द्रोदयारम्भ इवाम्बुराशिः।
उमामुखे बिम्बफलाधरोष्ठे व्यापारयामास विलोचनानि।।129।।

अर्थ– चन्द्रोदय के प्रारम्भकाल में समुद्र की भॉति चंचल चित्त और धैर्य से स्खलित महादेव जी बिम्बा फल के समान (लाल) अधर वाले पार्वती जी के मुख की ओर अपनी ऑखें लगा दी।

अत्र परिचुम्बितुमैच्छदिति किं प्रतीयमानं किं वा विलोचनव्यापारणं वाच्यं प्रधानमिति सन्देहः।

यहॉ पर शिवजी ने पार्वती जी के मुख को चूमना चाहा – ऐसा व्यंग्य अर्थ अभीष्ट है, या केवल ऑख फेरना रूप वाच्य अर्थ ही प्रधानतया इष्ट है, यह बात संशयग्रस्त है।

6.2.6 तुल्यप्राधान्यं यथा –

वाच्य तथा व्यंग्य अर्थ की तुल्य प्रधानता वाले मध्यम काव्य का उदाहरणः–

ब्राह्मणातिक्रमत्यागा भवतामेव भूतये।
जामदग्न्यस्तथा मित्रमन्यथा दुर्मनायते ।।130।।

अर्थ – "हे राक्षस राज! ब्राह्मणों को पीड़ित करने वाले व्यापार को छोड़ने से आप ही लोगों की उन्नति हैं और (हम) परशुराम इसी दशा में आप के मित्र होंगे, अन्यथा आप लोगों पर रुष्ट हो जायेंगे।

अत्र जामदग्न्यः सर्वेषां क्षत्रियाणामिव रक्षसां क्षणात्क्षयं करिष्यतीति व्यंग्यस्य वाच्यस्य च समं प्राधान्यम्।

यहॉ पर जो व्यंग्य अर्थ है कि परशुराम क्षणभर में सब क्षत्रियों की भॉति राक्षसों का भी संहार कर डालेंगे यह वाच्यार्थ ही के समान मुख्यार्थवत् प्रतीत होता है, अर्थात् दोनों प्रकार के अर्थों की प्रधानता एक–सी है।

6.2.7 काक्वाक्षिप्तं यथा –

काकुध्वनि द्वारा शीघ्रता से प्रकाशित होने वाले मध्यम काव्य का उदाहरणः–

मथ्नामि कौरवशतं समरे न कोपाद्
दुःशासनस्य रुधिरं न पिबाम्युरस्तः।
संचूर्णयामि गदया न सुयोधनोरू
सन्धिं करोतु भवतां नृपतिः पणेन।।131।।

अर्थ – (पाण्डुपुत्र भीमसेन युधिष्ठिर के सन्धि के प्रस्ताव को सुनकर क्रुद्ध हो सहदेव से कहते हैं–) क्या मैं युद्धस्थल में क्रोध से कौरवों को मार न डालूँगा? क्या मैं दुःशासन की छाती से बहता रक्त न पीऊँगा? क्या मैं गदा से दुर्योधन की दोनों जंघाएँ तोड़ न डालूँगा? आप लोगों के (न कि मेरे अथवा प्रजावर्ग के) राजा युधिष्ठिर चाहें तो (पॉच गॉव ग्रहण रूप) पण स्वीकार कर सन्धि कर लें।

अत्र मथ्नाम्येवेत्यादिव्यङ्ग्यं वाच्यनिषेधसहभावेन स्थितम्।

यहाँ पर "मैं अवश्य ही मार डालूँगा" इत्यादि व्यंग्य अर्थ निषेध रूप वाच्य अर्थ के साथ ही प्रकाशित हो रहा है।

6.2.8 असुन्दरं यथा–

असुन्दर व्यंग्य युक्त मध्यम काव्य का उदाहरणः–

वाणीर कुडंगुड्डीणसउणिकोलाहलं सुणन्तीए।
घरकम्म वावडाए बहुए सीअन्ति अङ्गाइं ।।132।।

छाया– वानीरकुञ्जोड्डीनशकुनिकोलाहलं शृण्वन्त्याः।
गृहकर्मव्यापृताया वध्वाः सीदन्त्यङ्गानि।।

अर्थ – (घर के समीपवाले लताकुंज में संकेत–स्थान नियत करके वहॉ के पक्षियों के उड़ने के कोलाहल को सुनकर नायिका ने वहॉ पर अपने जार की उपस्थिति का अनुमान कर लिया। उसी के विषय में कहा गया है–) बेत के घने कुंज से उड़त पक्षियों के कोलाहल को सुनते हुए घर के कामों में फॅसी हुई बहु के अंग अंग व्याकुल हो रहे हैं।

यहॉ पर संकेत किये गये किसी उपनायक ने घने लताकुञ्ज में प्रवेश किया – ऐसे व्यंग्य अर्थ की अपेक्षा बहू के अंग–अंग व्याकुल होते है ऐसा वाच्य अर्थ ही विशेष चमत्कारकारक प्रकट हो रहा है।

प्रसङ्ग – गुणीभूत व्यंग्य के विशेष भेदों के विषय में आगे कहते हैं–

(सू. 67) एषां भेदा यथायोगं वेदितव्याश्च पूर्ववत्।।46।।
व्याख्या –
अर्थ – इन उपर्युक्त गुणीभूत व्यंग्यों के विशेष भेदों को यथोचित रीति से पूर्व की तरह ध्वनिकाव्य के भेद निरूपणानुसार समझ लेना चाहिये। यथायोगमिति
"व्यज्यन्ते वस्तुमात्रेण यदाऽलङ्कृतयस्तदा।
ध्रुवं ध्वन्यङ्गता तासां काव्यवृत्तेस्तदाश्रयात्"।।
इति ध्वनिकारोक्तदिशा वस्तुमात्रेण यत्रालंकारो व्यज्यते न तत्र गुणीभूतव्यङ्गयत्वम्।
मूलकारिका में "यथायोगं" (यथोचित रीति से) कहने का भाव यह है कि गुणीभूत व्यंग्य के ऊपर कहे गये केवल आठ ही भेद नहीं हैं, किन्तु अर्थान्तर संक्रमित वाच्य आदि उपाधियों द्वारा जैसे ध्वनि काव्यों के अनेक शुद्ध संकीर्ण आदि भेद गिनाये गये हैं, वैसे ही गुणीभूत व्यंग्य के भेदों को भी समझ लेना चाहिये। इस विषय में ध्वनिकार (आनन्दवर्धन) की सम्मति का उल्लेख किया जाता है –

"जब (अलङ्कार रहित) वस्तुमात्र से अलंकारों की व्यञ्जना होती है तब निश्चय करके उस काव्य का नाम "ध्वनि" इस व्यवहार से स्वीकार करने योग्य है; क्योंकि काव्य के नाम का उपयोग अलंकार ही की अपेक्षा से हाता हैं" इस प्रकार ध्वनिकार द्वारा निर्दिष्ट उक्त रीति से जहॉ वस्तुमात्र द्वारा अलंकार की प्रतीति होती हो वहॉ गुणीभूत व्यंग्य का व्यवहार नहीं मानना चाहिये।

प्रसङ्ग—ऊपर चतुर्थ उल्लास में ध्वनि के भेद दिखला आये हैं अब उनके साथ गुणी भूत व्यंग्य रूप मध्यम काव्य के भेदो का भी संमिश्रण करने से जो भेद होते हैं उनके प्रदर्शनार्थ कहते हैं—

(सू. 68) सालङ्कारैर्ध्वनेस्तैश्च योगः संसृष्टिसङ्करैः।

व्याख्या –

अर्थ – रसवत् आदि अलंकार तथा वाच्यालंकार से युक्त उन गुणीभूत व्यंग्य के साथ ध्वनि काव्य के भेदों का मिश्रण उनकी संसृष्टि (तिल–तण्डुल न्याय से मेल) और संकर (क्षीर–नीर न्याय से मेल) वाले भेदों के साथ मिला करके गिने जायें।

सालङ्कारैरिति तैरेवालङ्कारैः अलङ्कारयुक्तैश्च तैः। तदुक्तं ध्वनिकृता –

उक्त कारिका का अर्थ विशद करने के लिये ग्रन्थकार कहते हैं कि यहॉ पर "सालंकारैः" शब्द का यह अर्थ है कि उन (रसवत् आदि अलङ्कारों के साथ) और (उपमादि वाच्यालङ्कारों से युक्त) वस्तुरूप गुणीभूत व्यंग्यों के साथ (एक शेष, द्वन्द्व समास द्वारा) ऐसा अर्थ ग्रहण किया जावे। इस विषय में भी ध्वनिकार आनन्दवर्द्धन का कथन है कि–

"स गुणीभूतव्यंग्यैः सालंकारैः सह प्रभेदैः स्वैः।
संकरसंसृष्टिभ्यां पुनरप्युद्योतते बहुधा।।" इति

वह ध्वनिरूप काव्य वाच्यालंकारों समेत गुणीभूत व्यंग्यों के तथा निज के भेद–प्रभेदों से भी मिलकर पुनः संकर और संसृष्टि के भेदों द्वारा अनेक प्रकार का हो जाता है।

(सूत्र 69) अन्योन्ययोगादेवं स्याद् भेदसंख्यातिभूयसी।।47।।

अर्थ – इस प्रकार से परस्पर ध्वनि और गुणीभूत व्यंग्य के भेद–प्रभेद के संमिश्रण से भिन्न–भिन्न भेदों की संख्या बहुत अधिक हो जाती है।

एवमनेन प्रकारेण अवान्तरभेदगणनेऽतिप्रभूततरा गणना, तथाहि शृङ्गारस्यैव भेदप्रभेदगणनायामानन्त्यम्। का गणना तु सर्वेषाम्।

इस प्रकार के अवान्तर भेदों की गणना मिला देने से भेदों की संख्या बहुत ही अधिक हो जाती है। जब अकेल शृंगार रस ही के भेदों और प्रभेदों की संख्या अनन्त हो जाती है तब फिर शेष रसादि की भी सब संख्या मिलाकर गिनती कहॉ तक की जा सकती है? अर्थात् इन सबकी संख्या की तो बात ही क्या।

6.3 पारिभाषिक शब्दावली

ध्वनिकाव्य – जहॉ व्यङ्ग्यार्थ वाच्यार्थ की अपेक्षा अधिक चमत्कारी होता है वह ध्वनिकाव्य कहा जाता है

गुणीभूत व्यङ्ग्य – व्यङ्ग्यार्थ ऐसा (वाच्यार्थ से अधिक चमत्कारी) नहीं होता वह गुणीभूत व्यङ्ग्य कहलाता है।

अगूढ – जिसे सामान्य जन भी अनायास जान सकें

सन्दिग्धप्राधान्य– जहॉ पर इस बात का सन्देह हो कि वाच्य अर्थ प्रधान है या व्यंग्य अर्थ

काक्वाक्षिप्तं – काकुध्वनि द्वारा शीघ्रता से प्रकाशित होने वाले मध्यम काव्य

6.4 अभ्यासार्थ प्रश्न

बोधप्रश्न

1. गुणीभूतव्यङ्ग्यस्याष्टौ भिदाः स्मृताः – व्याख्या कीजिए
2. व्याच्यसिद्ध्यङ्ग व्यङ्ग्य का विस्तार से विवेचन कीजिए
3. एषां भेदा यथायोगं वेदितव्याश्च पूर्ववत्। व्याख्या कीजिए

बोध प्रश्नों के उत्तर

1. देखिए इकाई 6.2

2. देखिए इकाई 6.2.3
3. देखिए इकाई 6.2.8 (सू.67)

6.5 सारांश

प्रस्तुत इकाई में आपने गुणीभूत व्यङ्ग्य के आठ भेदों का उनके प्रभेदों एवं उदाहरणों सहित विस्तृत अध्ययन किया। जैसे व्यङ्ग्य के प्रधान होने पर हमने पिछली इकाई में शुद्ध इक्यावन भेदों को पढ़ा, व्यङ्ग्य के अप्रधान होने पर वे ही इक्यावन भेद गुणीभूतव्यङ्ग्य के बनते हैं किन्तु जहॉ वस्तु से अलंकार व्यङ्ग्य होता है वहाँ वस्तु की अपेक्षा अलंकार का सदा प्राधान्य होने से उसको गुणीभूत व्यङ्ग्य नहीं माना जाता। अतः वस्तु ध्वनि से अलंकार की प्रधानता के स्वतः सम्भवी, कविनिबद्धप्रौढ़ोक्ति, कविनिबद्धवक्तृप्रौढ़ोक्ति के तीन एवं उनके पुनः वाक्य गत एवं पद गत तीन–तीन कुछ 9 भेद गुणीभूतव्यङ्ग्य नहीं होते। अतः गुणीभूत व्यङ्ग्य के कुल 51–9 = 42 भेद हुए एवं इनके भी अनेक अवान्तर भेद होकर अनन्त भेद हो जाते हैं।

6.6 संदर्भ ग्रंथ सूची

1. काव्यप्रकाशः, आचार्य विश्वेश्वर सिद्धान्त शिरोमणि, ज्ञानमण्डल प्रकाशन, वाराणसी, 1960.
2. काव्यप्रकाशः, डॉ. श्रीनिवास शास्त्री. हिन्दी भवन, इलाहाबाद, 1969.
3. काव्यप्रकाशः, बालबोधिनीसहित, भण्डारकर ओरिएंटल रिसर्च इंस्टीट्यूट, पुणे,1952.
4. संस्कृत–काव्यशास्त्र एवं काव्यपरम्परा, प्रो. राधावल्लभ त्रिपाठी, प्रतिभा प्रकाशन, नई दिल्ली, 2004.

इकाई–7

काव्यप्रकाश – पंचम उल्लास (47 वीं कारिका का पश्चाद्वर्ती भाग)

इकाई की रूपरेखा

7.0 उद्देश्य
7.1 प्रस्तावना
7.2 पंचम उल्लास– व्यंजना की अपरिहार्यता
7.3 रसप्रतीति के लिए व्यंजना की अनिवार्यता
7.3.1 लक्षणामूला ध्वनि में व्यंजना की अनिवार्यता
7.3.2 अभिधामूला ध्वनि में व्यंजना की अनिवार्यता
7.3.2.1 अभिहितान्वयवाद में व्यंजना
7.3.2.2 अन्विताभिधानवाद में व्यंजना
7.3.3 मुकुलभट्ट के सिद्धान्त का खण्डन
7.3.4 भट्टलोल्लट के सिद्धान्त का खण्डन
7.4 व्यंजना की सिद्धि
7.4.1 वाच्य से व्यंग्य का भेद
7.4.2 लक्ष्य से व्यंग्य का भेद
7.4.3 वेदान्त मत
7.4.4 नैयायिक–मत
7.5 पारिभाषिक शब्दावली
7.6 अभ्यासार्थ प्रश्न
7.7 सारांश
7.8 संदर्भ ग्रंथ सूची

7.0 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई पढ़कर आप –

- व्यंजना शब्द शक्ति की अपरिहार्यता जान सकेगें।
- मीमांसकों के दोनों सिद्धान्तों में व्यंजना की अनिवार्यता का बोध करेगें।
- वेदान्तियों एवं नैयायिकों के मत का खण्डन तथा व्यंजना की अनिवार्यता जानेगें।
- वाच्यार्थ तथा लक्ष्यार्थ से व्यंग्य के भेद को जानेगें।

7.1 प्रस्तावना

द्वितीय एवं तृतीय उल्लास में मम्मट ने शब्दशक्तियों का निरूपण किया था पंचम उल्लास में गुणीभूत व्यंग्य के भेदों का निरूपण करने के पश्चात् व्यंजना वृत्ति की स्थापना की है इस प्रसंग में आचार्य ने मीमासंकों, एवं नैयायिकों के मत का प्रतिपादन करते हुए व्यंजना की अपरिहार्यता का निरूपण किया है साथ ही वाच्य एवं लक्ष्य अर्थ से व्यंग्यार्थ के भेद का भी विस्तार में प्रतिपादन किया है।

7.2 काव्य प्रकाश – पंचम उल्लास – व्यंजना की अपरिहार्यता

ध्वनिकाव्य एवं गुणीभूतव्यंग्य के भेदोपभेदों के विस्तार का संकलन करने से व्यंग्य तीन प्रकार का होने से ध्वनि के भो तीन ही भेद बनते हैं वाच्यतासह तथा वाच्यता–असह। अर्थात् जो वाच्यार्थ को सहन कर सकता है वह व्यंग्य विचित्र एवं अविचित्र रूप से दो प्रकार का होता है। विचित्र है अलंकार ध्वनि एवं अविचित्र है वस्तु ध्वनि। यह अर्थ अन्य

दशा में वाच्य भी हो सकता है। वाच्यता–असह है रसध्वनि। वह कभी वाच्य नहीं हो सकता सदा व्यंग्य ही रहता है इसी मत को मम्मट ने अपने ग्रन्थ में प्रस्तुत किया है–

सङ्कलनेन पुनरस्य ध्वनेस्त्रयो भेदाः, व्यङ्ग्यस्य त्रिरूपत्वात्। तत्र हि किंचिद्वाच्यतां सहते किंचित्त्वन्यथा। तत्र वाच्यतासहमविचित्रं विचित्रं चेति। अविचित्रं वस्तुमात्रम्, विचित्रं त्वलङ्काररूपम्। यद्यपि प्राधान्येन तदलङ्कार्यम्, तथापि ब्राह्मणश्रमणन्यायेन तथोच्यते।

अर्थात् संकलन से इस ध्वनि के तीन भेद है, व्यंग्य के त्रिरूप होने के कारण। उसमें कोई वाच्यता को सहन करता है एवं कोई अन्य प्रकार का (वाच्यता को न सहने वाला) होता है। वाच्यता को सहन करने वाला व्यङ्ग्य (1) अविचित्र एवं (2) विचित्र रूप से दो प्रकार का होता है। अविचित्र वस्तुमात्र है तथा विचित्र अलंकार रूप है यद्यपि व्यङ्ग्य की प्रधानता से वह अलङ्कार्य होता है तथापि ब्राह्मणश्रमणन्याय से अलङ्कार कह दिया जाता है।

ब्राह्मणश्रमणन्याय – जैसे पहले ब्राह्मण कहलाने वाला व्यक्ति श्रमण धर्म में दीक्षित हो जाने पर भी पूर्वाभ्यास के कारण लोगों के द्वारा ब्राह्मण कह दिया जाता है। उसी प्रकार उपमादि वाच्य–अलङ्कार रूप में पूर्व में प्रयुक्त किये जाते रहे हैं अलङ्कार रूप व्यंग्य में व्यंग्य के प्रधान होने के कारण वह अलङ्कार्य रूप होता है (अलङ्कार नहीं) परन्तु पूर्वाभ्यास के कारण ब्राह्मणश्रमणन्याय से उस प्रकार (अलङ्कार नाम से) कहा जाता है।

7.3 रसप्रतीति के लिए व्यंजना की अनिवार्यताः–

रसध्वनि की प्रतीति अभिधा या लक्षणा से संभव नहीं है उसके लिए व्यंजना आवश्यक है।

'रसादिलक्षणस्त्वर्थः स्वप्नेऽपि न वाच्यः'

अर्थात् रसादिरूप अर्थ तो स्वप्न में भी वाच्य नहीं हो सकता है। तात्पर्य है कि अभिधा से उसकी प्रतीति कदापि नहीं हो सकती।

(1) यदि रस ध्वनि को वाच्य माना जाए तो या तो उसे रसादिशब्द से या शृङ्गारादि शब्द से ही अभिधा के द्वारा कहा जा सकता है, अभिधा साक्षात् सकेतित अर्थ का बोध करवाती है। यदि रसादि शब्द कहने से या शृङ्गारादि शब्द के कहने से अभिधा के द्वारा उन रसादि या शृङ्गारादि की प्रतीति होती तो उन्हें वाच्य कहा जा सकता था किन्तु रस शब्द से न तो किसी रस की अनुभूति होती है न शृङ्गार शब्द के उच्चारण से शृङ्गार की प्रतीति होती है।

(2) यदि हम शृङ्गारादि शब्द का प्रयोग करते भी है तथा विभावादि का प्रयोग नहीं करते है तो शृङ्गारादि रस की प्रतीति नहीं होती।

(3) विभावादि का प्रयोग होने पर तथा शृङ्गारादि का शब्दशः प्रयोग न होने पर भी शृङ्गारादि की प्रतीति होती है। वस्तुतः अन्वय–व्यतिरेक से यह सिद्ध है कि विभावादि के होने पर रसप्रतीति होती है तथा विभावादि के न होने पर रस की प्रतीति नहीं होती। इस प्रकार रसध्वनि कभी वाच्य नहीं होता सदा व्यङ्ग्य ही होता है।

लक्षणामूला एवं अभिधामूला दोनों ही प्रकार की ध्वनि में व्यंजना माननी आवश्यक है। ध्वनि के जो भी भेद माने गए हैं उनमें भी व्यंजना के द्वारा ही व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति हो सकती है। अभिधा, लक्षणा या तात्पर्यवृत्ति से उस अर्थ की प्रतीति नहीं हो सकती। मम्मट ने पंचम उल्लास में गुणीभूतव्यङ्ग्य के भेदों का विस्तार करने के पश्चात् व्यंजना वृत्ति की अपरिहार्यता अनेक प्रकार से प्रमाणित की है।

7.3.1 लक्षणामूला ध्वनि में व्यंजना अनिवार्यः–

अविवक्षितवाच्यध्वनि या लक्षणामूला ध्वनि के अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य एवं अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य रूप दो भेदों का प्रतिपादन किया गया था उनमें वस्तुमात्र व्यङ्ग्य के बिना लक्षणा नहीं हो सकती। इसका पहले ही प्रतिपादन किया जा चुका तथा अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य का 'त्वामस्मि वच्मि' अत्यन्त तिरस्कृत वाच्य का 'उपकृतं बहु तत्र' इन दोनों उदाहरणों में 'वच्मि' आदि पद उपदेशादि रूप अर्थान्तर में संक्रमित हो जाते हैं तथा दूसरे उदाहरण में 'उपकृतं' आदि पद अपने अर्थ को पूरी तरह छोड़कर 'अपकृत' आदि अर्थों का द्योतन करते है। इनमें लक्षणा की प्रवृत्ति का आधार व्यंग्य रूप प्रयोजन की प्रतीति है। यदि यह व्यङ्ग्य रूप प्रयोजन न हो तो लक्षणा भी नहीं हो सकेगी। संकेतग्रह का अभाव होने से इस व्यंङ्ग्य की पतीति अभिधा से भी नहीं हो सकती। अतः लक्षणामूलाध्वनि के अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य एवं अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य रूप दोनों भेदों में व्यङ्ग्य रूप प्रयोजन की प्रतीति हेतु व्यंजना वृत्ति आवश्यक है।

7.3.2 अभिधामूला में व्यंजना की अनिवार्यताः–

विवक्षितान्यपरवाच्य अथवा अभिधामूला ध्वनि के तीन भेद हैं – (1) शब्दशक्त्युत्थ अनुरणन रूप व्यंग्य (2) अर्थशक्त्युत्थ अनुरणन रूप व्यङ्ग्य (3) उभयशक्त्युत्थ अनुरणन रूप व्यंग्य इन तीनों भेदों में व्यंग्य की प्रतीति के लिए व्यंजना आवश्यक है।

शब्दशक्तिमूलक भेद में अभिधा के (संयोगादि द्वारा) नियन्त्रित हो जाने पर जो अन्य अर्थ (अभिधेय से भिन्न) की प्रतीति होती है उसका व्यंङ्ग्य रूप होना सिद्ध है इसके अतिरिक्त उपमादि अलङ्कार का व्यङ्ग्यत्व भी निर्विवाद है।

7.3.2.1 अभिहितान्वयवाद में व्यंजनाः–

अर्थशक्तिमूलक में जहां विशेष अर्थ में संकेत करना सम्भ्व न होने से सामान्य (अर्थात् जाति) रूप पदार्थों का परस्परसंसर्ग रूप विशेष, पदों से उपस्थित न होने पर भी आकांक्षा, योग्यता और सन्निधि के कारण वाक्यार्थ होता है। उस अभिहितान्वयवाद में वाक्यार्थ बोध के बाद उपस्थित होने वाले व्यङ्ग्य अर्थ के अभिधेय मानने की बात ही कहाँ उठती है।

यहाँ मम्मट यह प्रमाणित कर रहे हैं कि अभिहितान्वयवाद में भी अभिधावृत्ति को मानने के अतिरिक्त अन्य कोई मार्ग नहीं है। इसका तात्पर्य यह है कि अभिहितान्वयवाद में अभिधा के द्वारा पहले सामान्य रूप से जो पदार्थ उपस्थित किए गए हैं उनके परस्पर संसर्ग रूप विशेष अर्थ का बोध जो कि सम्पूर्ण वाक्य का अर्थ है उसके बोध के लिए ही जब तात्पर्य शक्ति की आवश्यकता है तो व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति तो वहां संभव ही नहीं है क्योंकि अभिधा पदार्थ का एवं तात्पर्य वृत्ति तात्पर्यार्थ का बोध कराती है ऐसी स्थिति में उसके बाद प्रतीत होने वाले व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति व्यंजना के अतिरिक्त अन्य किसी शक्ति से नहीं हो सकती।

7.3.2.2 अन्विताभिधानवाद में व्यंजनाः–

मम्मट ने अन्विताभिधानवाद में व्यंजना की अनिवार्यता बताने से पूर्व अन्विताभिधानवाद को पूर्व पक्ष के रूप में इस प्रकार प्रस्तुत किया है–

शब्दवृद्धाभिधेयांश्च प्रत्यक्षेणाऽत्र पश्यति।
श्रोतुश्च प्रतिपन्नत्वमनुमानेन चेष्टया।।1।।
अन्यथाऽनुपपत्त्या तु बोधेच्छक्तिं द्वयात्मिकाम्।
अर्थापत्त्याऽवबोधेत सम्बन्धं त्रिप्रमाणकम्।।2।।

इन दोनों कारिकाओं को समझने से पूर्व कुछ बातों का जानना आवश्यक है–

1. प्रत्येक वाक्य के कर्ता के रूप में 'बालः' पद का अध्याहार आवश्यक है।

2. शब्दवृद्धाभिधेयांश्च प्रत्यक्षेणात्र पश्यति–यहां पश्यति के साथ–साथ 'श्रृणोति' ऐसा अर्थ भी समझना चाहिए क्योंकि वृद्ध और अभिधेय का चक्षु से दर्शन हो सकता है किन्तु शब्द तो श्रोत्र से ही सुना जा सकता है।

3. वृद्ध से तात्पर्य उत्तम वृद्ध पिता आदि तथा मध्यम वृद्ध से तात्पर्य भाई अथवा भृत्य आदि से है कारिकाओं का अर्थ इस प्रकार हैः–

यहां (अत्र अर्थात् व्यवहारतः शक्तिग्रह की प्रक्रिया में बालक उत्तमवृद्ध के द्वारा उच्चारण किए गए) शब्द (को प्रत्यक्षेण पश्यति अर्थात् श्रोत्र से सुनता है), मध्यम वृद्ध तथा अभिधेय (गवानयनादि रूप क्रिया) को प्रत्यक्ष से ग्रहण करता है तथा मध्यमवृद्ध द्वारा किए गए ज्ञान को उसकी क्रिया के द्वारा अनुमान से जानता है।।1।।

(उतमवृद्ध द्वारा कहे गए वाक्य व उसके अर्थ के वाच्यवाचकभाव संबंध को जाने बिना मध्यमवृद्ध को उसके अर्थ का ज्ञान नहीं हो सकता, इसलिए इन दोनों का वाच्यवाचक भावरूप) संबंध अवश्य है इस प्रकार की अन्यथानुपपत्तिरूप अर्थापत्ति से वाच्यवाचक भावरूप दोनों की शक्ति को जानता है। इस प्रकार (प्रत्यक्ष, अनुमान तथा अर्थापत्तिरूप) तीन प्रमाणों से वह शब्द व अर्थ के संबंध को जान लेता है। ।।2।।

इन दानों कारिकाओं द्वारा यह दिखाया गया है कि संकेत ग्रह में तीनों प्रमाणों का उपयोग होता है यही 'संबंध' त्रिप्रमाणकम्' का तात्पर्य है। संकेतग्रह में इनका उपयोग कैसे होता है? इसका विचार किया जा रहा है–

(1) **प्रत्यक्ष**–उत्तमवृद्ध (पिता आदि) एवं मध्यमवृद्ध (भाई, भृत्यादि) को बालक चक्षु द्वारा प्रत्यक्ष रूप से देखता है, तत्पश्चात् उत्तमवृद्ध द्वारा कहे गए शब्दों को साक्षात् सुनता है यह श्रावण प्रत्यक्ष है। तदनन्तर मध्यमवृद्ध द्वारा उन शब्दों को सुनकर किए गए व्यवहार (गवानयनादि रूप) को चक्षु द्वारा प्रत्यक्ष देखता है। यही तात्पर्य 'शब्दवृद्धाभिधेयांश्च प्रत्यक्षेणात्र पश्यति' से निकलता है।

(2) **अनुमानम्**–शब्द, वृद्ध एवं अभिधेय का प्रत्यक्ष करने के बाद बालक अनुमान प्रमाण का प्रयोग करता है उत्तमवृद्ध के वाक्य को सुनकर मध्यमवृद्ध द्वारा किए गए गवानयनादि रूप व्यापार को देखकर बालक यह अनुमान लगाता है कि उत्तमवृद्ध के कहे गए वाक्य के अनुरूप ही मध्यमवृद्ध ने व्यवहार किया है अतः इस वाक्य का यही अर्थ है इस प्रकार बालक चेष्टारूप लिङ्ग से मध्यमवृद्ध (श्रोता) के ज्ञान का अनुमान कर लेता है।

(3) **अर्थापत्तिः**–संकेतग्रह में सहायता करने वाला तीसरा प्रमाण अर्थापत्ति है। 'अनुपपद्यमान' अर्थ को देखकर उसके 'उपपादक' की कल्पना अर्थापत्ति है। यहां वाच्यवाचक संबंध की कल्पना अर्थापत्ति द्वारा होती है। यदि उत्तमवृद्ध के द्वारा प्रयुक्त (गामानय) वाक्य का यह अर्थ नहीं होता, तो मध्यमवृद्ध यह (गवानयन रूप) चेष्टा नहीं करता इस प्रकार अनुपपद्यमान अर्थावबोध को देखकर बालक उसके उपपादकीभूत वाच्यवाचकभाव की कल्पना अर्थापत्ति द्वारा करता है।

इस प्रकार इन तीनों प्रमाणों के द्वारा बालक अखण्ड वाक्य और अखण्ड वाक्यार्थ दोनों के वाच्यवाचकभाव संबंध का निश्चय करता है तथा उनका ज्ञान करता है। यद्यपि बालक न तो अनुमान प्रमाण जानता है न अर्थापत्ति किन्तु ये उसके संकेतग्रह में उपयोगी होते हैं।

इन दोनों कारिकाओं में 'देवदत्त गामानय' इस प्रकार उत्तमवृद्ध द्वारा वाक्य प्रयोग के बाद मध्यमवृद्ध को सास्नादिमान् (गाय) पशु रूप अर्थ को एक स्थान से दूसरे स्थानपर लाते हुए देखकर इसने (मध्यमवृद्ध) इस (गामानय) वाक्य से यह (गवानयन) अर्थ समझा इस बात का मध्यमवृद्ध की चेष्टा से अनुमान करके अखण्ड वाक्य एवं अखण्ड वाक्यार्थ दोनों के वाच्यवाचक संबंध का अर्थापत्ति द्वारा ज्ञान करता है।

इसके पश्चात् 'गां बधान', 'अश्वमानय' इस प्रकार के वाक्य प्रयोग से अलग अलग पद के अर्थ का अन्वय व्यतिरेक से निश्चय करता है। इस प्रकार अन्वय व्यतिरेक से प्रवृत्ति व निवृत्ति करवाने वाला वाक्य ही प्रयोग के योग्य होता है अतः वाक्य में स्थित अन्वित पदों का ही अन्वित पदार्थों के साथ संकेतग्रह होता है।

इसलिए अन्वयविशिष्ट (परस्परान्वित) पदार्थ ही वाक्यार्थ है। केवल अनन्वित पदार्थो का वैशिष्ट्य वाक्यार्थ नहीं होता।

यहां 'विशिष्टा एव पदार्था वाक्यार्थो न तु 'पदार्थानां वैशिष्ट्यम्' क्रमशः अन्विताभिधानवादी एवं अभिहितान्वयवादियों के मत है। अन्विताभिधानवाद में विशिष्टा अर्थात् अन्वित पदार्थ ही वाक्यार्थ है जबकि अभिहितान्वयवाद में अनन्वित पदार्थो का बाद में होने वाला अन्वय (वैशिष्ट्य) ही वाक्य है।

काव्य प्रकाश का यह प्रकरण अत्यन्त जटिल है अन्विताभिधानवाद में संकेत ग्रह अभिधा शब्द शक्ति द्वारा अन्वित पदार्थ में ही माना गया है अर्थात् उत्तमवृद्ध, मध्यमवृद्ध को देखकर एवं 'गामानय' 'गां बधान' आदि शब्दों को सुनकर की गई प्रवृत्ति को व्यवहार से जानकर अन्वय–अतिरेक अर्थात् ऐसा कहने पर ही इस (गवानयनादि) कार्य में प्रवृत्ति हुई यदि ऐसा नहीं कहा जाता तो यह प्रवृत्ति (गवानयनादिरूप) नहीं होती । इस प्रकार प्रवृत्ति निवृत्ति का निश्चय करके ही अर्थ का ज्ञान करता है इस प्रकार अन्वित पदार्थ का ही बोध वाक्यार्थ है।

किन्तु अभिहितान्वयवादी अभिधा से परस्परान्वित अर्थ का बोध नहीं मानते। उनके अनुसार अभिधा के द्वारा अलग–अलग पद के अर्थ का बोध होता है उनके परस्पर अन्वय का नहीं। पदों के अर्थ बोध के पश्चात् तात्पर्य वृत्ति उन पदार्थों के परस्परसंसर्ग रूप अथ का बोध कराती है जो पदों का अर्थ न होकर सम्पूर्ण वाक्य का अर्थ होता है तथा तात्पर्यार्थ कहलाता है। अन्विताभिधानवादी इस मत को स्वीकार नहीं करते। यद्यपि तात्पर्यवृत्ति को वे भी मानते है किन्तु पदार्थों के परस्पर संसर्ग रूप अन्वय के बोध के लिए तात्पर्य वृत्ति की आवश्यकता नहीं मानते।

विशेषान्वित में संकेतग्रहः – अन्वित अर्थ में संकेतग्रह मानने पर प्रश्न उपस्थित होता है कि यह संकेत ग्रह सामान्य रूप से अन्वित अर्थ में होता है या विशेष रूप से अन्वित अर्थ में। अर्थात् जब 'गामानय' वाक्य में हम संकेत ग्रह करते हैं तो 'गो–विशिष्ट आनयन' रूप विशेष अर्थ में करते हैं या सामान्य अर्थ के साथ। यदि हम विशेषार्थ में संकेतग्रह मानेंगे तो 'गो–विशिष्ट–आनयन' में प्रयुक्त आनयन का विशिष्ट गो से संबंध होने से 'अश्वमानय' का अर्थ बोध नहीं होगा क्योंकि हमने इस पद का किसी विशेष एक अर्थ के साथ अन्वित रूप में संकेत ग्रह किया। अतः सामान्य अर्थ में संकेतग्रह मानना उचित है।

यद्यपि 'गामानय' आदि से भिन्न 'अश्वमानय' आदि अन्य वाक्यों में प्रयुक्त 'आनय' पद प्रत्यभिज्ञा (अर्थात् ये वे ही पद है) के बल से अर्थ का बोध कराते है। इस प्रकार सामान्यतः अन्य के साथ अन्वित पदार्थ में ही संकेत ग्रह होता है किन्तु परस्पर संबद्ध पदार्थ विशेष ही होते है क्योंकि सामान्य (निर्विशेषं न सामान्यम्) विशेष रहित नहीं होता अर्थात् सामान्य से युक्त होने पर भी विशेष (सामान्यविशेष) में संकेत ग्रह होता है। इस प्रकार अन्विताभिधानवाद में सामान्यविशेष रूप पदार्थ में संकेत ग्रह होता है।

अन्विताभिधानवादी भी तात्पर्य वृत्ति को स्वीकार करते हैं उन के मत में तात्पर्य वृत्ति से किस अर्थ का बोध होता है इसका भी विचार मम्मट ने अपने ग्रन्थ में किया है तथा उनके लिए व्यंग्यार्थ को जानने हेतु व्यंजना वृत्ति को आवश्यक बताया है–

तेषामपि मते सामान्यविशेषरूपः पदार्थः संकेतविषय इत्यादिविशेषभूतो वाक्यार्थान्तरगतोऽसंकेतितत्वादवाच्य एव यत्र पदार्थो प्रतिपद्यते तत्र दूरेऽर्थान्तरभूतस्य निःशेषच्युतेत्यादौ विध्यादेश्चर्चा।

'अर्थात् उनके (अन्विताभिधानवादियों) मत में 'सामान्यविशेष' रूप पदार्थ संकेत का विषय है तथा 'अतिविशेष' रूप अर्थ (गो–अश्व आदि व्यक्तिविशेष के साथ सम्बद्ध आनयन) वाक्यार्थ में असंकेतित होने से वाच्यार्थ न होने पर भी पदार्थरूप में प्रतीत होता है वहां निःशेषच्युत..... आदि में विध्यादि की प्रतीति की ता बात ही दूर है।

मम्मट ने यहाँ तीन शब्दों का प्रयोग किया हैः–

(1) सामान्य (2) सामान्यविशेष (3) अतिविशेष

सामान्य का अर्थ है साधारणरूप से अन्वित। सामान्य विशेष का अर्थ है कर्मत्वादिरूप से अन्वित एवं अतिविशेष का अर्थ है व्यक्तिविशेष (गो आदि से) से अन्वित। मम्मट कहते है कि यदि अन्विताभिधानवाद माना जाए तोः–

(1) सामान्य रूप से अन्वित अर्थ में संकेतग्रह करें तो उससे काम नहीं चलता जैसे किसी को घड़ा मंगाना अभीष्ट हो एवं वह 'वस्तु ले आओ' ऐसा सामान्य कथन करे तो श्रोता घट रूप अर्थ का ग्रहण नहीं करेगा अतः केवल सामान्य संकेत ग्रह से प्रयोजन सिद्ध नहीं होगा।

(2) यदि इस दोष दूर करने हेतु अन्विताभिधानवादी 'सामान्य विशेष' अर्थात् वस्तु सामान्य के स्थान पर घट रूप वस्तु विशेष का प्रयोग करें 'घटमानय' तो कर्मत्वादि से युक्त 'सामान्यविशेष' रूप से अन्वित अर्थ का बोध करें ता संकेत ग्रह हो जाता है यहां घट आदि पद विशेष होते हुए भी व्यक्तिरूप से नहीं अपितु कर्मत्व रूप सामान्य संबंध से ही अन्वित होते हैं इस प्रकार यहां सामान्यविशेष में संकेत ग्रह होता है।

(3) इस प्रकार ऊपर के वाक्य में गाम् अथवा घटम् पद विशेष होते हुए भी सामान्य कर्मत्व रूप से ही आनय के साथ अन्वित होते है अतः वे सामान्य विशेष है, गो व्यक्ति अथवा घटव्यक्ति वहां अतिविशेष अर्थ है। यह अतिविशेष रूप अर्थ वाक्यार्थ में प्रतीत होता है किन्तु वाच्यार्थ न होने से उसमें संकेतग्रह नहीं होता। अतः अभिधा से इतर शक्ति से ही उसमें अर्थ बोध मानना पड़ेगा। अन्विताभिधानवादी इसके लिए तात्पर्यावृत्ति मानते हैं। जब वाक्यार्थ रूप विशेष अर्थ की प्रतीति ही अभिधा से नहीं होती उसके लिए अन्विताभिधानवादियों को तात्पर्यावृत्ति की आवश्यकता होती है तो उसके पश्चात् प्रतीत होने वाले व्यंग्याथ की प्रतीति तात्पर्याख्या शक्ति से कैसे होगी। उस व्यंग्यार्थ के बोध के लिए व्यंजना शक्ति को स्वीकार करना ही होगा।

इस प्रकार अभिहितान्वयवाद में सामान्य विशेष रूप तथा अन्विताभिधानवाद में अतिविशेष रूप अर्थ के बोध के लिए ही जब तात्पर्य शक्ति की आवश्यकता है तो उसके भी बाद में होने वाले व्यंग्यार्थ के बोध के लिए व्यंजना शक्ति को मानने के अतिरिक्त अन्य कोई विकल्प नहीं है।

7.3.3 मुकुलभट्ट के सिद्धान्त का खण्डन

मुकुलभट्ट भी मीमांसक है तथा व्यंजनावृत्ति का विरोध करते है। उनके अनुसार व्यंजनावादी जिसे व्यंग्यार्थ कहते हैं उसकी प्रतीति भी शब्द से ही होती है अतः शब्द ही उस प्रतीति का निमित्त है तथा व्यंग्यार्थ नैमित्तिक है इस प्रकार शब्द एवं व्यंग्यार्थ में निमित्त नैमित्तिक भाव है यह भाव बिना शक्तिग्रह के नहीं हो सकता एवं शब्द में शक्तिग्रह अभिधा के द्वारा ही होता है अतः शब्द से व्यंग्यार्थ की जो प्रतीति है वह भी शब्द के अभिधा व्यापार द्वारा ही होती है अतः व्यंजना की कल्पना निरर्थक है। मुकुलभट्ट के इस मन्तव्य को मम्मट ने

'नैमित्तिकानुसारेण निमित्तानि कल्प्यन्ते' को पूर्वपक्ष के रूप में प्रस्तुत किया है इस पंक्ति का तात्पर्य है नैमित्तिक (कार्य) के अनुसार निमित्त (कारण) की कल्पना की जाती है।

मम्मट ने इसका खण्डन इस प्रकार प्रस्तुत किया है–

लोक में निमित्त (हेतु या कारण) दो प्रकार के ही हैं कारक या ज्ञापक। आपके सिद्धान्त में शब्द का निमित्तत्व कारकत्वरूप है या ज्ञापकत्व रूप।

कारकत्वरूप मानना उचित नहीं क्योंकि शब्द अर्थ का प्रकाशक है उत्पादक नहीं अर्थात् कारक नहीं है, ज्ञापकत्व भी मानना उचित नहीं है क्योंकि ज्ञापकत्व पहले से विद्यमान का ही ज्ञापक होता है न कि अज्ञात का। व्यंग्यार्थ तो प्रतीति से पूर्व विद्यमान नहीं होता।

ज्ञान तो संकेतग्रह से ही होता है संकेत सामान्य रूप से अन्वित पदार्थ में होता है विशेषान्वित में नहीं। शब्द का जब तक विशेष के साथ संकेत न माना जाए तब तक विशेष अर्थ की प्रतीति संभव नहीं है अतः नैमित्तिक (कार्य) के अनसार निमित्त (कारण) की कल्पना अविवेकपूर्ण है।

7.3.4 भट्टलोल्लट का मतः–

भट्टलोल्लट भी मीमांसक थे एवं कुमारिलभट्ट के शिष्य थे। वे भी व्यंजना वृत्ति को नहीं मानते उनके अनुसार जैसे एक बार छोड़ा गया तीर पहले कवच को भेदता है, फिर वक्षस्थल का छेदन करता है तत्पश्चात् प्राणों का हरण करता है उसी प्रकार एक ही बार उच्चारण किया गया शब्द एक ही (अभिधा) व्यापार से पहले वाच्य, फिर लक्ष्य एवं फिर व्यंग्य अर्थ का बोध कराता है इसके लिए अलग से तीन शब्द शक्तियों को मानने की आवश्यकता नहीं है इस प्रकार व्यंग्यार्थ की प्रतीति अभिधा द्वारा हो जाती है उसके लिए व्यजंना की आवश्यकता नहीं है।

भट्टलोल्लट ने अपने मत के समर्थन में एक दूसरी युक्ति 'यत्परः शब्दः स शब्दार्थः' अर्थात् जिस अर्थ का बोध कराने के लिए शब्द का प्रयोग किया जाता है वही उसका शब्दार्थ है। यदि शब्द का प्रयोग वाच्यार्थ के बोध के लिए तो वही उस शब्द का अर्थ है इसी प्रकार यदि शब्द का प्रयोग लक्ष्यार्थ या व्यंग्यार्थ के लिए किया गया है तो वह लक्ष्यार्थ या व्यंग्यार्थ ही उसके अर्थ होंगे इस प्रकार सभी अर्थ अभिधा से प्रस्तुत किए जा सकते हैं इसलिए किसी भी अर्थ का मात्र अभिधा से ही बोध होने से अन्य शब्दशक्तियों की आवश्यकता नहीं है। भट्टलोल्लट के इसी मन्तव्य को मम्मट ने अपने ग्रन्थ में प्रस्तुत किया है–

ये त्वभिदधति 'सोऽयमिषोरिव दीर्घदीर्घतरो व्यापारः' इति 'यत्परः शब्दः स शब्दार्थः' इति विधिरेवात्र वाच्य इति, अर्थात् जो यह कहते है कि (व्यंग्यार्थ के बोधन में) यह बाण के ((1) कवचभेदन (2) उरोविदारण (3) प्राणविमोचन रूप व्यापार के) समान (शब्द भी दीर्घ दीर्घतर व्यापार से वाच्य, लक्ष्य व व्यंग्यार्थ को बोध कराने वाला) दीर्घ दीर्घतर व्यापार ही है। जिस अभिप्राय से शब्द बोला गया वही उसका अर्थ है।

भट्टलोल्लट क इस मत का खण्डन करते हुए मम्मट ने उन्हें 'देवानां प्रियः कहा है–

'तेऽतात्पर्यज्ञास्तात्पर्यवाचोयुक्तेः देवानाम्प्रियाः' अर्थात् वे मूर्ख (यत्परःशब्दः स शब्दार्थः) तात्पर्यवाची युक्ति का अर्थ नहीं समझते।

वेदों में अनेक तात्पर्यवाची वाक्य प्राप्त होते हैं ये जिस प्रकरण में कह जाते हैं वहाँ उतने अप्राप्त अर्थ विशेष मात्र का ही बोध कराना इनका उद्देश्य होता है जैसे 'सोमेन यजेत्' यहॉ यजन एवं सोमयज्ञ दोनों ही अप्राप्त है अतः दोनों का विधान इस वाक्य से अभिप्रेत है, कहीं पर 'लोहितोष्णीषा ऋत्विजः प्रचरन्ति' जैसे वाक्यों में 'लोहितोष्णीष' अप्राप्त है अतः मात्र वही अभिप्रेत है– यजन आदि पूर्व से प्राप्त है अतः उनका विधान यहां नहीं किया गया।

इस प्रकार वैदिक विधिवाक्य अप्राप्त का ही विधान करते हैं न कि प्राप्त का। अतः अप्राप्त अंश के बोधन में विधि वाक्य का तात्पर्य है तथा यही 'यत्परः शब्दः स शब्दार्थः' इस तात्पर्य बोधक युक्ति का अर्थ है। इसे नहीं समझने के कारण मम्मट इन्हें 'देवानां प्रियः' अर्थात् मूर्ख कह रहे हैं।

आचार्य मम्मट ने इस तात्पर्यवाची युक्ति के तात्पर्य का विस्तार से निरूपण किया है उनके द्वारा प्रयुक्त 'यत्परःशब्दःस शब्दार्थः' तथा 'भूतभव्य–समुच्चारणे भूतं भव्यायोपदिश्यते' इन दोनों वाक्यों का अर्थ ठीक से समझना आवश्यक हैः–

मीसांसासूत्र के अनुसार समस्त वेदभाग क्रियार्थक है। जो क्रियार्थक नहीं है वह अनर्थक हो जाता है। अतः 'धूप' 'आहवनीय' आदि अक्रियार्थक पदार्थों की आनर्थक्य से रक्षा करने के लिए उन्हें विधि या निषेधात्मक वाक्यों के साथ एक वाक्यता के द्वारा क्रिया का अंग बनाया जाता है। इसी का सूचक 'भूतभव्याय' वाक्य है इसका तात्पर्य है भूत अर्थात् सिद्धरूप (अक्रियारूप) तथा भव्य अर्थात् साध्य या क्रियारूप दोनों प्रकार के अर्थों के (समुच्चारणे) एक साथ एक वाक्य में बाले जाने पर 'भूत' अर्थात् सिद्ध पदार्थ 'भव्याय' अर्थात् साध्य (क्रिया) के अंग रूप में निर्दिष्ट होता है। मम्मट ने अपने ग्रन्थ में इसे इस प्रकार निर्दिष्ट किया है। **तथा हि भूतभव्यसमुच्चारणे भूतं भव्यायोपदिश्यते इति कारकपदार्थाः क्रियापदार्थेनान्वीयमानाः प्रधानक्रियानिर्वतकस्वक्रियाभि– सम्बन्धात् साध्यायमानतां प्राप्नुवन्ति। ततश्चादग्धदहनन्यायेन यावदप्राप्तं तावद् विधीयते। यथा ऋत्विक्प्रचरणे प्रमाणान्तरात्सिद्धे 'लोहितोष्णीषा ऋत्विजः प्रचरन्ति' इत्यत्र लोहितोष्णीत्वमात्रं विधेयम्। हवनस्यान्यतःसिद्धेः 'दध्ना जुहोति' इत्यादौ दध्यादेः करणत्वमात्रं विधेयम्।**

अर्थात् सिद्ध और साध्य के साथ–साथ पठित होने पर सिद्ध पदार्थ क्रिया के लिए (क्रिया के अंगरूप में) कहा जाता है। इस नियम से क्रिया पदार्थ से अन्वित कारक पदार्थ (कर्ता, कर्मादि रूप सिद्ध द्रव्य प्रधान क्रिया के अंगभूत होने से) प्रधान क्रिया की सम्पादक अपनी (अंगभूत) क्रिया के संबंध से साध्यवत् हो जाते है। इसलिए अदग्धदहनन्याय से (अग्नि काष्ठ के न जले भाग को ही जलाता है जले हुए को नहीं जलाता) जितना अप्राप्त होता है उतने का ही विधान किया जाता है जैसे लाल पगड़ी वाले ऋत्विक् घूमते हैं। यहां ऋत्विक् प्रचरण के प्रमाणान्तर से प्राप्त होने से लोहितोष्णीषत्व मात्र विधेय है (पूर्व में अप्राप्त होने से)। इसी प्रकार 'दध्ना जुहोति' में होम के अन्य प्रमाण से सिद्ध होने से 'दधि' के करणत्व मात्र का विधान किया जाता है।

ज्योतिष्टोम याग एक प्रकृति याग है तथा श्येन याग विकृति याग। 'यत्र समग्राङ्गोपदेशः सा प्रकृतिः' अर्थात् जिस भाग में समस्त अंगों का वर्णन होता है वह प्रकृति याग है इसे प्रधान याग कहते है। इस प्रकृति याग के साथ अनेक विकृति याग होते हैं। जिनमें केवल विशेष नवीन अंगों का वर्णन किया जाता है। शेष सारी प्रक्रिया 'प्रकृतिवद् विकृतिः कर्तव्या' नियम के अनुसार प्रकृतियाग के सदृश ही की जाती है।

ज्योतिष्टोम याग में 'सोष्णीषा विनीतवसना ऋत्विजः प्रचरन्ति' इस वाक्य के द्वारा ऋत्विक्–प्रचरण का विधान हुआ। श्येन याग में 'प्रकृतिवद् विकृतिः कर्तव्या' से ज्योतिष्टोम याग की सकल विधि प्राप्त होती है मात्र 'सोष्णीषा' के स्थान पर लोहितोष्णीषत्व नवीन अंग प्राप्त होता है अतः 'लोहितोष्णीषा ऋत्विजः प्रचरन्ति' का प्रयोग मात्र लोहितोष्णीषत्व मात्र के विधान के लिए है। इतना ही इस वाक्य का तात्पर्य है यही तात्पर्यवाचो युक्ति 'यत्परः शब्दः स शब्दार्थः' का तात्पर्य है इसी प्रकार 'दध्ना जुहोति' में भी दधि के करणत्व मात्र का विधान किया गया। यह वाक्य अग्निहोत्र प्रकरण में आया है। 'अग्निहोत्रं जुहोति' यह इस प्रकरण का उत्पत्ति वाक्य है। उसमें होम का विधान किया हुआ है। अतः 'दध्ना जुहोति' वाक्य में केवल दधिरूप करण या साधन का विधान है होम का नहीं। यह इस वाक्य का अभिप्राय है।

उपात्त शब्द के अर्थ में तात्पर्यः व्यंजनावादी पक्षः– मीमासंकों के 'यत्परः शब्दःस शब्दार्थः' का अर्थ स्पष्ट करने बाद मम्मट कहते है कि सिद्ध पदार्थों का विधान अनर्थक होने से मुख्यरूप से साध्यभूत क्रिया अंश का विधान किया जाता है जहां कही यागादि क्रिया अन्य प्रमाणों से सिद्ध होती है वहां उनके उद्देश्य से दधि आदि द्रव्यों का भी विधान किया जाता है किन्तु प्रत्येक दशा में जो विधेय होता है उसी में वाक्य के अन्य पदों का तात्पर्य होता है। जिस अर्थ में तात्पर्य होता है उसका वाचक शब्द वाक्य मे अवश्य उपात्त होता है। इस प्रकार अनुपात्त में तात्पर्य नहीं होता। व्यंग्यार्थ का वाचक कोई शब्द वाक्य में उपात्त नहीं होता अतः 'यत्परः शब्द स शब्दार्थः' इस तात्पर्यवाची युक्ति का नियम व्यंग्यार्थ के विषय में कार्य नहीं करता। व्यंग्यार्थ की प्रतीति अभिधा से संभव नहीं है। मीमांसक जिस तात्पर्यवाची युक्ति से व्यंग्यार्थ को तात्पर्यार्थ प्रमाणित करना चाहते है वह असंगत है। क्योंकि व्यंग्यार्थ का वाचक कोई पद वाक्य में उपात्त न होने से व्यंग्यार्थ को तात्पर्यार्थ नहीं माना जा सकता है।

'विषं भक्षय' में तात्पर्य निर्णयः – व्यंजनावादी आचार्यां द्वारा उपात्त शब्द के अर्थ में ही तात्पर्य होने के अभिप्राय के विषय में भट्टलोल्लट एक शङ्का उपस्थित कर सकते हैं:–

यदि वाक्य में उपात्त शब्द के अर्थ में ही तात्पर्य माना जाए तो 'विषं भक्षय मा चास्य गृहे भुङ्क्थाः' यहां तात्पर्य का निर्णय कैसे होगा क्योंकि 'विष खा ले पर इसके घर भोजन न करना' इस पंक्ति का तात्पर्य 'इसके घर भोजन नहीं करना चाहिए' इस अर्थ में है। परन्तु इसका कोई वाचक शब्द इस वाक्य में नहीं है अतः उपात्त शब्द के अर्थ में ही तात्पर्य मानना ठीक नहीं है।

व्यंजनावादी पक्षः – व्यंजनावादी मत में वाक्य में प्रयुक्त 'चकार......' विषं भक्षय, मा चास्य गृहे भुङ्क्था' इन दोनों वाक्यों की एक वाक्यता का सूचक है। 'चकार' के आधार पर जब दोनों वाक्यों को एक वाक्य मान लिया जाता है तो 'विषं भक्षय' का यह तात्पर्य निकलता है कि इसके (शत्रु के) घर में भोजन करना विष भक्षण से भी बुरा है अतः 'इसके घर में मत खाओ' यह उपात्त शब्द के अर्थ में ही होता है। अनुपात्त में नहीं।

मीमांसक व्यंजनावादियों की इस 'एक वाक्यता' के सिद्धान्त को नहीं मानते तथा उनके मत में चकार एकवाक्यता का सूचक नहीं है। मीमांसको के मत में एक क्रियापद से यक्त एक वाक्य होता है। इस दृष्टि से 'विषं भक्षय..........' में 'भक्षय' एवं 'भुड्.क्था' दो क्रिया पद है अतः ये दो अलग अलग वाक्य है तथा दोनों ही प्रधान है इनमें अंगांगिभाव नहीं बन सकता तथा 'चकार' भी इन दोनों की एक वाक्यता का सूचक नहीं है अतः इनमें तात्पर्य नहीं है। इस प्रकार इस वाक्य में उपात्त शब्द में तात्पर्य नहीं है।

व्यंजनावादी इसका खण्डन करते हुए उपात्त शब्द के अर्थ में ही तात्पर्य मानते है। उनके अनुसार यह सुहृद्वाक्य है व मित्र 'विषं भक्षय' ऐसा नहीं कहता है अतः यहां मुख्यार्थ बाधित हो गया अतः लक्षणा के द्वारा इसकी अङ्गता की कल्पना करनी चाहिए। इस प्रकार 'इसके घर में भोजन करना विष भक्षण से बुरा है' अतः इसके घर भोजन नहीं करना चाहिए। यही 'विषं भक्षय' का तात्पर्य है तथा 'मा चास्य गृहे भुङ्क्थाः' इस उपात्त शब्द के अर्थ में ही तात्पर्य है।

अतः व्यङ्ग्यार्थबोध के लिए अभिधा से भिन्न वृत्ति माननी आवश्यक है क्योंकि अभिधा के द्वारा जिस अर्थ का बोध होता है मात्र उतने अर्थ को बताना ही प्रयोजन नहीं होता। यदि यह माना जाए कि शब्द के श्रवण के पश्चात् जितना भी अर्थ प्रतीत होता है वहां केवल अभिधा व्यापार ही कार्य करता है। तो 'ब्राह्मण पुत्रस्ते जातः' अथवा 'ब्राह्मण कन्या ते गर्भिणी' आदि वाक्यों को सुनकर हर्ष या शोकादि की प्रतीति को अभिधा से क्यों नहीं मानते, इसके लिए लक्षणा शक्ति क्यों स्वीकार करते हो क्योंकि इषु के समान दीर्घ–दीर्घतर व्यापार से अभिधा से ही लक्ष्यार्थ की प्रतोति सिद्ध होने से लक्षणा निरर्थक हो जाती है। इसके अतिरिक्त श्रुति–लिंग–वाक्य प्रकरण–स्थान तथा समारव्यां (इन छः प्रमाणों) में पूर्व

पूर्व की बलवत्ता क्यों मानते हो। यदि शब्द श्रवण मात्र से प्रतीत होने वाले समस्त अर्थों की प्रतीति अभिधा से ही हो जाए तो लक्षणा को आवश्यकता नहीं रहती एवं इन प्रमाणों के बलाबल के क्रम का निश्चय नहीं हो सकता। अतः व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति के लिए व्यंजना आवश्यक है।

7.4 व्यंजना की सिद्धि

यहां तक ग्रन्थकार ने मीमांसक मत का खण्डन कर व्यंजना वृत्ति को सिद्ध करने का प्रयत्न किया था। अधुना आचार्य मम्मट ने व्यंजना वृत्ति की सिद्धि में अनेक युक्तियाँ दी हैः–

7.4.1 वाच्य का व्यङ्ग्य से भेद

(1) उन्होंने नित्यानित्य दोष व्यवस्था से व्यंजना की सिद्धि की है। 'कुरु रुचिम्' इस वाक्य के पदों को यदि विपरीत क्रम में रख दिया जाय तो अश्लीलता दोष आता है यहां असभ्य (रूचिं कुरु) अर्थ अन्य पदार्थों से अन्वित न होने से वाच्यार्थ नहीं है यदि इसे व्यङ्ग्य न माना जाए तो इस प्रकार के प्रयोग त्याज्य नहीं होंगे। यदि वाच्यवाचकभाव से व्यङ्ग्यव्यंजकभाव भिन्न नहीं माना जाएगा तो नित्य–अनित्य दोष की व्यवस्था नहीं बन सकती। च्युतसंस्कार, अश्लीलत्व आदि नित्यदोष है तथा श्रुतिकटुत्व आदि अनित्य दोष हैं। व्यंग्यव्यंजक भाव को भिन्न मानने पर व्यंजना वृत्ति से द्योत्य भिन्न–2 रसों के अनुकूल–प्रतिकूल होने के आधार पर नित्यानित्य व्यवस्था बन जाती है।

(2) गुण व्यवस्था द्वारा व्यंजना की सिद्धि–

द्वयं गतं सम्प्रति शोचनीयतां
समागमप्रार्थनया कपालिनः।

कपाल धारण करने वाले (दरिद्र एवं वीभत्सरूप शिव) के समागम की इच्छा के कारण (चन्द्रमा की सुन्दर कला एवं उससे भी अधिक सुन्दर पार्वती) दो जने शोचनीय हो गए।

ग्रन्थकार कहते है कि यदि व्यङ्ग्यव्यञ्जक भाव को न माना जाए तो इस श्लोक में शिव के वाचक 'पिनाकी' की अपेक्षा 'कपाली' आदि पदों में अधिक काव्यानुगुणत्व क्यों माना जाता है। प्रस्तुत श्लोक में ब्रह्मचारी वेष धारी शिव पार्वती की तपस्या का उपहास कर रहे है। 'कपाली' शब्द का प्रयोग यहां विशेष है क्योंकि कपाली शब्द से जैसा दरिद्रता एवं वीभत्सता आदि गुणों का वैशिष्ट्य प्रतीत होता है वैसा पिनाकी से नहीं। यदि व्यङ्ग्य–व्यंजक भाव भिन्न नहीं होता तो इन शब्दों से इस प्रकार की विशेषता भी उत्पन्न नहीं होती।

(3) **संख्याभेद से वाच्यव्यङ्ग्य भेदः**– वाच्यार्थ सभी श्रोताओं को एक समान ही प्रतीत होता है अतः उसका स्वरूप निश्चित है किन्तु व्यङ्ग्यार्थ प्रकरण, बोद्धा, वक्ता आदि के वैशिष्ट्य से भिन्न–2 हो सकता है। जैसे–'गतोऽस्तमर्कः' इसका वाच्यार्थ 'सूर्य अस्त हो गया' की प्रतीति सभी को समान रूप से होती है। किन्तु व्यङ्ग्यार्थ (वाक्य लुटेरे द्वारा प्रयुक्त होने पर) (1) लूटने का समय आ गया, (दूती नायिका से कहे तो) (2) अभिसरण का समय हो गया, (सरवी नायिका से कहे तो) (3) तुम्हारे पति आते ही होंगे। (4) कहीं पर कार्य समाप्त करना चाहिए। (5) कहीं सायंकालीन विधि का समय हो गया। (6) गायों को घर ले जाओं इस प्रकार भिन्न–भिन्न प्रतीति होती है।

इस प्रकार वाच्यार्थ व व्यङ्ग्यार्थ की संख्या में भेद से व्यङ्ग्यार्थ को वाच्यार्थ से भिन्न मानना होगा।

(4) **स्वरूपभेद से वाच्य व्यङ्ग्य का भेदः** – इसके अतिरिक्त वाच्यार्थ एवं व्यङ्ग्यार्थ में स्वरूप भेद है –

जैसे 'निःशेषच्युतचन्दनं स्तनतटं' इत्यादि श्लोक में वाच्य निषेध रूप में है जबकि व्यङ्ग्य विधि रूप में है।

इसी प्रकार 'मात्सर्यमुत्सार्य विचार्य .... सम्पूर्ण (श्लोक एवं उसका अर्थ 'सन्दिग्ध' नामक वाक्य दोष इकाई 8 में दिया गया है) श्लोक में वाच्यार्थ संशय रूप है एवं व्यङ्ग्यार्थ (रसप्रधान व्यक्ति के लिए) शान्त एवं विलासी व्यक्ति के लिए श्रृंगार है।

(5) **वाच्य एवं व्यङ्ग्य में काल भेद** – वाच्यार्थ प्रतीति सदा पहले होती है एवं व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति उसके पश्चात् ही होती है।

(6) वाच्य केवल शब्द के आश्रित होता है जबकि व्यङ्ग्य तो शब्द, उसके एक देश, अर्थ, वर्ण, संघटना आदि के आश्रित होता है। अतः आश्रय भेद से दोनों में भेद है।

(7) वाच्यार्थ की प्रतीति केवल शब्दानुशासन के ज्ञान से हो जाती है जबकि व्यङ्ग्यार्थ के लिए प्रकरण, प्रतिभा तथा व्याकरण–कोशादि की आवश्यकता है इस प्रकार निमित्त का भेद भी वाच्य व्यङ्ग्य का साधक है।

(8) संज्ञाभेद भी वाच्यव्यङ्ग्य का साधक है वाच्यार्थ के ज्ञाता को 'बोद्धा' कहते है जबकि व्यङ्ग्यार्थ के ज्ञाता को विदग्ध कहा जाता है।

(9) कार्य का भेद भी वाच्य व्यङ्ग्य का साधक है वाच्यार्थ का ज्ञान प्रतीति मात्र का अनुभव कराता है जबकि व्यङ्ग्यार्थ का ज्ञान चमत्कार उत्पन्न करता है।

(10) विषय का भेद भी वाच्य व व्यङ्ग्य का साधक है वाच्यार्थ का विषय अन्य होता है तथा व्यङ्ग्यार्थ का विषय अन्य।

वाच्यार्थ एवं व्यङ्ग्यार्थ में ही भेद नहीं होता अपितु वाचक एवं व्यंजक शब्दों में भी भेद होता है–

वाचक शब्दों को अर्थ की अपेक्षा होती है (अर्थात् वाचक शब्द केवल संकेतित अर्थ का ही बोध करा सकते हैं) पर व्यंजक शब्दों को उसकी आवश्यकता नहीं होती है (अर्थात् वे बिना संकेतग्रह के किसी भी अर्थ का बोध करा सकते हैं। इस प्रकार वाचक व व्यंजक भिन्न भिन्न है।

लक्ष्यार्थ से व्यङ्ग्यार्थ का भेद – वाच्यार्थ से व्यङ्ग्यार्थ की संख्या, प्रतीति, काल, व्यपदेश आदि जो भिन्नताएँ दिखलाई गई वे समस्त भिन्नताएँ लक्ष्यार्थ में भी है। अतः व्यंजना को मानने की आवश्कता नहीं है अपितु लक्षणा से ही व्यंजना के कार्य सिद्ध हो जाते हैं। अपने मत को लक्षणावादी निम्न युक्तियों से सिद्ध करते हैं–

(1) व्यङ्ग्यार्थवत् लक्ष्यार्थ भी नाना हो सकते हैं। इसकी पुष्टि के लिए उन्होने तीन वाक्य प्रस्तुत किए हैंः–

'रामोऽस्मि सर्वं सहे'

'रामेण प्रियजीवितेन तु कृतं प्रेम्णः प्रिये नोचितम्'
'रामोऽसौ भुवनेषु विक्रमगुणैः प्राप्तः प्रसिद्धिं पराम्'

इन तीनों वाक्यों में प्रयुक्त राम शब्द का वाच्यार्थ तो दशरथ पुत्र राम ही है किन्तु लक्ष्यार्थ भिन्न भिन्न है–

1. प्रथम में राम लक्षणा द्वारा अर्थान्तर में संक्रमति होकर 'अत्यन्त दुःखसहिष्णुत्वधर्मविशिष्ट राम' अर्थ का बोधक है।

2. द्वितीय में राम निष्करुणत्व आदि धर्म–विशिष्ट राम अर्थ का लक्षणा से बोध कराता है।

3. तृतीय में राम लक्षणा द्वारा अर्थान्तर संक्रमित होकर 'खरदूषणादिहन्ता राम' का बोध कराता है इस प्रकार प्रकरण आदि के आधार पर एक राम शब्द लक्षणा से नाना अर्थों का बोध कराता है। इस प्रकार वाच्यार्थ तो एक ही है लक्ष्यार्थ नाना है।

(2) व्यपदेश के आधार पर बोद्धा एवं विदग्ध पदों का प्रयोग कर वाच्यार्थ एवं व्यङ्ग्यार्थ में भिन्नता बताई गई थी। लक्षणावादी उसे नहीं मानते क्योंकि व्यङ्ग्यार्थ के समान लक्ष्यार्थ भी अर्थान्तरसंक्रमित एवं अत्यन्ततिरस्कृत वाच्य होकर विशेष व्यपदेश का हेतु बन सकता है। अतः लक्षणा से भिन्न व्यंजना नहीं है।

(3) वाच्यार्थ की प्रतीति केवल शब्द से होती है व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति शब्द व अर्थ दोनों से हो सकती है अतः व्यजंना भिन्नवृत्ति है ऐसा मानना भी युक्तिसंगत नहीं है क्योंकि लक्ष्यार्थ की प्रतीति भी व्यङ्ग्यार्थ के समान शब्द व अर्थ दोनों से हो सकती है अतः व्यंजना को भिन्न वृत्ति मानने की आवश्यकता नहीं है।

(4) व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति के समान लक्ष्यार्थ की प्रतीति भी प्रकरणादि की सहायता से हो सकती है अतः लक्ष्यार्थ वाच्यार्थ से भिन्न है। किन्तु व्यङ्ग्यार्थ की ये विशेषताएं लक्ष्यार्थ में भी घट सकती है अतः व्यंजनावृत्ति को अलग मानने की आवश्यकता नहीं है ये समस्त बोध लक्षणा से ही संभव हे।

मम्मट ने लक्षणावादियों के मत का खण्डन करते हुए लक्ष्यार्थ से व्यङ्ग्यार्थ के भेद दिखाए हैः–

(1) लक्ष्यार्थ नानाविध होने पर भी अनेकार्थक शब्द के वाच्यार्थ के समान नियतरूप ही होता है क्योंकि मुख्यार्थ से संबंध रखने वाला ही लक्ष्यार्थ होता है इसके विपरीत व्यङ्ग्यार्थ कभी (1) नियत संबंध (2) कभी अनियत संबंध (3) कभी परम्परित संबंध वाला होता है। इस प्रकार लक्ष्यार्थ से व्यङ्ग्यार्थ भिन्न है।

(2) **अत्ता एत्थ णिमज्जइ एत्थ अहं दिअहए पलोएहि।**
मा पहिअ! रत्तिअन्धअ! सेज्जाए मह णिमज्जहिसि।।
श्वश्रूरत्र निमज्जति अत्राहं दिवसके प्रलोकय।
मा पथिक रात्र्यन्धक शय्यायां मम निमंक्ष्यसि।।

अर्थात् हे रतौंधी से युक्त पथिक! दिन में ही अच्छी तरह देख लो कि यहॉ सास लेटती है और यहॉ मैं लेटती हूं। कहीं मेरी शय्या पर मत गिर जाना।

यहॉ अभिधामूला ध्वनि है। मुख्यार्थबाध न होने से यहाँ लक्षणा नहीं हो सकती। तथा लक्षणा के बिना ही व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति हो रही है। इस प्रकार लक्ष्यार्थ से व्यङ्ग्यार्थ भिन्न है।

(3) यदि लक्षणावादी लक्षणा का एक हेतु प्रयोजन मानते हैं तो उस प्रयोजन की प्रतीति हेतु व्यंजना का आश्रय उन्हें भी लेना ही पड़ेगा इसकी सिद्धि आचार्य मम्मट द्वितीय उल्लास में 'फले शब्दैकगम्येऽत्र व्यंजनान्नापरा क्रिया' कहकर कर चुके हैं।

(4) लक्षणा सदा भी अभिधा पर आश्रित रहती है। अभिधा संकेतग्रह की अपेक्षा रखती है एव लक्षणा मुख्यार्थबाधादि हेतुत्रय की अपेक्षा रखती ह। जैसे मुख्यार्थ बाधादि पर आश्रित होने कारण लक्षणा अभिधा से भिन्न मानी जाती है उसी प्रकार मुख्यार्थ बाधादि हेतुओं की अपेक्षा न रखने वाली व्यंजना को अभिधा से भिन्न मानना चाहिए।

(5) व्यंजना लक्षणा रूप नहीं है क्योंकि लक्षणा के पश्चात् ही प्रवृत्त होती है तथा लक्ष्यार्थ सदा व्यङ्ग्यार्थ से पूर्व में रहता है।

(6) लक्षणा के बिना केवल अभिधा के अवलम्बन से भी व्यंजना की प्रवृत्ति हो सकती है।

(7) व्यंजना कभी–कभी दोनों की अनुगामिनी नहीं होती क्योंकि कभी–कभी अवाचक (निरर्थक) वर्णों के द्वारा भी देखी जाती है।

(8) अभिधा एवं लक्षणा का संबंध शब्द तक ही सीमित है व्यंजना केवल शब्दानुसारिणी नहीं है वह चेष्टा आदि (कटाक्ष आदि) से भी अभिप्राय विशेष का अभिव्यंजन करती है इस प्रकार अभिधा, तात्पर्य एवं लक्षणा इन तीनों व्यापारों के बाद होने वाला (तीनों व्यापारों से भिन्न) ध्वनन, व्यंजन या गमन नामक व्यापार को अवश्य स्वीकार करना चाहिए।

वेदान्त मतः– साहित्य शास्त्र में तथा उसके भी अनेक सम्प्रदायों में से केवल ध्वनि सम्प्रदाय में ही व्यंजना वृत्ति मानी गई है। शेष साहित्यिक सम्प्रदाय एवं दार्शनिक व्यंजना को स्वीकार नहीं करते अतः सर्वप्रथम मम्मटाचार्य वेदान्तियों के मत को पूर्व पक्ष के रूप में रखकर उसका खण्डन करते हैं:–

'अखण्डबुद्धिनिर्ग्राह्यो वाक्यार्थ एव वाच्यः, वाक्यमेव च वाचकम्' इति येऽप्याहुः, (पूर्वपक्ष)

तैरप्यविद्यापदपतितैः पदपदार्थकल्पना कर्त्तव्यैवेति

तत्पक्षेऽप्यवश्यमुक्तोदाहरणादौ विध्यादिर्व्यङ्ग्य एव। (खण्डन)

जो (वेदान्ती या वैयाकरण) यह कहते है कि 'अखण्ड बुद्धि से ग्राह्य वाक्यार्थ ही वाच्य होता है और अखण्ड वाक्य ही उसका वाचक होता है' (पूर्वपक्ष)

उनको भी अविद्या की स्थिति में (व्यवहार काल) आकर पद पदार्थ की कल्पना करनी ही होगी इसलिए उनके पक्ष में भी निःशेषच्युतचन्दनं ....इत्यादि श्लोक में विधि आदि को व्यङ्ग्य मानना ही होगा।

वेदान्ती एवं वैयाकरण दोनों अखण्डार्थता का सिद्धान्त मानते हैं अतः एक अखण्डार्थता सिद्धान्त का खण्डन करने से दोनों का खण्डन हो जाता है।

7.4.3 वेदान्तियों का अखण्डार्थतावादः–

शाब्दबोध की प्रक्रिया में साधारणतः 'पदार्थसंसर्गबोध' को वाक्यार्थ कहा जाता है। वाक्य में प्रयुक्त हुए पदों से पहले पदार्थों की उपस्थिति होती है। उसके बाद पदार्थों का परस्पर संबंध होता है यहां 'पदार्थसंसर्ग, वाक्यार्थ कहा जाता है। अतः सभी वाक्य साधारणतः 'पदार्थसंसर्गगोचरप्रतीति' को उत्पन्न करते हैं।

किन्तु वेदान्तियों ने कुछ ऐसे वाक्यों की कल्पना की है जो पदार्थ संसर्गविषयक प्रतीति नहीं कराते। ऐसे वाक्यों को वे अखण्डार्थवाक्य कहते हैं। वेदान्तग्रन्थों में 'संसर्गगोचरप्रतीतिजनकत्वम् अखण्डार्थत्वम्' अखण्डार्थ का लक्षण किया है इस श्रेणी में मुख्यरूप से लक्षणावाक्य आते हैं।

पदार्थ के स्वरूप की जिज्ञासा होने पर लक्षणवाक्य द्वारा उसका उत्तर दिया जाता है– जैसे कोई पूछे आकाश में 'कतमश्चन्द्रः' चन्द्रमा कौनसा है तो इसका उतर है 'प्रकृष्टप्रकाशचन्द्रः' अर्थात् जो प्रकृष्ट रूप से प्रकाशमान है वह चन्द्र है। चूंकि प्रश्न चन्द्र के स्वरूप के विषय में है अतः उत्तर को केवल स्वरूप परक ही मानना चाहिए संसर्ग परक नहीं। अर्थात् इससे पदार्थसंसर्ग का बोध नहीं होता है। अतः 'प्रकृष्टप्रकाशचन्द्रः' – वाक्य संसर्ग का नहीं स्वरूपमात्र का बोधक होने से अखण्डार्थवाक्य कहलाता ह। इस प्रकार सारे लक्षणपरक वाक्य 'संसर्गगोचर प्रमिति' के जनक होने से 'अखण्डार्थ' वाक्य कहलाते है। 'तत्त्वमसि', 'सोघ्यं देवदत्तः आदिवाक्यों को भी वेदान्ती अखण्डार्थ वाक्य ही मानते है।

कुछ व्याख्याकारों ने इसकी अन्य प्रकार से भी व्याख्या की है। उनके मत में जिस वाक्य का क्रिया, कारक आदि रूप में अनेक खण्डों में विश्लेषण किया जाता है वह शब्दबोध 'सखण्डबोध' कहा जाता है। उससे भिन्न जहां वाक्य का क्रिया–कारकभाव आदि रूप खण्डों में विभाजन नहीं किया जा सके वह 'अखण्डवाक्य' कहा जाता है।

वेदान्त की इन दोनों व्याख्याओं में 'सत्य ज्ञानमनन्तं ब्रह्म', 'एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म' 'अहं ब्रह्मास्मि' 'तत्त्वमसि' आदिवाक्यो में अखण्डबुद्धि ही उत्पन्न होती है, अखण्डबुद्धि से निर्ग्राह्य परब्रह्म ही इन वाक्यों का अर्थ है अतः वही उनका वाच्यार्थ है। यही 'अखण्डबुद्धिर्निग्राह्यो वाक्यार्थ एवं वाच्यः, वाक्यमेव च वाचकम् इत्याहुः' का अर्थ है।

इसका खण्डन करते हुए मम्मट कहते हैं कि परमार्थ दशा में तो 'अखण्डार्थ' एवं 'अखण्डार्थवाक्य' की कल्पना ठीक है किन्तु व्यवहार दशा में उन्हें भी पद–पदार्थ की कल्पना करनी पड़ती है ऐसी स्थिति में अभिधा व लक्षणा को स्वीकार करने वाले वेदान्तियों को 'निःशेषच्युत.........' आदि श्लोकों में विधि रूप व्यङ्ग्य की प्रतीति के लिए व्यंजना स्वीकार करनी पडेगी।

वैयाकरणों का अखण्डार्थतावादः– वेदान्तियों के समान वैयाकरण परब्रह्म के स्थान पर एक मात्र शब्दब्रह्म मानते है। उनके मत में पदों में वर्णों एवं वाक्यों में पदों को अलग–अलग नहीं माना जा सकता है। जिस प्रकार 'ब्राह्मणकम्बल' में समस्त पद का तो अर्थ है परन्तु ब्राह्मण शब्द का अलग से कोई अर्थ नहीं है उसी प्रकार वाक्य में उसके अलग–अलग पदों का कोई अर्थ नहीं होता है समष्टिरूप से वाक्य का अर्थ होता है। इस प्रकार अखण्डार्थवाद को वैयाकरण भी मानते है। मम्मट ने दोनों के मत का एक साथ ही खण्डन कर दिया है।

7.4.4 नैयायिक महिमभट्ट का मतः

महिमभट्ट भी व्यंजना का विरोध करते है उन्होंने न्याय की प्रक्रिया का अवलम्बन कर व्यंजना को अनुमान प्रमाण के अन्तर्गत करने का प्रयत्न किया है। अपने ग्रन्थ व्यक्तिविवेक में उन्होंने ध्वनि को सामान्य रूप से भी अनुमान के अन्तर्गत सिद्ध किया है तथा उसके उदाहरणों में भी व्यङ्ग्यार्थ को अनुमान का विषय सिद्ध करने का प्रयत्न किया है।

महिमभट्ट के अनुसार वाच्य से असंबद्ध अर्थ की प्रतीति संभव नहीं है (यदि असंबद्ध प्रतीति मानेंगें तो किसी भी शब्द से किसी भी अर्थ की प्रतीति होने लगेगी) अतः संबंध अनिवार्य होने से व्याप्ति के बिना व्यङ्ग्य व्यंजक का निश्चय नहीं हो सकता। इसलिए व्याप्तियुक्त और नियतधर्मी (पक्ष) में रहने से तीनों रूपों वाले (धूमादिरूप हेतु के समान) लिङ्ग से लिङ्गी का जो अनुमान होता है उसी रूप में व्यङ्ग्यव्यंजकभाव का पर्यवसान होता है– जैसेः–

भ्रम धम्मिअ वीसद्धो सो सुणओ अज्ज मारिओ तेण।
गोलाणई कच्छ कुडंग वासिणा दरिअसीहेण।।
भ्रम धार्मिक विस्रब्धः स शुनकोऽद्य मारितस्तेन।
गोदानदीकच्छकुंजवासिना दृप्तसिंहेन।। इति संस्कृतम्

अर्थात् हे पण्डित जी! अब आप निश्शङ्क होकर भ्रमण करें। गोदावरी के कछार के कुंज में रहने वाले उस दृप्त सिंह ने आज कुत्ते को मार डाला।

यह वाक्य गोदावरी नदी के तट पर किसी उद्यान में अपने प्रेमी से हमेशा मिलने वाली नायिका प्रतिदिन फूल आदि लेने के निमित्त उसी उद्यान में आने वाले पण्डित से कह रही है। गोदावरी के तट पर भ्रमण करने वाले कुत्ते से पण्डित डरता था किन्तु फिर भी प्रतिदिन आ जाता था। कुत्ते से डरने वाला पण्डित सिंह की बात सुनकर इधर नहीं जाएगा इसी विचार से पण्डित को आने से रोकने लिए प्रस्तुत वाक्य का प्रयोग किया गया। व्यंजनावादी इस निषेधरूप अर्थ को व्यङ्ग्यार्थ मानते हैं किन्तु महिमभट्ट इसे अनुमान का विषय मानते है तथा इसको अनुवाक्य में कहते हैः–

(1) गोदावरीतीरं भीरूभ्रमणायोग्यं (प्रतिज्ञा या साध्य)
(2) भयकारणसिंहोपलब्धेः (हेतु या साधन)
(3) यत् यत् भीरूभ्रमणयोग्यं तत् तत् भयकारणाभाववत् यथा गृहम् (व्यतिरेक व्याप्ति सहित उदाहरण)
(4) न चेदं तीरं तथा भयकारणाभाववत् सिंहोपलब्धेः (उपनय)
(5) तस्मात् भीरूभ्रमणायोग्यम् (निगमन)

अर्थात् यहा कुत्ते के न रहने से विहित भ्रमण (भ्रमण करें) हेतु या लिङ्ग सिंह की उपलब्धि से भ्रमण के निषेध (साध्य) का अनुमान कराता है। जो भीरूजनों के भ्रमण योग्य स्थान होता है वह भय के कारण के अभाव से युक्त होता है–यह व्याप्ति है। गोदावरी के तट पर सिंह की उपलब्धि भय के कारण के अभाव के अभाव (अर्थात् भय के कारण की उपस्थिति) को सूचित करती है तथा गोदावरी तट पर साधन (हेतु) के अभाव को लक्षित करती है। इस

प्रकार यहां व्यतिरेक व्याप्ति से भ्रमणनिषेध की प्रतीति होती है। अतः व्यंजना की आवश्यकता नहीं है।

आचार्य मम्मट ने इस अनुमान प्रतीति में दोषों का निरूपण करते हुए इसका खण्डन किया है।

आचार्य मम्मट के अनुसार महिमभट्ट द्वारा प्रस्तुत 'सिंहोपलब्धि' रूप हेतु अनैकान्तिक है अतः हेतु न होकर हेत्वाभास है क्योकि 'जहां–जहां भीरूभ्रमण हो वहां भय के कारण का अभाव हो' इस प्रकार की कोई व्याप्ति नहीं बनती। क्योंकि युद्धादि में राजाज्ञा से सैनिकों को जाना ही पड़ता ह। इसी प्रकार कभी गुरू की आज्ञा से कभी प्रिया के अनुराग से भय के कारण उपस्थित होने पर भी भीरू को जाना पड़ता है। अतः यह अनैकान्तिक हेतु हैं।

इसके अतिरिक्त यहां गोदावरी तीर 'पक्ष' है उसमें सिंहोपलब्धि रूप हेतु का निश्चित रूप से होना आवश्यक है। यदि पण्डित जी न सिंह को देखा होता तो उसे 'पक्षसत्' हेतु कहा जा सकता था। किन्तु पण्डित जी ने उसे नहीं देखा अतः केवल स्त्री के वचन को प्रमाण नहीं माना जा सकता। अतः गोदावरी के तीर पर सिंह की उपलब्धि निश्चित नहीं है 'यो हेतुराश्रये नावगम्यते स स्वरूपासिद्धः' इस प्रकार सिंह की उपलब्धि पक्ष (गोदावरी तट पर) में निश्चित न होने से हेतु स्वरूपासिद्ध है। इस प्रकार 'अनैकान्तिक' एवं 'स्वरूपासिद्ध' हेतु से अनुमान द्वारा भ्रमणनिषेध का ज्ञान नहीं हो सकता।

अतः निषेधपरक अर्थ की प्रतीति व्यंजना से ही माननी उचित है।

7.5 पारिभाषिक शब्दावली

वाच्यता – वाच्यता को सहन करने वाला व्यङ्ग्य (1) अविचित्र एवं (2) विचित्र रूप से दो प्रकार का होता है।

ब्राह्मणश्रमणन्याय – जैसे पहले ब्राह्मण कहलाने वाला व्यक्ति श्रमण धर्म में दीक्षित हो जाने पर भी पूर्वाभ्यास के कारण लोगों के द्वारा ब्राह्मण कह दिया जाता है। उसी प्रकार उपमादि वाच्य–अलङ्कार रूप में पूर्व में प्रयुक्त किये जाते रहे हैं अलङ्कार रूप व्यंग्य में व्यंग्य के प्रधान होने के कारण वह अलङ्कार्य रूप होता है (अलङ्कार नहीं) परन्तु पूर्वाभ्यास के कारण ब्राह्मणश्रमणन्याय से उस प्रकार (अलङ्कार नाम से) कहा जाता है।

अभिधामूला ध्वनि – अभिधामूला ध्वनि के तीन भेद हैं – (1) शब्दशक्त्युत्थ अनुरणन रूप व्यंग्य (2) अर्थशक्त्युत्थ अनुरणन रूप व्यङ्ग्य (3) उभयशक्त्युत्थ अनुरणन रूप व्यंग्य इन तीनों भेदों में व्यंग्य की प्रतीति के लिए व्यंजना आवश्यक है।

अर्थापत्ति – संकेतग्रह में सहायता करने वाला तीसरा प्रमाण अर्थापत्ति ह। 'अनुपपद्यमान' अर्थ को देखकर उसके 'उपपादक' की कल्पना अर्थापत्ति है। यहां वाच्यवाचक संबंध की कल्पना अर्थापत्ति द्वारा होती है।

अन्विताभिधानवाद – में विशिष्टा अर्थात् अन्वित पदार्थ ही वाक्यार्थ है जबकि अभिहितान्वयवाद में अनन्वित पदार्थो का बाद में होने वाला अन्वय (वैशिष्ट्य) ही वाक्य है।

अतिविशेष – का अर्थ है व्यक्तिविशेष (गो आदि से) से अन्वित।

7.6 अभ्यासार्थ प्रश्न

बोध प्रश्न

1. व्यंजना वृत्ति है –

   (अ) शब्द की (ब) अर्थ की

   (स) शब्द अर्थ दोनों की (द) इनमें से कोई नहीं ( )

2. महिमभट्ट ने व्यङ्ग्यार्थ को किसका विषय सिद्ध किया ?

   (अ) अभिधा का (ब) व्यंजना का

(स) अनुमान का (द) उपमान का ( )

3. रस की प्रतीति किसके द्वारा होती है ?

(अ) रस शब्द से (ब) शृङ्गारादि शब्द से

(स) अभिधा से (द) विभावादि के संयोग से ( )

4. तात्पर्यार्थ होता है –

(अ) उपात्त शब्द में (ब) अनुपात्त शब्द में

(स) व्यङ्ग्य में (द) लक्ष्य में ( )

5. 'यत्परः शब्दः स शब्दार्थः' इस तात्पर्यवाचोयुक्ति की व्याख्या कीजिए।

6. मम्मट द्वारा प्रतिपादित लक्ष्यार्थ एवं व्यङ्ग्यार्थ के भेदों का निरूपण कीजिए।

7. अन्विताभिधानवाद में व्यंजना की अपरिहार्यता का मम्मटानुसार प्रतिपादन कीजिए।

8. महिमभट्ट के मत की विवेचना कीजिए।

बोध प्रश्नों के उत्तर

1. स
2. स
3. द
4. अ
5. देखिए इकाई 7.3.4
6. देखिए इकाई 7.4.2
7 देखिए इकाई 7.3.2.2
8 देखिए इकाई 7.4.4

7.7 सारांश

प्रस्तुत इकाई में आपने वाच्यार्थ एवं लक्ष्यार्थ से व्यङ्ग्यार्थ के भेद को विस्तार से युक्तियों सहित जाना। साथ ही व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति हेतु व्यंजना की अनिवार्यता का अध्ययन किया। इसी प्रसंग में अभिहितान्वयवाद एवं अन्विताभिधानवाद में भी व्यंजना की आवश्यकता पर विचार किया गया। वेदान्तियों का अखण्डार्थतावाद एवं महिमभट्ट के अनुमान द्वारा व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति के मत का खण्डन किया गया।

7.8 संदर्भ ग्रंथ सूची

1. काव्यप्रकाशः, आचार्य विश्वेश्वर सिद्धान्त शिरोमणि, ज्ञानमण्डल प्रकाशन, वाराणसी, 1960.

2. काव्यप्रकाशः, डॉ. श्रीनिवास शास्त्री. हिन्दी भवन, इलाहाबाद, 1969.

3. काव्यप्रकाशः, बालबोधिनीसहित, भण्डारकर ओरिएंटल रिसर्च इंस्टीट्यूट, पुणे,1952.

4. संस्कृत–काव्यशास्त्र एवं काव्यपरम्परा, प्रो. राधावल्लभ त्रिपाठी, प्रतिभा प्रकाशन, नई दिल्ली, 2004.

इकाई–8

काव्यप्रकाश – सप्तम उल्लास (पदादिदोष)

इकाई की रूपरेखा

8.0 उद्देश्य
8.1 प्रस्तावना
8.2 दोष–लक्षण
8.3 पद–दोष
  8.3.1 समासगत दोष
  8.3.2 वाक्य एवं पदांश दोष
  8.3.3 पदांश–दोष
8.4 वाक्य–दोष
8.5 पारिभाषिक शब्दावली
8.6 अभ्यासार्थ प्रश्न
8.7 सारांश
8.8 संदर्भ ग्रंथ सूची

8.0 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई पढ़ने के पश्चात् –

- आप यह जान सकेगें कि "तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृती पुनः क्वापि" में प्रयुक्त "अदोषौ" पद से ग्रन्थकार को शब्द और अर्थ की निर्दुष्टता अभीष्ट है। इस पाठ के अध्ययन से आप दोष का लक्षण एवं अर्थ भी जान सकेंगे।
- दोष के विविध भेदों को लक्षण एवं उदाहरण सहित जान सकेंगे।
- पद दोषों एवं वाक्यदोषों का विशेष अध्ययन कर सकेंगे।
- अन्य कुछ दोषों के बारे में जान सकेंगे।

8.1 प्रस्तावना

मम्मट ने "अदोषौ" को काव्य लक्षण में शब्द व अर्थ के विशेषण के रूप में प्रयुक्त किया। अदोषौ का तात्पर्य है दोषरहित। दोष के स्वरूप को जाने बिना दोषरहित शब्दार्थ का प्रयोग असंभव है। मम्मट ने सप्तम उल्लास में दोष प्रकरण का विस्तार किया है, दोष का सामान्य लक्षण देकर विशेष लक्षणों का प्रतिपादन किया है तथा पदगत, समासगत, वाक्यगत, अर्थगत, रसगत दोषों का विस्तृत निरूपण किया है। प्रस्तुत इकाई में आप दोष के सामान्य एवं विशेष लक्षण के साथ पदगत – वाक्यगत दोषों का अध्ययन करेंगे।

8.2 दोष लक्षण

पहले सामान्य लक्षण का निरूपण करके ही विशेष लक्षण का निरूपण किया जाता है इसलिए सर्वप्रथम मम्मट दोष का सामान्य लक्षण करते हैं–

(सू.71) मुख्यार्थहतिर्दोषो रसश्च मुख्यस्तदाश्रयाद् वाच्यः।
उभयोपयोगिनः स्युः शब्दाद्यास्तेन तेष्वपि सः।।49।।

अर्थात् मुख्यार्थ का जिससे अपकर्ष होता है वह दोष है। (यहाँ मुख्यार्थ से तात्पर्य रस से है) और रस मुख्य है। उसका (रस का) आश्रय होने से वाच्यार्थ भी मुख्यार्थ कहा जाता है (अतः रस के साथ चमत्कारी वाच्यार्थ का अपकर्ष करने वाला भी दोष कहलाता है। उन दोनों (रस एवं वाच्यार्थ) के उपकारक होने से शब्दादि में भी दोष रहता है, वह पददोष कहलाता हैं।

इसका अभिप्राय यह है कि रस काव्य का मुख्य अर्थ है उसका जो अपकर्ष करता है उसे दोष कहते है। वाच्यार्थ भी रस पर आश्रित होता है अतः वाच्यार्थ को भी मुख्यार्थ कहते है।

अतः उसके अपकर्षक भी दोष कहलाते हैं। इसी प्रकार वाच्यार्थ एवं रस का बोध करने में सहायक जो शब्दादि होते हैं उनमें भी दोष रहता है, वह पददोषादि कहे जाते हैं।
कारिका में आए हुए "हति" शब्द का तात्पर्य है अपकर्ष, न कि विनाश। शब्दादि में प्रयुक्त आदि शब्द का तात्पर्य है वर्ण व रचना।
दोष के सामान्य लक्षण के पश्चात् आचार्य मम्मट विशेष लक्षण का कथन करते है।

8.3 पद दोष

(सू.72) दुष्टं पदं श्रुतिकटुच्युतसंस्कृत्यप्रयुक्तमसमर्थम्।
निहितार्थमनुचितार्थं निरर्थकमवाचकं त्रिधाऽश्लीलम्।। 50।।
सन्दिग्धमप्रतीतं ग्राम्यं नेयार्थमथ भवत्क्लिष्टम्।
अविमृष्टविधेयांशं विरूद्धमतिकृत्समासगतमेव।। 51 ।।

पद एवं समास के दोष इस प्रकार हैं:–
(1) श्रुतिकटु, (2) च्युतसंस्कृति, (3) अप्रयुक्त, (4) असमर्थ, (5) निहतार्थ, (6) अनुचितार्थ, (7) निरर्थक, (8) अवाचक, (9) तीन प्रकार के अश्लील, (10) सन्दिग्ध, (11) अप्रतीत, (12) ग्राम्य, (13) नेयार्थ (ये दोष पदगत एवं समासगत दोनों प्रकार के होते हैं) (14) क्लिष्ट (15) अविमृष्टविधेयांश और (16) विरूद्धमतिकृत्। (ये तीनों दोष केवल समास में होते हैं)

श्रुतिकटु –
श्रुतिकटुपरुषवर्णरूपदुष्टम्।
इनमें वर्णों का पारुष्य (कठोरता) रूप दोष श्रुतिकटु कहलाता है।
अनङ्गमङ्गलगृहापाङ्गभङ्गितरङ्गितैः।
आलिङ्गितः स तन्वङ्ग्या कार्तार्थ्यं लभते कदा ।।
मदनोत्सव के निवास स्थान स्वरूप कटाक्षों के फेरने से उमङ्गयुक्त उस कृशाङ्गी से आलिङ्गित होकर वह युवा पुरुष कब कृतार्थता (सफलता) को पावेगा?
यहॉ कार्तार्थ्य पद श्रुतिकटु है।

च्युतसंस्कृति –
च्युतसंस्कृति व्याकरण लक्षणहीनं
व्याकरण के संस्कार से हीन च्युत संस्कार रूप दोष कहलाता है।
एतन्मन्दविपक्वतिन्दुकफलश्यामोदरापाण्डुर –
प्रान्तं हन्त पुलिन्दसुन्दरकरस्पर्शक्षमं लक्ष्यते।
तत्पल्लीपतिपुत्रि! कुंजरकुलं कुम्भाभयाभ्यर्थना –
दीनं त्वामनुनाथते कुचयुगं पत्रावृतं मा कृथाः।।
हे क्षुद्र ग्रामाधीश की बेटी! ये जो तुम्हारे दोनों स्तन अधपके तेंदू के फल के समान सुन्दर मध्यभाग विशिष्ट हैं। उनके किनारे के भाग कुछ पीतवर्ण के हैं। वे (स्तन) पुलिन्द (भील) युवक द्वारा मर्दन किये जाने योग्य दिखाई देते हैं। अतः इन्हें पत्ते से ढककर मत रखो क्योंकि हाथियों के समूह अपने गण्डस्थलों के अभय दान के लिए दीन होकर तुम से ऐसी याचना (प्रार्थना) करते हैं। (क्योंकि खुला रहने के कारण स्तनों की ओर आकृष्ट होकर पुलिन्द हाथियों को नहीं मारेगा।)
यहॉ "अनुनाथतें" पर च्युतसंस्कार का उदाहरण है यहॉ याचना अर्थ में आत्मनेपद का प्रयोग किया गया है जबकि व्याकरण के नियम से "आशिषि नाथः" अर्थात् आशीर्वाद अर्थ में ही नाथ धातु का आत्मनेपद में प्रयोग होता है।
कोशादि में पढ़ा गया होने पर भी कवियो द्वारा न अपनाया गया अप्रयुक्त नामक दोष होता है :–

अप्रयुक्तता
अप्रयुक्तं तथा घ्ध्क्नातमपि कविभिर्नादृतम्।
जैसे–
यथाऽयं दारुणाचारः सर्वदैव विभाव्यते।
तथा मन्ये दैवतोऽस्य पिशाचो राक्षसोऽथवा।।

यह पुरुष तो सदा अत्यन्त कठोर आचरण वाला दिखलाई पड़ता है अतः मैं समझता हूँ कि इसका उपास्य देवता भी कोई पिशाच अथवा राक्षस है।
दैवत शब्द का विकल्प से पुल्लिङ्ग में प्रयोग होता है–"दैवतानि पुंसि वा" इस प्रकार अमरकोश में पठित होने पर भी महाकवियों द्वारा इसका पुल्लिङ्ग में प्रयोग नहीं किया गया है। अतः यहाँ अप्रयुक्त दोष है।
जो पद कोशादि में तो उस रूप में पढ़ा गया हो किन्तु उस अर्थ में उसकी शक्ति न हो उसे असमर्थ दोष कहते हैः–
असमर्थता–
असमर्थं यत्तदर्थ पठ्यते न च तत्रास्य शक्तिः।
यथाः–
तीर्थान्तरेषु स्नानेन समुपार्जितसत्कृतिः।
सुरस्रोतस्विनीमेष हन्ति सम्प्रति सादरम्।।
अर्थ – अन्यान्य तीर्थो में स्नान कर पुण्यभागी होकर अब यह तपस्वी गंगा जी को जाता है।
अत्र हन्तीति गमनार्थम्।
यहाँ पर "हन्ति" शब्द का प्रयोग "जाता है" इस तात्पर्य से किया गया है; परन्तु "हन्ति" शब्द में गमन अर्थ के बोध की शक्ति नहीं है।
निहतार्थ–
निहतार्थं यदुभयार्थमप्रसिद्धेऽर्थे प्रयुक्तम्।
निहतार्थ से तात्पर्य उस शब्द से है, जिसके दो अर्थो में से एक प्रसिद्ध हो और दूसरा अप्रसिद्ध उनमें से वह अप्रसिद्ध अर्थ में प्रयुक्त किया गया हो। जैसे
यावकरसार्द्रपादप्रहारशोणितकचेन दयितेन।
मुग्धा साध्वसतरला विलोक्य परिचुम्बिता सहसा।।
अर्थ – महावर से गीले चरण के प्रहार से जिसके बाल कुछ–कुछ लाल रंग के हो गये हैं, ऐसे पति ने नायिका को भय से चंचल और मुग्ध (किंकर्तव्यविमूढ़) देखकर सहसा उसका अनेक बार चुम्बन किया।
यहाँ "शोणित" शब्द रुधिर के रूप में अधिक प्रसिद्ध है अतः अप्रसिद्ध उज्ज्वलत्व अर्थ दब जाता है अतः निहतार्थ दोष है।
अनुचित अर्थ –
तपस्विभिर्या सुचिरेण लभ्यते
प्रयत्नतः सत्रिभिरिष्यते च या।
प्रयान्ति तामाशुगतिं यशस्विनो
रणाश्वमेधे पशुतामुपागताः।।
अर्थ – जिस गति को तपस्वी लोग अधिक समय के परिश्रम द्वारा पाते हैं और दीर्घकाल तक यज्ञों के अनुष्ठान करने वाले बड़े–बड़े यत्नों से जिस गति को प्राप्त करते हैं। उसी गति को युद्ध रूप अश्वमेघ यज्ञ में पशुवत् बलिदान किये गये वीर यशस्वी तुरन्त ही पा जाते हैं।
यहाँ पशु शब्द (मारे जाने वालों की) कातरता का व्यंजक है। अतः वीरता के वर्णन में अनुचितार्थ है।
निरर्थकता
निरर्थकं पादपूरणमात्रप्रयोजनं चादिपदम्।
अर्थात् पादपूरण मात्र के प्रयोजन के लिए प्रयुक्त "च", "आदि" पद निरर्थक होते है। जैसेः–
उत्फुल्लकमलकेसरपरागगौरद्युते मम हि गौरि।
अभिवांछितं प्रसिद्ध्यतु भगवति! युष्मत्प्रसादेन।।
अर्थ – खिले हुए कमल के पराग के समान शुभ्र चमकवाली श्री भगवती पार्वति! मुझे ऐसा आशीष दीजिये कि आपके अनुग्रह से मेरी इष्ट सिद्धि हो।
यहाँ "हि" शब्द पादपूर्ति के लिए है अतः निरर्थक है

अवाचकता –
अवाचक दोष का उदाहरण–
अवन्ध्यकोपस्य विहन्तुरापदां भवन्ति वश्याः स्वयमेव देहिनः।
अमर्षशून्येन जनस्य जन्तुना न जातहार्देन न विद्विषादरः।।
जो सफल क्रोध वाला है समस्त आपदाओं का नाश करने वाला है उसके अधीन मनुष्य स्वयं हो जाते है। क्रोधरहित जन के मित्र होने से कोई उसका आदर नहीं करता एवं न ही वैरी होने से भयभीत होता है।
यहॉ "जन्तु" पद अदाता अर्थ में विवक्षित है पर उसका वाचक न होने से अवाचक दोष है
अश्लीलत्व –
अश्लील दोष तीन प्रकार का होता है –
त्रिधेति व्रीडाजुगुप्सामङ्गलव्यंजकत्वाद् –अर्थात् व्रीडा, जुगुप्सा तथा अमंगल रूप तीन प्रकार का होता है। क्रमशः उदाहरण द्रष्टव्य हैः–
साधनं सुमहद्यस्य यन्नान्यस्य विलोक्यते।
तस्य धीशालिनः कोऽन्यः सहेतारालितां भ्रुवम्।।
अर्थ – जिस राजा की सेना इतनी बड़ी है कि जैसी किसी अन्य के पास देखने में नहीं आती; उस बुद्धिमान राजा की टेढ़ी भौंह (क्रोधयुक्त दृष्टि को) कौन सह सकता है?
यहॉ "साधन" शब्द पुरुष लिङ्ग का भी वाचक हो सकता है अतः व्रीडा का व्यंजक होने से अश्लील है।
लीलातामरसाहतोऽन्यवनितानिश्शङ्कदष्टाधरः
कश्चित्केसरदूषितेक्षण इव व्यामील्य नेत्रे स्थितः।
मुग्धा कुड्मलिताननेन ददती वायुं स्थिता यत्र सा
भ्रान्त्या धूर्त्ततयाथवा नतिमृते तेनानिशं चुम्बिता।।
अर्थ – किसी पुरूष के निचले ओठ को किसी पर स्त्री न निशंक होकर काट लिया जब उसकी नायिका ने खेल ही खेल में उसे कमल से मार दिया तब कुछ कमल की धूलि से भरी ऑख वाला बन नायक ऑखें मूँद कर खड़ा हो गया। मुग्धा नायिका अपना मुख गोल करके उसकी ऑखों में वायु बहाने (फूँकने) लगी। स्त्री को ऐसा करता देखकर उस नायक ने भूल से अथवा धूर्तता से बिना प्रणाम किये ही चिरकाल तक उस स्त्री का मुख चुम्बन किया।
यहॉ वायु शब्द का प्रयोग अपानवायु का भी व्यंजक हो सकता है इसलिए जुगुप्सा व्यंजक अश्लीलत्व है।
मृदुपवनविभिन्नो मत्प्रियाया विनाशात्
घनरुचिरकलापो निःसपत्नोऽद्य जातः।
रतिविगलितबन्धे केशपाशे सुकेश्याः
सति कुसुमसनाथे कं हरेदेष बर्हीं।।
अर्थ – मन्द–मन्द वायु से आन्दोलित, धनी, सुन्दर रूपवाली मोर की पूँछ आज मेरी प्रिया के लुप्त (अदृश्य) हो जाने पर शत्रुहीन हो गई। उस मनोहर केश कलाप वाली प्रिय पत्नी के संमुख भला मयूर किसको विजित कर सकता था।
(यहॉ पर "विनाश" शब्द के मृत्यु अर्थ का बोधक होने से यह अमंगल सूचक अश्लील है।)
सन्दिग्धता –
सन्दिग्ध दोष इस प्रकार है –
आलिङ्गितस्तत्रभवान् सम्पराये जयश्रिया।
आशीः परम्परां वन्द्यां कर्णे कृत्वा कृपां कुरु।।
अर्थ – युद्ध में जयश्री से समालिङ्गित होकर प्रतिष्ठा योग्य आप वन्दनीय आशीर्वाद की श्रेणी को सुनकर (शत्रुओं पर) कृपा कीजिये।
यहॉ "वन्द्यां" पद वन्द्या का द्वितीया विभक्ति एक वचन तथा वन्दी शब्द का सप्तमी एक वचन भी वन्द्यां ही बनेगा। अतः इनमें से कौनसा अर्थ यहॉ किया जाय यह सन्देह होता है।
अप्रतीत–

अप्रतीतं यत्केवले शास्त्रं प्रसिद्धम्। अर्थात् जो केवल शास्त्र प्रसिद्ध है वह अप्रतीत दोष है:—

सम्यग्ज्ञानमहाज्योतिर्दलिताशयताजुषः।
विधीयमानमप्येतन्न भवेत्कर्म बन्धनम्।।

अर्थ — तत्त्वज्ञान रूप महाप्रकाश के कारण जिसकी सब वासनाएँ क्षीण हो गई है, ऐसे भाव वाले मनुष्य से किये गये ये कर्म बन्धन स्वरूप नहीं होते।

यहाँ आशय शब्द वासना अर्थ में योगशास्त्र में ही प्रसिद्ध है अतः अप्रतीत है।

ग्राम्यता —

ग्राम्यं यत्केवले लोके स्थितम् — जो केवल लोक में प्रचलित हो वह ग्राम्य दोष है —

राकाविभावरीकान्तसंक्रान्तद्युति ते मुखम्।
तपनीयशिलाशोभा कटिश्च हरते मनः।।

पूर्णिमा के चन्द्र की कान्ति से युक्त तुम्हारा मुख एवं सुवर्णशिला के समान सुशोभित कटि हमारे मन को मुग्ध कर रही है।

यहाँ कटि शब्द ग्राम्य है

नेयार्थता—

निरुढा लक्षणाः काश्चित् सामर्थ्यादभिधानवत्।
क्रियन्ते साम्पतं काश्चित् काश्चिन्नैव त्वशक्तितः।।

कुछ रूढ लक्षणाएँ होती हैं जो वाचक शब्द के समान अर्थ का बोध करवाती है। कुछ लक्षणाएँ प्रयोजनवश की जाती है। इन दोनों के अभाव में लक्षणा नहीं प्रयुक्त की जानी चाहिए। यह निषिद्धा लक्षणा वाला पद नेयार्थदोष से युक्त हो जाता है।

8.3.1 समासगत दोष

सूत्र 72 मे क्लिष्टत्व, अविमृष्टविधेयांश एवं विरुद्धमतिकृत् इन तीन दोषों को समासगत ही कहा गया था यहाँ समासगत इन दोषों के उदाहरण द्रष्टव्य है —

क्लिष्टत्व —

क्लिष्टं यतोऽर्थप्रतिपत्तिर्व्यवहिता।

क्लिष्ट उस पद को कहते हैं जिसकी अर्थप्रतीति में बाधा होने के कारण कष्ट हो तथा जो विलम्ब से ध्यान में आए।

अत्रिलोचनसम्भूतज्योतिरुद्गमभासिभिः।
सदृशं शोभतेऽत्यर्थं भूपाल! तव चेष्टितम्।।

अर्थ — हे राजन्! आपका चरित्र महर्षि अत्रि के नेत्रों से उत्पन्न (चन्द्रमा) की ज्योति (चाँदनी) के उदय से खिलनेवाली (कुमुदिनी) के पुष्पों के समान बहुत अधिक शोभित हो रहा है।

यहाँ अर्थ प्रतीति क्लिष्टता से हो रही है।

अविमृष्टविधेयांश —

अविमृष्टः प्राधान्येनानिर्दिष्टो विधेयांशो यत्र तत्। यथा

अविमृष्टविधेयांश उस पद को कहते हैं जिसमें विधेय रूप अंश प्रधानतया अनुक्त ही रह कर छूट जाय (अर्थात् जहाँ पर विधेय समास के अन्तर्गत होकर छिप जाय या अप्रधान बन जाय)

मूर्ध्नामुद्वृत्तकृत्ताविरलगलद्रक्तसंसक्तधारा —
धौतेशाङ्घ्रिप्रसादोपनतजयजगज्जातमिथ्यामहिम्नाम्।
कैलासोल्लासनेच्छाव्यतिकरपिशुनोत्सर्पिदर्पोद्धुराणां
दोष्णां चैषां किमेतत्फलमिह नगरीरक्षणे यत्प्रयासः।।

अर्थ — (रावण कहता है—) अरे! औद्धत्यपूर्वक काटे गये कण्ठों से निरन्तर बहती हुई रक्त धाराओं के द्वारा श्री महादेव जी के चरणों का क्षालन कर उनके अनुग्रह से समस्त संसार को विजय कर जिन (मेरी भुजाओं) ने झूठी महिमा प्राप्त की है और कैलास पर्वत के उठाने के आवेग सूचक कठार गर्व के कारण जो अत्यन्त बलिष्ठ है; उन मेरी भुजाओं का क्या फल? जो इस लंकापुरी की रक्षा करने में मुझे श्रम करना ही पड़ा।

यहाँ मिथ्या महिमा शालित्व उद्देश्य न होकर विधेय है किन्तु उसे समास में डालने से अविमृष्ट विधेयांश दोष हो गया।

विरूद्धमतिकृत् –

सुधाकरकराकारविशारदविचेष्टितः।
अकार्यमित्रमेकोऽसौ तस्य किं वर्णयामहे।।

अर्थ – चन्द्रमा की किरणों के समान निर्मल चेष्टा करने वाला यह जन तुम्हारा अकारण मित्र है। हम उसका क्या वर्णन करें?

यहाँ अकार्यमित्र का अर्थ निःस्वार्थ है किन्तु बुरा कार्य अर्थ भी देता है अतः विरूद्धमतिकारी होने से दूषित है।

8.3.2 वाक्य एवं पदांश दोष –

वाक्य एवं पदांश दोषों का निरुपण किया जा रहा हैः–

(सू.73) अपास्य च्युतसंस्कारमसमर्थं निरर्थकम्।
वाक्येऽपि दोषाः सन्त्येते पदस्यांशेऽपि केचन।।52।।

अर्थ – ऊपर जिन श्रुतिकटु आदि सोलह दोषों का उल्लेख कर आये हैं। उनमें से च्युतसंस्कार, असमर्थ और निरर्थक को छोड़कर शेष तेरह दोष वाक्यों में भी पाये जाते है, और इन सोलहों में से सब नहीं कई एक पद के भाग में भी पाये जाते हैं।

वाक्यगत श्रुतिकटु

सोऽध्यैष्ट वेदांस्त्रिदशानयष्ट पितॄनताप्सीत्सममंस्त बन्धून्।
व्यजेष्ट षड्वर्गमरंस्त नीतौ समूलघातं न्यवधीदरींश्च।।

अर्थ – उस (राजा दशरथ) ने वेदों का अध्ययन किया, यज्ञों द्वारा देवताओं की पूजा की, पितरों को श्राद्ध तर्पण आदि से परितुष्ट किया, बन्धुजनों का दान सम्मान किया; काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर आदि भीतरी शत्रुओं को विजित किया; नीति शास्त्र के पाठ में मन लगाया और वाह्य शत्रुओं को भी जड़ से उखाड़ फेंका। इस श्लोक में अनेक श्रुतिकटु पद है।

वाक्यगत निहतार्थ–

सायकसहायबाहोर्मकरध्वजनियमितक्षमाधिपतेः।
अब्जरुचिभास्वरस्ते भातितरामवनिप श्लोकः।।

अर्थ – हे राजन्! आपकी भुजा का सहायक खड्ग है, आप समुद्र वेष्टित पृथ्वी के अधिकारी हैं। आपकी कीर्ति भी चन्द्रमा की ज्योति के समान अत्यन्त सुशोभित हो रही है।

यहाँ लोक में बाणादि अर्थो में प्रसिद्ध सायकादि का खड्गादि में प्रयोग होनेसे निहतार्थ दोष है।

प्राभ्रभ्राड्विष्णुधामाप्य विषमाश्वः करोत्ययम्।
निद्रां सहस्रपर्णानां पलायनपरायणाम्।।

अर्थ – यह विषम संख्यक (सात) घोड़ोंवाला सूर्य उत्तम मेघों से युक्त विष्णु धाम (आकाश) में पहुँचकर सहस्र पत्तोंवाले (कमलों) को निद्रा भगाने में तत्पर कर देता है। (अर्थात् सूर्य आकाश में जाकर कमलों को विकसित करता है)

यहाँ प्राभ्रभाड्, विष्णुधाम, विषमाश्व, निद्रा व पर्ण शब्द क्रमशः प्रकृष्टमेघ, आकाश, सप्ताश्व, संकोच एवं दल अर्थो के अवाचक है अतः वाक्यगत अवाचकत्व दोष है।

वाक्यगत सन्दिग्धत्व –

सुरालयोल्लासपरः प्राप्तपर्याप्तकम्पनः।
मार्गणप्रवणो भास्वद्भूतिरेष विलोक्यताम्।।

अर्थ – (1) देवताओं के घर में आनन्द करने वाले, पर्याप्त सेना विशिष्ट, बाण प्रहार में निपुण, सुन्दर सम्पत्तिवाले इस राजा को देखिये।

(2) मदिरालय (कलवरिया) में प्रसन्न रहने वाले, भलीभाँति काँपते हुए, मांगने अथवा याचना में तत्पर, शरीर में विभूति (राख) रमाये हुए इस भिखमंगे को देखिये।

यहाँ सुरादि (सुरसुरा, कम्पना–कम्पन, मार्गण, भूति) शब्द देव, सेना, बाण एवं विभूति के वाचक है अथवा मदिरा, कम्पनादि के वाचक है यह सन्देह उत्पन्न होने से सन्दिग्ध वाक्य दोष है।

वाक्यगतग्राम्यता

ताम्बूलभृतगल्लोऽयं भल्लं जल्पति मानुषः।
करोति खादनं पानं सदैव तु यथा तथा।।

अर्थ – यह मनुष्य खान–पान तो जैसे–तैसे करता ही है; परन्तु मुख में पानभर कर और गाल फुलाकर भलीभाँति बोलता रहता है।

यहाँ गल्ला, भल्ल, खादन आदि ग्राम्य शब्द हैं।

वाक्यगत अविमष्टविधेयांश–

न्यक्कारो ह्ययमेव मे यदरयस्तत्राप्यसौ तापसः
सोऽप्यत्रैव निहन्ति राक्षसकुलं जीवत्यहो रावणः।
धिक्धिक् शक्रजितं प्रबोधितवता किं कुम्भकर्णेन वा
स्वर्गग्रामटिकाविलुण्ठनवृथोच्छूनैः किमेभिर्भुजैः।।

अर्थ – (रावण कहता है) मुझे तो इसी बात पर धिक्कार है कि मेरे शत्रु हैं, सो भी तपस्वी, वह भी यहीं (मेरी नगरी में) आकर राक्षसकुल का संहार कर रहा है फिर भी रावण जीता ही है। इन्द्र को विजय करने वाले मेघनाद को धिक्कार है, अथवा नींद से जगाये कुम्भकर्ण ही से क्या? स्वर्गरूपी छोटे–से गाँव को लूट लेने वाली व्यर्थ ही पुष्ट इन मेरी भुजाओं ही से कौन–सा लाभ हुआ?

यहाँ वृथात्व विधेय है तथा समास में डालकर उसका अविमर्श किया गया अतः अविमृष्टविधेयांश दोष है इसी प्रकार "अयम्" उद्देश्य पद है "न्यक्कारो" विधेय। विधेय से पूर्व उद्देश्य का कथन होना चाहिए किन्तु यहाँ उद्देश्य को विधेय के पश्चात् रखने से उद्देश्याविमर्श दोष है।

यत् एवं तत् शब्द का अपप्रयोग भी अविमृष्टविधेयांश दोष का कारण है –

अपाङ्गसंसर्गितरङ्गितं दृशोर्भ्रुवोररालान्तविलासि वेल्लितम्।
विसारि रोमाञ्चनकञ्चुकं तनोस्तनोति योऽसौ सुभगे तवागतः।।

हे सुन्दरि, जो (तुम्हारी) आँखों की चञ्चल चितवन को नेत्रों के किनारे पहुँचा कर कटाक्ष, भौहों को कुटिल होने पर भावपूर्ण नर्तन तथा समस्त शरीर में फैले हुए रोमाञ्च को कञ्चुक बना देते हैं वे तेरे प्रियतम आ गए।

यहाँ "यः" व "असौ" दोनों पद उद्देश्यमात्र की प्रतीति करा रह हैं विधेय की प्रतीति कराने वाला पद न होने से अविमृष्ट विधेयांशदोष हुआ।

यद्यपि प्रकान्त (प्रकरण से प्राप्त), प्रसिद्ध एवं अनुभूत अर्थ विषयक "तत्" पद "यत्" पद की अपेक्षा नहीं रखता जैसे :–

द्वयं गतं सम्प्रति शोचनीयतां समागमप्रार्थनया कपालिनः।।
कला च सा कान्तिमती कलावतस्त्वमस्य लोकस्य च नेत्रकौमुदी।।

अर्थ – (बटु वेषधारी शिवजी पार्वतीजी से कहते हैं –) कपाल–मालाधारी महादेव जी के समागम की इच्छा से इस समय दो वस्तुएँ शोचनीय दशा को प्राप्त हो गई हैं। एक तो चमकीले चन्द्रमा की वह मनोहर कला और दूसरी लोगों की आँखों के लिये चाँदनी के समान सुखदायिनी तुम (पार्वती)।

(यहाँ चन्द्रमा की "सा कला" (वह कला) प्रसिद्ध अर्थ की द्योतक है, अतएव "सा" शब्द "यत्" शब्द की अपेक्षा नहीं रखता।)

8.3.3 पदांशदोष –

पदगत एवं वाक्यगत दोषों के उदाहरण देने के बाद सूत्र 73 में "पदस्यांशेघपि केचन" कहा उनमें से जो कोई दोष पद के "अंश" में हो सकते हैं कतिपय उदाहरण प्रस्तुत है।

श्रुतिकटु –

तद् गच्छ सिद्ध्यै कुरु देवकार्यमर्थोऽयमर्थान्तरलभ्य एव।
अपेक्षते प्रत्ययमङ्गलब्ध्यै बीजाङ्कुरः प्रागुदयादिवाम्भः।।

"इसलिए तुम जाओ, तुमको अपने कार्य में सफलता प्राप्त हो एवं देवताओं का कार्य करो। यह शिव के पुत्र की प्राप्तिरूप कार्य (शिव–पार्वती के विवाहरूप) दूसरे कार्य होने पर ही हो सकता है। इसलिए हे कामदेव, जैसे बीज से उत्पन्न होने वाला अंकुर निकलने से पहले जल की अपेक्षा रखता है, उसी प्रकार (शिव के पुत्र प्राप्ति रूप) यह कार्य भी अपनी सिद्धि के कारण (शिव–पार्वती के विवाह) अपेक्षा करता है इसलिए तुम शिव का पार्वती से विवाह कराने का प्रयत्न करो।

यहॉं (सिद्ध्यै का) द्ध्यै (लब्ध्यै का) ब्ध्यै दोनों पदांश श्रुतिकटु है।

पदांशगत निरर्थकता –

आदावञ्जनपुञ्जलिप्तवपुषां श्वासानिलोल्लासित –
प्रात्सर्पद्विरहानलेन च ततः सन्तापितानां दृशाम्।
सम्प्रत्येव निषेकमश्रुपयसा देवस्य चेतोभुवो
भल्लीनामिव पानकर्म कुरुते कामं कुरङ्गेक्षणा।

अर्थ – यह मृगनयनी स्त्री कामदेव के भाले के समान अपनी ऑखों का पान कर्म (तीक्ष्ण या पैनी बनाने की क्रिया) सम्प्रति इस रीति से करती है कि पहले उन ऑखों में अंजन के ढेर का लेप करती है फिर उसे अपने शोकोच्छ्वासरूप वायु से फूॅकती है, तदनन्तर प्रसार पाते हुए विरहानल से उन्हें तपाती है और अब अश्रुधारा रूप जल प्रवाह से भली भॉति उसका सिंचन करती है।

यहां "दृशां" में बहुवचन निरर्थक हैं क्याकि एक कुरङ्गेक्षणा का ग्रहण होने से बहुवचन निरर्थक है।

यहॉं पद वाक्य के एक पद के बहुवचन निरर्थक होने से पदांश दोष है। इसी प्रकार अन्य पदांश दोष जानने चाहिए। अब आगे वाक्य दोषों का निरूपण किया जायेगा।

पदांशगत अश्लीलता –

अतिपेलवमतिपरिमितवर्णं लघुतरमुदाहरति शठः।
परमार्थतः स हृदयं वहति पुनः कालकूटघटितमिव।।

दुष्ट पुरुष अत्यन्त कोमल, "संक्षिप्त" और बहुत धीरे–धीरे बोलता है परन्तु वस्तुतः उसका हृदय कालकूट विषसे भरा हुआ होता है।

यहॉं (पेलव शब्द का एकदेश) पेल (लाट देश की भाषा में वृषण का वाचक होने से) व्रीडाव्यंजक अश्लीलता का उदाहरण है।

पदांशगत सन्दिग्धत्व –

कस्मिन् कर्मणि सामर्थ्यमस्य नोत्तपतेतराम्।
अयं साधुचरस्तस्मादञ्जलिर्बध्यतामिह।।

ऐसा कौनसा कार्य है जिसमें इस पुरुष का सामर्थ्य खूब न चलता हो। यह सज्जनों या साधुओं के साथ रहने वाला (महापुरुष) है, इसलिए इसको नमस्कार करना चाहिए।

यहॉं साधु शब्द से "भूतपूर्व चरट्" इस सूत्र से चरट् प्रत्यय करके पूर्वभूतः साधुः साधुचरः इस व्युत्पत्ति से पहले साधु था यह अर्थ है अथवा साधुषु चरतीति साधुचरः इस व्युत्पत्ति से साधुओं में रहता है, यह अर्थ है, यह सन्देह होता है। अतः पदांशगत सन्दिग्धत्व दोष का उदाहरण है।

8.4 वाक्यदोष

(सू.74) प्रतिकूलवर्णमुपहतलुप्तविसर्गं विसन्धि हतवृत्तम्।
न्यूनाधिककथितपदं पतत्प्रकर्षं समाप्तपुनरात्तम्।।53।।
अर्थान्तरैकवाचकमभवन्मतयोगमनभिहितवाच्यम्।
अपदस्थपदसमासं सङ्कीर्णं गर्भितं प्रसिद्धहतम्।।54।।
भग्नप्रक्रममक्रमममतपरार्थं च वाक्यमेव तथा।

वाक्य में निम्नलिखित दोष होते हैं –

(1) प्रतिकूलवर्णता, (2) उपहतविसर्गता, (3) विसन्धि, (4) हतवृत्तता, (5) न्यूनपदता, (6) अधिकपदता, (7) कथितपदता, (8) पतत्प्रकर्षता(53) (10) अर्थान्तरैकवाचकता, (11) अभवन्मतसम्बन्ध, (12) अमतयोग (13) अनभिहितवाच्यता (14) अस्थानपदता (15)

अस्थानसमासता (16) संकीर्णता, (17) गर्भिततता, (18) प्रसिद्धिविरोध, (19) भग्नप्रक्रमता (20) अक्रमता (21) अमतरार्थता

प्रतिकूलवर्णनम्– रस के प्रतिकूल वर्णो का प्रयोग प्रतिक्ल वर्णन है

जैसे– अकुण्ठोत्कण्ठया पूर्णमाकण्ठं कलकण्ठि माम्।
कम्बुकण्ठ्याः क्षणं कण्ठे कुरु कण्ठार्तिमुद्धर ।।

हे कलकण्ठि! प्रबल उत्कण्ठा के कण्ठ तक भरे हुए मुझे थोड़ी देर के लिए शंख के समान गर्दनवाली के कण्ठालिङ्गन (का अवसर दो) इस प्रकार मेरे प्राणों को बचाओ।

यहाँ शृंगार रस के वर्णन में टवर्ग, णत्व से युक्त संयुक्त वर्णो का प्रयोग रस प्रतिकूल है।

उपहतविसर्गता –

उपहत उत्वं प्राप्तो (3) लुप्तो वा विसर्गो यत्र तत्। यथा –

"उ" के रूप में परिणत अथवा जहाँ पर विसर्ग लुप्त हो गया हो उसे उपहत अथवा लुप्तविसर्ग कहते हैं।

(दोनों प्रकार के दोषों का उदाहरण एक ही श्लोक में दिया जाता है।)

धीरो विनीतो निपुणो वराकारो नृपोऽत्र सः।
यस्य भृत्या बलोत्सिक्ता भक्ता बुद्धिप्रभाविताः।।

अर्थ – इस संसार में वही राजा पण्डित, सुशिक्षित, चतुर और सुन्दर है जिसके सेवक बल के दर्प तथा बुद्धि क प्रभाव से सामर्थ्यशाली हो।

विसन्धि

विसन्धि सन्धेर्वैरूप्यम् विश्लेषोडश्लीलत्वं कष्टत्वं च।

विसन्धि उस दोष को कहते है। जहाँ सन्धि में वैरूप्य (भद्दा रूप) अर्थात् असन्धि, अश्लीलता और उच्चारण का कष्ट हो। (प्रथम सन्धि के वैरूप्य का उदाहरण –)

राजन् विभान्ति भवतश्चरितानि तानि
इन्दोर्द्युतिं दधति यानि रसातलेऽन्तः।
धीदोर्बले अतितते उचितानुवृत्ती
आतन्वती विजयसम्पदमेत्य भातः।।

अर्थ – हे राजन्! आप के वे चरित्र शोभित होते हैं, जो पाताल में भी पहुँच कर चन्द्रमा की चमक

धारण करते हैं और आप की बुद्धि तथा बाहुबल भी अति विस्तृत है, वे विजय सम्पत्ति को प्राप्त करके यथोचित रीति से कार्य में प्रवृत्त होने के कारण भले लगते हैं।

यहाँ "तानि" व "इन्दो" में "अकः सवर्णे दीर्घः" में दीर्घ सन्धि प्राप्त थी किन्तु कवि ने सन्धि नहीं की।

तत उदित उदारहारहारिद्युतिरुच्चैरुदयाचलादिवेन्दुः।
निजवंश उदात्तकान्तकान्तिर्वत मुक्तामणिवच्चकास्त्यनर्घः।।

अर्थ – अत्यन्त मनोहर शोभायुक्त, स्वकुल में मुक्तामणि के समान बहुमूल्य अर्थात् श्रेष्ठ, यह राजा ऊँचे उदयाचल से उदय होकर जैसे चन्द्रमा प्रकाशित होता है वैसे ही बड़े हार के पहिनने से रमणीय कान्तिवाला स्ववंश में सम्भूत उद्दीप्त हो रहा है।

यहाँ "तत उदित", "उदित" "उदार", "निजवंश उदात्त" आदि में तीन बार सन्धि विश्लेष है अतः यह दोष है।

इसी प्रकार अन्य दोष ज्ञातव्य है :–

हतवृत्तम् – हत अर्थात् लक्षण का अनुसरण करने पर भी जो सुनने में अच्छा न लगे अथवा इसके अनुरूप जिसका छन्द नहीं है अथवा अन्त लघु जहाँ गुरुभाव को प्राप्त नहीं हुआ।

हा नृप! हा बुध! हा कविबन्धो! विप्रसहस्रसमाश्रय! देव!
मुग्ध! विदग्ध! समान्तररत्न! क्वासि गतः क्व वयं च तवैते।।

हे राजन्! हे विद्वान्! हे कवियों के बन्धु! हे सहस्रों ब्राह्मणों के आश्रय देव! हे सुन्दर! हे विद्वान्! हे विद्वानों की सभा के मध्य रत्न! आप कहाँ गए व आपके आश्रित हम कहाँ रह गए।

प्रस्तुत श्लोक में कवि ने दोधक छन्द का प्रयोग किया है यह छन्द करुण का नहीं अपितु हास्य का व्यंजक है जबकि यहॉ करुण रस है। अतः रस के अनुरूप न होने से हतवृत्तता है।

न्यूनपद दोष, अधिकपद दोष, कथित पद दोष, पतत्प्रकर्ष (जहॉ पूर्व चरण में की गयी रचना उत्तर चरणों में सुरक्षित नहीं रहती) तथा समाप्तपुनरात्तत्व (अर्थात् समाप्त हुई विशेषणपरम्परा में अन्त में एक और विशेषण का प्रतिपादन) इत्यादि दोष सरल है। इनके उदाहरण सन्दर्भग्रन्थों में द्रष्टव्य है। यहॉ अभीष्ट नहीं है।

अधुना अर्धान्तरैकपदता

द्वितीयार्द्धगतैकवाचकशेषप्रथमार्द्धं यथा –

अर्द्धान्तरैकवाचक (अर्थात् श्लोक का पूर्वार्द्धगत वाक्य उत्तरार्द्धगत एक पद के द्वारा जहॉ पूरा किया गया हो) दोष का उदाहरण –

मसृणचरणपातं गम्यतां भूः सदर्भा
विरचय सिचयान्तं मूर्ध्नि घर्मः कठोरः।
तदिति जनकपुत्री लोचनैरश्रुपूर्णैः
पथि पथिकवधूभिर्वीक्षिता शिक्षिता च।।

अर्थ – वनगमन के समय ऑखों में ऑसू भरकर पथिक स्त्रियों ने जनकपुत्री सीता को जो देखा तो यह उपदेश दिया कि पृथ्वीतल पर कुश भरे हुए हैं वहॉ भूमि पर धीरे–धीरे पैर रखकर चलना तथा घर्म भी कठोर है अतः वस्त्रप्रान्त (साड़ी के अंचल) को शिर के ऊपर खींच लो।

यहॉ तृतीय चरण में आया तत् पद का पूर्वाद्ध में प्रयोग होना चाहिए था किन्तु इस एक पद का उत्तरार्द्ध में प्रयोग होने से यहॉ अर्थान्तरैकपदता दोष ह।

अभवन्मत

अभवन्मतः (इष्टः) योगः (सम्बन्धः) यत्र तत्। यथा –

अभवन्मतसंयोग (इष्टार्थ का सम्बन्ध जहॉ पर न हो) वाले वाक्य का उदाहरण –

येषां तास्त्रिदशेभदानसरितः पीताः प्रतापोष्मभि–
र्लीलापानभवश्च नन्दनवनच्छायासु यैः कल्पिताः।
येषां हुंकृतयः कृतामरपतिक्षोभाः क्षपाचारिणां
किं तैस्त्वत्परितोषकारि विहितं किंचित्प्रवादोचितम्।।

अर्थ – (हनुमान द्वारा लंका जला दिये जाने के बाद वीर राक्षसों की निन्दा करते हुए कोई कह रहा है) हे रावण! जिन राक्षसों ने अपने प्रताप की उष्णता से देवताओं के हाथी ऐरावत की मद जल धारा रूप नदी को सोख लिया, जिन्होंने नन्दन वन के वृक्षों की छाया में लीलापान भूमि (कलवरिया) बना डाली, जिनकी हुकांर से देवताओं के राजा इन्द्र भी सहम गये थे, उन राक्षसों ने इस समय आपके लिये ऐसा कौन–सा संतोषजनक कार्य किया जिसका सभा में उल्लेख किया जा सके ?

यहॉ (अपधान विशेषण रूप) गौण पदों के परार्थ (प्रधान) के लिए प्रयुक्त होने के कारण तथा परस्पर समानरूप होने से (दो गौण पदों का परस्पर) सम्बन्ध नहीं होता। अतः अभिमत विशेषण विशेष्य के संबंध न होने से अभवन्मत सम्बन्ध दोष बनता है।

वाच्यस्यानभिधान दोष –

अवश्यवक्तव्यमनुक्तं यत्र। यथा –

अनभिहित वाच्य उस दोष को कहते हैं जहॉ पर कोई अवश्य कहने योग्य विषय कहने से छूट जाय। उदाहरण –

अप्राकृतस्य चरितातिशयैश्च दृष्टैरत्यद्भुतैरपहृतस्य तथापि नास्था।
कोऽप्येष वीरशिशुकाकृतिरप्रमेयसौन्दर्यसारसमुदायमयः पदार्थः।।

अर्थ – (मिथिलापुरी में शिवधनुष के भंग हो जाने पर श्रीरामचन्द्रजी को देख परशुराम जी अपने मन में कहते हैं –) इस असाधारण जन के अलौकिक उत्तम चरित्रों को देखकर

यद्यपि मैं मोहित हो गया हूँ; तथापि मैं उसका आदर नहीं करता। यह तो वीर बालक का वेश धारण किये अनुपम सुन्दरता के सारभागों का समूह रूप में कोई अद्‌भुत पदार्थ है।

यहॉ भी "तथापि" पद के द्वितीय चरण में प्रयुक्त होने से प्रथम चरण को अलग करने के लिए "अपहृतोऽस्मि" का अर्थ प्रयुक्त न होने से अपहृतत्व के विधि रूप वाच्य के अनभिधान का दोष उत्पन्न हुआ।

अस्थानस्थपदम् –

अस्थानस्थपदं यथा

अस्थानस्थ पद (जिसमें कोई एक पद अपने उचित स्थान पर न हो) दोष का उदाहरण –

प्रियेण संग्रथ्य विपक्षसन्निधावुपाहितां वक्षसि पीवरस्तने।
स्रजं न काचिद्विजहौ जलाविलां वसन्ति हि प्रेम्णि गुणा न वस्तुषु।।

अर्थ – किसी नायिका ने अपनी सपत्नी के निकट ही पति द्वारा भली भॉति गूंथकर विशाल स्तनोंवाले वक्षस्थल पर पहिनाई गई माला को जल में डूबकर मुरझाने पर भी नहीं छोड़ा; क्योंकि गुण प्रेम में निवास करते हैं न कि वस्तु में।

यहॉ काचित् के पश्चात् न का प्रयोग होना चाहिए था किन्तु पूर्व में "न" प्रयोग होने से अस्थानस्थ दोष है।

सङ्कीर्ण –

संकीर्णम् यत्र वाक्यान्तरस्य पदानि वाक्यान्तरमनुप्रविशन्ति। यथा –

संकीर्ण उस दोष को कहते हैं जहॉ पर एक वाक्यांश के पद दूसरे वाक्यांश में सम्मिलित हो गये हों। जैसे :–

किमिति न पश्यसि कोपं पादगतं बहुगुणं गृहाणेमम्।
ननु मुञ्च हृदयनाथं कण्ठे मनसस्तमोरूपम्।।

अर्थ – (किसी मानिनी से उसकी सखी कह रही है) चरणतल पर पड़े हुए अत्यन्त गुणी अपने प्राणनाथ को तुम क्यों नहीं देखती हो? इन्हें अपने गले से लगाओ और मन में मोह उपजानेवाले क्रोध का परित्याग करो।

यहॉ पश्यसि का कर्म हृदयनाथ है जहो तीसरे चरण में चला गया तथा कोपं का सम्बन्ध "मुंच" से है वह पहले चरण में चला गया, इसी प्रकार "कण्ठे" द्वितीय के स्थान पर चतुर्थ चरण में आ गया। गर्भितता दोष में भी एक वाक्य में दूसरा वाक्य प्रविष्ट हो जाता है। प्रसिद्ध विशेषणों एवं विशेष्यों की प्रसिद्धि का उल्लंघन प्रसिद्धिविरुद्धता है। सरल होने से इनके उदाहरण स्वतः ही द्रष्टव्य है।

भग्नप्रक्रमता–

भग्नः प्रक्रमः प्रस्तावो यत्र। यथा

भग्न प्रक्रम उस दोष को कहते हैं जहॉ पर वर्ण्य विषय का क्रम टूट जाय। (यह दोष, प्रकृति, प्रत्यय, सर्वनाम, पर्याय, उपसर्ग, वचन, कारक तथा क्रम आदि कतिपय कारणों से हो सकता है)।

यशोऽधिगन्तुं सुखलिप्सया वा मनुष्यसङ्ख्यामतिवर्त्तितुं वा।
निरुत्सुकानामभियोगभाजां समुत्सुकेवाङ्कमुपैति सिद्धिः।।

अर्थ – यशः प्राप्ति अथवा सुखोपभोग की इच्छा से, अथवा साधारण जनों से न पाने योग्य किसी अच्छे पद की वाच्छा के लिये अनुत्कण्ठित होकर भी जो लोग प्रयत्नशील रहते है उनके अंग में उत्कण्ठा से भरी हुई सी लक्ष्मी स्वयं जा पहुॅचती हैं।

यहॉ प्रत्यय की भग्नक्रमता है सुखलिप्सया के स्थान पर सुखमीहितुं प्रयोग अभीष्ट है।

ते हिमालयमामन्त्र्य पुनः प्रेक्ष्य च शूलिनम्।
सिद्धं चास्मै निवेद्यार्थं तद्विसृष्टाः खमुद्ययुः।।

अर्थ – वे (मरीचि आदि) सातों ऋषिगण हिमालय से विदा मांग फिर से शिव का दर्शन कर और उनको कार्यसिद्धि की सूचना देकर आकाश को चले गये।

यहॉ तद्विसृष्टाः में तत् सर्वनाम के स्थान पर "अनेन" पद होना चाहिए था अतः भग्नप्रक्रमः दोष है अन्य उदाहरण प्रबन्धों में द्रष्टव्य है।

गाहन्तां महिषा निपानसलिलं शृङ्गैर्मुहुस्ताडितं
छायाबद्धकदम्बकं मृगकुलं रोमन्थमभ्यस्यताम्।
विश्रब्धैः क्रियतां वराहपतिभिर्मुस्ताक्षतिः पल्वले
विश्रान्तिं लभतामिदं च शिथिलज्याबन्धमस्मद्धनुः।।

अर्थ – (कण्वाश्रम में शकुन्तला के दर्शन से मृगया से विरक्त होकर राजा दुष्यन्त अपने सेनापति से कह रहे हैः–) जंगली भैसों को कूप के निकट वाले ताल के जल को सीगों से बार–बार पीट कर उसमें मनमाना लोटने दो। वृक्ष की छाया में घेरा बॉधकर बैठे हुए मृगों के समूह भली भॉति जुगालो (पागुर) करें। बड़े–बड़े वराह भी तलैयों में निःशंक होकर मुस्ताक्षतिः क्रिया करें और हम लोगों का यह ढीली डोर वाला धनुष भी विश्राम ले।

अक्रमता –

अविद्यमानः क्रमो यत्र। यथा

अक्रम उस दोष को कहते हैं, जहॉ पर क्रम ही न विद्यमान हो, अर्थात् जहॉ जिस शब्द के अनन्तर जिस शब्द का रखना उचित हो वहॉ वह न रखा जाय।

द्वयं गतं सम्प्रति शोचनीयतां समागमप्रार्थनया कपालिनः।
कला च सा कान्तिमती कलावतस्त्वमस्य लोकस्य च नेत्रकौमुदी।।

अर्थ – (बटु वेषधारी शिव जी पार्वती जी से कहते हैं–) कपाल–मालाधारी महादेव जी के समागम की इच्छा से इस समय दो वस्तुऍ शोचनीय दशा को प्राप्त हो गई है। एक तो चमकीले चन्द्रमा की वह मनोहर कला और दूसरी लोगों की ऑखों के लिये चॉदनी के समान सुखदायिनी तुम (पार्वती)।

यहॉ "त्वं" के पश्चात् "च" का प्रयोग होना चाहिए था।

मुख्यार्थ का जिससे अपकर्ष होता है वह दोष है। (यहाँ मुख्यार्थ से तात्पर्य रस से है) और रस मुख्य है। उसका (रस का) आश्रय होने से वाच्यार्थ भी मुख्यार्थ कहा जाता है (अतः रस के साथ चमत्कारी वाच्यार्थ का अपकर्ष करने वाला भी दोष कहलाता है।

"हति" शब्द का तात्पर्य है अपकर्ष, न कि विनाश।

8.5 पारिभाषिक शब्दावली

मम्मट ने "अदोषौ" – को काव्य लक्षण में शब्द व अर्थ के विशेषण के रूप में प्रयुक्त किया। अदोषौ का तात्पर्य है दोषरहित।

दोष – मुख्यार्थ का जिससे अपकर्ष होता है वह दोष है। (यहाँ मुख्यार्थ से तात्पर्य रस से है) और रस मुख्य है। उसका (रस का) आश्रय होने से वाच्यार्थ भी मुख्यार्थ कहा जाता है (अतः रस के साथ चमत्कारी वाच्यार्थ का अपकर्ष करने वाला भी दोष कहलाता है।

"हति" – शब्द का तात्पर्य है अपकर्ष, न कि विनाश।

श्रुतिकटुपरुषवर्णरूपदुष्टम् – इनमें वर्णों का पारुष्य (कठोरता) रूप दोष श्रुतिकटु कहलाता है।

च्युतसंस्कृति –च्युतसंस्कृति व्याकरण लक्षणहीनं –व्याकरण के संस्कार से हीन च्युत संस्कार रूप दोष कहलाता है।

अश्लीलत्व – अश्लील दोष तीन प्रकार का होता है – त्रिधेति व्रीडाजुगुप्सामङ्गलव्यंजकत्वाद् –अर्थात् व्रीडा, जुगुप्सा तथा अमंगल रूप तीन प्रकार का होता है।

विसन्धि – विसन्धि सन्धेर्वैरूप्यम् विश्लेषोऽश्लीलत्वं कष्टत्वं च।

विसन्धि उस दोष को कहते है। जहॉ सन्धि में वैरूप्य (भद्दा रूप) अर्थात् असन्धि, अश्लीलता और उच्चारण का कष्ट हो।

हतवृत्तम् – हत अर्थात् लक्षण का अनुसरण करने पर भी जो सुनने में अच्छा न लगे अथवा इसके अनुरूप जिसका छन्द नहीं है अथवा अन्त लघु जहॉं गुरुभाव को प्राप्त नहीं हुआ।

8.6 अभ्यासार्थ प्रश्न

बोधप्रश्न

1. मुख्यार्थहतिः में मुख्यार्थ से तात्पर्य हैं
   (अ) वाच्यार्थ (ब) लक्ष्यार्थ
   (स) तात्पर्यार्थ (द) रस
2. मुख्य पद दोषों का निरूपण कीजिए।
3. मुख्य वाक्य दोषों का निरूपण कीजिए।
4. दोष किसे कहते है?

बोधप्रश्नों के उत्तर

1. (द)
2. देखिए इकाई 8.3
3. देखिए इकाई 8.4
4. देखिए इकाई 8.2

8.7 सारांश

प्रस्तुत इकाई में आपने दोष का सामान्य लक्षण जाना तथा पदगत एवं वाक्यगत दोषों को जाना। क्लिष्ट स्वरूप वाल दोषों का उदाहरणों सहित विस्तृत अध्ययन किया।

8.8 संदर्भ ग्रंथ सूची

1. काव्यप्रकाशः, आचार्य विश्वेश्वर सिद्धान्त शिरोमणि, ज्ञानमण्डल प्रकाशन, वाराणसी, 1960.
2. काव्यप्रकाशः, डॉ. श्रीनिवास शास्त्री. हिन्दी भवन, इलाहाबाद, 1969.

इकाई–9

काव्यप्रकाश – सप्तम उल्लास (अर्थदोष एवं रसदोष)

इकाई की रूपरेखा

9.0 उद्देश्य
9.1 प्रस्तावना
9.2 अर्थदोष
 9.2.1 दोषों की अनित्यता
9.3 रसदोष
 9.3.1 रस दोषों के अपवाद
9.4 पारिभाषिक शब्दावली
9.5 अभ्यासार्थ प्रश्न
9.6 सारांश
9.7 संदर्भ ग्रंथ सूची

9.0 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई पढ़कर आप :–

- अर्थ दोषों के स्वरूप को जान सकेंगे।
- दोषों की नित्यता–अनित्यता के विषय में जान सकेंगे।
- रस दोषों के विषय में विचार करेंगे।

9.1 प्रस्तावना

इकाई 8 में आपने दोष के सामान्य लक्षण एवं पददोष, पदांशदोष, वाक्य दोषों का विस्तृत अध्ययन किया। उसी क्रम में प्रस्तुत इकाई में अर्थदोषों एवं रस दोषों का विस्तार से निरूपण किया जाएगा साथ ही दोष कब दोष न रहकर गुण बन जाते है इसका निरूपण भी आप कतिपय उदाहरणों सहित पढ़ेगें साथ ही रसों के परस्पर विरोध का परिहार कैसे संभव है इस विषय का भी अध्ययन करेंगे।

9.2 अर्थ दोष

अर्थोऽपुष्टः कष्टो व्याहतपुनरुक्तदुष्क्रमग्राम्याः ।।55।।

सन्दिग्धो निर्हेतुः प्रसिद्धिविद्याविरुद्धश्च।
अनवीकृतः सनियमानियमविशेषाविशेषपरिवृत्ताः ।।56।।

साकाङ्क्षोऽपदयुक्तः सहचरभिन्नः प्रकाशितविरूद्धः।
विध्यनुवादायुक्तस्त्यक्तपुनः स्वीकृतोऽश्लीलः ।।57।।

दुष्ट इति सम्बध्यते। क्रमेणोदाहरणम् –

अर्थ – (1) अपुष्ट (2) कष्ट (3) व्याहत, (4) पुनरूक्त, (5) दुष्क्रम, (6) ग्राम्य, (7) सन्दिग्ध, (8) निर्हेतु, (9) प्रसिद्धिविरूद्ध, (10) विद्याविरूद्ध, (11) अनवीकृत, (12) सनियमपरिवृत्त, (13) अनियमपरिवृत्त, (14) विशेष परिवृत्त, (15) अविशेष परिवृत्त, (16) साकाङ्क्ष, (17) अपदयुक्त, (18) सहचरभिन्न, (19) प्रकाशितविरूद्ध, (20) विध्ययुक्त, (21) अनुवादायुक्त, (22) त्यक्त पुनः स्वीकृत और (23) अश्लील – ये तेईस प्रकार के अर्थगत दोष होते है।

1. **अपुष्टत्व –**

अतिविततगगनसरणिप्रसरणपरिमुक्तविश्रमानन्दः।
मरूदुल्लासितसौरभकमलाकरहासकृद्रविर्जयति।।

अर्थ – अत्यन्त विस्तृत आकाशमार्ग में भ्रमण करते हुए जिसने विश्रामरूप आनन्द को छोड़ दिया है तथा जो उन कमलसमूहों को विकसित करते हैं जिनकी सुगन्धि वायु द्वारा फैलाई जाती है– ऐसे सूर्यदेव सर्वोत्कृष्ट है।

यहॉ अतिवितत आदि का ग्रहण यदि न किया जाय तो प्रतीत अर्थ में कोई बाधा नहीं आती अतः अतिविततादि का विशेष उपयोग न होने से अपुष्टार्थत्व दोष है।

2. **कष्टार्थ दोष –**

सदा मध्ये यासामियममृतनिस्यन्दसुरसा
सरस्वत्युद्दामा वहति बहुमार्गा परिमलम्।
प्रसादं ता एता धनपरिचिताः केन महतां
महाकाव्यव्योम्नि स्फुरितमधुरा यान्तु रुचयः।।

अर्थ – कवियों के काव्यरूप जिन अभिप्राय के वर्णनों के बीच में अमृतधारा बहानेवाली रसीली और सयानी सरस्वती वैदर्भी, गौड़ो और पांचाली इन तीन रीतियों से अपने तीन मार्ग बनाकर जो चमत्कार उत्पन्न करती है वे बड़े–बड़े कवियों के अनेक बार के भली भाँति अभ्यस्त काव्यरूप अभिप्रायानुभव में धँसकर अभीष्ट बन महाकाव्यरूप अपरिमित आकाश में छोटे काव्यों की भाँति सुबोध (सहज ही में समझने योग्य) कैसे हो? अथवा – जिन सूर्यो की चमक के बीच जल बहानेवाली मीठि त्रिपथगामिनी गंगा सुगन्धि को धारण किये बहती हैं वे प्रकाशयुक्त मनोहर बारहों सूर्यो की प्रभाएँ महाकाव्य सदृश विस्तृत आकाश में वर्षाकालीन मेघ का सम्पर्क पाकर (शरत्काल के) आकाश के समान स्वच्छ कैसे हो?

ग्रन्थकार ने कष्टार्थदोष के रूप में इस श्लोक उद्धृत किया है वस्तुतः ही यह श्लोक अत्यन्त क्लिष्ट है तथा इसका अर्थ अत्यन्त कठिनाई से समझ आता है टीकाकारों ने धनपरिचिताः मेघों से आच्छादित महतां" द्वादश आदित्यों की "रुचयः" प्रभा किस प्रकार स्वच्छ हो यह असङ्गत अर्थ माना गया है क्योंकि प्रतीयमान अर्थ का प्रस्तुत अर्थ से उपमानोपमेयभाव सम्बन्ध होता है बारह आदित्यों की अपेक्षा रात्रि में खिली हुई नक्षत्रमाला अर्थ अधिक उपयुक्त हैं जैसे रात्रि के समय आकाश में खिली नक्षत्रमाला के बीच आकाशगङ्गा की धारा से उसकी अपूव शोभा हो जाती है इसी प्रकार काव्यानुशीलन कराने वाले सहृदय महानुभावों को काव्यामृतरस को प्रवाहित करने वाली महाकवियों की बहुमार्गा सरस्वती से जो आनन्द प्राप्त होता है वैसा आनन्द किसी साधन से प्राप्त नहीं हो सकता।

3. **व्याहतार्थत्व –**

जगति जयिनस्ते ते भावा नवेन्दुकलादयः
प्रकृतिमधुराः सन्त्येवान्ये मनो मदयन्ति ये।
मम तु यदियं याता लोके विलोचनचन्द्रिका
नयनविषयं जन्मन्येकः स एव महोत्सवः।।

नवीन चन्द्रमा की कलादि वे पदार्थ संसार में सर्वोत्कर्षयुक्त और जो अन्य पदार्थ भी मन को आह्लादित करते हैं वे भी स्वभाव से सुन्दर ह ही। मेरे लिए तो संसार में जो यह (मालती रूप) नेत्रों की चाँदनी दिखलाई पड़ी है वही इस जीवन में एकमात्र महान आनन्द है।

प्रस्तुत उदाहरण में माधव ने चन्द्रकला आदि की व्यर्थता प्रतिपादित की, दूसरी ओर मालती का उत्कर्ष बताने के लिए चन्द्रिका का आरोप कर रहा है। यह बात परस्पर विरूद्ध है अतः व्याहतार्थत्व दोष है।

4. **पुनरुक्तत्व दोष –**

रौद्ररस के उदाहरण के रूप में प्रस्तुत श्लोक –

कृतमनुमतं दृष्टं वा यैरिदं गुरुपातकं............ में प्रारम्भ में अवतरणिका में अर्जुन! अर्जुन! और भवद्भिः यह कह चुकने के बाद "सभीमकिरीटिना" में अजुन के वाचक "किरीटि" पद का अर्थपुनरुक्त है।

5. **दुष्क्रमत्व –**

भूपालरत्न! निर्दैन्यप्रदानप्रथितोत्सव।
विश्राणय तुरङ्गं में मातङ्गं वा मदालसम्।।

दैन्याभाव को प्रदान करने के लिए प्रसिद्ध हे नृपशिरोमणे। मुझे घोड़ा अथवा मदमाता हाथी प्रदान कीजिए।

यहाँ हाथी का निर्देश पहले होना चाहिए था इस प्रकार दुष्क्रमत्व दोष है।

6. **ग्राम्यत्व**

स्वपिति यावदयं निकटे जनः स्वपिमि तावदहं किमपैति ते।
तदयि! साम्प्रतमाहर रूपकं त्वरितमूरुमुदञ्चय कुंचितम्।।

जब तक यह जन समीप में सोता है तब तक मैं भी सोती है, तुम्हें क्या हानि है अर्थात् तुम भी सो जाओ कोहनी (सिर के) के नीचे कर लो एवं शीघ्रता से इन सिकुड़ी टाँगो को फैला दो।

यहाँ ग्राम्यत्व दोष हैं।

7. **सन्दिग्धत्व –**

मात्सर्यमुत्सार्य विचार्य कार्यमार्याः समर्यादमुदाहरन्तु।
सेव्या नितम्बाः किम् भूधराणामुत स्मरस्मेरविलासिनीनाम्।।

हे आर्यों! आप पक्षपात छोड़कर और विचार करके यह प्रमाण सहित बतलाइये कि क्या पहाड़ों के मध्यभागों का सेवन करना चाहिए या कामभाव से मुस्कराती सुन्दरियों के नितम्बों का (सेवन करना चाहिए)।

यहाँ प्रकरणादि के अभाव में यह निश्चय नहीं हो पाता कि यहाँ शृंङ्गार रस है अथवा शान्त रस।

8. **निर्हेतुत्व –**

अश्वत्थामा के वचन हैः–

गृहीतं येनासीः परिभवभयान्नोचितमपि
प्रभावाद् यस्याभून्न खलु तव कश्चिन्न विषयः।
परित्यक्तं तेन त्वमसि सुतशोकान्न तु भयात्
विमोक्ष्ये शस्त्र! त्वामहमपि यतः स्वस्ति भवते।।

हे शस्त्र। उचित न होने पर भी (दूसरों के द्वारा) तिरस्कृत होने क भय से जिन (पिताजी) ने तुम्हें ग्रहण किया और जिनके प्रभाव से कोई भी तुम्हारा अविषय नहीं था। उन्होंने भय से नहीं अपितु सुतशोक (युधिष्ठर के मुख से सुनकर) के कारण तुम्हारा त्याग किया इसलिए मैं भी तुम्हें छोड़ रहा हूँ, तुम्हारा कल्याण हो।

यहाँ पर अपने शस्त्र त्याग का हेतु नहीं कहा अतः निर्हेतुत्व है।

9. **प्रसिद्धिविरुद्धता –**

इदं ते केनोक्तं कथय कमलातङ्कवदने!
यदेतस्मिन् हेम्नः कटकमिति धत्से खलु धियम्।
इदं तद् दुःसाधाक्रमणपरमास्त्रं स्मृतिभुवा
तव प्रीत्या चक्रं करकमलमूले विनिहितम्।।

हे चन्द्रवदने कमल को जिससे आतङ्क हो वह चन्द्र (कमलातङ्क) तुमसे यह किसने कहा कि इसे तुम सोने का कंगन मात्र समझो। दुःसाध्याक्रमण (तरुण जितेन्द्रिय पुरूष को जीतने) के लिए महास्त्र कामदेव ने बड़े प्रेम से तुम्हारे करकमल के मूल में यह चक्र स्थापित किया है।

यहाँ चक्ररुप अस्त्र का वर्णन हैं परन्तु काम का चक्र लोक प्रसिद्ध नहीं है अतः यह प्रसिद्धिविरुद्धता है।

10. **विद्याविरुद्धता –**

सदा स्नात्वा निशीथिन्यां सकलं वासरं बुधः।
नाना विधानि शास्त्राणि व्याचष्टे च शृणोति च।।

अर्थ – यह पण्डित सदा अर्धरात्रि में स्नान करके दिन भर शास्त्रों का अर्थ प्रतिपादन करता और उन्हें सुनता भी हैं।

यहा ग्रहण (ग्रहोपराग) आदि विशेष कारणों के बिना रात्रि में स्नान करना शास्त्रविरुद्ध है।

विधाय दूरे केयूरमनङ्गाङ्गणमङ्गना।
बभार कान्तेन कृतां करजोल्लेखमालिकाम्।।

अर्थ – कामदेव की क्रीड़ाभूमि के आँगन के समान विलास–स्थान रूप कोई सुन्दरी अपने बाजूबन्द को अन्यत्र रखकर केवल पति द्वारा दिये गये नखक्षतों की पंक्ति धारण किये रही।

बाजूबन्द के स्थान पर नखक्षत कामशास्त्रविरुद्ध है।

11. **अनवीकृतत्व –**

प्राप्ताः श्रियः सकलकामदुघास्ततः किं
दत्तं पदं शिरसि विद्विषतां ततः किम्।
सन्तर्पिताः प्रणयिनो विभवैस्ततः किं
कल्पं स्थितं तनुभृतां तनुभिस्ततः किम्।।

अर्थ – सब प्रकार के इष्ट प्रयोजनो को पूर्ण करने वाली सम्पति ही प्राप्त कर ली तो क्या? शत्रुओं के शिर पर चरण ही रख दिये तो क्या? मित्रादिकों को धन–दान से तृप्त ही कर दिया तो क्या? शरीरधारियों का रूप पाकर एक कल्प पर्यप्त जीवित ही रहे तो क्या? (कोई बड़ा पुरुषार्थ नहीं किया)

यहाँ चारों चरणों में "ततः किं" आया है उसमें कोई नवीनता नहीं है।

अनवीकृतत्व के बाद अर्थ दोषों का परिगणन करने वाली कारिका में चार प्रकार के परिवृत्त दोष बताए गए हैं – सनियम, अनियम, विशेष, अविशेष। इनमें अनियमपरिवृत्त एवं अविशेषपरिवृत्त के उदाहरण प्रस्तुत है शेष सन्दर्भग्रन्थों में द्रष्टव्य है।

अनियमपरिवृत्त –

वक्त्राम्भोजं सरस्वत्यधिवसति सदा शोण एवाधरस्ते
बाहुः काकुत्स्थवीर्यस्मृति करणपटुर्दक्षिणस्ते समुद्रः।
वाहिन्यः पार्श्वमेताः क्षणमपि भवतो नैव मुञ्चन्त्यभीक्ष्णं
स्वच्छेऽन्तर्मानसेऽस्मिन् कथमवनिपते! तेऽम्बुपानाभिलाषः।।

हे राजन्। आपके मुखकमल में सदा सरस्वती बसती है, आपका अधरोष्ठ सदा शोण ही रहता है, रामचन्द्रजी के पराक्रम का स्मरण दिलाने में असमर्थ आपका दक्षिण बाहु, दक्षिण समुद्र ही है। वे वाहिनियाँ तनिक देर के लिए भी कभी आपका साथ नहीं छोड़ती है और आपके भीतर स्वच्छ मानस के रहते हुए आपको जल पीने की इच्छा कैसे होगी।

यहाँ "शोण एवाधरस्ते" आपका अधरशोण ही है यह नियम नहीं कहना चाहिए।

अविशेषपरिवृत्त

कल्लोलवेल्लितदृषत्परुषप्रहारै रत्नान्यमूनि मकरालय! मावमंस्थाः।
किं कौस्तुभेन विहितो भवतो न नाम याच्ञाप्रसारितकरः पुरुषोत्तमोऽपि।

हे मकरालय! लहरों द्वारा फेंके गए इन कठोर पत्थरों के प्रहार से इन रत्नों को अपमानित मत करो। क्या अकेले कौस्तुभ ने पुरुषोत्तम को भी आपके सामने याचना के लिए हाथ फैलानेवाला नहीं बना दिया। यहाँ "एकेन किं न विहतो भवतः स नाम" क्या एक ने उस पुरुषोत्तम को आपका याचक नहीं बना दिया, यह कहना चाहिए।

9.2.1 दोषों की अनित्यता –

ग्रन्थकार ने दोषों का निरूपण करके उनके अपवादस्थलों का निरुपण किया है। इसका अभिप्राय यह है कि ऊपर बतलाए गए दोषों में से कुछ दोष ऐसे हैं जो सब जगह दोष नहीं रहते अपितु गुण बन जाते है। कतिपय उदाहरण प्रस्तुत हैः–

(सूत्र 76) कर्णावतंसादिपदे कर्णादिध्वनिनिर्मितिः।
सन्निधानादिबोधार्थम्

अर्थ – कर्णावतंस आदि पदों में "कर्ण" आदि पदों का प्रयोग सन्निधान (नैकट्य) आदि के बोधन के लिए किया जाता हैं। अतः इसे दोष नहीं समझना चाहिए।

अस्याः कर्णावतंसेन जितं सर्वं विभूषणम्।
तथैव शोभतेऽत्यर्थमस्याः श्रवणकुण्डलम्।।

अर्थ – इस कामिनी के कर्णावतंस ने और सब आभूषणों की शोभा को जीत लिया और इसके कानों के कुण्डल अत्यन्त शोभित हो रहे हैं।

यहॉ "कर्ण" तथा "श्रवण" शब्द सन्निधान (उन उन आभूषणों के उन उन स्थानों पर) का बोध कराने के लिए है। अतः यहाँ पुनरुक्ति या अपुष्टार्थत्व दोष नहीं समझना चाहिए।

विदीर्णाभिमुखारातिकराले सङ्गरान्तरे।
धनुर्ज्याकिणचिह्नेन दोष्णा विस्फुरितं तव।।

अर्थ – हे राजन्! पहले घायल होकर पीछे अनुकूल होने वाले आपके शत्रुओं से युक्त भयंकर युद्धस्थल के बीच में, धनुष की डोर के घावों से चिह्नित आपकी भुजा फड़क उठी।

यहॉ "धनु" शब्द प्रत्यञ्चा के धनुष पर चढ़े होने का बोध कराने के लिए प्रयुक्त किया।

(सूत्र 88) स्थितेष्वेतत्समर्थनम्।।58।।
न खलु कर्णावतंसादिवज्जघनकाञ्चीत्यादि क्रियते।

अर्थ – यह तो अनादि काल से चले आते हुए व्यवहार को शुद्ध सिद्ध करने के लिये कहा गया है। प्राचीन कवियों का कथन अशुद्ध न माना जाय इसलिये उनके प्रयोगों को देखकर

यह युक्ति निकाली गई है। कर्णावतंसादि की भाँति "जघनकाञ्ची" आदि पदों का समर्थन नहीं किया जाता है क्योंकि प्राचीन कवियों ने "जघनकाञ्ची" आदि पदों का प्रयोग नहीं किया है।

जगाद मधुरां वाचं विशदाक्षरशालिनीम्।।

अर्थ – वह मनुष्य स्पष्ट अक्षरों से युक्त मीठे वचन बोला – इत्यादि स्थलों में जब क्रियाविशेषण द्वारा भी इष्ट अर्थ की प्रतीति हो सकती है तो "गतार्थस्यापि विशेष्यस्य विशेषणदानार्थे क्वचित्प्रयोगः कार्यः" अर्थात् जिसके अर्थ की प्रतीति और किसी पद से हो चुकी है ऐसे विशेष्य के भी विशेषणदानार्थ (विशेषण जोड़ने के लिए) कहीं–कहीं पर किसी–किसी पद का प्रयोग किया जाय, यह बात युक्तिसंगत नहीं है।

यहाँ "मधुरं जगाद" क्रियाविशेषण मधुरं से प्रयोजन की सिद्धि हो जाती है ऐसी स्थिति "मधुरां वाचं जगाद" इस प्रकार वाचं का विशेषण अलग से लिखकर ऐसे प्रयोग करना युक्ति संगत नहीं है।

(सू.78) ख्यातेऽर्थे निर्हेतोरदुष्टता।" यथा –

प्रसिद्ध अर्थ के प्रकाशन में "निर्हेतु" नामक दोष दोष नहीं माना जाता। जैसेः–

चन्द्रं गता पद्मगुणान्न भुंक्ते पद्माश्रिता चान्द्रमसीमभिख्याम्।
उमामुखं तु प्रतिपद्य लोला द्विसंश्रयां प्रीतिमवाप लक्ष्मीः।।

अर्थ – चंचला लक्ष्मी चन्द्रमा मे निवास करते समय (रात्रि में संकुचित रहने से) कमल की शोभा को नहीं पाती और खिले कमल में निवास करते समय (दिन में चन्द्रमा के मलिन रहने से) चन्द्रमा के गुणों को नहीं पाती। परन्तु पार्वती जी के मुखरूप आश्रय में उस लक्ष्मी को दोनों (चन्द्र और कमल) की शोभा को एक साथ प्राप्त करने का अवसर मिला।

यहाँ "नं भुङ्क्ते" इसके लिए हेतु की आवश्यकता नहीं है क्योंकि कमल–चन्द्र–लक्ष्मी एवं इन तीनों के अर्थ लोकप्रसिद्ध है अतः यहाँ निर्हेतु दोष नहीं है।

(सू.79) अनुकरणे तु सर्वेषाम्

अनुकरण में सब दोषों की अदोषता है जैसे

मृगचक्षुषमद्राक्षमित्यादि कथयत्ययम्।
पश्यैष च गवित्याह सुत्रामाणं यजेति च।।

वह (व्यक्ति) मैंने "मृगनयनी को देखा" आदि कहता है और यह "गौ देख" यह कहता है, और "सुत्रामा (इन्द्र) की पूजा कर" (यह कहता है)

यहाँ श्रृंङ्गार रस में "अद्राक्षम्" यह श्रुतिकटु वर्ण हैं अतः दोष होना चाहिए था, इसी प्रकार "गवित्याह" में विभक्ति रहित केवल प्रातिपादिक गो शब्द का प्रयोग है। अतः वैयाकरण सिद्धान्त के विपरीत होने से च्युतसंस्कार दोष है इसी प्रकार "सुत्रामा" कवियों द्वारा अप्रयुक्त होने से अप्रयुक्त दोष है।

(सू.80) वक्त्राद्यौचित्यवशाद्दोषोऽपि गुणः क्वचित्क्वचिन्नोभौ।।59।।

वक्ता, श्रोता आदि के यथोचित प्रकार के होने से कभी–कभी दोष भी गुण हो जाते हैं और कभी–कभी न गुण ही होते हैं न दोष ही माने जाते हैं।

दीधीङ्वेवीङ्समः कश्चिद् गुणवृद्ध्योरभाजनम्।
क्विप्प्रत्ययनिभः कश्चिद्यत्र संनिहिते न ते।

कोई पुरुष दीधीङ्, वेवीङ् धातु के समान गुण (पाण्डित्य आदि) और वृद्धि (समृद्धि आदि) के पात्र नहीं होते – जैसे दीधीङ् और वेवीङ् धातुओं में (दीधीवेवीटाम् 1/1/6 सूत्र से गुण वृद्धि का निषेध हो जाते है और कोई तो क्विप्प्रत्यय के समान होते हैं जहाँ वे (गुण वृद्धि) पास तक नहीं फटकते।

जैसे क्विप्प्रत्यय जिस किसी धातु अथवा प्रातिपादिक से सन्निहित होता है उसी के गुणवृद्धि को रोक देता है, उसी प्रकार कई ऐसे पुरुष हैं, जिनके समीप रहनेवाले की भी गुणवृद्धि नष्ट हो जाती है, उनकी अपनी तो बात ही क्या? वे तो क्विप्रत्यय की भाँति सर्वथा नष्ट ही है। क्विप्रत्यय के सभी अक्षर क्, व्, इ, और प् लुप्त हो जाते हैं और क्क्ङिति च 1/1/5 से गुणवृद्धि का निषेध होता हैं।

यहाँ वक्ता वैयाकरण है अतः क्लिष्ट प्रयोग दूषण नहीं अपितु भूषण बन गया है।

क्वचिन्नीरसे न गुणो न दोषः।

कहीं–कहीं रसरहित अधम काव्यों में "श्रुतिकटु" आदि न गुण होते हैं न दोष।

शीर्णघ्राणांघ्रिपाणीन् व्रणिभिरपघनैर्घर्घराव्यक्तघोषान्
दीर्घाघ्रातानघोषैः पुनरपि घटयत्येक उल्लाघयन् यः।
घर्मांशोस्तस्य वोऽन्तर्द्विगुणघनघृणानिघ्ननिर्विघ्नवृत्ते –
र्दत्तार्घाः सिद्धसङ्घैर्विदधतु घृणयः शीघ्रमंहोविघातम्।।

अर्थ – जो लोग चिरकाल से अपने किए हुए पाप का फल भोगते चले आये हैं, जिनके नाक, हाथ, जॉघ आदि शरीर के अवयव गल गये हैं, जिनके शरीर में फोड निकल आये हैं, जिनकी बोली भी घर्घर और अस्पष्ट है, उन कोढ़ियों के रोग का विनाश करके, जो सूर्य देव उनके शरीर को फिर से नवीन कर देते हैं, उन दूनी और भूरि–भूरि कृपा से युक्त बाधारहित, उष्ण किरणवाले भगवान् की किरणें शीघ्र ही तुम्हारें पापों का निवारण करें। सिद्ध लोगों के समूह ने पूजार्थ उन्हें अर्घ्य समर्पित किया है।

अश्लीलं क्वचिद्गुणः। यथा सुरताम्भगोष्ठ्याम् "द्व्यर्थैः पदैः पिशुनयेच्च रहस्य वस्तु" इति कामशास्त्रस्थितौ।

करिहस्तेन सम्बाधे प्रविश्यान्तर्विलोडिते।
उपसर्पन् ध्वजः पुंसः साधनान्तर्विराजते।।

अर्थ – मनुष्यों तथा अश्वों आदि से भरी तथा हस्तियों के शुण्डा दण्ड से विचलित की गई सेना के मध्य में प्रवेश कर इधर–उधर फिरती हुई उस वीर पुरूष की ध्वजा विराजमान (फहरा रही) है।

(यहाँ पर प्रतीयमान अर्थ व्रीड़ा व्यञ्जक अश्लील है, पुंसःध्वजः और साधन शब्द क्रमशः पुरूष और स्त्री के गुप्तांग (लिंग और भग) के बोधक हैं तथा उपसर्पन् शब्द का अर्थ भीतर बाहर आते–जाते हुए आदि है उसी प्रकार "करिहस्त" शब्द से कामशास्त्र की एक क्रिया बोधित होती है, तथा संबाध का अर्थ संकुचित है; परन्तु द्वयर्थक होने से युवती समागमारम्भ की बातचोत में वह न केवल निर्दोष किन्तु गुण विशिष्ट भी माना जाता है।

प्रतिपाद्यप्रतिपादकयोर्ज्ञत्वे सत्यप्रतीतत्वं गुणः। यथा

यदि वक्ता और श्रोता दोनों वक्तव्य विषय से अभिज्ञ हो तो अप्रतीतत्व दोष भी गुण हो जाता है। उदाहरण –

आत्मारामा विहितरतयो निर्विकल्पे समाधौ
ज्ञानोद्रेकाद्विघटिततमोग्रन्थयः सत्त्वनिष्ठाः।
यं वीक्षन्ते कमपि तमसां ज्योतिषां वा परस्ता
त्तं मोहान्धः कथमयममुं वेत्ति देवं पुराणम्।।

अर्थ – स्वात्मसाक्षात्कार के अनुरागी, अभेदज्ञानवाली समाधि में रुचि रखने वाले, सत्त्वगुण विशिष्ट महात्मा लोग निजात्मज्ञान के उद्रेक (आधिक्य) से अविद्या के बन्धन को तोड़, रजः और तमः से परे जिस भगवान् का दर्शन पाते हैं, उन पुराणपुरुष भगवान श्रीविष्णुजी को मोह के कारण अन्धा हुआ यह (दुर्योधन) भला क्या जान सकता है?

यहाँ निर्विकल्पक समाधि, आत्मरमण आदि योगशास्त्र के शब्द है तथा वहीं उनका पयोग होता है, अतः यह अप्रतीतत्व दोष होता है किन्तु वक्ता भीम एवं बोद्धा सहदेव दोनों उस विषय के ज्ञाता है अतः अप्रतीतत्व दोष यहाँ गुण हो गया।

न्यूनपदं क्वचिद्गुणः। यथा

न्यूनपद भी कहीं–कहीं पर गुण हो जाता है – उदाहरण –

गाढालिङ्गनवामनीकृतकुचप्रोद्भतरोमोद्गमा
सान्द्रस्नेहरसातिरेकविगलच्छ्रीमन्नितम्बाम्बरा।
मा मा मानद माति मामलमिति क्षामाक्षरोल्लापिनी
सुप्ता किं नु मृता नु किं मनसि मे लीना विलीना नु किम्।।

अर्थ – निर्भर (गाढ़) आलिंगन करने से जिसके दोनों स्तन छोटे हो गये हैं, जिसका शरीर भलीभाँति रोमांचित हो गया है, विशिष्ट अनुराग से भरे परमानन्द के कारण जिसके सुचारू नितम्बों पर से वस्त्र खिसक पड़े है, ऐसी मेरी प्रिया थोड़े अक्षरों में कहती है कि "हे मानखण्डक (वा मानवर्धक) स्वामिन्! मत मत, बहुत नहीं, बस कीजिये।" फिर वह सो गई कि मर गई वा मेरे मन ही में लोन हो गई अथवा विलीन ही हो गई।

इसमें "मा मा" इसके बाद "आयासय", माति इसके बाद "पीडय" ये पदन्यून है किन्तु हर्ष एवं सम्मोह के अतिशय के सूचक होने से गुण है।

क्वचिन्न गुणो न दोषः। यथा

कहीं–कहीं पर न्यून पदत्व गुण वा दोष कुछ नहीं होता। उदाहरण –

तिष्ठेत्कोपवशात्प्रभावपिहिता दीर्घं न सा कुप्यति
स्वर्गायोत्पतिता भवेन्मयि पुनर्भावार्द्रमस्या मनः
तां हर्तुं विबुधद्विषोऽपि न च मे शक्ताः पुरोवर्तिनीं
स चात्यन्तमगोचरं नयनयोर्यातेति कोऽयं विधिः।।

अर्थ – (विरहकातर राजा पुरुरवा उर्वशी के सम्बन्ध में कहते है) कदाचित् क्रोध के कारण वह अपनी दैवी शक्ति से अन्तर्हित हो गई हो तो ऐसा नहीं हो सकता क्योंकि वह अधिक समय तक क्रोध करती ही नहीं। कदाचित् वह स्वर्गलोक को चली गई हो, यह भी नहीं हो सकता क्योंकि उसका चित्त तो मुझ पर अनुरक्त था। मेरे सामने से उसे राक्षसगण भी तो उठा नहीं ले जा सकते। परन्तु वह फिर भी आँखों से ओझल अत्यन्त दूर पहुँच गई। हा विधाता! यह क्या बात है?

यहाँ "पिहितां" इसके बाद "नैतद्यतः" इन न्यून पदों से कोई विशष्ट बुद्धि न करने से गुण नहीं है और उसके बाद होने वाली प्रतीति पूर्वप्रतीति को बाधित कर दती है। अतः पदों की न्यूनता दोष नहीं हैं।

अधिकपदं क्वचिद्गुणः। यथा

कहीं–कहीं पर अधिक पद भी गुण हो जाता है। उदाहरणः–

यद्वञ्चनाहितमतिर्बहु चाटुगर्भं कार्योन्मुखः खलजनः कृतकं ब्रवीति।
तत्साधवो न न विदन्ति, विदन्ति किन्तु कर्तुं वृथा प्रणयमस्य न पारयन्ति।।

अर्थ – ठगने की बुद्धि रखनेवाला जो स्वार्थ साधक दुष्ट मनुष्य अनेक चाटूक्तियों से भरी बनावटी बातें कहता है, क्या साधु लोग उसे नहीं जानते? अवश्य जानते है; परन्तु वे उसकी (बनावटी) प्रीति को भी नहीं तोड़ सकते।

प्रागप्राप्तनिशुम्भशाम्भवधनुर्द्वेधाविधाविर्भवत्
क्रोधप्रेरितभीमभार्गवभुजस्तम्भापविद्धः क्षणात्

उज्ज्वालः परशुर्भवत्वशिथिलस्त्वत्कण्ठपीठातिथि –
र्येनानेन जगत्सु खण्डपरशुर्देवो हरः ख्याप्यते।।

अर्थ – (शिवधनुष के भंग होने पर परशुराम जी क्रोध में भर श्री रामचन्द्र जी से कहते हैं) हे राम! जिस शिव धनुष को पहिल कोई झुका भी न सका उसके दो टूक किये जाने पर प्रकट होने वाले क्रोध के आवेश से भरे मुझे भृगुवंश परशुराम के स्तम्भसदृश भुजा से प्रहार किया गया यह वेगवान् और चमकीला परशु, जिसके कारण महादेव जी संसार में खण्डपरशु नाम से प्रसिद्ध हो रहे हैं, क्षण भर में तुम्हारे कण्ठरूप पीड़ा के आसन पर बैठनेवाला अतिथि बन जाये।

यहाँ पर चौथे चरण में कोमल भाषा का प्रयोग वक्ता के गुरू का स्मरण करा देने के कारण उचित ही है।)

9.3 रस दोष

(सू.81) व्यभिचारिरसस्थायिभावानां शब्दवाच्यता।
कष्टकल्पनया व्यक्तिरनुभावविभावयोः।।60।।
प्रतिकूलविभावादिग्रहो दीप्तिः पुनः पुनः।
अकाण्डे प्रथनच्छेदौ अंगस्याप्यतिविस्तृतिः।।61।।
अंगिनोऽननुसन्धानं प्रकृतीनां विपर्ययः।
अनंगस्याभिधानं च रसे दोषाः स्युरीदृशाः।।62।।

अर्थ – (1) व्यभिचारी भाव, (2) रस और , (3) स्थायी भावों का स्व शब्दों द्वारा कथन, (4) अनुभाव और, (5) विभाव की कष्टकल्पना द्वारा व्यक्ति (प्रकाश करना), (6) प्रतिकूल (विपरीत) विभावादि का ग्रहण, (7) बारबार एक ही रस की उद्दीप्ति, (8) बिना अवसर के विस्तार अथवा, (9) विराम, (10) किसी अमुख्य विषय का अधिक विस्तारपूर्वक वर्णन, (11) अंगी (प्रधान वर्ण्य विषय) का अनुसन्धान न रखना (किन्तु उसे भूल जाना), (12) प्रकृति अर्थात् पात्रों का विपर्यय (उलट–पुलट) और, (13) अंग (जो रस का उपकारक अंग नहीं है) का कथन – ये तेरह साक्षात् रसविषयक दोष माने जाते हैं।

(1) व्यभिचारिभाव का स्व शब्द से ग्रहण –

सव्रीडा दयितानने सकरुणा मातङ्गचर्माम्बरे
सत्रासा भुजगे सविस्मयरसा चन्द्रेऽमृतस्यान्दिनि।
सेर्ष्या जह्नुसुतावलोकनविधौ दीना कपालोदरे
पार्वत्या नवसङ्गमप्रणयिनो दृष्टिः शिवायास्तु वः।।

प्रस्तुत श्लोक में सव्रीडा, सकरुणा, सत्रासा, तथा सविस्मयरसा (व्यभिचारिभावों का अपने वाचक शब्दों स कथन है) के स्थान पर क्रमशः व्यानम्रा, मुकुलिता, सोत्कम्पा, निमेषरहिता का प्रयोग होना चाहिए था।

रसस्य स्वशब्देन श्रृंगारादिशब्देन वा वाच्यत्वम्।

रस का स्वशब्द, रस शब्द द्वारा अथवा श्रृंगार आदि शब्दों द्वारा कथन का उदाहरण–

तामनङ्गजयमङ्गलश्रियं किञ्चिदुच्चभुजमूललोकिताम्।
नेत्रयोः कृतवतोऽस्य गोचरे कोऽप्यजायत रसो निरन्तरः।।

अर्थ – कामदेव की विजय की मंगल लक्ष्मी के समान तथा कुछ ऊँचा कर देने पर जिसकी भुजाओं के मूल भाग दिखाई देने लगते हैं – ऐसी नायिका का दर्शन पाकर नायक के चित्त में किसी अद्भुत रस (विलक्षण प्रेम) का उदय हुआ। (यहाँ पर रस शब्द का साक्षात् उच्चारण दोष है।)

स्थायिनो यथा

स्थायी भाव के स्वशब्द द्वारा उपादान का उदाहरण :–

सम्प्रहारे प्रहरणैः प्रहाराणां परस्परम्।
ठणत्कारैः श्रुतिगतैरुत्साहस्तस्य कोऽप्यभूत्।।

अर्थ – जब युद्धस्थल में परस्पर शस्त्रों के प्रहार द्वारा शस्त्रादि के झनकार का शब्द हुआ तब उसे सुनते ही उस वीर पुरुष के चित्त में कोई विलक्षण उत्साह उमड़ पड़ा।

अत्रोत्साहस्य।

यहाँ पर उत्साहरूप स्थायी भाव का स्व शब्द द्वारा उपादान दूषण हैं।

विभाव की कष्टकल्पना

परिहरति रति मति लुनीते स्खलति भृशं परिवर्तते च भूयः।
इति बत विषमा दशाऽस्य देहं परिभवति प्रसभं किमत्र कुर्मः।।

अर्थ – अरे! उस नायिका के शरीर को बरबस ही कोई विषम दशा बिगाड़ रही है, अतः अब क्या करें? पदार्थों की ओर से उसकी रुचि हट रही है, उसकी बुद्धि लुप्त हो रही है, वह सर्वत्र चूक कर रही है और उसकी अवस्था भी विपरीत हो रही है।

यहाँ बैचेनी आदि अनुभाव श्रृंङ्गार ही नहीं अपितु करुण, भयानक व वीभत्स आदि में भी हो सकते है। अतः कामिनी आदि विभाव की कठिनाई से प्रतीति होती है अतः विभाव की कष्टकल्पना दोष है।

अनुभाव को कष्टकल्पना

कर्पूरधूलिधवलद्युतिपूरधौतदिङ्मण्डले शिशिररोचिषि तस्य यूनः।
लीलाशिरोंशुकनिवेशविशेषक्लृप्तिव्यक्तस्तनोन्नतिरभून्नयनावनौ सा।।

"कर्पूरराग के समान शुभ्र", ज्योत्सना से दिङ्ंमण्डल को परिपूर्ण करने वाले चन्द्रमा का (उदय) होने पर सिर पर पल्ला डालने के विशेष प्रकार से अपने वक्षस्थल की उन्नति को व्यक्त करने वाली यह उस नवयुवक के नयनगोचर हुई।

यहाँ उद्दीपन (विभाव रुप चन्द्रमा) और आलम्बनरुप (नायिका) श्रृंङ्गारयोग्य विभाव, अनुभाव में पर्यवसितरूप में स्थित है (नायक के भीतर उत्पन्न होने वाले अनुभावों का वर्णन नही है किन्तु ऐसी उद्दीप्त नायिका को देखकर नायक में स्वेद, रोमाञ्च आदि श्रृंङ्गार के अनुभावों की उत्पत्ति अपेक्षित है – इस प्रकार यहाँ अनुभाव की कष्टकल्पना दोष है।

प्रसादे वर्तस्व प्रकटय मुदं संत्यज रुषं
प्रिये! शुष्यन्त्यङ्गान्यमृतमिव ते सिञ्चतु वचः।
निधानं सौख्यानां क्षणमभिमुखं स्थापय मुखं
न मुग्धे प्रत्येतुं प्रभवति गतः कालहरिणः।।

अर्थ – (कोई नायक अपनी मानवती नायिका को मनाता हुआ कहता है – हे प्रिये! अनुग्रह करो, प्रसन्न हो जाओ, क्रोध छोड़ो, मेरे सूखते हुए अंगों को अपने वचन रूप अमृत द्वारा सींचो, आनन्द के निधान अपने मुख को क्षणभर के लिए मेरी ओर फेर दो; क्योंकि हे सुन्दरी ! हाथ से निकला हुआ कालरूप मृग फिर लौटकर नहीं आ सकता।

यहाँ (गया हुआ समय लौट कर नहीं आता) श्रृंङ्गाररस के प्रतिकूल अनित्यताप्रकाशन रुप शान्तरस के विभाव और उससे प्रकाशित निर्वेदरुप व्यभिचारिभाव का प्रतिपादन किया गया है।

दीप्तिः पुनः पुनर्यथा कुमारसम्भवे रतिविलापे।

बार बार की दीप्ति जैसे :– कालिदास रचित कुमारसम्भव नामक काव्य के चतुर्थ सर्ग में रतिविलाप का प्रसंग। जहाँ एक बार "अथ मोहपरायणा सती" से करुण रस का प्रारम्भ

किया उसके बाद "अथ सा पुनरेतु विह्वला" यह अथ व पुनः से फिर से उस रस की दीप्ति करके "तमवेक्ष्य रुरोद सा भृशम्" इत्यादि में फिर से करुण रस उद्दीप्त किया गया अतः दोष है।

अकाण्डे प्रथनं यथा वेणीसंहारे द्वितीयेऽङ्केऽनेकवीरक्षये प्रवृत्ते भानुमत्या सह दुर्योधनस्य शृंगारवर्णनम्।

सहसा बिना अवसर के विस्तार का उदाहरण – वेणी संहार नाटक के द्वितीय अंक में युद्ध में अगणित वीरों के विनाशारम्भ हो जाने पर रानी भानुमती के साथ दुर्योधन के शृंगार का वर्णन।

अकाण्डे छेदो यथा वीरचरिते द्वितीयेऽङ्के राघवभार्गवयोर्धाराधिरुढे वीररसे "कङ्कणमोचनाय गच्छामि" इति राघवस्योक्तौ।

अनवसर के विराम का उदाहरण – भवभूति रचित महावीर चरित के द्वितीय अंक में श्री रामचन्द्रजी और परशुराम के वीर रस में प्रवृत्त होने पर श्री रामचन्द्र जी की यह उक्ति कि "अब मैं कङ्कण खोलने जा रहा हूँ" इत्यादि।

अङ्गस्याप्रधानस्यातिविस्तेरण वर्णनम्। यथा हयग्रीववधे हयग्रीवस्य।

अंग अर्थात् अप्रधान विषय के अतिविस्तारपूर्वक वर्णन का उदाहरण – हयग्रीव वध नामक महाकाव्य में हयग्रीव नामक दैत्य का (जो काव्य का नायक नहीं है) सविस्तार वर्णन।

अङ्गिनोऽननुसंधानम्। यथा रत्नावल्यां चतुर्थेऽङ्के वाभ्रव्यागमने सागरिकाया विस्मृतिः।

अंगी (प्रमुख पात्र) के अननुसन्धान का उदाहरण – रत्नावली नाटिका के चतुर्थ अंक में वाभ्रव्य नामक दूत के आगमन पर राजा का सागरिका (रत्नावली) को भूल जाना।

प्रकृतयो दिव्या अदिव्या दिव्यादिव्याश्च, वीररौद्रशृंगारशान्तरसप्रधाना धीरोदात्तधीरोद्धतधीरललित–
धीरप्रशान्ताः, उत्तमाधममध्यमाश्च। रतिहासशोकाद्भुतानि अदिव्योत्तमप्रकृतिवत् दिव्येष्वपि। किन्तु रतिः सम्भोगशृंगाररूपा उत्तमदेवता विषया न वर्णनीया। तद्वर्णनं हि पित्रोः सम्भोगवर्णनमिवात्यन्तमनुचितम्।

अर्थ – प्रकृति अर्थात् नायक तीन प्रकार के होते हैं। दिव्य, अदिव्य और दिव्यादिव्य। जिनके वर्णन में प्रधानतया वीर, रौद्र, शृगार और शान्तरस गृहीत होते हैं। वे भी धीरोदात्त, धीरललित, धीरप्रशान्त और धीरोद्धत तथा उत्तम मध्यम और अधम भेद विशिष्ट होते हैं। इनमें से रति, हास, शोक और अद्भुत ये भाव अदिव्य उत्तम पात्र के सदृश दिव्य उत्तम पात्रों में भी होते हैं; किन्तु सम्भाग शृंगार रूपा रति उत्तम देवता के विषय में कभी भी वर्णन योग्य नहीं मानी जाती। उसका वर्णन माता–पिता के सम्भोग वर्णन के समान अत्यन्त अनुचित माना जाता है।

अनङ्ग अर्थात् प्रकृत रस के अनुपकारक का वर्णन भी रस दोष होता है जैसे "कपूरमंजरी" (नाटिका) में नायिका क किए हुए एवं स्वयं अपने किए हुए वसन्तवर्णन की उपेक्षा करके बन्दियों द्वारा किए गए वसन्तवर्णन की राजा द्वारा प्रशंसा की गई है।

9.3.1 रसदोषों के अपवाद –

किन्हीं विशेष परिस्थितियों में उक्त दोष, दोष नहीं माने जातेः–

(सू.82) न दोषः स्वपदेनोक्तावपि संचारिणः क्वचित्।

अर्थ – कहीं–कहीं पर संचारी (व्याभिचारी भाव) का स्व शब्द द्वारा कथन भी दोष नहीं होता। जैसे निम्नलिखित उदाहरण मेः–

औत्सुक्येन कृतत्वरा सहभुवा व्यावर्तमाना ह्रिया
तैस्तैर्बन्धुवधूजनस्य वचनैर्नीताभिमुख्यं पुनः।
दृष्ट्वाऽग्रे वरमात्तसाध्वसरसा गौरी नवे संगमे
संरोहत्पुलका हरेण हसता श्लिष्टा शिवायास्तु वः।।

अर्थ – नूतन समागम के अवसर पर उत्कण्ठा के कारण शीघ्रता करती हुई; पर स्वाभाविक लज्जा से फिर पीछे हटती हुई, बन्धु की बहुओं (भोजाइयों) के वचन द्वारा फिर से निकट पहुँचाई गई तथा वर को देखते ही डर से काँपती हुई पार्वती जी को हँसते हुए महोदव जी ने झटपट आलिंगन कर लिया – ऐसी अवस्था में जिनका शरीर पुलकित हो गया वे पार्वती जी तुम लोगों का कल्याण करें।

प्रस्तुत श्लोक में औत्सुक्य, ह्रिया, आदि व्यभिचारिभावों का स्वशब्द से कथन हैं, त्वरा एवं व्यावर्त्तन रूप अनुभाव तो भय या क्रोध से भी हो सकते हैं अतः औत्सुक्य एवं ह्रिया के स्वशब्द कथन से (औत्सुक्यवश एवं ह्रीवश) त्वरा एवं वावर्त्तन विवक्षित है।

(सू.83) सञ्चार्यादेर्विरूद्धस्य बाध्यस्योक्तिर्गुणावहा।

अर्थ – सञ्चारी भाव आदि के विरुद्ध रसों की उक्ति यदि बाध्यता (विनष्ट होने) की रीति से कही जाय तो वह गुणजनक होती है।

क्वाकार्यं शशलक्ष्मणः क्व च कुलं भूयोऽपि दृश्येत सा
दोषाणां प्रशमाय नः श्रुतमहो कोपेऽपि कान्तं मुखम्।
कि वक्ष्यन्त्यपकल्मषाः कृतधियः स्वप्नेऽपि सा दुर्लभा
चेतः स्वास्थ्यमुपैहि कः खलु युवा धन्योऽधरं धास्यति।

अर्थ – (उर्वशी को देखकर राजा विक्रम (पुरूरवा) कहते हैं–) कहाँ ऐसा अनुचित कार्य! (परस्त्री विषयक अभिलाषा) और कहाँ मेरा चन्द्रवंश! फिर तो एक बार वह दिखाई पड़ती! अहो हम लोगों ने दोष ही के निवारण के लिए शास्त्र श्रवण किये हैं, फिर भी यह चंचलता कैसी? अरे! क्रोध काल में भी उसका मुख कितना सुन्दर है। पापहीन पण्डित लोग मुझे क्या कहेंगे? हाय! वह स्त्री तो मुझे स्वप्न में भी दुर्लभ है! हे चित्त! तू स्वस्थ हो। धीरज धर! अरे वह कौन–सा भाग्यवान् युवा है जो इस सुन्दर स्त्री का अधर पान करेगा?

प्रस्तुत श्लोक में शान्त रस के (1) वितर्क (2) मति (3) शङ्का एवं (4) धृति इन चार व्यभिचारि भावों का तथा श्रृंङ्गार रस के (1) स्मरण (2) दैन्य (3) औत्सुक्य (4) चिन्ता इन चार व्यभिचारि भावों का इकट्ठा वर्णन किया गया है।

शान्त रस के व्यभिचारि भाव से श्लोक प्रारम्भ होता है परन्तु श्रृंङ्गार रस के व्यभिचारिभाव उसको बाधित कर देता है यह परस्पर एक दूसरे को बाधित करने का क्रम पूरे श्लोक में चलता है। अतः बाध्य रूप से विरोधी रस के व्यभिचारिभावों का वर्णन दोष नहीं है अपितु श्रृंङ्गार का पोषक ही है।

सत्यं मनोरमा रामाः सत्यं रम्या विभूतयः।
किन्तु मत्ताङ्गनापाङ्गभङ्गलोलं हि जीवितम्।।

अर्थ – यह बात तो सच है कि स्त्रियाँ बड़ी मनोहारिणी होती हैं और संसार की सम्पत्तियाँ भी बहुत मन लुभानेवाली होतीं हैं; परन्तु मनुष्य जीवन तो मतवाली स्त्रियों के कटाक्ष के समान अस्थिर है।

यहाँ शान्त रस की चर्चा में श्रृंङ्गार का किश्चित् पुट् दोष नहीं अपितु गुण ही है।

(सू.84) आश्रयैक्ये विरूद्धो यः स कार्यो भिन्नसंश्रयः।
रसान्तरेणान्तरितो नैरन्तर्येण यो रसः।।64।।

अर्थ – आश्रय (आधार) के एक होने पर जो रस परस्पर एक दूसरे के विरुद्ध पड़ते हो उनके संश्रय (आधार) को भिन्न कर देना चाहिये। और जो एक दूसरे के विरोधी रस आगे

पीछे हो तो उनके बीच में किसी और रस का समावेश कर देना चाहिये। (तो विरोध दोष का परिहार हो जायेगा)

**(1) भूरेणुदिग्धान् नवपारिजातमालारजोवासितबाहुमध्याः।
गाढं शिवाभिः परिरभ्यमाणान् सुराङ्गनाश्लिष्टभुजान्तरालाः।।**

**(2) संशोणितैः क्रव्यभुजां स्फुरद्भिः पक्षैः खगानामुपवीज्यमानान्।
संवीजिप्ताश्चन्दनवारिसेकैः सुगन्धिभिः कल्पलतादुकूलैः।।**

**(3) विमानपर्यङ्कतले निषण्णाः कुतूहलाविष्टतया तदानीम्।
निर्दिश्यमानान् ललनाङ्गुलीभिर्वीराः स्वदेहान् पतितानपश्यन्।।**

1. नवपरिजात की नवीन माला के पराग से सुगन्धित वक्षः स्थल वाले पृथिवी की धूल से सने हुए अप्सराओं को अपनी भुजा के बीच आलिङ्गन किए हुए वीरों ने श्रृगालियों के द्वारा जार से दबाए (अपने शरीरों को देखा)
2. चन्दन जल से सिक्त, सुगन्धित कल्पलता के दुपट्टों से पंखा किए जाते हुए मांसभक्षी पक्षियों के रक्त से सने हुए पंखों के द्वारा जिन पर हवा की जा रही है इस प्रकार के युद्धभूमि पर पड़े हुए शरीरों को देखा
3. (युद्ध में मारे जाने के बाद स्वर्ग में पहुँचकर तत्काल) विमानों के पलंगो पर बैठे हुए वीरों ने अप्सराओं की अंगुलियों द्वारा दिखलाए जाने वाले (युद्धभूमि में) पड़े अपने शरीरों को आश्चर्य से देखा।

यहाँ (नैरन्तर्य से विरोधी) वीभत्स व श्रृंगार के बीच वीर रस का सन्निवेश किया गया है अतः एक ही वाक्य में विरोधी रसों के विरोध का परिहार हो जाता है।

**(सू.85) स्मर्यमाणो विरूद्धोऽपि साम्येनाथ विवक्षितः।
अङ्गिन्यङ्गत्वमाप्तौ यौ तौ न दुष्टौ परस्परम्।।65।।**

अर्थ – जहाँ पर एक दूसरे का विरोधी रस स्मरण किया जाय वहाँ चाहे क्षमतापूर्वक वर्णन किया जाय या एक रस दूसरे विरोधी रस का अंगी बना दिया जाय तो ऐसे दो विरोधी रसों का परस्पर सम्मिलन दोषावह नहीं होता। जैसे :–

**अयं स रशनोत्कर्षी पीनस्तनविमर्दनः।
नाभ्यूरुजघनस्पर्शी नीवीविस्रंसनः करः।।**

अर्थ – (युद्धस्थल में गिरे हुए राजा भूरिश्रवा के कटे हुए हाथ को लेकर विलाप करती हुई उसकी विधवा रानी कहती है) अरे! यह वही हाथ है जो (मेरी) कर्धनी को खींचता, मोटे–मोटे स्तनों को मर्दन करने वाला, नाभि, उरु और जघन का स्पर्श करता तथा नीवीं के बंधनों को ढीला कर देता था।

**क्रामन्त्यः क्षतकोमलाङ्गुलिगलद्रक्तैः सदर्भाः स्थलीः
पादैः पातितयावकैरिव गलद्बाष्पाम्बुधौताननाः।
भीता भर्तृकरावलम्बितकरास्त्वच्छत्रुनार्य्योऽधुना
दावाग्निं परितो भ्रमन्ति पुनरप्युद्यद्विवाहा इव।।**

अर्थ – हे राजन्! अब आपके शत्रुओं की स्त्रियाँ मारे डर के अपने पति के हाथ में अपने हाथ को डाले हुए दावानल के चारों ओर इस प्रकार चक्कर काट रही हैं, मानो पुनर्विवाह के लिये उद्यत हो। कुश से भरे प्रदेशों में चलते–चलते उनके सुकुमार चरणों की अंगुलियों में घाव होने से जो रक्त बह चला है वही मानो उनके पैरों को महावर से रंग देता है और आँखों से निकलती हुई अश्रुधारा द्वारा उनका मुख भी धो दिया गया है। (विवाहकाल में भी स्त्रियों के पॉव महावर से रंगे जाते है और हवन के धूम द्वारा नेत्रों से आँसू बहने के कारण मुख भी जल से भींगे रहते हैं।)

क्षिप्तो हस्तावलग्नः प्रसभमभिहतोऽप्याददानोंऽशुकान्तं
गृह्णन्केशेष्वपास्तश्चरणनिपतितो नेक्षितः सम्भ्रमेण।
आलिंगन्योऽवधूतस्त्रिपुरयुवतिभिः साश्रुनेत्रोत्पलाभिः
कामीवार्द्रापराधः स दहतु दुरितं शांभवो वः शराग्निः।।

अर्थ – त्रिपुरासुर के दहनकाल में महादेव जी के बाण से निकला हुआ वह प्रचण्ड अनल तुम्हारे पापों को भस्म करे, जो तत्काल अपराध करने वाले कामी की भाँति आँखों में आँसू भरे त्रिपुरासुर की स्त्रियों द्वारा देखा गया, हाथ में लगते ही झटक दिया गया, वस्त्रप्रान्त धरते समय बरबस फटकारा गया, बालों को छूते ही टाल दिया गया, पाँवों पर पतित होने पर भी घबड़ाहट के कारण ध्यान से नहीं देखा गया और शरीरालिंगन के समय भी अनादरपूर्वक झिड़का गया था।

"गुणः कृतात्मसंस्कारः प्रधानं प्रतिपद्यते
प्रधानस्योपकारे हि तथा भूयसि वर्तते।।" इति।

अर्थ – अन्य द्वारा जिसकी परिपुष्टि कराई गई है – ऐसा गुण (अंग विशेषण या अप्रधान) किसी प्रधान अगी को प्राप्त होता है तथा इस आत्मसंस्कार (परिपोषण) द्वारा वह गुण प्रधान रस का बड़ा उपकार करता रहता है।

इस प्रकार दोष प्रकरण के अन्त में ग्रन्थकार ने रसों के अविरोध व अङ्गादिभाव के विषय में कुछ नियमों का प्रतिपादन किया। यहाँ प्रश्न उपस्थित होता है कि रस का स्वरूप तो वेद्यान्तरस्पर्श शून्य है ऐसी स्थिति में दो रसों की एक साथ अनुभूति नहीं हो सकती ऐसी स्थिति में रसों का अविरोध या अङ्गाङ्गिभाव का क्या प्रयोजन है इसका समाधान आचार्य मम्मट ने इस प्रकार किया है – "रस्यते इति रसः" इस व्युत्पत्ति के अनुसार रस शब्द से स्थायिभावों का भी ग्रहण हो जाता है अतः इस प्रसङ्ग में रस शब्द को स्थायिभाव का वाचक समझना चाहिए।

रस का तो वस्तुतः दूसरे रस के साथ न विरोध हो सकता है न अङ्गाङ्गिभाव हो सकता है इसलिए यहाँ रस शब्द से स्थायिभाव ही समझना चाहिए।

9.4 पारिभाषिक शब्दावली

1. **कष्टार्थ** – जिसका अर्थ कनिष्ठा से समझ आए वह काव्य दोष कष्टार्थ है ।
2. **दुष्कर्मत्व** – जिस काव्य में पुर्वावर क्रम का निर्वाह ना हो वहाँ दुष्कर्मत्व दोष होता है ।
3. **सन्दिग्धत्व** – जिस काव्य में प्रकरण लिंग आदि के अभाव से यह निश्चित ना हो कि कवि क्या कहना चाह रहा है वहाँ सन्दिन्धत्व दोष होता है ।
4. **विद्याविरुद्धता** – जहाँ शास्त्र के नियमों का पालन न किया गया है । वहाँ काव्य में विद्याविरुद्धता दोष होता है ।
5. **रस** – रस्यते आस्वाद्यते इति रसः । जिसका आरवादन किया जाए व रस कहलाता है ।
6. **व्यभिचारीभाव** – जो रस की अभिव्यक्ति कर थोड़े समय में विरत हो जाते है वे व्यभिचारी भाव कहलाते हैं ।

9.5 अभ्यासार्थ प्रश्न

बोध प्रश्न

1. अर्थदोषों की संख्या मानी गई है

(अ) 10 (ब) 20

(स) 23 (द) 5

2. रस दोष माने गए है

(अ) 15 (ब) 10

(स) 8 (द) 13

3. रसदोषों के अपवादों का निरूपण कीजिए

4. दोषों की अनित्यता पर प्रकाश डालें।

बोध प्रश्नों के उत्तर

1. स 2. द

3. देखें इकाई – 9.3.1

4. देखें इकाई – 9.2.1

9.6 सारांश

प्रस्तुत इकाई में आपने अर्थ दोषों एवं रस दोषों का विस्तृत विवेचन पढ़ा। दोष कब दोष नहीं रहते अथवा कब गुणरूप हो जाते हैं इसका भी विस्तृत अध्ययन किया। रसदोषों के अपवादों का भी विचार किया।

9.7 संदर्भ ग्रंथ सूची

1. काव्यप्रकाशः, आचार्य विश्वेश्वर सिद्धान्त शिरोमणि, ज्ञानमण्डल प्रकाशन, वाराणसी, 1960.
2. काव्यप्रकाशः, डॉ. श्रीनिवास शास्त्री. हिन्दी भवन, इलाहाबाद, 1969.
3. काव्यप्रकाशः, बालबोधिनीसहित, भण्डारकर ओरिएंटल रिसर्च इंस्टीट्यूट, पुणे,1952.
4. संस्कृत–काव्यशास्त्र एवं काव्यपरम्परा, प्रो. राधावल्लभ त्रिपाठी, प्रतिभा प्रकाशन, नई दिल्ली, 2004.

इकाई–10

काव्यप्रकाश–अष्टम उल्लास (अलंकार एवं गुण–स्वरूप)

इकाई की रूपरेखा

10.0 उद्देश्य
10.1 प्रस्तावना
10.2 गुण–लक्षण एवं स्वरूप
10.2.1 अलंकार–लक्षण एवं स्वरूप
10.2.2 गुणों एवं अलंकारों में भेद
10.2.2.1 भट्टोद्भट के मत का खण्डन
10.2.2.2 वामन के मत का खण्डन
10.3 गुणों के भेद
10.3.1 माधुर्य
10.3.2 ओज
10.3.3 प्रसाद
10.4 वामनोक्त दस गुणों का खण्डन
10.5 गुणों के व्यंजक
10.5.1 माधुर्य गुण के व्यंजक
10.5.2 ओज गुण के व्यंजक
10.5.3 प्रसाद गुण के व्यंजक
10.5.4 गुणानुसारिणी रचनादि के अपवाद
10.6 पारिभाषिक शब्दावली
10.7 अभ्यासार्थ प्रश्न
10.8 सारांश
10.9 संदर्भ ग्रंथ सूची

10.0 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई पढ़ने के बाद आप –

- गुणों के स्वरूप, लक्षण, स्थिति एवं भेद के विषय में जान सकेगें।
- अलंकारों से गुणों के भेद विषयक विविध मतों को भी जान सकेगें।
- गुणों के अभिव्यंजक वर्ण, समास, रचना के विषय में जान सकेगें।

10.1 प्रस्तावना

प्रस्तुत इकाई में आप गुणों के स्वरूप, लक्षण, भेद एवं विभिन्न रसों में उनकी स्थिति के विषय में विस्तार से अध्ययन करेंगें। गुणों का अलंकारों से क्या भेद है इस विषय में वामन आदि के मत को जानेगें। काव्य में माधुर्यादि गुणों के व्यंजक वर्ण, समास एवं रचना का विस्तार से अध्ययन करेगें। वामनोक्त दस शब्द गुणों एवं दस अर्थ गुणों का निरूपण एवं मम्मट कृत खण्डन का अध्ययन करेगें।

10.2 गुण–लक्षण एवं स्वरूप

काव्य लक्षण में शब्द एवं अर्थ के विशेषणभूत 'सगुणौ' पद के गुण का स्वरूप लक्षण मम्मट ने इस प्रकार प्रस्तुत किया ह –

(सू.86) ये रसस्याङ्गिनो धर्माः शौर्यादय इवात्मनः।
उत्कर्षहेतवस्ते स्युरचलस्थितयो गुणाः ।।66।।

अर्थात् जो अंगी रस के धर्म हैं जिस प्रकार शौर्य आदि आत्मा के धर्म होते हैं, उत्कर्ष के हेतु एवं रस के नियत सहचारी हैं वे गुण हैं।

जैसे शौर्यादि आत्मा के धर्म हैं न कि शरीर के, उसी प्रकार माधुर्यादि गुण रस के धर्म है न कि वर्णों के। लेकिन लोक व्यवहार के समान ही काव्य में भी इनका कथन भिन्न प्रकार से कर दिया जाता है–

(1) जैसे लोक में शौर्यादि गुणों के अनुरूप लम्बाई–चौड़ाई वाले आकार को देखकर 'आकार एवास्य शूरः' इसका आकार ही शूरवीर है– इस प्रकार का व्यवहार होता है इसी प्रकार माधुर्यादि के व्यंजक सुकुमारादि वर्णो को देखकर मधुर आदि व्यवहार होता है।

(2) लोक में कभी–कभी अशूर (कायर) में भी बाह्य आकार की विशालता को देखकर 'शूर' व्यवहार होता ह इसी प्रकार काव्य में भी अमधुर रस के अङ्गभूत वर्णों की सुकुमारता आदि मात्र से माधुर्य व्यवहार होने लगता है।

(3) लोक में कहीं पर शौर्यादि गुणों से सम्पन्न होने पर भी लघु आकृति (शरीर के छोटे) के कारण 'अशूरः' इस प्रकार का भ्रान्त व्यवहार होता है उसी प्रकार काव्य में भी मधुर आदि रसों के अङ्गभूत वर्णों के असुकुमार (कठोर) होने से रस की मर्यादा को न समझने वाले उनके अमाधुर्य का व्यवहार करते हैं।

अतः यह समझना चाहिए कि गुण रस के धर्म हैं तथा वे (माधुर्य आदि) योग्य वर्णों द्वारा अभिव्यक्त होते है, केवल वर्णों के आश्रित नहीं होते।

मम्मट द्वारा प्रदत्त इस गुण लक्षण में रसोत्कर्षकत्व एवं रसनिष्ठत्व दो धर्म समाविष्ट हो गए हैं। इसलिए–

(1) रसोत्कर्षकत्वे सति रसाव्यभिचारित्वम् (अर्थात् रस का उत्कर्ष करते हुए रस के अव्यभिचारि)।

(2) अव्यभिचारेण रसोपकारकत्वम् गुणम् अव्यभिचारि (नियम से) रूप से रस का उपकार करने वाले हों, दोनों गुण के लक्षण बनते हैं।

10.2.1 अलंकार–लक्षण एवं स्वरूप

मम्मट ने गुणों के लक्षण के पश्चात् अलंकारों का लक्षण इस प्रकार प्रस्तुत किया है –

(सू.87) उपकुर्वन्ति तं सन्तं येऽङ्गद्वारेण जातुचित्।
हारादिवदलङ्कारास्तेऽनुप्रासोपमादयः ।।67।।

जो (काव्य में) विद्यमान उस (अंगी रस) की शब्द एवं अर्थरूप अंगों के द्वारा (नियम से नहीं) कभी–कभी उपकार करते हैं वे अनुप्रास–उपमा आदि हार आदि दैहिक अलंकारों के समान काव्य के अलंकार होते ह।

(1) जैसे हार आदि आभूषण शरीर पर धारण किए जाते हुए परम्परया आत्मा की शोभा बढ़ाते हैं उसी प्रकार अनुप्रास–उपमादि अलंकार शब्द एवं अर्थ में रहते हुये परम्परया उस विद्यमान अंगी रस की शोभा बढ़ाते हैं।

(2) जहाँ रस नहीं है ऐसे काव्य में उनकी स्थिति उक्तिवैचित्र्य मात्र ही है जैसे कुरूप स्त्री द्वारा धारण किए गए अलंकार उसके शोभावर्धक न होकर दृष्टिवैचित्र्य मात्र प्रतीत होते हैं।

(3) कभी–कभी काव्य में रस के होने पर भी उसके उत्कर्षाधायक नहीं होते जैसे लोकोत्तर सौन्दर्यशालिनी किसी स्त्री के द्वारा धारण किए गए ग्रामोण अलंकार उसके सौन्दर्यवर्धक नहीं होते।

अलंकारों की इन तीन प्रकार की स्थितियों के उदाहरण यथाक्रम प्रस्तुत है –

अपसारय घनसारं कुरु हारं दूर एव किं कमलैः ।
अलमलमालिमृणालैरिति वदति दिवानिशं बाला । ।

हे सखि! इस कपूर को हटा दो, हार को दूर करो, कमलों से क्या प्रयोजन, मृणालों को भी रहने दो– इस प्रकार वह (वियोगिनी) बाला रात दिन कहती है (अर्थात् इन शीतल उपचारों से विरहाग्नि दूर नहीं हो सकती)

प्रस्तुत श्लोक में अनुप्रास अलंकार है यह एक शब्दालंकार है अतः यहाँ वाचक (शब्द) के द्वारा अनुप्रास अलंकार काव्य में विद्यमान विप्रलम्भ शृंगार रूप अंगी रस का उत्कर्षाधायक है।

चित्ते विहट्टदि ण टुट्टदि सा गुणेसुं सज्जासु लोट्टदि विसट्टदि दिन्मुहेसुं।
बोलम्मि वट्टदि पवट्टदि कव्वबन्धे झाणे च टुट्टदि चिरं तरूणी तरट्टी ।।

चित्ते विघटते न त्रुट्यति सा गुणेषु
शय्यासु लुठति विसर्पति दिङ्मुखेषु।
वचने वर्तते प्रवर्तते काव्यबन्धे
ध्याने न त्रुट्यति चिरं तरूणी प्रगल्भा।। इति संस्कृतम्

वह तरूणी चित्त में बैठी है, वह गुणों में कम नहीं है, (कभी वह मुझे) शय्या पर लोटती (हुई दिखलाई देती) है (कभी) सब दिशाओं में (वही) दिखलाई देती है (कभी) बात करती है (कभी मेरे साथ) काव्य रचना में प्रवृत्त होती है और कभी बहुत देर तक ध्यान से बाहर नहीं रहती है।

प्रस्तुत श्लोक में अनुप्रास रूप शब्दालंकार है परन्तु विप्रलम्भ शृंगार में 'ट' वर्ग का प्रयोग उत्कर्षाधायक नहीं होता अपितु अपकर्षक होता है। प्रस्तुत उदाहरण में रस व अलंकार दोनों होने पर भी अलंकार रस के उत्कर्षाधायक नहीं है।

प्रथम इकाई में चित्रकाव्य के उदाहरण के रूप में प्रस्तुत स्वच्छन्दोच्छलदच्छ'– में रस विद्यमान नहीं है परन्तु अनुप्रास अलंकार है अतः वे कुरूप स्त्री द्वारा धारण किए गए अलंकारों के समान उत्कर्षाधायक न होकर केवल उक्ति वैचित्र्य मात्र प्रयोजक है।

10.2.2 गुणों एवं अलंकारों में भेद

आचार्य मम्मट ने गुण के लक्षण के पश्चात् गुणों के भेद एवं उनके लक्षण प्रस्तुत न करके अलंकार का लक्षण पहले प्रस्तुत किया ताकि गुण एवं अलंकार के भेद को स्पष्ट किया जा सके –

गुण एवं अलंकार में भेद को इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है–

(1) गुण रस के धर्म हैं अतः रसनिष्ठ हैं जबकि अलंकार शब्द एवं अर्थ के धर्म हैं– शब्दनिष्ठ अलंकार शब्दालकंार कहलाते हैं तथा अर्थनिष्ठ अलंकार अर्थालंकार कहलाते हैं। गुण समवाय वृत्ति से रस में रहते हैं।

(2) गुण अव्यभिचारिरूप (नियम) से रस के उपकारक होते हैं किन्तु अलंकार कभी–कभी रस के उपकारक होते हैं। अलङ्कार संयोगवृत्ति से शब्द व अर्थ में रहते हैं।

इस प्रकार गुण के रसोत्कर्षकत्व एवं रसनिष्ठत्व दोनों ही धर्मो का अलंकारों में अभाव होता है अलंकार न तो रस के धर्म है न ही रस का अव्यभिचारि रूप से उपकार करते हैं। गुण एवं अलंकार का यही भेद है।

10.2.2.1 भट्टोद्भट के मत का खण्डन

भट्टोद्भट गुण एवं अलंकारों में अभेद मानते हैं। भामह के 'काव्यालंकार' के विवरण में उन्होंने गुण एवं अलंकारों के अभेद का प्रतिपादन किया है मम्मट ने उनके मत को अपने ग्रन्थ में उद्धृत करके उसका खण्डन किया है–

'समवायवृत्या शौर्यादयः संयोगवृत्या तु हारादयः इत्यस्तु गुणालंकाराणां भेदः, ओजः प्रभृतीनामनुप्रासोपमादीनां चोभयेषामपि समवायवृत्या स्थितिरिति गड्डलिकाप्रवाहेणैवैषां भेदः' इत्यभिधानमसत्।

भट्टोद्भट के अनुसार लोक में शौर्यादय गुणों की आत्मा में स्थिति समवाय सम्बन्ध से एवं हारादि अलंकारों की स्थिति शरीर से संयोग सम्बन्ध से होती है किन्तु काव्यगत गुणों एवं अलंकारों की स्थिति में यह भिन्नता नहीं हैं अर्थात् काव्यगत गुण एवं अलंकार दोनों ही समवाय सम्बन्ध से रहते है अतः इन दोनों में भेद मानना गड्डलिका प्रवाह (भेड़चाल) मात्र है अर्थात् लोक में गुणों एवं अलंकारों के सम्बन्ध के आधार पर किए भेद का अन्धानुकरण मात्र है। काव्य में गुण एवं अलंकारो दोनों की स्थिति समवाय सम्बन्ध से है। इन दोनों में वस्तुतः कोई भेद नहीं है।

मम्मट ने 'इत्यभिधानमसत्' अर्थात् 'भट्टोद्भट का यह मत असंगत है कहकर इसका खण्डन किया हैं क्योंकि मम्मट ने दोनों के स्पष्ट भेद का पूर्व में निरूपण कर दिया है।

10.2.2.2 वामन के मत का खण्डन

वामन यद्यपि गुण एवं अलंकार में भेद मानते है उन्होंने 'काव्यालंकार–सूत्र' के तृतीयाधिकरण के प्रथम अध्याय में इसका निरूपण इस प्रकार किया है –

'काव्यशोभायाः कर्त्तारो धर्मा गुणाः, तदतिशयहेतवस्त्वलंकाराः'

अर्थात् काव्य की शोभा के उत्पादक धर्म गुण है एवं उस शोभा में वृद्धि करने वाले धर्म अलंकार है।

गुण एवं अलंकारों के इस वामाभिमत भेद का भी 'इति तदपि न युक्तम्' कहकर मम्मट ने खण्डन किया है अर्थात भट्टोद्भट द्वारा प्रतिपादित यह गुणालंकार–भेद असंगत हैं क्योंकि वामन के इस कथन से दो विकल्प उत्पन्न होते है –

(1) **यतः किं समस्तैर्गुणैः काव्यव्यवहारः ?**

वामन दस शब्द गुण एवं दस अर्थ गुण मानते हैं–मम्मट का प्रश्न है कि क्या इन समस्त गुणों (के होने) से काव्य व्यवहार होता है अथवा

(2) **उत कतिपयैः** – कतिपय गुणों से काव्य व्यवहार होता है।

वामन ने रीति को काव्य (रीतिरात्मा काव्यस्य) की आत्मा माना है यदि समस्त गुणा से काव्यव्यहार होता है तो असमस्त गुणों वाली गौडी एवं पांचाली काव्य की आत्मा कैसे मानी जा सकती है?

(2) यदि कतिपय गुणों से काव्यव्यवहार हो सकता है तो –

अद्रावत्र प्रज्वलत्यग्निरूच्चैः प्राज्यः प्रोद्यन्नुल्लसत्येष धूमः।

इस पर्वत पर बड़े जोर की आग जल रही है और यह प्रचुर धुँआ उठता हुआ दिखाई दे रहा है–

यहाँ सर्वथा रसविहीन काव्यलक्षणरहित वाक्य में ओज आदि कतिपय गुणों के होने से काव्यव्यवहार होने लगेगा जो कि अभीष्ट नहीं है। इसी प्रकार गुणों के अभाव में भी काव्यव्यवहार होता है इसलिए अन्वय–व्यतिरेक दोनों का व्यभिचार होने से गुणों को काव्य व्यवहार का प्रयोजक नहीं माना जा सकता। इसी आशय से मम्मट ने दूसरा (गुणों के अभाव में काव्यव्यवहार का) उदाहरण प्रस्तुत किया है।

स्वर्गप्राप्तिरनेनैव देहेन वरवर्णिनी।
अस्या रदच्छदरसो न्यक्करोतितरां सुधाम्।।

वरवर्णिनी (नारी की प्राप्ति) इसी देह से स्वर्ग की प्राप्ति (के सदृश) है। इस (वरवर्णिनी–नारी) के अधरपान का रस, अमृत (के आस्वादन के आनन्द) को (भी) तिरस्कृत करता है।

प्रस्तुत उदाहरण में गुणों के बिना ही विशेषोक्ति एवं व्यतिरेक अलंकार काव्यव्यवहार के प्रवर्तक हैं।

वामन के अनुसार गुण काव्य शोभा के उत्पादक है एवं अलंकार उन गुणों द्वारा उत्पन्न शोभा के वर्धक हैं। परन्तु इस श्लोक में माधुर्यादि गुणों का सर्वथा अभाव है ऐसे में विशेषोक्ति एवं व्यतिरेक किस शोभा को बढ़ायेगें? इसलिए वामन द्वारा काव्यशोभा के अतिशयजनक धर्मों को अलकार मानकर जो गुण एवं अलंकार का भेद उत्पादित किया गया वह उचित नहीं है यही मम्मट का अभिप्राय है।

10.3 गुणों के भेद

गुण एवं अलंकारो के भेद निरूपण के पश्चात् आचार्य मम्मट ने गुणों के भेदों का निरूपण किया है। गुणों के भेद के विषय में भी मम्मट का आचार्य वामन से भेद है वामन ने दस शब्द गुण एवं दस अर्थ गुण माने हैं। इन शब्द गुणों एवं अर्थगुणों के नाम तो समान है परन्तु लक्षणों में भेद है। अतः वामन के अनुसार गुणों की संख्या दस है परन्तु मम्मट गुणों की संख्या तीन ही मानते हैं। अपने इसी मतभेद का प्रदर्शन अगले सूत्र में 'त्रयस्ते न पुनर्दश' लिखकर ग्रन्थकार स्पष्टरूप से दस गुण मानने वाले वामन के मत का खण्डन कर रहे हैं –

(सू.88) माधुर्यौजःप्रसादाख्यस्त्रयस्ते न पुनर्दश।

अर्थात माधुर्य, ओज एवं प्रसाद तीन ही (गुण) हैं न कि (वामनोक्त) दस।

10.3.1 माधुर्य

मम्मट ने सर्वप्रथम माधुर्य का लक्षण प्रस्तुत किया है–

(सू.89) आह्लादकत्वं माधुर्यं शृंगारे द्रुतिकारणम्।।68।।

(सू.90) करुणे विप्रलम्भे तच्छान्ते चातिशयान्वितम्।।

(सू.89) (चित्त के) द्रवीभाव का कारण व शृंगार रस में रहने वाला जो आह्लादस्वरूपत्व है वह माधुर्य (नामक गुण) कहलाता है।

(सू.90) यह माधुर्य करुण, विप्रलम्भ शृंगार एवं शान्त रस में उत्तरोत्तर अधिक चमत्कारजनक होता है।

प्रस्तुत दो सूत्रों में मम्मट ने माधुर्य का लक्षण एवं रसों में स्थिति का निरूपण किया है,

सूत्र में प्रयुक्त शृंगार शब्द संयोग शृंगार के लिए है। दति का तात्पर्य है गलितत्व–अर्थात् द्रवीभूत होना। आह्लादकत्व जो शृंगार में रहता है तथा चित्त में द्रवीभूत होने का कारण है वह माधुर्य नामक गुण कहलाता है। आह्लादकत्व का अर्थ आह्लादस्वरूपत्व है न कि आह्लादजनकत्व। क्योंकि शृंगार में जो आह्लादकत्व है वह आहलादजनकत्व न होकर

आह्लादस्वरूप ही है इसका तात्पर्य है कि शृंगार आह्लाद को उत्पन्न नहीं करता अपितु स्वयं आह्लादरूप ही है।

आचार्य भामह ने माधुर्य का लक्षण श्रव्यत्व किया है किन्तु आचार्य मम्मट के अनुसार श्रव्यत्व तो ओज एवं प्रसाद गुणों में भी होता है अतः भामह का लक्षण अतिव्याप्ति दोष से युक्त है अतः यह लक्षण निर्दुष्ट न होने से उचित नहीं है।

शृंगार के अतिरिक्त अन्य रसों में भी आह्लादकत्व है तथा करुण, विप्रलम्भ एवं शान्त में उत्तरोत्तर अधिक (अतिशयान्वित) है अर्थात् करुण रस में शृंगार की अपेक्षा आह्लादकत्व की अतिशयता है क्योंकि करुण चित्त अधिक द्रवीभूत होता है। करुण रस की अपेक्षा विप्रलम्भ शृंगार में तथा विलम्भ शृंगार से शान्त रस में चित्त की द्रुति की अधिकता होने से आह्लादकत्व की उत्तरोत्तर अतिशयता होती है।

10.3.2 ओज गुण

(सू.91) दीप्त्यात्मविस्तृतेर्हेतुरोजो वीररसस्थितिः।।69।।

वीररस में रहने वाली चित्त के विस्तार की हेतुभूतदीप्ति ओज कहलाती है।

जिस प्रकार चित्त के द्रवीभाव का कारणभूत आल्हादकत्व माधुर्य कहलाता है उसी प्रकार चित्त के विस्ताररूप दीप्तत्व का जनक ओज गुण कहलाता है।

(सू.92) वीभत्सरौद्ररसयोस्तस्याधिक्यं क्रमेण च।

यह ओज गुण सामान्यतः वीररस में रहता है परन्तु वीभत्स एवं रौद्र रसों में क्रमशः इसका आधिक्य (विशेष चमत्कारजनकत्व) रहता है।

10.3.3 प्रसाद गुण

माधुर्य एवं ओज के पश्चात् प्रसाद गुण का लक्षण आचार्य मम्मट ने इस प्रकार किया है –

(सू.93) शुष्केन्धनाग्निवत् स्वच्छजलवत्सहसैव यः।।70।।
व्याप्नोत्यन्यत् प्रसादोऽसौ सर्वत्र विहितस्थितिः।

अर्थात सूखे इन्धन में अग्नि के समान अथवा (धुले हुए वस्त्र में) स्वच्छ जल के समान जो चित्त में सहसा व्याप्त हो जाता है वह सर्वत्र अर्थात् समस्त रसों में रहने वाला प्रसाद गुण कहलाता है।

'**अन्यत्**– पद से यहाँ व्याप्य अर्थात् चित्त का ग्रहण होता है। यह प्रसाद गुण समस्त रसों एवं समस्त रचनाओं में रहता है जैसे सूखे इन्धन में अग्नि सहसा व्याप्त हो जाती है अथवा स्वच्छ धुले हुए वस्त्र में जिस प्रकार जल सहसा व्याप्त हो जाता है उसी प्रकार जो चित्त में सहसा व्याप्त हो जाता है उसे प्रसाद गुण कहते हैं। यहाँ अग्नि एवं जल के दो उदाहरण देने का अभिप्राय यह है कि जब वीर, रौद्र आदि उग्र रसों में प्रसाद गुण होता है तब वह शुष्क इन्धन में अग्नि के समान चित्त में व्याप्त हो जाता है और शृंगार, करुण आदि कोमल रसों में होता है तो स्वच्छ वस्त्र में जल के समान चित्त में व्याप्त होता है।

गुणों का शब्दार्थधर्मत्व – गुणों की रसनिष्ठता का प्रतिपादन आचार्य पूर्व में कर चुके हैं किन्तु शब्द एवं अर्थ भी गुणाभिव्यंजक माने गए हैं। गुण शब्द एवं अर्थ के धर्म किस रूप में है इस विषय में ग्रन्थकार कहते हैं –

(सू.94) गुणवृत्त्या पुनस्तेषां वृत्तिः शब्दार्थयोर्मता।।71।।

'गुणवृत्त्या' से तात्पर्य हैं उपचार से। जिस प्रकार शौर्यादि गुण आत्मा के धर्म हैं परन्तु उपचार से आकार में भी रहते हैं उसी प्रकार गुण यद्यपि रस के धर्म हैं लेकिन उपचार से

शब्द एवं अर्थ में भी रहते हैं उपचार का तात्पर्य है गौणी वृत्ति से अर्थात् साक्षात् तो रस के धर्म है परन्तु गौण रूप (परम्परया) से शब्द एवं अर्थ में भी रहते हैं।

10.4 वामनोक्त दश गुणों का खण्डन

मम्मट तीन ही गुण मानते हैं तथा वामनोक्त दश गुणों का इन्हीं गुणों में अन्तर्भाव मानते हैं। अतः दश गुणों को मानना निरर्थक हैं –

(सूत्र 95) केचिदन्तर्भवन्त्येषु दोषत्यागात्परे श्रिताः।
अन्ये भजन्ति दोषत्वं कुत्रचिन्न ततो दश।।72।।

अर्थात् वामनोक्त दश गुणों में से कुछ का तो इन तीन गुणों में अर्न्तभाव हो जाता है, कुछ तो दोषाभाव रूप है तथा कुछ तो कभी–कभी दोष रूप हो जाते हैं अतः दश गुण नहीं माने जा सकते।

वामन के दश शब्द गुणों में से (1) श्लेष (2) समाधि (3) उदारता (4) प्रसाद इन चार गुणों का मम्मट के (5) ओज गुण में अन्तर्भाव हो जाता हैं इनके लक्षण वामन ने इस प्रकार प्रस्तुत किए हैं– बहूनामपि पदानामेकपदवद्भासनात्मा श्लेषः – अर्थात् अनेक पदों को एक पदवत् प्रतीति श्लेष है वामन ने 'मसृणत्वं श्लेषः' इस प्रकार श्लेष का लक्षण किया हैं, मसृणत्व का अर्थ है अनेक पदों की एक पद के समान प्रतीति।

आरोहावरोहक्रमरूपः समाधिः – अर्थात् आरोह अवरोह का क्रम समाधि है।

विकटत्वं उदारता – पदों की विकटत्व रूप उदारता हैं।

शैथिल्यं प्रसादः – ओजोमिश्रित शैथिल्य रूप प्रसाद गुण हैं।

इन चारों गुणों का मम्मट एवं वामनोक्त ओज गुण में अन्तर्भाव हो जाता हैं जिसका लक्षण वामन ने 'गाढबन्धत्वमोजः' रूप से किया है।

(6) माधुर्य का तो पृथक्पदत्वं माधुर्यम् इस प्रकार कहकर मम्मटोक्त माधुर्य का ही साक्षात् ग्रहण कर लिया क्योंकि मम्मट भी अवृत्ति या अल्पवृत्ति से युक्त रचना ही माधुर्य में मानते हैं।

(7) अर्थव्यक्तिहेतुत्वमर्थव्यक्तिः अर्थात् अर्थ को स्पष्ट करने वाली अर्थव्यक्ति प्रसाद गुण के द्वारा ग्रहण कर ली गई।

(8) **मार्गाभेदरूपा समता** – अर्थात् मार्गाभेदस्वरूपिणी समता कहीं है वह मम्मट के अनुसार कहीं–कहीं दोषरूप हो जाती है– जैसे 'मातंगा किमु वल्गितैः' उदाहरण में सिंह का वर्णन होने से कोमल मार्ग का त्याग किया गया यदि यहाँ मार्गाभेदरूपा समता का आश्रय लिया जाता तो दोष आ जाता।

(9) **अजरठत्वं सौकुमार्यम्** – अपारूष्य सुकुमारता है किन्तु रचना में कष्टत्व एवं ग्राम्यत्व दोषों के परित्याग स अपारूष्यरूप सुकुमारता आती है अतः यह गुण न होकर दोषों की अभावरूपा है।

(10) **औज्जवल्यरूपा कान्तिः** – औज्ज्वल्य रूप कान्ति भी दोष का अभाव रूप ही है गुण नहीं है।

इस प्रकार दश शब्द गुण नहीं माने जा सकते।

वामनोक्त दश अर्थगुणों का खण्डन – वामन ने प्रथम अर्थगुण 'अर्थस्य प्रौढिरोजः' रूप से ओज का लक्षण किया है। प्रौढ़ि पांच प्रकार की होती हैः– (1) पदार्थे वाक्यरचनं– अर्थपद के प्रतिपाद्य अर्थ के बोधन में वाक्य की रचना। (2) वाक्यार्थे पदाभिधा – वाक्य के प्रतिपाद्य अर्थ में पद का कथन करना (3) व्यास –

अर्थात् विस्तार करना (4) समास – अर्थात् संक्षेप करना। (5) साभिप्रायत्वम् – अर्थ का (विशेष रूप से) साभिप्रायत्व।

मम्मट ने इन पांच प्रकार की प्रौढि को 'उक्तिवैचित्र्य' माना है वे इसे गुण नहीं मानते क्योंकि इसके बिना भी काव्य व्यवहार होता है। अपुष्टार्थत्व, अधिकपदत्व, अनवीकृतत्व, अमगल रूप अश्लील एवं ग्राम्यत्व के निराकरण द्वारा साभिप्रायत्वरूप (1) ओज (2) अर्थवैमल्यरूप प्रसाद (3) उक्तिवैचित्र्य रूप माधुर्य (4) अपारूष्यरूप सौकुमार्य (5) अग्राम्यत्वरूप उदारता दोषों का अभाव मात्र सिद्ध होते हैं अर्थात् अपुष्टार्थत्व रूप दोष के निराकरण से साभिप्रायत्वरूप ओज दोष का अभाव ही है इसी प्रकार अधिकपदत्व रूप दोष का अभाव ही अर्थ वैमल्यरूप प्रसाद है, अनवीकृतत्व दोष का निराकरण ही उक्तिवैचित्र्यरूप माधुर्य है, अमंगल रूप अश्लील का निराकरण ही अपारूष्यरूप सुकुमारता है तथा ग्राम्यत्वदोष का निराकरण ही अग्राम्यत्वरूप उदारता हैं। स्वभावोक्ति अलंकार एवं रसध्वनि तथा गुणीभूत व्यंग्य के द्वारा वस्तु के स्वभाव की स्पष्टता रूप (6) अर्थव्यक्ति तथा दीप्तरसत्व रूप कान्ति का ग्रहण हो गया। वामन ने श्लेष गुण का 'घटना श्लेषः' जो लक्षण दिया है वह भी क्रम–कौटिल्य, अनुल्बणत्व, उपपत्ति योग रूप रचना स्वरूप होने से विचित्रत्वमात्र है न कि गुण। इसी प्रकार 'अवैषम्यरूपा समता' तो दोष का अभाव मात्र सिद्ध होती है क्योंकि वैषम्य तो दोष ही है वैषम्य का अभाव समता है। अतः समता को गुण मानना उचित नहीं।

समाधिः का लक्षण वामन में 'अर्थदृष्टिः समाधिः' रूप से किया है। उन्होंन अर्थ को दो प्रकार का माना है – अयोनि अर्थात् अकारण अर्थात् कवि कल्पना से प्रसूत तथा अन्यच्छाया योनि – अर्थात दूसरे की छाया– अन्यच्छाया को लेकर वर्णित हुआ। इस द्विविध अर्थ के दर्शन को वामन ने समाधि नामक गुण माना है। इस विषय में आचार्य मम्मट का यह कहना है कि इन दो प्रकार के अर्थ के बिना कवि काव्य रचना नहीं कर सकता क्योंकि किसी कवि के काव्य में स्वतः कल्पना प्रसूत अथवा अन्य की छाया से प्रेरित रचना ही होगी। अतः इसे काव्य का कारण तो माना जा सकता है गुण नहीं।

इस प्रकार वामनोक्त दश शब्दगुणों एवं दश अर्थगुणा का खण्डन करते हुए ग्रन्थकार ने इस प्रकरण का समाहार किया है –

(सूत्र 96) तेन नार्थगुणा वाच्याः प्रोक्ताः शब्दगुणाश्च ये।

अर्थात् कुछ का मम्मटोक्त तीन गुणों में अन्तर्भाव होने से, कुछ का दोषाभाव मात्र होने से, कुछ का दोषरूप होने से, कुछ का उक्ति वैचिष्य मात्र होने से इन दस प्रकार के शब्द एवं दस प्रकार के अर्थ गुणों को मानना उचित नहीं है।

10.5 गुणों के व्यंजक

गुणों के स्वरूप, भेद एवं रसों में स्थिति का निरूपण करने के पश्चात् अब ग्रन्थकार गुणों के व्यंजकों का निरूपण करते हैं –

(सूत्र 97) वर्णाः समासो रचना तेषां व्यंजकतामिताः।।73।।

अर्थात् वर्ण, समास एवं रचना उन (गुणों) के व्यंजक होते हैं।

प्रस्तुत सूत्र में मम्मट ने गुणों के तीन व्यंजक माने हैं –

(1) वर्ण (2) समास एवं (3) रचना। किस गुण को किस प्रकार के वर्णो द्वारा अथवा समास द्वारा अथवा रचना द्वारा व्यंजित किया जा सकता है इसकी चर्चा भी मम्मट ने विस्तार से प्रस्तुत की है।

10.5.1 माधुर्य गुण के व्यंजक

(सू.98) मूर्ध्नि वर्गान्त्यगाः स्पर्शा अटवर्गा रणौ लघू।
अवृत्तिर्मध्यवृत्तिर्वा माधुर्ये घटना तथा ।।74।।

अर्थात् अपने सिर पर स्थित अपने–अपने वर्ग के अन्तिम वर्ण से युक्त, टवर्ग को छोड़कर शेष स्पर्श वर्ण, ह्रस्व रकार और णकार, अवृत्ति (समासरहित) अथवा मध्यवृत्ति (स्वल्प समास वाली) रचना माधुर्य में (व्यंजक) होती है।

(1) **सूत्र में प्रयुक्त 'स्पर्शाः**– अर्थात् स्पर्श वर्णों से तात्पर्य है – कादयो मावसानाः' अर्थात् 'क' से लेकर 'म' पर्यन्त (कवर्ग, चवर्ग, टवर्ग, तवर्ग, पवर्ग) समस्त वर्ण स्पर्श कहलाते हैं। टवर्ग को छोड़कर अन्य चारों वर्गो के वर्ण अपने शिर पर अपने ही वर्ग के पंचम वर्ण से युक्त होकर तथा ह्रस्व रकार व णकार माधुर्य के व्यंजक होते हैं।

(2) माधुर्य गुण में या तो समास का सर्वथा अभाव रहेगा (अवृत्ति), यदि समास होगें भी तो मध्यवृत्ति–अर्थात् अल्पसमास होगें।

(3) माधुर्यगुण में रचना अन्यपदों के योग (अर्थात् सन्धि से) माधुर्ययुक्त होती है।

इस प्रकार के वर्ण, समास एवं रचना माधुर्य के व्यंजक होते हैं। उदाहरण के द्वारा इसे आसानी से समझा जा सकता है –

अनङ्गरङ्गप्रतिमं तदङ्गभङ्गीभिरङ्गीकृतमानताङ्ग्याः।
कुर्वन्ति यूनां सहसा यथैताः स्वान्तानि शान्तापरचिन्तनानि।।

अर्थात् ईषत् नतांगी उस (नायिका) के, कामदेव की रगंशाला के समान उस (अलौकिक) शरीर को हावभावमयी चेष्टाओं ने इस प्रकार अधीन कर लिया है, जिससे ये (भङ्गियाँ) युवकों के चित्त को सहसा ही अन्य विषयों की चिन्ता से रहित (केवल उसी की चिन्ता में तत्पर) कर देती है।

प्रस्तुत श्लोक में गकार एवं तकार शिर में (अग्रभाग में) अपने वर्ग के पचंम वर्ण ङ् एवं न् से युक्त हैं – अनङ्ग, अङ्ग, तदङ्ग, भङ्गी, अङ्गी, ङ्ग्याः, स्वान्त, शान्त, चिन्तन आदि पदों में ङ् से युक्त गकार एवं न् से युक्त तकार स्पष्ट दिखाई दे रहा है। इसी प्रकार रङ्ग आदि पदों में ह्रस्व स्वर से युक्त रेफ है ये समस्त वर्ण माधुर्य के व्यंजक है।

अनङ्गरप्रतिम यह अल्पसमास वाली रचना भी माधुर्य की व्यंजक है।

इस प्रकार यहां वर्ण, समास एवं रचना तीनों विप्रलम्भ शृंगार में माधुर्य के व्यंजक हैं।

10.5.2 ओज गुण के व्यंजक

(सूत्र 99) योग आद्यतृतीयाभ्यामन्त्ययो रेण तुल्ययोः।
टादिः शषौ वृत्तिदैर्घ्यं गुम्फ उद्धत ओजसि।।75।।

अर्थात् (1) इन (कवर्ग, चवर्ग, तवर्ग, पवर्ग) के आद्य अर्थात् प्रथम (क् च् त् प्) एवं तृतीय (ग्, ज्, द्, ब् रूप) वर्णो के साथ उनके बाद के (अन्त्ययोः अर्थात् ख्,छ्, थ्, फ् आदि द्वितीय तथा तृतीय के बाद चतुर्थ घ् झ् ध् भ्) वर्णो का तथा (2) रेफ के योग के साथ (अर्थात् ऊपर या नीचे किसी भी रूप में रकार का किसी वर्ण के साथ योग जैसे वस्त्र, वज्र, निर्ह्लाद् आदि में) और (3) तुल्य वर्णों का योग (जैसे चित्त, वित्त, उच्च आदि में) (4) टादि (अर्थात् ट वर्ग ट् ठ् ड् ढ् से प्रारम्भ होने वाली) (5) श, ष वर्ण (6) दीर्घ समास (7) उद्धत (विकट) रचना ओज गुण के व्यंजक होते हैं।

(1) अर्थात् ओज गुण में वर्गों के द्वितीय वर्ण से युक्त प्रथम वर्ण एवं चतुर्थ वर्ण से युक्त तृतीय वर्ण, ऊपर अथवा नीचे किसी भी रूप में रकार से युक्त वर्ण (वज्र, वस्त्र आदि में) तथा तुल्य वर्णो (वित्त, चित्त) का योग, ट वर्ग, श,ष आदि वर्ण व्यज्जक होते हैं।

(2) ओज गुण में दीर्घ समासों का प्रयोग व्यंजक होता हैं।

(3) रचना विकट (उद्धत) होनी चाहिए।

उदाहरण के द्वारा इसे स्पष्टतया समझा जा सकता है –

मूर्ध्नामुद्वृत्तकृत्ताविरलगलद्रक्तसंसक्तधारा –
धौतेशाङ्घ्रिप्रसादोपनतजयजगज्जातमिथ्यामहिम्नाम्।
कैलासोल्लासिनेच्छाव्यतिकरपिशुनोत्सर्पिदर्पोद्धुराणां
दोष्णां चैषां किमेतत्फलमिह नगरीरक्षणे प्रयासः ।।

प्रस्तुत वाक्य रावण के मुख से उद्धृत है –

'औद्धत्यपूर्वक निरन्तर काटे गए कण्ठ से बहती हुई अविच्छिन्न रक्तधारा से धोये हुए शिवजी के चरणों की कृपा से प्राप्त विजय से संसार में मिथ्या महत्त्व को प्राप्त हुए मेरे इन शिरों का और कैलास हो उठाने की इच्छा के आदेश के सूचक उत्कट अभिमान से गर्वित मेरी इन भुजाओं का क्या यही फल है कि इस नगरी की रक्षा में मुझे प्रयास करना पड़े।

प्रस्तुत श्लोक में रकार युक्त (मूर्ध्ना, द्रक्त, दर्पोद्–) वर्ण, ष एवं ण (दोष्णां, चैषां, रक्षणे) तथा तुल्य वर्णो का योग (वृत्त, कृत्त जगज्जात) ओज गुण के व्यंजक है। इसी प्रकार दीर्घ समास एवं विकट रचना भी ओज की व्यंजक हैं।

10.5.3 प्रसाद गुण के व्यंजक

(सू.100)श्रुतिमात्रेण शब्दात्तु येनार्थप्रत्ययो भवेत्।
साधारणः समग्राणां स प्रसादो गुणो मतः ।।76।।

जिस (वर्ण, समास या रचना) के द्वारा श्रवणमात्र से शब्द से अर्थ की प्रतीति हो जाय, वह सब (वर्णो, समासों तथा रचनाओं) में रहने वाला प्रसाद गुण माना है।

समस्त रसों एवं रचनाओं का साधारण धर्म प्रसाद गुण होता है। इसका उदाहरण इस प्रकार है–

परिम्लानं पीनस्तनजघनसङ्गादुभयतः
तनोर्मध्यस्यान्तः परिमिलनमप्राप्य हरितम्।
इदं व्यस्तन्यासं श्लथभुजलताक्षेपवलनैः
कृशाङ्ग्याः सन्तापं वदति बिसिनीपत्रशयनम्।।

यह उदाहरण रत्नावली नाटिका के द्वितीय अंक से उद्धृत है –

''ऊँचे स्तनों और नितम्बों के सम्पर्क से दोनों ओर मुरझाए हुए और शरीर के मध्यभाग (अर्थात कमर के कृश होने से) के मिलन को प्राप्त न होने के कारण बीच में हरी और शिथिल भुजाओं के (इधर–उधर) पटकने तथा करवटें बदलने (चलनैः) से जिसकी बनावट बिगड़ गई है इस प्रकार की कमलिनी के पत्तों की यह शय्या कृशाङगी के (विरहजन्य) सन्ताप को बता रही है।

प्रस्तुत श्लोक में श्रवण मात्र से शब्दों के अर्थ की प्रतीति स्पष्टतया हो रही है।

10.5.4 गुणानुसारिणी रचनादि के अपवाद

आचार्य वामन ने गुण के साथ वैदर्भी, गौडी एवं पांचाली तीन रीतियों का प्रतिपादन किया तथा रीति को ही काव्य की आत्मा माना। वामन जिसे रीति कहते हैं दण्डी एवं कुन्तक उसके लिए मार्ग तथा आनन्दवर्धनाचार्य उसके लिए सङ्घटना शब्द का प्रयोग करते हैं। वामन ने (1) असमासा वैदर्भी (2) मध्यम समास से भूषित पांचाली एवं (3) दीर्घसमास से युक्त गौडी रीति का प्रतिपादन किया। आनन्दवर्धनाचार्य ने भी इसी प्रकार की तीन सङ्घटनाओं या रीतियों का प्रतिपादन किया। सङ्घटना या रीति गुणों से भिन्न है या अभिन्न– इस विषय को लेकर ध्वन्यालोक में तीन पक्ष प्रस्तुत किए गए– भेद मानने वाले आचार्यो के दो पक्ष है – एक पक्ष सङ्घटना को गुणों के आश्रित मानता है तो दूसरा पक्ष

गुणों को सङ्घटना पर आश्रित मानता है। ध्वन्यालोककार गुणों को रस के आश्रित मानते हैं। अतः वे सङ्घटना या रीति को गुणों के आश्रित मानते हैं। गुणों के अतिरिक्त वक्ता, वाच्य आदि का औचित्य भी रीतियों का नियामक होता है ध्वन्यालोक के इसी विषय का प्रतिपादन मम्मट ने इस प्रकार प्रस्तुत किया है–

(सू.101) वक्तृवाच्यप्रबन्धानामौचित्येन क्वचित् क्वचित्।
रचनावृत्तिवर्णानामन्यथात्वमपीष्यते ।।77।।

अर्थात् कहीं–कहीं (1) वक्ता (2) वाच्य एवं (3) प्रबन्ध के औचित्य से रचना, समास तथा वर्णो का अन्य प्रकार का प्रयोग भी उचित माना जाता है। कहीं वाच्य एवं प्रबन्ध की उपेक्षा करके केवल वक्ता के औचित्य से ही रचना आदि होती है। जैसे –

मन्थायस्तार्णवाम्भःप्लुतकुहरचलन्मन्दरध्वानधीरः
कोणाघातेषु गर्जत्प्रलयघनघटान्योन्यसङ्घट्टचण्डः।
कृष्णाक्रोधाग्रदूतः कुरुकुलनिधनोत्पातनिर्घातवातः
केनास्मत्सिंहनादप्रतिरसितसखो दुन्दुभिस्ताडितोऽसौ।

मन्थनदण्ड से क्षुब्ध समुद्र के जल से व्याप्त गुफाओं वाले मन्दराचल के शब्द के समान गम्भीर, कोणाघात के अवसर पर गर्जन करते हुय प्रलयकालीन मेघों के समूह के परस्पर सङ्घर्षण के समान भयंकर, द्रोपदी के क्रोध का अग्रदूत, कौरववंश के नाश के लिए निर्घात वायु रूप और हमारे सिंहनाद की प्रतिध्वनि के सदृश यह दुन्दुभि किसने बजाया है ?

प्रस्तुत श्लोक 'वेणीसंहार' नाम के नाटक से उद्धृत है।

नाटक अभिनेय होता है अतः उसमें दीर्घसमास युक्त रचना नहीं होनी चाहिए, साथ ही वाच्यार्थ यहां प्रश्न रूप होने से क्रोधादि का व्यंजक नहीं है – अतः वाच्य एवं प्रबन्ध दोनों ही दृष्टि से यहां दीर्घसमास युक्त उद्धता रचना नहीं होनी चाहिए थी। किन्तु वक्ता यहाँ भीमसेन है वह धीरोद्धत स्वभाव का नायक है उसके मुख से दीर्घ समास वाली उद्धत रचना ही शोभा देती है।

अतः वाच्य एवं प्रबन्ध की उपेक्षा करके भीमसेन रूप वक्ता के वैशिष्ट्य से यहां दीर्घसमासयुक्त उद्धत रचना का प्रयोग किया गया।

कहीं पर वक्ता एवं प्रबन्ध दोनों की उपेक्षा करके वाच्य के औचित्य से ही रचना प्रयुक्त होती है। जैसे महावीरचरित में –

प्रौढच्छेदानुरूपोच्छलनरयभवत्सैंहिकेयोपघात –
त्रासाकृष्टाश्वतिर्यग्वलितरविरथेनारूणेनेक्ष्यमाणम्।
कुर्वत्काकुत्स्थवीर्यस्तुतिमिव मरुतां कन्धरान्ध्रभाजां
भाङ्कारैर्भीममेतन्निपतति वियतः कुम्भकर्णोत्तमाङ्गम्।।

प्रौढ़ अर्थात् बलवान् के द्वारा प्रयुक्त हुआ जो खड्ग का प्रहार उसके अनुरूप जो ऊर्ध्वगमन का वेग उस (वेग) से उत्पन्न जो राहु (सैंहिकेय) के पतन के भय से घोडों को खीचकर सूर्य के रथ को तिरछा मोड़ देने वाले अरुण के द्वारा (भय व आश्चर्यपूर्वक) देखा जाता हुआ और गर्दन के छिद्रों के भीतर भरी हुई वायु के भाँय–भाँय से रामचन्द्र के पराक्रम की स्तुति सी करता हुआ कुम्भकर्ण का यह भयानक सिर आकाश से गिर रहा है।

यहाँ वक्ता वैतालिक है– उसक लिए दीर्घ समास युक्त उद्धत रचना उपयुक्त नहीं है, महावीरचरित नाट्य है अतः अभिनेयार्थ होने से भी दीर्घसमासयुक्त उद्धत रचना उचित नहीं है किन्तु कुम्भकर्ण के सिर का पतन ऐसा विषय है कि उसमें दीर्घ समासयुक्त उद्धता रचना शोभा देती है। अतः प्रस्तुत श्लोक में वक्ता एवं प्रबन्ध की उपेक्षा करके वाच्य के वैशिष्ट्य से दीर्घ समासयुक्त उद्धत रचना का प्रयोग हुआ है।

इसी प्रकार अन्यत्र भी औचित्यों का अनुसरण करना चाहिए।

10.6 पारिभाषिक शब्दावली

1.	गुण	–	रसों के धर्म गुण हैं वे रस के अव्यभिचारिरूप से साक्षात् उपकारक होते हैं।
2.	अलंकार	–	अलंकरोतीति अलकांरः काव्य की शोभा को बढ़ाने वाले धर्म अलंकार है वे शब्द या अर्थ के द्वारा काव्य के उपकारक होते हैं।
3.	माधुर्यम्	–	आह्लादकत्वं माधुर्यम् – अर्थात् शृंगारादि रस में जो आह्लादस्वरूपत्व है वही माधुर्य हैं।
4.	ओजः	–	आत्मविस्तृति की कारणभूत जो दीप्ति है वही ओज गुण है।
5.	प्रसाद	–	जो श्रवण मात्र से ही चित्त को शीघ्र व्याप्त कर लेता हैं अर्थात् श्रवण मात्र से ही शब्द के अर्थ का बोध हो जाता है, वह प्रसाद गुण है।

10.7 अभ्यासार्थ प्रश्न

1. गुण किसके धर्म हैं –
   (अ) रस (ब) रीति
   (स) अर्थ (द) शब्द ( )
2. अलंकार किसके धर्म हैं –
   (अ) रस (ब) शब्द
   (स) रीति (द) शब्द एवं अर्थ दोनों के ( )
3. रस के अव्यभिचारिरूप से उपकारक हैं –
   (अ) अलंकार (ब) गुण
   (स) रीति (द) दोष ( )
4. वामन ने कितने शब्द गुण माने हैं ?
   (अ) दस (ब) तीन
   (स) पांच (द) सात ( )
5. आचार्य मम्मट ने गुण माने हैं –
   (अ) तीन (ब) दस
   (स) बीस (द) इनमें से कोई नहीं ( )
6. माधुर्य गुण के व्यंजक है –
   (अ) अवृत्ति (ब) दीर्घवृत्ति
   (स) उद्धत रचना (द) कठोरवर्ण ( )
7. माधुर्य गुण का लक्षण लिखिए।
8. गुणों एवं अलंकारों के भेद को स्पष्ट कीजिए।
9. मम्मट ने वामनोक्त गुणों का खण्डन किस प्रकार किया है ?
10. प्रसाद गुण से आप क्या समझते हैं ?

बोधप्रश्नों के उत्तर

1. अ 2. द
3. ब 4. अ

5. अ	6. अ

7. देखिए इकाई 10.3.1

8. देखिए इकाई 10.2.2

9. देखिए इकाई 10.4

10. देखिए इकाई 10.3

10.8 सारांश

प्रस्तुत इकाई में आपने गुणों के स्वरूप, लक्षण एवं उनके भेदों के बारे में विस्तार से जाना। गुणों का अलंकारों से क्या भेद हैं इस विषय में आचार्य मम्मट एवं वामनादि आचार्यो के मतों को जाना। वर्ण, समास एवं रचना गुणों के व्यंजक होते हैं किस गुण में किस प्रकार के वर्ण, समास अथवा रचना का प्रयोग होता है इसका विस्तार से अध्ययन किया। वामनोक्त दस शब्द गुणों एवं दस अर्थगुणों के मम्मटोक्त खण्डन का अध्ययन किया। इस प्रकार काव्यपकाश के गुणपरिच्छेद विषयक अष्टम उल्लास का साङ्गोपाङ्ग निरूपण इस इकाई में किया गया।

10.9 संदर्भ ग्रंथ सूची

1. काव्यप्रकाशः, आचार्य विश्वेश्वर सिद्धान्त शिरोमणि, ज्ञानमण्डल प्रकाशन, वाराणसी, 1960.
2. काव्यप्रकाशः, डॉ. श्रीनिवास शास्त्री. हिन्दी भवन, इलाहाबाद, 1969.
3. काव्यालंकार सूत्र (वामन) विश्वेश्वर सिद्धान्त शिरोमणि, आत्माराम एण्ड सन्स प्रकाशन, दिल्ली,1958.
4. अभिनवकाव्यालंकारसूत्र, प्रो. राघावल्लभत्रिपाठी, (हिन्दी अनुवादक डॉ. रमाकान्त पाण्डेय) जगदीश संस्कृत पुस्तकालय, जयपुर,2011.

इकाई– 11

ध्वन्यालोक के प्रथम उद्योत का प्रतिपाद्य विषय

इकाई की रुपरेखा

11.0 उद्देश्य
11.1 प्रस्तावना
11.2 ध्वनिकार का प्रतिज्ञावाक्य एवं ध्वनि का सामान्य परिचय
11.3 ध्वनि विरोधीमत–अभाववाद एवं उसकी समीक्षा
11.4 ध्वनिरोधीमत–भाक्तवाद एवं उसकी समीक्षा
11.5 ध्वनिविरोधीमत–अलक्षणीयतावाद, अनिर्वचनीयतावाद एवं उसकी समीक्षा
11.6 प्रतीयमान अर्थ एवं उसका वाच्यार्थ से भेद
11.7 ध्वनि का स्वरूप
11.8 पारिभाषिक शब्दावली
11.9 अभ्यासार्थ प्रश्न
11.10 सारांश
11.11 संदर्भ ग्रंथ सूची

11.0 उद्देश्य

इस इकाई के माध्यम से आप जान सकेंगे कि काव्यशास्त्र के युगप्रवर्तक ग्रन्थ ध्वन्यालोक के प्रथम उद्योत का प्रतिपाद्य विषय क्या है।

11.1 प्रस्तावना

आचार्य आनन्दवर्धन (855–884 ई.) ने ध्वन्यालोक नामक अपने सुप्रसिद्ध ग्रन्थ में काव्य को आत्मा के रूप में ध्वनि को प्रतिष्ठित किया है। इनके सिद्धान्त का सार है "काव्यस्यात्मा ध्वनिः"। ध्वनि काव्य में व्याप्त रहने वाला अतिरमणीय अर्थ है। सहृदयजन इसकी प्रशंसा करते हैं। वाल्मीकि आदि कवियों के काव्यों में वाच्यार्थ से भिन्न सहृदयजन संवेद्य एवं श्लाघ्य प्रतीयमान अर्थ कुछ विलक्षण ही काव्य वस्तु। यह प्रतीयमान अर्थ आस्वाद्य होकर जब अन्य अर्थों की तुलना में प्रधान होता है तब ध्वनि कहा जाता है। इसके वस्तु, अलंकार एवं रस ये तीन भेद होते हैं। प्रतीयमान अर्थ की प्रतीति अभिधा आदि व्यापारों से भिन्न व्यञ्जना नामक शब्द और अर्थ के व्यापार से ही होती है। वस्तु और अलंकार रूप तो वाच्य भी हो सकते हैं किन्तु वाच्य अवस्था में ये ध्वनि नहीं कहे जाते हैं रस रूपी प्रतीयमान तो स्वप्न में भी वाच्य नहीं होता। काव्य की आत्मा तो वस्तुतः यह प्रतीयमान ही होती है–

काव्यस्यात्मा स एवार्थस्तथा चादिकवेः पुरा।
क्रौञ्चद्वन्द्ववियोगोत्थः शोकः श्लोकत्वमागतः।। ध्वन्यालोक 1/5

काव्य रस के स्पर्श से वस्तु और अलंकार रूप ध्वनि भी काव्य के आत्मरूप में प्रतिष्ठित है। ध्वनि का सामान्य लक्षण इस प्रकार है –

यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृतस्वार्थौ।
व्यङ्क्तः काव्यविशेषः स ध्वनिरिति सूरिभिः कथितः।। ध्वन्यालोक 1/13

"जहाँ अर्थ अपने स्वरूप को तथा शब्द अपने अर्थ को गौण बनाकर उस प्रतीयमान अर्थ को व्यक्त करते हैं उसे काव्य विशेष के विद्वानों ने ध्वनि कहा है।"

ध्वन्यालोक का प्रथम उद्योत ध्वनिसिद्धांत की भूमिका है। इसमें ध्वनि की स्थापना, ध्वनि विरोधियों के मत एवं उनका खण्डन तथा ध्वनि का स्वरूप प्रधान रूप से विवेचित हुआ है।

इकाई 11.2 ध्वनिकार का प्रतिज्ञावाक्य एवं ध्वनि का सामान्य परिचय

प्रतिज्ञावाक्य :– ध्वन्यालोक एक युगप्रवर्तक ग्रन्थ था। ग्रन्थकार आनंदवर्धन ने एक ऐसे सिद्धांत की स्थापना की जो सर्वव्यापक होने से युग–युगतक सर्वमान्य रहा। ध्वनिसंप्रदाय का जन्म भी आनंदवर्धन के बहुत पहले हो चुका था। ध्वनिकार अपनी पहली कारिका में प्रतिज्ञावाक्य लिखते हुए कहते हः–

"काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति बुधैर्यः समाम्नातपूर्वः।" ध्वन्यालोक 1.1 (ध्व. 1.1)

अर्थात् "काव्य की आत्मा ध्वनि है, ऐसा मेरे पूर्ववर्ती विद्वानों का भी मत है। ध्वनिसिद्धांत का मूल संकेत वैयाकरणों के स्फोट सिद्धांत में उपलब्ध होता है। इसके अतिरिक्त दर्शनशास्त्र में भी व्यंजना एवं अभिव्यक्ति (दीपक से घट आदि) की चर्चा अतिप्राचीन है। ध्वनिकार से पहले काव्यशास्त्र में रस, अलंकार और रीतिवादी आचार्य अपने सिद्धातों का प्रतिपादन कर चुके थे। ये शास्त्रकार यद्यपि ध्वनिसिद्धांत से परिचित नहीं थे किन्तु आनंदवर्धन मानते हैं कि वे कम से कम उसके सीमात तक अवश्य पहुंच गए थे। ध्वनिसिद्धांत से पहले के सभी सिद्धांत एकांगी थे। अलंकार एवं रीति काव्य के बाह्य तत्त्व शब्द और अर्थ के सौन्दर्य तक सीमित थे तो रस ऐन्द्रिय आनंद को ही सर्वस्व मानता था अतः बुद्धि और कल्पना के चमत्कार के प्रति उदासीन था। आनन्दवर्धन ने इन त्रुटियों को पहिचाना तथा सभी का उचित परिहार करते हुए शब्द की तीसरी शक्ति व्यञ्जना पर आश्रित ध्वनि को काव्य की आत्मा घोषित किया। यह सिद्धांत प्रबंधकाव्यों के साथ–साथ स्फुटकाव्यों के लिए भी अधिक मान्य रहा। प्रबंध काव्यों में तो विभाव आदि का समुचित सन्निवेश होने के कारण चमत्कार रहता है पर जिन स्फुट काव्यों में विभाव आदि का सङ्घटन समुचित नहीं हो पाता किन्तु अत्यंत सुंदर पदों के सन्निवेश से चमत्कार हो जाता है वहाँ भी यह सिद्धांत उचित स्थान पा गया। स्फुट काव्यों के कवियों को भी आदर प्राप्त हुआ।

ध्वनि का सामान्य परिचयः– ध्वनिकार ने काव्य की आत्मा के रूप में ध्वनि को प्रतिष्ठित किया है। सहृदयों की मनः प्रीति के लिए उन्होंने इसके स्वरूप का विवेचन किया। ध्वनि का लक्षण प्रस्तुत करने से पूर्व ध्वनिकार ने सामान्य रूप से ध्वनि का स्वरूप प्रतिपादित करते हुए लिखा है कि जो अर्थ सहृदयों के द्वारा श्लाघ्य (प्रशंसनीय) हो, वह ध्वनि हैः–

"योऽर्थः सहृदयश्लाध्यः काव्यात्मेति व्यवस्थितः ।।ध्व. 1/2।।

काव्य में वाच्य, लक्ष्य और व्यंग्य ये तीन अर्थ होते है। इनमें व्यङ्गअर्थ (प्रतीयमान अर्थ) महाकवियों की वाणी में कुछ विलक्षण ही होता है। अत्यंत रमणीयता के कारण सहृदयजन इसी की प्रशसा करते हैं अतः यही अर्थ ध्वनि कहा जाता है–

"प्रतीयमानं पुनरन्यदेव वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम्।

यत्तत्प्रसिद्धावयवातिरिक्तं विभाति लावण्यमिवाङ्गनासु।। ध्व 1/4।।

महाकवियों की वाणी में भासित होने वाला प्रतीयमान कुछ विलक्षण ही अर्थ है। यह विशिष्ट अर्थ महान् कवियों को वाणी का प्रसाद है, स्वादु है तथा वाच्य एवं लक्ष्य अर्थ से अतिरिक्त कुछ दूसरी ही वस्तु हैः–

"सरस्वती स्वादु तदर्थवस्तु निःष्यन्दमाना महतां कवीनाम्।

अलोकसामान्यमभिव्यनक्ति परिस्फुरन्तं प्रतिभाविशेषम्।।ध्व1/6।।

सहृदयों द्वारा श्लाघ्य, अत्यन्तरमणीय एवं सर्वातिशायी प्रतीयमान अर्थ ही ध्वनि है, न कि प्रत्येक प्रतीयमान अर्थ। प्रतीयमान के प्रधान होने पर ही उसे ध्वनि कहा जाएगा। वस्तुतः काव्यविशेष ही ध्वनि है जिसे वाच्यविशेष अर्थ और वाचक विशेष शब्द व्यक्त करते है।

"यत्रार्थो वाच्यविशेषो वाचकविशेषः शब्दो वा तमर्थं व्यङ्क्तः, स काव्यविशेषा ध्वनिः।।

इस पर टिप्पणी करते हुए लोचनकार लिखते हैं कि शब्द और अर्थ दोनों का ही ध्वनन व्यापार होता है। यहाँ काव्य विशेष का अर्थ हैं– अर्थ या शब्द या व्यापार। लोचनकार अभिनवगुप्त के अनुसार प्रधानतया समुदाय शब्द, अर्थ–वाच्य (व्यञ्जक) अर्थ और व्यङ्ग्य

अर्थ तथा शब्द और अर्थ का व्यापार ही ध्वनि है। इस प्रकार ध्वनि संज्ञा केवल काव्य की ही नहीं है वरन् शब्द, अर्थ और शब्द अर्थ के व्यापार इन सब को ध्वनि कहते है।

ध्वनि शब्द के व्युत्पत्ति लभ्य अर्थो से भी पाँच भेद सिद्ध हो जाते है।

1. ध्वनि ध्वनयति वा यः स व्यञ्जकः शब्दः ध्वनिः–जो ध्वनित करे या कराये वह व्यंजक शब्द ध्वनि है।
2. ध्वनति ध्वनयति वा यः स व्यञ्जकोऽर्थः ध्वनिः–जो ध्वनित करे या कराये वह व्यञ्जक अर्थ ध्वनि है।
3. ध्वन्यते–इति ध्वनिः– जो ध्वनित किया जावे वह ध्वनि है। इसमें रस, अलंकार और वस्तु–व्यङ्गय अर्थ के ये तीनों रूप आ जाते है। अर्थात् ध्वनित होने वाला अर्थ ध्वनि है।
4. ध्वन्यते अनेन इति ध्वनिः– जिसके द्वारा ध्वनित किया जावे यह ध्वनि है। इससे शब्द अर्थ के व्यापार –व्यञ्जना आदि शक्तियों का बोध होता है।
5. ध्वन्यते ऽस्मिन्निति ध्वनिः– जिसमें वस्तु, अलंकार, रसादि ध्वनित हों उस काव्य को ध्वनि कहते है।

इस प्रकार व्यञ्जक शब्द, व्यंजक अर्थ, व्यङ्ग्य अर्थ, व्यञ्जना व्यापार एवं व्यङ्ग्य प्रधान काव्य–ये पांच अर्थ ध्वनि के है।

11.3 ध्वनि विरोधीमत– अभाववाद एवं उसका खण्डन

आनन्दवर्धन ने प्रथम कारिका में लिखा है कि काव्य की आत्मा ध्वनि का भी कुछ लोग अभाव मानते हैं। "तस्याभावं जगदुरपरे।" अभाववादियों का मत विपर्मयमूलक है। इनके मत में ध्वनि नाम की वस्तु कोई होती ही नहीं। भरत से लेकर वामन तक के पाँच आचार्यो ने ध्वनि का नामोल्लेख नहीं किया है। अतः ध्वनि अमान्य है। अभाववाद के इस विकल्प में अभाव का अर्थ है – ध्वनि नहीं है अर्थात् प्राचीन काव्य–शास्त्र में। इन के मत का सार है कि लोक और शास्त्र की सीमा का अतिक्रमण करने वाले शब्द और अर्थ ही काव्य का स्वरूप हैं। शब्द और अर्थ में शोभा का आधान करने वाले धर्म शब्द गुण, अर्थगुण, शब्दालङ्कार और अर्थालङ्कार हो है। इनके अतिरिक्त शोभाधायक धर्म कोई नहीं है अतः यह ध्वनि नाम का कौन सा तत्त्व है? यह प्रथम विकल्प का सार है।

अभाववादियों का दूसरा विकल्प यह है कि पूर्ववर्त्ती आचार्यो ने शोभाधायक धर्मों को पहचाना था और उन पर विचार किया था किन्तु ध्वनि में कोई चमत्कार नहीं है। अचमत्कारी या चमत्कारशून्य किसी भी तत्त्व में यदि काव्यत्व स्वीकार किया जाएगा तो काव्यत्व की हानि होगी। काव्यता का आधार चमत्कार है और चमत्कार ध्वनि में न होने से ध्वनि नामक काव्य तत्त्व है ही नहीं।

तृतीय प्रकार के अभाववादियों का विचार है कि यदि ध्वनि मे चमत्कार है तब भी उसका अन्तर्भाव हमारे द्वारा कहे गए गुण और अलङ्कारों में ही हो जाएगा। चमत्कार जनक गुण और अलंकारों में से किसी का नाम ध्वनि रख देने में कौन सा पाण्डित्य है। इनका कहना है कि प्राचीन आचार्यो ने काव्य के विषय में सब कुछ नहीं कह दिया, कुछ शेष भी रह गया। शेष रहे किसी महत्त्वहीन तत्त्व को ध्वनि कहकर झूठी सहृदयत्व की भावना को लेकर वास्तविकता से परे जाना औचित्यपूर्ण नहीं है। पूर्ववर्ती आचार्यो ने भी बहुत से काव्य अलंकारों को प्रकाशित किया है किन्तु उनकी ऐसी दशा नहीं है। अतः ध्वनि नाम का कोई अपूर्व (नवीन) तत्त्व नहीं है और यदि है भी तो काव्यात्मा नहीं है।

तीनों विकल्पों का सार यह है –

1. ध्वनि का प्राचीन काव्यशास्त्र में अभाव है।
2. ध्वनि में चमत्कार का अभाव है अतः उस में काव्य धर्म बनने का अभाव है।
3. ध्वनि में काव्यात्मता का अभाव है।

अत एव ध्वनि प्रवादमात्र है। ध्वनिकार ने इस विषय में एक निम्न श्लोक उद्धृत किया है –

"यस्मिन्नस्ति न वस्तु किञ्चन मनः प्रह्लादि सालङ्कृति।
व्युत्पन्नैरचितं न चैव वचनैर्वक्रोक्तिशून्यं च यत्।
काव्यं तद्ध्वनिना समन्वितमिति प्रीत्या प्रशंसञ्जडो
नो विद्मोऽभिदधाति किं सुकृतिना पृष्टःस्वरूपं ध्वनेः।।"

अभाववाद के तीनों विकल्पों में परस्पर सम्बन्ध है। इनका मानना है कि ध्वनि नहीं है क्योंकि उसका उल्लेख भरत से लेकर वामन तक आचार्यों ने अपने काव्यशस्त्रों में नहीं किया है क्योंकि ध्वनि में कोई चमत्कार नहीं है। चमत्कार होता भी तो इतना नहीं कि उसको काव्यात्मा कहा जावे।

अभाववाद की समीक्षा

ध्वनिकार ने काव्य शास्त्र में सर्वप्रथम प्रतीयमान अर्थ को पहचाना तथा उसे वाच्य और लक्ष्य अर्थ से भिन्न स्थिर किया। प्रतीयमान महाकवियों की वाणी में विलक्षण ही काव्यवस्तु है यह अत्यन्त रमणीय है। ध्वनिकार का कहना है कि यह प्रतीयमान ही सर्वातिशायी होने पर ध्वनि कहा जाता है। ध्वनि की गवेषणा काव्यों में की जानी चाहिए न कि काव्य शास्त्र में। वामन तक के काव्य शास्त्र में भले ही ध्वनि का उल्लेख न हो किन्तु रामायण, महाभारत सदृश महाकाव्यों में काव्यों का उपनिषद्भूत प्रधान तत्त्व है तथा यह अत्यन्तरमणीय है। इस की रमणीयता गुण, अलंकार, रीति आदि के सदृश नहीं है अपितु विलक्षण है। इसलिए इसका अन्तर्भाव चमत्कार के हेतु अलङ्कार आदि में नहीं हो सकता। ध्वनि एक महाविषय है, अङ्गी है। अलंकार आदि काव्य के अङ्ग हैं अङ्गी का अन्तर्भाव अङ्गों में नहीं हो सकता है। यदि अलंकार भी ध्वन्यमान हों तो उनका अलङ्कार ध्वनि में अन्तर्भाव हो जाएगा न कि ध्वनि का अन्तर्भाव उन अलङ्कारों में होगा।

ध्वनिकार कहते हैं कि पूर्ववर्ती आचार्यों की सूक्ष्मबुद्धि भी इस तत्त्व का उन्मेष नहीं कर पाई जबकि काव्यों का यह प्राणतत्त्व है। कवियों ने इस के स्पर्श से ही काव्यों को रमणीय बनाया है। प्रतीयमान का ज्ञान व्याकरण और कोष आदि के ज्ञान से नहीं हो सकता। इसका ज्ञान काव्यतत्त्वज्ञों (सहृदयों) को ही होता है। जो सहृदय वाच्यार्थज्ञान से विमुख होकर केवल काव्य के तत्त्वज्ञान के लिए निरन्तर तत्पर रहते हैं उनकी तत्त्वार्थदर्शिनी बुद्धि में ध्वनितत्त्व झटिति स्फुरित हो जाता है। इनकी दृष्टि में काव्य की लोकप्रियता का प्रमुख कारण और उसका असाधारण धर्म ध्वनि ही है। प्रतीयमान के सौभाग्य के बिना काव्यत्व होगा ही नहीं –

"सर्वथा नास्त्येव सहृदययहारिणः काव्यस्य स प्रकारो यत्र न प्रतीयमानार्थसंस्पर्शेन सौभाग्यम्" ध्वन्यालोक पृ. 475

आनन्दवर्धन लिखते हैं कि वस्तुतः काव्य का आत्मतत्त्व तो ध्वनि ही है इसमें आदि कवि वाल्मीकि का प्रमाण भी है। कारिका इस प्रकार है –

"काव्यस्यात्मा स एवार्थस्तथा चादिकवेःपुरा।
क्रौञ्चद्वन्द्ववियोगोत्थः शोकः श्लोकत्वमागतः।।" ध्वन्यालोक 1/5

ध्वनिकार अभाववादियों के मत का खण्डन करते हुए लिखते हैं कि वाच्य–वाचक की चारूता के हेतु उपमादि अलंकारों से ध्वनि का विषय भिन्न है। अभाववादियों के एक विकल्प में कहा गया था कि ध्वनि में भी कमनीयता है तथा अलंकारों में भी कमनीयता है अतः ध्वनि का अन्तर्भाव अलंकारों में ही कर देना चाहिए। यह भी उचित नहीं है क्योंकि अलंकार प्रस्थान वाच्य–वाचक का आश्रय लेकर रहते हैं जबकि ध्वनि व्यङ्ग्य व्यञ्जक का आश्रय लेकर रहती है। वाच्य और वाचक की चारूता के हेतु अलंकार ध्वनि के अंग है जबकि ध्वनि अंगी है। परिकर श्लोक इस प्रकार हैः–

"व्यङ्ग्यव्यञ्जकसम्बन्धनिबन्धनतया ध्वनेः।

वाच्यवाचकचारूत्वहेत्वन्तःपातिता कुतः।।

अभाववादियों का एक तर्क यह है कि जिन अलंकारों में प्रतीयमान (व्यङ्ग्य) अर्थ की विशदरूप से प्रतीति न हो वह भले ही ध्वनि का विषय न हो। पर जहाँ व्यङ्ग्य की वैशद्येन प्रतीति होनी है ऐसे समासोक्ति, आक्षेप, अनुक्तनिमित्त विशेषोक्ति, पर्यायोक्त, अपह्नुति, दीपक, सङ्कर आदि अलंकारों में ध्वनि का अन्तर्भाव किया जा सकता है इसी बात का खण्डन करने के लिए ध्वनिकार ने ध्वनि के लक्षण (कारिका एवं अर्थ ध्वनि स्वरूप इकाई 11.7 में देखें) में "उपसर्जनीकृतस्वार्थौ" यह पद दिया है। ध्वनिकार का आशय यह है कि जहां अर्थ अपने को अथवा शब्द अपने अर्थ को गुणीभूत करके अर्थान्तर (प्रतीयमान) को अभिव्यक्त करते हैं उसको ध्वनि कहते है। व्यंग्य का प्राधान्य जहां हो वही ध्वनि का विषय है–व्यङ्ग्यप्राधान्ये ध्वनिः"। समासोक्ति आदि अलंकारो में व्यंग्य का प्राधान्य नहीं है अतः इनमें ध्वनि का अंतर्भाव कैसे हो सकता है। अलंकारों में व्यंग्य सर्वथा वाच्य में गुणीभूत हो जाता है इसलिए व्यंग्य का प्राधान्य न होने से उसे ध्वनिकाव्य नहीं कह सकते है। आनंदवर्धन समासोक्ति अलंकार का एक उदाहरण देते हुए इस बात को और अधिक स्पष्ट करते हैं :–

"अनुरागवती सन्ध्या दिवसस्तत्पुरः सरः।

अहो दैवगतिः कीदृक् तथापि न समागमः।।

अर्थ– सन्ध्या (नामक या रूपिणी नायिका) अनुराग (अर्थात् संध्याकालीन लालिमा, पक्षांतर में प्रेम) से युक्त है और दिवस (नामक या रूप नायक) उसके सामने (स्थित ही नही पुरःसरः) बढ़ रहा है (सामने आ रहा है)। ओह, दैव की गति कैसी (विलक्षण) है कि फिर भी (उनका) समागम नहीं हो पाता।

यहां सन्ध्या और दिवस वर्णन प्रकृत है। सन्ध्या और दिवस के समान लिंग और समान विशेषणों के कारण नायक–नायिका की प्रतीति होती है और उनके व्यवहार का समारोप सन्ध्या और दिवस पर होने से समासोक्ति अलंकार माना जाता है। अभाववादियों का कहना है कि यहां नायक–नायिका व्यवहार व्यङ्ग्य है वाच्य नहीं, अतः यहाँ समासोक्ति के साथ ध्वनि भी है। अतः ध्वनि का अंतर्भाव समासोक्ति में माना जा सकता है। किन्तु ध्वनिकार कहते हैं कि यहां समारोपित नायक–नायिका व्यवहार से युक्त दिवस और सन्ध्या के ही वाक्यार्थ होने से, व्यंग्य से अनुगत वाच्य ही प्रधानतया प्रतीत होता है। व्यङ्ग्य की प्रतीति होने पर भी वाच्यार्थ में चारूता है। जिसमें चारूता है उसी का प्राधान्य होता है अतः यहां अलंकार (समासोक्ति या वामन के मत में आक्षेप) ही है ध्वनि नहीं।

जिन अलंकारों में व्यङ्ग्य का प्राधान्य है उन अलंकारों को अलंकार ध्वनि का विषय माना जाएगा न कि ध्वनि का ही अंतर्भाव उन अलंकारों में माना जावे।

"यदि प्राधान्येन व्यंग्यत्वं तद् भवतु नाम तस्य ध्वनावन्तर्भावः। न तु ध्वनेस्तत्रान्तर्भावः।।"

वाच्य के उपसर्जनी भाव से जहां व्यंग्य की स्थिति हो वह ध्वनि का विषय है न कि वही ध्वनि है। अभाववादियों के खण्डन का सार एवं ध्वनि तत्त्व का रहस्य निम्नलिखित कारिकाओं में हैः–

"व्यङ्ग्यस्य यत्राप्रधान्यं वाच्यमात्रानुयायिनः।

समासोक्त्यादयस्तत्र वाच्यालङ्कृतयः स्फुटाः।।

व्यङ्ग्यस्य प्रतिभामात्रे वाच्यार्थानुगमेऽपि वा।

न ध्वनिर्यत्र वा तस्य प्राधान्यं न प्रतीयते।।

तत्परावेव शब्दार्थौ यत्र व्यंग्यं प्रति स्थितौ।

ध्वनेः स एव विषयो मन्तव्यः सङ्करोज्झितः।।

अर्थः– वाच्य के अनुगामी व्यङ्ग्य का जहां प्राधान्य नहीं है वहाँ समासोक्ति आदि अलंकार होते है। वाच्यार्थ के अनुगामी व्यङ्ग्य की प्रतीति मात्र में ध्वनि नहीं है। जहां व्यङ्ग्य का प्राधान्य नहीं है वहां ध्वनि नहीं है। जहां शब्द और अर्थ व्यङ्ग्य का बोध कराने के लिए ही तत्पर हो उसो को सङ्कररहित ध्वनि का विषय समझना चाहिए।

अलंकारों में ध्वनि का अंतर्भाव न करने का अन्यकारण यह भी है कि काव्यविशेष ध्वनि अङ्गी है तथा अलंकार, गुण और वृत्तियाँ अङ्ग है। अवयव ही पृथक् होकर अवयवी नहीं कहा जा सकता। अवयव रूप अलंकार आदि मिलकर ध्वनि के अङ्ग ही है न कि अङ्गी (ध्वनि) है। ध्वनि का विषय अतिविशाल है अतः उसका अन्तर्भाव अल्पविषय अलंकार आदि में नहीं हो सकता।

11.4 ध्वनि विरोधी मत भाक्तवाद एवं उसका खण्डन

कुछ आचार्य मुख्यार्थ से भिन्न ध्वन्यर्थ को स्वीकार करते हैं किन्तु उस अर्थ को भाक्त कहते हैं – "भाक्तमाहुस्तमन्ये। वामन ने "सादृश्याल्लक्षणा वक्रोक्तिः" कह कर काव्य में एक अतिरिक्त शब्दवृत्ति को स्वीकार किया है। इस वृत्ति से ज्ञात होने वाला अर्थ अभिधा से ज्ञात होने वाले अर्थ से भिन्न होता है और इसे ध्वनि के स्थल में भी देखा जाता है। अतः कुछ विद्वान् ध्वनि को लक्षणा से अभिन्न मानते हुए कहना चाहते हैं कि लक्षणा ही ध्वनि है।

आनन्दवर्धन शब्द के मुख्यतः दो व्यापार मानते हैं एक मुख्य व्यापार और दूसरा अमुख्य व्यापार। मुख्य व्यापार अभिधा है तथा अमुख्य व्यापार के भी दो प्रकार हैं एक गुणवृत्ति या भक्ति तथा दूसरा व्यञ्जना व्यापार। लक्षणावादी आचार्य व्यज्जना को स्वीकार नहीं करते तथा अभिधार्थ (मुख्यार्थ) से भिन्न अमुख्यार्थ का बोध लक्षणा से ही मानना चाहते हैं। आनन्दवर्धन ने अमुख्य व्यापार के लिए मुख्यतः गुणवृत्ति शब्द का प्रयोग किया है तथा इसके लिए उन्होंने भक्ति का पहले प्रयोग किया है। "भाक्तमाहुस्तमन्ये"। आनन्दवर्धन भक्ति को उपचार रूप मानते हैं। उनका कथन है – "उपचारमात्रं तु भक्तिः", अभिनवगुप्त ने भक्ति शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार की है कि लक्षणा के त्रिविध हेतुओं का संकेत मिल जाता है। उनकी व्युत्पत्तियाँ ये हैं – (1) मुख्यार्थस्य भङ्गो भक्तिः (मुख्यार्थ का बाध भक्ति है) (2) भज्यते सेव्यते पदार्थेन प्रसिद्धतयोच्यते इति भक्तिः धर्मोऽभिधेयेन सामीप्यादिः (प्रसिद्ध होने के कारण जिसको पदार्थ भजे = सेवन करे = अपनाए वह धर्म भक्ति, जैसे 'गंगा पर घर' इस प्रयोग में सामीप्य (सम्बन्ध)। (3) गुणसमुदायवत्तेः शब्दस्यार्थभागस्तैक्ष्ण्यादिर्भक्तिः" (गुण समुदाय में रहने वाले (गुण समुदाय के बोधक) शब्द का तैक्ष्ण्य इत्यादि जो अर्थ भाग होता है उसे भक्ति कहते हैं। अथवा "भक्तिः प्रतिपाद्ये प्रतिपादनीय सामीप्य तैक्ष्ण्य इत्यादि में श्रद्धा की अधिकता)।

भक्ति से आया हुआ अर्थ भाक्त कहा जाता है। भक्तिवादी आचार्य काव्य के आत्मभूत ध्वनि को गुणवृत्ति या लक्षणा कहते हैं – "अन्ये तं ध्वनिसंज्ञितं काव्यात्मानं गुणवृत्तिरित्याहुः" इनकी दृष्टि में ध्वनि और भक्ति अभिन्न हैं। अतः ध्वनि का अन्तर्भाव भक्ति या गुणवृत्ति में ही कर लेना चाहिए।

भाक्तवाद का खण्डनः– भाक्तवाद के तीन विकल्प प्रस्तुत करते हुए ध्वनिकार ने इसका खण्डन किया है। भक्तिवादी जब भक्ति (लक्षणा) को ध्वनि कहता है तब उसके कहने का एक आशय तो यह हो सकता है कि जिस प्रकार घट और कलश पर्याय शब्द हैं उसी प्रकार भक्ति और ध्वनि भी पर्याय हैं अर्थात् दोनों अभिन्न हैं, नाम का ही भेद है। इस प्रकार प्रथम विकल्प अभेदवाद हुआ। इस का खण्डन करते हुए ध्वनिकार लिखते हैः– "यदप्युक्तं भक्तिर्ध्वनिरिति, तत् प्रतिसमाधीयते भक्त्या बिभर्ति नैकत्वं रूपभेदादयं ध्वनिः (ध्व 1/14 पूर्वार्द्ध)

भक्ति और ध्वनि अभिन्न नहीं है यतः दोनों में रूप भेद है। ध्वनि का स्वरूप हैः–

"वाच्यव्यतिरिक्तस्यार्थस्य वाच्यवाचकाभ्यां तात्पर्येण प्रकाशनं यत्र व्यङ्ग्यप्राधान्ये स ध्वनिः।"

जहाँ वाच्य और वाचक के द्वारा वाच्यव्यतिरिक्त अर्थ का तात्पर्य से प्रकाशन हो वहाँ व्यङ्ग्य की प्रधानता में ध्वनि होती है। जैसे–

"सुवर्णपुष्पां पृथिवीं चिन्वन्ति पुरूषास्त्रयः।
शूरश्च कृतविद्यश्च यश्च जानाति सेवितुम्।।

यहाँ न तो पृथिवी कोई लता है, न सुवर्ण पुष्प और न उसका चयन नहीं हो सकता है। यहाँ मुख्यार्थ बोध होने से लक्षणा द्वारा विपुल धन आदि की प्रतीति होती है। लक्षणा का प्रयोजन शूर, कृतविद्य और सेवका का प्राशस्त्य, स्वपद से वाच्य न होकर चारूत्वरूप में ध्वनित होता है।

लक्षणा का स्वरूप केवल उपचार है "उपचारमात्रन्तु भक्तिः"। उपचार का अर्थ है गौण प्रयोग। संकेतित अर्थ से भिन्न उससे संम्बद्ध अन्य अर्थ का बोध कराना 'उपचार' है। कवि लोग कई बार प्रसिद्ध के अनुरोध से उपचार का आश्रय लेते हैं चाहे वहां व्यंग्य का सौष्ठव नहीं है। जैसे–

"कृशाङ्ग्याः सन्तापं वदति बिसिनीपत्रशयनम्।"

यहाँ व्यङ्ग्यकृत सौष्ठव नहीं है पर 'वदति' पद में लक्षणारूप भक्ति का आश्रय लिया गया है।

भक्तिवादियों का दूसरा विकल्प यह है कि भक्ति ध्वनि का लक्षण है अर्थात् जो भक्ति का लक्षण है वही ध्वनि का लक्षण है। इसका खण्डन करते हुए ध्वनिकार लिखते हैंः–

"मा चैतत् स्याद् भक्तिर्लक्षणं ध्वनेरित्याह–अतिव्याप्तेरथाव्याप्तेर्न चासौ लक्ष्यते तया।।वही 1/14 (उत्त.)

अतिव्याप्ति और अव्याप्ति के कारण 'ध्वनि' भक्ति से लक्षित नहीं हो सकता है।

कोई भी लक्षण लक्ष्य से अतिरिक्त स्थल में भी व्याप्त हो जावे तब वह 'अतिव्याप्ति' लक्षण दोष से दूषित होता है। यदि भक्ति का जो लक्षण है वही ध्वनि का लक्षण माना जावे तब अतिव्याप्ति दोष होगा। क्योंकि ध्वनि से भिन्न स्थलों में भी भक्ति (लक्षणा) हुआ करती है। जैसेः–

"चुम्ब्यते शतकृत्वोऽवरुध्यते सहस्रकृत्वः।

विरम्य पुना रम्यते प्रियो जनो नास्ति पुनरुक्तम्।।

(प्रियजन को सैंकड़ों बार चुम्बन करते हैं, हजारों बार आलिंगन करते हैं, रूक–रूक कर बार–बार रमण किया जाता है फिर भी पुनरूक्त (अरूचिकर) नहीं प्रतीत होता।

पुररुक्त कोई शब्द या वाक्य हो सकता है। मनुष्य कभी पुनरुक्त नहीं हो सकता। अतः इस अर्थ का बाध होकर लक्ष्यार्थ होता है–प्रिय व्यक्ति कभी अनुपादेय नहीं होता।' यहां पर पुनरूक्त कहने में ऐसा कौन सा चमत्कार है जो अनुपादेय कहने में नही है। अतः यहां ध्वनि नही है पर लक्षणा है अतः अतिव्याप्ति दोष ह।

अव्याप्ति दोष का अर्थ है जहाँ लक्षण लक्ष्य के संपूर्ण स्थलों पर घटित न हो। भक्ति को ध्वनि का लक्षण मानने पर अव्याप्ति दोष होगा क्योंकि अभिधामूला ध्वनि के स्थलों में लक्षणा का लक्षण घटित नहीं होता। जैसे–"निःशेषच्युतचन्दनं स्तनतटं निर्मृष्टरागोऽधरः" इस उदाहरण में रसध्वनि है किन्तु मुख्यार्थ बाध आदि न होने पर लक्षणा का लक्षण घटित नहीं होता है।

भाक्तवादियों का तीसरा विकल्प यह हो सकता है कि "काकवद् देवदत्तस्य गृहम्" के समान भक्ति को ध्वनि का उपलक्षण माना जावे। 'विशेषण' वर्तमान व्यावर्तक धर्म होता है आर अवर्तमान व्यावर्तक धर्म को 'उपलक्षण' कहते है। जैसे–"काकवद्देवत्तस्य गृहम्' यहां काकवत्व देवदत्त के गृह का लक्षण या विशेषण नहीं अपितु 'उपलक्षण' है। तात्पर्य यह है कि कभी दो व्यक्ति साथ–साथ कहीं गए। एक घर पर बहुत से कौए बैठे हुए थे जिस कारण दोनों का ध्यान उस घर पर गया। पीछे कुछ दिनों बाद उनमें से एक व्यक्ति को देवदत्त के घर का पता चाहिए था। तब उसने दूसरे से पूछा। उस द्वितीय व्यक्ति ने कहा "काकवद् देवदत्तस्य गृहम्"। उसका अभिप्राय यह है कि जिस घर पर कौए बैठे थे वह देवदत्त का घर है। जब परिचय कराया जा रहा है उस समय घर पर कौए नहीं है फिर भी काकवद् पद देवदत्त के घर का अन्य घरों से भिन्न ज्ञान करवा रहा हैं। इस प्रकार

अवर्तमान व्यावर्तक धर्म 'उपलक्षण' है। इसी प्रकार का यह भक्ति भी ध्वनि का उपलक्षण है। इस विकल्प का खण्डन करते हुए ध्वनिकार कहते हैः–

"कस्यचिद् ध्वनिभेदस्य सा त् स्यादुपलक्षणम्" ध्व.1/19 पूर्वार्द्ध

वह भक्ति वक्यमाण प्रभेदो में से किसी विशेष भेद का 'उपलक्षण' हो सकती है। किन्तु ध्वनि के समस्त भेदों का उपलक्षण कभी भी नहीं हो सकती है।

ध्वनिकार एक और तर्क से भी भाक्तवाद का खण्डन करते हुए लिखते है कि लक्षण (गुणवृत्ति) का आश्रय वाचकत्व है जबकि ध्वनि का आश्रय व्यञ्जकत्व है इसलिए भक्ति ध्वनि का लक्षण नहीं हो सकती :–

"वाचकत्वाश्रयेणैव गुणवृत्तिर्व्यवस्थिता।
व्यञ्जकत्वैकमूलस्य ध्वनेः स्याल्लक्षणं कथम्।। ध्व. 1/18

इस प्रकार गुणवृत्ति (लक्षणा) व्यापार तथा व्यञ्जना (व्यञ्जकत्व) व्यापार भिन्न–भिन्न है। भेद का आधार इस प्रकार है –

1. व्यञ्जना व्यापार के साथ व्यङ्ग्य अर्थ नियमतः रहता है जबकि गुणवृत्ति के साथ नहीं।
2. व्यञ्जना से प्रतीत अर्थ प्रधान और अप्रधान रह सकता है जबकि गुणवृत्ति से प्रतीत अर्थ प्रधान ही हुआ करता है।
3. व्यज्जना से प्रतीत अर्थ जब प्रधान होता है तब वह ध्वनि कहा जाता है और काव्य के आत्मरूप में प्रतिष्ठित होता है जबकि गुणवृत्ति से ज्ञात अर्थ प्रधान होकर भी काव्य की आत्मा नहीं बन सकता।
4. गुणवृत्ति वाचकत्व पर आश्रित रहती है व्यञ्जना वृत्ति कभी वाचकत्व के बिना भी रीति, वृत्ति, अनुप्रास, अभिनय आदि के आश्रम से निष्पन्न हो जाती है।

इन सब कारणों से ध्वनि का अन्तर्भाव भक्ति (लक्षणा) में नहीं किया जा सकता।

11.5 ध्वनि विरोधी मत अलक्षणीयतावाद एवं उसका खण्डन

आनन्दवर्धन ने ध्वन्यालोक में ऐसे आचार्यों का उल्लेख किया है जो ध्वनि को एक अनिर्वचनीय तत्त्व मानते थे। इन का मत था ध्वनि सहृदयजनसंवेद्य है किन्तु इसका निर्वचन वाणी का विषय नहीं है –

"केचिद्वाचां स्थितमविषये तत्त्वमूचुस्तदीयम्" ध्वन्यालोक 1/1 तथा "केचित् पुनर्लक्षणकरणशालीनमतयो ध्वनेस्तत्त्वं गिरामगोचरं सहृदयहृदयसंवेद्यमेव समाख्यातवन्तः। वही 1/1 की वृत्ति।

इन आचार्यों ने ध्वनि तत्त्व को स्वीकार करते हुए उसका लक्षण माना था – "शब्द और अर्थ का रत्नगत जाति विशेष के समान विशिष्ट ज्ञाता द्वारा संवेद्य किन्तु अनाख्येय चारूत्व" (यत्र शब्दानामर्थानां च प्रतिपतृविशेष–संवेद्यं जात्यत्वमिव रत्नविशेषाणां चारुत्वमनाख्येमाभासते काव्ये तत्र ध्वनिव्यवहारः इति लक्षणं ध्वनेरूच्यते केनचित्। (ध्व. पृ. 517–18)

आनन्दवर्धन ने इन को सुकुमारमति कहा है। ये समीक्षक सूक्ष्म और गहन वस्तु का विश्लेषण करना नहीं जानते हैं। (लक्षणकरणशालीनमतयः, अनाख्येयविशेषसम्भावना तु विवेकावसादमूलैव")

समीक्षा

अनिर्वचनीयतावादियों म भी प्रथम प्रकार के समीक्षक कदाचिद् ब्रह्म के सदृश्य ध्वनि को शब्द का विषय नहीं मानते इसे अनुभूति का विषय ही मानते हैं। किन्तु ये भी अनिर्वचनीय शब्द से तो उसका निर्वचन कर ही रहे हैं। द्वितीय प्रकार के समीक्षक कहते हैं कि 'वस्तु' की विशेषताओं का ज्ञान केवल प्रत्यक्ष से ही संभव हुआ करता है, प्रत्यक्षेतर प्रमाण (शब्दादि) वस्तु के सामान्य स्वरूप का ही ज्ञान कराते हैं। ध्वनि काव्य की विशेषता है अतः

शब्द से उसका ज्ञान नहीं हो सकता जैसे शब्द रत्न का ज्ञान तो करा सकता है किन्तु उसकी गुणवत्ता का नहीं वह तो अनुभव से ही जानी जा सकती है। वस्तुतः किसी भी वस्तु की विशेषता का ज्ञान न तो प्रत्यक्ष से हो सकता है और न शब्द से। यह शक्ति तो समीक्षक और ज्ञाता में रहती है। ध्वनि का लक्षण वस्तुतः कठिन तो है किन्तु ध्वनिकार ने इसका सामान्य और विशेष लक्षण अपने ग्रन्थ में प्रस्तुत किए हैं। अतः ध्वनि अनिर्वचनीय नहीं है ।

तृतीय प्रकार के अनिर्वचनीयतावादी आचार्य क्षणभङ्गवादी बौद्धों का अनुसरण करते हुए कहते हैं कि ध्वनि घट–पट आदि अन्य सभी पदार्थों के समान अनिर्देश्य है उसका निर्वचन नहीं किया जा सकता, निर्वचन उसका हो सकता है जो कुछ काल तक ठहरने वाला है। ध्वनि भी क्षण भर ही रहती है अतः उसका निर्वचन नहीं हो सकता। ध्वनिकार कहते हैं कि जैसे बौद्ध क्षणभङ्वादी होते हुए भी वस्तुओं के बोध के लिए ग्रन्थ निर्माण करते हैं उसी प्रकार ये अनिर्वचनीयतावादी भी ध्वनि के स्वरूप के विषय में कुछ न कुछ वाक्य बोलते हैं। उनके वाक्य हैं –

1. कतिपय विशिष्ट ज्ञाताओं द्वारा संवेद्य और अनाख्येय चारूत्व ही है ध्वनि।
2. सामान्य शब्दों से ज्ञेय न होकर भी ज्ञानपथ में आने वाला विशिष्ट तत्त्व है ध्वनि तथा
3. अनिर्देश्य मौलिकता वाला सबसे अलग एक भिन्न ही तत्त्व है ध्वनि।

ये वचन सिद्ध करते हैं कि ध्वनि अनिर्वचनोय नहीं है। ध्वनिकार ने ध्वनि का स्वरूप "यत्रार्थः शब्दो वा" इत्यादि प्रथम उद्योत की 13वीं कारिका में कहा है।

11.6 प्रतीयमान अर्थ और उसका वाच्यार्थ से भेद

सहृदयों के द्वारा श्लाध्य अर्थ ही काव्य की आत्मा ध्वनि है। "योऽर्थः सहृदयश्लाध्यः काव्यात्मेति व्यस्थितः (ध्व 1/2) यहा प्रश्न होता है कि अर्थ कितने प्रकार के होते है तथा सहृदयजन किस अर्थ की प्रशंसा करते है ? इस का उत्तर देते हुए ध्वनिकार कहते है कि मूलतः अर्थ दो प्रकार के होते हैं एक वाच्य और दूसरा प्रतीयमान। काव्य में उपमादि के रूप में असिद्ध अर्थ ही वाच्य रूप में प्रसिद्ध है :– तत्र वाच्यः प्रसिद्धो यः प्रकारैरूपमादिभिः। ध्व.1/3 पूर्वार्द्ध

वाच्यार्थ से भिन्न प्रतीयमान अर्थ महाकवियों की वाणी में विलक्षण ही काव्यवस्तु है। जिस प्रकार अंगनाओं मे प्रसिद्ध (मुख नाक कान इत्यादि) अवयवों से भिन्न लावण्य एक पृथक् पदार्थ होता है :

"प्रतीयमानं पुरन्यदरेव वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम्। यत्प्रसिद्धावयवातिरिक्तं विभाति लावण्यमिवागंनासु।।ध्व 1/4।।

यह प्रतीयमान अर्थ वाच्य सामर्थ्य से आक्षिप्त होकर वस्तुभाव, अलंकार और रसादि अनेक भेदों में विभक्त होता है। ध्वन्यालोक के प्रसिद्ध टीकाकार अभिनव गुप्त अपनी टीका लोचन में लिखते हैं कि प्रथमतः प्रतीयमान के दो भेद होते है– 1. लौकिक और 2. काव्यमात्रगोचर। लौकिक प्रतीयमान उसे कहते हैं जो कभी स्वशब्दवाच्यता को सहन कर सके। उसके विधि–निषेध इत्यादि अनेक प्रकार हैं उनको वस्तु शब्द से कहा जाता है। इस लौकिक प्रतीयमान के भी दो भेद होते है 1. जो पहले किसीवाक्यार्थ में अलंकार के रूप में रहा हो किन्तु अब किसी के प्रति गौण न होने के कारण अपनी अलंकारिता को छोड़ कर ध्वनिरूप को प्राप्त करने के कारण ब्राह्मण श्रमण न्याय से अलंकारध्वनि कहा जाता है।

ब्राह्मण श्रमण न्याय का अर्थ है जैसे कोई पहले ब्राह्मण था अब उसन संन्यास ले लिया, ब्राह्मणत्व का त्याग करने पर भी उसे पूर्व संस्कार के कारण 'ब्राह्मण श्रमण' कहा जाता है उसी प्रकार वाच्यार्थ दशा में जो अलंकार था वह अब प्रतीयमान अवस्था में अलंकार धर्म (किसी अन्य के प्रति गौण रहकर किसीको अलंकृत करना) का त्याग करने एवं नवीन संज्ञा ध्वनि प्राप्त करने पर भी उसे पूर्व संस्कार के कारण 'अलंकार–ध्वनि कहा जाता है।

लौकिक प्रतीयमान का दूसरा भेद वस्तुमात्रध्वनि हैं जो कभी अलंकार रूपता को प्राप्त नहीं हुई है।

प्रतीयमान का दूसरा भेद काव्यमात्रगोचर होता है। यह प्रतीयमान स्वप्न में भी कभी भी स्वशब्दवाच्य नहीं हो सकते और न कभी लोकव्यवहार में ही आ सकते है। किन्तु उनका स्वरूप केवल आनंदमय होता है। प्रत्येक व्यक्ति के अंतःकरण में एवं संस्कार रूप से विद्यमान रति आदि भाव काव्यगत शब्दों के श्रवण एवं अभिनय देखने से विभावादि से संवलित होकर रस दशा को प्राप्त हो जाते हैं एवं सहृदय आनंद का अनुभव करके लगते है इसी आनंद को रस कहा जाता है। यही काव्यव्यापारमात्रगोचर रसध्वनि है। इसी को केवल ध्वनि शब्द से अभिहित किया जाता है और यही मुख्य होकर काव्य की आत्मा का रूप धारण करता है। इस प्रकार प्रतीयमान के वस्तु, अलंकार और रस–ये तीन भेद हैं। इनमें वस्तु ध्वनि और अलंकार ध्वनि, रस ध्वनिपर्यवसायी ही होती है। वही रसध्वनि मुख्य रूप से काव्य की आत्मा है। जैसे ध्वनिकार ने कहा हैः–

"काव्यस्यात्मा स स्वार्थस्तथा चादिकवेः पुरा।

क्रौञ्चद्वन्द्ववियोगोत्थः शोकः श्लोकत्वमागतः।।ध्व 1/5।

प्रतीयमान के ये सभी भेद वाच्य के सामर्थ्य से आक्षिप्त होते हैं तथा वाच्य से भिन्न ही होते है–

सर्वेषु च तेषु प्रकारेषु तस्य वाच्यादन्यत्वम्।"

(क) वस्तुरूपप्रतीयमान का वाच्य से भेद :– रसादि एवं अलंकार से भिन्न अर्थ वस्तु रूप होता है। अविचित्र (अलंकार रहित) वाक्य वस्तु है। यह विधि निषेध आदि रूप से अनेक प्रकार का है। वस्तुरूप प्रतीयमान वाच्य से भिन्न है। भेद के निम्नलिखित आधार हैः–

(अ) स्वरूपभेदः– 1. कहीं वाच्यार्थ विधिरूप होता है किन्तु वस्तु निषेध रूप होता है जैसे–

"भ्रम धार्मिक विश्रब्धः स शुनकोऽद्य मारितस्तेन।

गोदावरीनदीकच्छकुंजवासिना दृप्तसिंहेन।।

अर्थः– हे धार्मिक! अब तुम विश्वस्त होकर भ्रमण किया करो। गोदावरी तट पर स्थित कुंज में रहने वाले उस उद्धत सिंह ने आज उस कुत्ते को मार डाला।"

यहाँ वाच्यार्थ तो यह है कि अब तुम निस्संकोच और निर्भय होकर घूम सकते हो; अब तुम्हें कुत्ते का कोई भय नहीं है। किन्तु प्रतीयमान अर्थ यह है कि 'अभी तक तो वहां पर कुत्ता ही रहता था अब वहां पर सिंह आ गया है। इसलिए कभी भूल करके भी वहां मत जाना। नही तो सिंह तम्हें मार डालेगा। इस प्रकार वाच्यार्थ विधि परक है और प्रतीयमान अर्थ निषेधपरक।

2. कहीं वाच्य निषेध रूप होता है किन्तु प्रतीयमान विधिरूप होता है

श्वश्रूरत्र निमज्जति अत्राहं दिवसकं प्रलोकय।

मा पथिक रात्र्यन्धक शय्यायां मम निमंक्ष्यसि।।

अर्थः– हे पथिक! दिन में अच्छी तरह देखलो, यहां सास जी सोती है और यहां मैं सोती हूँ (रात को) रतौंधीग्रस्त (होकर) कहीं हमारी खाट पर न गिर पड़ना।

यहाँ वाच्यार्थ निषेध रूप है परन्तु प्रतीयमान विधिरूप है। नवयौवना एवं प्रोषितभर्तृका का यह विधिरूप प्रतीयमान निषेध–निवर्तनरूप है।

3. कहीं वाच्यार्थ विधिरूप होता है पर प्रतीयमान अनुभयरूप (विधि, निषेध दोनों से भिन्न) होता है। जैसे–

व्रज ममैवैकस्या भवन्तु निःश्वाासरोदितव्यानि।

मा तवापि तया विना दाक्षिण्यहतस्य जनिषत।।

अर्थः— तुम उसी मेरी सौत के पास जाओ। मुझे अकेले ही गहरी श्वासें लेना और रोना पड़ें। उस (अपनी प्रियतमा) के वियोग में तुम्हें भी क्यों दाक्षिण्य के दण्ड के रूप में निश्श्वास और रोदन का कष्ट सहना पड़े।"

यहां वाच्यार्थ विधिरूप है किन्तु प्रतीयमान खण्डिता—नायिका का प्रगाढ़मन्यु (दुःख) है जो न विधिरूप है और न निषेध रूप।

4.वाच्यार्थ कहीं निषेधरूप होता है किन्तु प्रतीयमान अनुभय रूप है। जैसे—

प्रार्थये तावत् प्रसीद निवर्तस्व मुखशशिज्योत्स्नाविलुप्तमोनिवहे।

अभिसारिकाणां विघ्नं करोष्यन्यासामपि हताशे।।

अर्थ— (मैं) प्रार्थना करता हूँ मान जाओ, लौट आओ। अपने मुखचन्द्र की ज्योत्स्ना से गाढ़ अंधकार का नाश करके अरी हताशे। तुम अन्य अभिसारिकाओं (के कार्य) का भी विघ्न कर रही हो।

यहां 'निवर्तस्व' यह निषेध रूप है। व्यंग्यार्थ के विषय में विद्वानों के अनेक मत है कि जिसमें एक यह है कि तुम मेरे घर चलो या हम दोनों तुम्हारे घर चलें, यह तात्पर्य व्यंग्य है। यह तात्पर्य न विधिरूप है और न निषेधरूप।

(आ) वस्तु ध्वनि का वाच्यार्थ से विषयकृत भेद

वाच्यार्थ से प्रतीयमान के भेद का एक आधार विषय भेद भी है। वाच्यार्थ का विषय कोई और होता है तथा प्रतीयमान का विषय कोई और। जैसेः—

कस्य वा न भवति रोषो दृष्ट्वा प्रियायाः सव्रणमधरम्।

सभ्रमरपद्माघ्रायिणि वारितवामे सहस्वेदानीम्।।

अर्थः— अथवा प्रिया के (इतरनिमित्तक) सव्रण अधर को देखकर किसको क्रोध नहीं आता। मना करने पर भी न मानकर भ्रमरसहित कमल को सूंघनेवाली तू अब उसका फल भोग। किसी अविनीता के अधर में दशनजन्य व्रण कहीं चौर्यरति के समय हो गया है। उसका पति जब उसको देखेगा तब इससे अप्रसन्न होगा। उसको बचाने के उद्देश्य से अविनीता की सखी ने समीपवर्ती नायक को न देखते हुए की तरह यह वचन कहा है। यहां वाच्यार्थ का विषय अविनीता है परन्तु उसका व्यंग्य अर्थ है कि इसका व्रण परपुरुषजन्य नहीं अपितु भ्रमर दशनजन्य है अतः इसका अपराध नहीं है। इस व्यंग्य का विषय नायक है। अतः यहां वाच्य और व्यंग्य में विषय भेद है। व्यंग्य के विषय प्रतिनायक, सास—श्वसुर, सौत, प्रतिवेशिनी आदि भी हो सकते है।

(इ) बोद्धा के आधार पर वाच्यार्थ और प्रतीयमान का भेद— वाच्यार्थ का ज्ञान तो शब्द और अर्थ के अनुशासन को जानने वाले वैयाकरण आदि को भी होता है किन्तु प्रतीयमान का ज्ञान केवल काव्यार्थ के तत्त्वज्ञ (सहृदय) जनों को ही होता हैः—

शब्दार्थशासनज्ञानमात्रेणैव न वेद्यते।

वेद्यते स तु काव्यार्थतत्त्वज्ञैरेव केवलम्।।ध्व. 1/7

अर्थ— वह (प्रतीयमान अर्थ) शब्दशास्त्र (व्याकरणादि) और अर्थशास्त्र (कोशादि) के ज्ञानमात्र से ही नहीं होता, वह तो केवल काव्यमर्मज्ञों को ही विदित होता है।

(ई) काल के आधार पर वाच्यार्थ और प्रतीयमान का भेद :— वाच्यार्थ का ज्ञान पहले होता है तथा प्रतीयमान का ज्ञान बाद में होता हैः— "वाच्यार्थपूर्विका तद्वत् प्रतिपत्तस्य वस्तुनः वाच्यार्थ की प्रतीति पूर्वक व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति होती है।

(उ) निमित्त भेद से वाच्यार्थ और प्रतीयमान का भेद :— वाच्यार्थ का ज्ञान व्याकरण एवं कोशज्ञान से हो सकता है, साक्षरता मात्र से भी वाच्य बोध होता है किन्त प्रतीयमान का ज्ञान तत्त्वदर्शिनी प्रतिभा द्वारा ही संभव है :—

"बुद्धौ तत्त्वार्थदर्शिन्यां झटित्येवावभासते" ध्व 1/12

अर्थ– सहृदयों की तत्त्वदर्शन समर्थ बुद्धि में प्रतीयमान अर्थ तुरंत ही प्रतीत हो जाता है।

(ऊ) कार्यभेद से वाच्यार्थ और प्रतीयमान का भेद :– वाच्यार्थ से वस्तुज्ञानमात्र होता है। परन्तु व्यंग्यार्थसे चमत्कार आंनद का आस्वादन होता है क्योंकि वह आस्वादमय होता हैः–

सरस्वती स्वादु तदर्थवस्तु निःष्यन्दमाना महतां कवीनाम्।

अलोकसामान्यमभिव्यनक्ति परिस्फुरन्तं प्रतिभाविशेषम्।।ध्व 1/6।

ध्वनिकार ने इस प्रकार प्रतीयमान के प्रथम भेद वस्तुरुप का वाच्यार्थ से भेद प्रतिपादित करने के पश्चात् इसके द्वितीय भेद अलंकार का वाच्यार्थ से भेद होता है इसके लिए कहा–

"द्वितीयोऽपि प्रभेदो वाच्याद् विभिन्नः सप्रपञ्चमग्रे दर्शयिष्यते"

अर्थात् द्वितीय उद्योत में इसका विस्तार से विवेचन करेंगे। परन्तु हमें यहीं इस भेद को समझ लेना चाहिए।

(ख) अलंकार रूप प्रतीयमान का वाच्यार्थ से भेद :– अर्थ का प्रारंभिक रूप कहीं–कहीं केवल सामान्य रहता है किन्तु परवर्ती स्वरूप अलंकृत और विशिष्ट होता है वह वाच्य रूप न होकर प्रतीयमान होता है जैसेः–

"अत्रान्तरे कुसुमसमययुगमुपसंहरन्नजृम्भत ग्रीष्माभिधानः फुल्लमल्लिकाधवलाट्टहासो महाकालः।

बाण भट्ट ग्रीष्मकाल का वर्णन करते हुए लिखते हैं :– इसी समय वसंतयुग का उपसंहार करते हुए ग्रीष्म–नामक महाकाल ने खिली मल्लिका के रूप में अपना धवल अट्टहास शुरू कर दिया। यहाँ उपमालंकार व्यंग्य हैं जो वाच्यार्थ से भिन्न है।

(ग) रसादिरूप प्रतीयमान का वाच्यार्थ से भेद :– रसादिरूप प्रतीयमान का तीसरा भेद वाच्यसामर्थ्य से अक्षिप्त होकर प्रकाशित होता है किन्तु साक्षात् शब्द व्यापार का विषय नहीं होता है। अतः वाच्य से भिन्न भी होता है। रसादिरूप प्रतीयमान की प्रतीति विशिष्ट विभावानुभाव व्यभिचारी भावों के प्रतिपादन से होतो है। यदि विभावादि न हो तो रस की प्रतीति भी नहीं होती है। यदि रसादि अभिधा व्यापार से प्रतिपाद्य वाच्य रूप ही होते तब तो केवल श्रृंगार, रति आदि शब्दों के प्रयोग मात्र से ही उनकी प्रतीति होती, विशिष्ट विभावादि के वर्णन की आवश्यकता ही नहीं रहती। पर ऐसा नहीं हाता है केवल शृंगारादि शब्दों से रसादि की प्रतीति नहीं होती। विशिष्ट विभावादि के प्रतिपादन से ही रसादि की प्रतीति होती है अतः अन्वयव्यतिरेक के आधार पर यह ज्ञात होता है कि रसादि स्वप्न में भी वाच्य नहीं है। उदा.–

एवंवादिनि देवर्षौ पार्श्वे पितुरधोमुखी।

लीलाकमलपत्राणि गणयामास पार्वती।।

अर्थ– पार्वती पिता के पास मुँह नीचा कर हाथ में रखे लीलाकमल की पँखुड़ियां गिनने लगीं।"

यहां लज्जा या अवहित्था नामक व्यभिचारी भाव की प्रतीति व्यञ्जना व्यापार से होती है अभिधा से नहीं अतः रसादि रूप प्रतीयमान वाच्य से भिन्न है।

11.7 ध्वनि का स्वरूप

ध्वनिकार ने प्रथम उ़द्योत की प्रथम कारिका में ध्वनि को काव्य की आत्मा के रूप में प्रतिष्ठित किया। आनंद वर्धन लिखते हैं कि ध्वनि का स्वरूप समस्त सत्कवियों के काव्यों का परम रहस्यभूत, अत्यंतरमणीय, प्राचीन काव्य लक्षणकारों की सूक्ष्मतर बुद्धियों से भी प्रस्फुटित नहीं हुआ है। रामायण–महाभारत प्रभृति लक्ष्य ग्रन्थों में ध्वनि के स्वरूप को आनंदवर्धन ने लक्षित किया है। किसी भी वस्तु का स्वरूप उसका असाधारण धर्म होता है जो उससे भिन्न वस्तुओं से भिन्न करता है। वह इतरव्यावर्तक धर्म है। स्वरूप का अर्थ है– स्वं अर्थात् लक्ष्यपदार्थः, रूप्यतेलक्ष्यते (इतरव्यावृत्ततयाज्ञायते) दूसरे से भिन्न रूप से जिससे पहचाना जावे वह स्वरूप है। स्वरूप को ही लक्षण कहा जाता है लक्ष्यते ज्ञायते पदार्थोऽनेन

इति लक्षणम्। लक्षण पदार्थ को सजातीय और विजातीय पदार्थो से भिन्न करने वाला वस्तु का असाधारण धर्म होता है। असाधारण का अर्थ है केवल लक्ष्य में ही रहे। उसको छोड़कर सजातीय या विजातीय पदार्थों में न रहे। जैसे 'गन्धवती पृथिवी' यह गंधवत्त्व धर्म पृथिवी में रहता है पृथिवी के सजातीय– अप् तेज, वायु आदि में भी यह धर्म नहीं रहता। लक्षण को समस्त लक्ष्यपदार्थों को व्याप्त करना चाहिए अर्थात् सभी लक्ष्यपदार्थों में रहे यही लक्षण की व्याप्ति कही जाती है। यदि कोई लक्षण लक्ष्य के साथ–साथ उससे अतिरिक्त पदार्थों में भी रहे तब वह 'अतिव्याप्ति' नामक दोष से दूषित होने के कारण सद्लक्षण नहीं होगा। यदि लक्षण लक्ष्य के सभी स्थलों में नहीं घटे कुछ में ही घटे अर्थात् लक्ष्य के एक देश में ही व्याप्त हो तो उसे 'अव्याप्ति' दोष से दूषित माना जाएगा और कोई लक्षण ऐसा हो जो किसी भी लक्ष्य पदार्थ में न घटे तब उसे असंभव दोष से दूषित माना जाएगा। लक्षण में व्याप्ति होनी चाहिए वह अव्याप्ति, अतिव्याप्ति एवं असंभव आदि दोषों से दूषित नहीं होना चाहिए।

ध्वनिकार इसी दृष्टि को ध्यान में रखते हुए ध्वनि का ऐसा लक्षण प्रस्तुत करते हैं जो ध्वनि के समस्त भेद–प्रभेदों को अपने में व्याप्त किए हुए है तथा अव्याप्ति आदि दोषों से रहित है। ध्वनिलक्षण की कारिका इस प्रकार हैः–

यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृतस्वार्थौ।

व्यङ्क्तः काव्यविशेषः स ध्वनिरिति सूरिभिः कथितः।।ध्व1/13

अर्थः– जहां अर्थ अपने को (स्व) अथवा शब्द अपन अर्थ को गुणीभूत करके उस (प्रतीयमान) अर्थ को अभिव्यक्त करते हैं, उस काव्य विशेष को विद्वान् लोग ध्वनि (काव्य) कहते हैं।

इसको स्पष्ट करते हुए ध्वनिकार लिखते हैं कि जहां अर्थ वाच्यविशेष, अथवा वाचकविशेषशब्द, उस (प्रतीयमान) अर्थ को अभिव्यक्त करते हैं उस काव्य विशेष को ध्वनि काव्य कहते है :– "यत्रार्थो वाच्यविशेषः वाचकविशेषः शब्दो वा, तमर्थं व्यड्क्तः स काव्यविशेषो ध्वनिरिति।

काव्य विशेष (प्रधानव्यंग्य) ध्वनि है। व्यङ्ग्य व्यञ्जना व्यापार से गम्य होता है। व्यंग्य अर्थ की व्यंजकता प्रधान गुणभाव से शब्द और अर्थ दोना रहती है। इसीलिए 'व्यङ्क्तः' इस द्विवचन का प्रयोग किया गया है। शाब्दीव्यंजना में शब्द की व्यञ्जकता प्रधान होती है, आर्थी व्यंजना में अर्थ की व्यंजकता प्रधान होती है दोनों जगह दूसरा सहकारी होता है।

"उपसर्जनीकृतस्वार्थौ" पद का अर्थ स्पष्ट करते हुए आनंदवर्धन लिखत हैं :–

"अर्थो गुणीकृतात्मा, गुणीकृताभिधेयः शब्दो वा यत्रार्थान्तरमभिव्यनक्ति स ध्वनिरिति।"

अर्थात् जहाँ अर्थ अपने को अथवा शब्द अपने अर्थ को गुणीभूत करके अर्थान्तर (प्रतीयमान) को अभिव्यक्त करते हैं उसको ध्वनि कहते हैं।

व्यंग्य के प्राधान्य में ध्वनि हैं – "व्यंग्यप्राधान्ये ध्वनिः।" ध्वनि व्यंग्य और व्यंजक का आश्रय लेकर रहती है। व्यंग्य की प्रतीति में ध्वनि नही है। व्यंग्य में चारूता होने पर ही ध्वनि होती है। व्यंग्य का जहाँ प्राधान्य न हो, वह वाच्यमात्र का अनुयायी हो वहाँ ध्वनि नही है। शब्द और अर्थ क्रमशः अपने अर्थ और स्वरूप का गौण बना कर व्यंग्य के बोध कराने में ही तत्पर हों वह ध्वनि का विषय है।

"तत्परावेव शब्दार्थौ यत्र व्यङ्ग्यं प्रति स्थितौ।

ध्वनेः स एव विषयो मन्तव्यः संकरोज्झितः।।

सबसे मुख्य विद्वान् वैयाकरणों ने श्रूयमान वर्णो को ध्वनि कहा था क्योंकि वे वर्ण स्फोट (नित्यशब्द) के व्यंजक थे। उनके मत का अनुसरण करने वाले साहित्य शास्त्र के विद्वानों ने भी व्यंजकत्व साम्य से 1. वाच्य, 2. वाचक, 3. व्यंग्यार्थ, 4. व्यंजनाव्यापार और 5. काव्यपद से व्यवहार्य (अर्थात् काव्य, इन पाँचों) को ध्वनि कहा है।

ध्वनिकार की पंक्तियां इस प्रकार है :–

“तथैवान्यैस्तन्मतानुसारिभिः काव्यतत्त्वार्थदर्शिभिर्वाच्यवाचकसम्मिश्रः शब्दात्मा काव्यमिति व्यपदेश्यो व्यंजकत्वसाम्याद् ध्वनिरित्युक्तः”
यहाँ आए हुए सम्मिश्रशब्द का अर्थ है–
“सम्मिश्र्यते विभावानुभावसंवलनयेति सम्मिश्रः व्यङ्गयार्थः। तथा ‘शब्दात्मा’ का अर्थ है– शब्दनं शब्दः तदात्मा व्यंजनरूपः शब्दव्यापारः अर्थात् व्यंजन व्यापार। (ध्वनिशब्द के निर्वचन से उक्त ये पाँच अर्थ इकाई संख्या 11.2 में दिए गए है)।
ध्वनिकार में ध्वनि का लक्षण करने के पश्चात् उदाहरण रूप में अभिधामूलध्वनि (विवक्षितान्यपरवाच्यध्वनि) एवं लक्षणामूलध्वनि (अविवक्षितवाच्य ध्वनि) का सामान्यतः निर्देश किया है।

11.8 पारिभाषिक शब्दावली

ध्वनि – “जहाँ अर्थ अपने स्वरूप को तथा शब्द अपने अर्थ को गौण बनाकर उस प्रतीयमान अर्थ को व्यक्त करते हैं उसे काव्य विशेष के विद्वानों ने ध्वनि कहा है।”
तीन – अर्थ काव्य में वाच्य, लक्ष्य और व्यंग्य ये तीन अर्थ होते है।
भाक्त – कुछ आचार्य मुख्यार्थ से भिन्न ध्वन्यर्थ को स्वीकार करते हैं किन्तु उस अर्थ को भाक्त कहते हैं – “भाक्तमाहुस्तमन्ये। वामन ने “सादृश्याल्लक्षणा वक्रोक्तिः” कह कर काव्य में एक अतिरिक्त शब्दवृत्ति को स्वीकार किया है।
भक्ति – अभिनवगुप्त ने भक्ति शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार की है कि लक्षणा के त्रिविध हेतुओं का संकेत मिल जाता है। उनकी व्युत्पत्तियाँ ये हैं – (1) मुख्यार्थस्य भङ्गो भक्तिः (मुख्यार्थ का बाध भक्ति है) (2) भज्यते सेव्यते पदार्थेन प्रसिद्धतयोच्यते इति भक्तिः धर्मोऽभिधेयेन सामीप्यादिः (प्रसिद्ध होने के कारण जिसको पदार्थ भजे = सेवन करे = अपनाए वह धर्म भक्ति, जैसे ‘गंगा पर घर’ इस प्रयोग में सामीप्य (सम्बन्ध)। (3) गुणसमुदायवृत्तेः शब्दस्यार्थभागस्तैक्ष्ण्यादिर्भक्तिः” (गुण समुदाय में रहने वाले (गुण समुदाय के बोधक) शब्द का तैक्ष्ण्य इत्यादि जो अर्थ भाग होता है उसे भक्ति कहते हैं। अथवा “भक्तिः प्रतिपाद्ये प्रतिपादनीय सामीप्य तैक्ष्ण्य इत्यादि में श्रद्धा की अधिकता)।
स्वरूप का अर्थ है– स्वं अर्थात् लक्ष्यपदार्थः, रूप्यतेलक्ष्यते (इतरव्यावृत्ततयाज्ञायते) दूसरे से भिन्न रूप से जिससे पहचाना जावे वह स्वरूप है। स्वरूप को ही लक्षण कहा जाता है लक्ष्यते ज्ञायते पदार्थोऽनेन इति लक्षणम्। लक्षण पदार्थ को सजातीय और विजातीय पदार्थो से भिन्न करने वाला वस्तु का असाधारण धर्म होता है। असाधारण का अर्थ है केवल लक्ष्य में ही रहे। उसको छोड़कर सजातीय या विजातीय पदार्थों में न रहे।

11.9 अभ्यासार्थ प्रश्न

बोध प्रश्न एवं उत्तर

प्रश्न 1 ध्वनि के अभाववाद को समझाते हुए उसका खण्डन कीजिए।
उत्तर इकाई संख्या 11.3 देखें।
प्रश्न 2 भाक्तवाद क सम्भावित विकल्प प्रस्तुत करते हुए उनका खण्डन कीजिए।
उत्तर इकाई संख्या 11.4 देखें।
प्रश्न 3 प्रतीयमान का वाच्यार्थ से भेद स्पष्ट करें।
उत्तर इकाई संख्या 11.6 देखें।
प्रश्न 4 ध्वनि का स्वरूप लिखें।
उत्तर इकाई संख्या 11.7 देखें।

11.10 सारांश

आचार्य आनन्दवर्धन (855–884 ई.) ने ध्वन्यालोक नामक अपने सुप्रसिद्ध ग्रन्थ में काव्य की आत्मा के रूप में ध्वनि को प्रतिष्ठित किया है। इस इकाई में हमने काव्यशास्त्र के युगप्रवर्तक ग्रन्थ ध्वन्यालोक के प्रथम उद्योत का प्रतिपाद्य विषय का ज्ञान प्राप्त किया ।सर्वप्रथम ध्वनिकार का प्रतिज्ञावाक्य एवं ध्वनि का सामान्य परिचय को जाना ध्वनि विरोधीमतों अभाववाद, भाक्तवाद, अलक्षणीयतावाद, अनिर्वचनीयतावाद इत्यादि की समीक्षा की । अन्त में प्रतीयमान अर्थ एवं उसका वाच्यार्थ से भेद का ज्ञान प्राप्त किया ।

11.11 संदर्भ ग्रंथ सूची

1. ध्वन्यालोक (लोचन सहित), टीकाकार डॉ. रामसागर त्रिपाठी, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली–पटना–वाराणसी, 1989.
2. ध्वन्यालोक, व्या. आचार्य विश्वेश्वर सिद्धान्तशिरोमणी, ज्ञानमण्डल लिमिटेड, वाराणसी, 2009.
3. आनन्दवर्धन ,डॉ. रेवाप्रसाद द्विवेदी, मध्य प्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, भोपाल प्र.सं., 1972.

इकाई 12

ध्वन्यालोकप्रथमोद्योतकारिकाणां संस्कृत व्याख्या

इकाई की रुपरेखा

12.0 उद्देश्यम्
12.1 प्रस्तावना
12.2 प्रथमोद्योतस्य मंगलाचरणतः तृतीयकारिकां यावत् व्याख्या
12.3 प्रथमोद्योतस्य चतुर्थकारिकातः द्वादशकारिकां यावत् व्याख्या
12.4 प्रथमोद्योतस्य त्रयोदशकारिकातएकोनविंशतिकारिकांयावत् व्याख्या
12.5 पारिभाषिक शब्दावली
12.6 अभ्यासार्थ प्रश्न
12.7 सारांश
12.8 संदर्भ ग्रंथ सूची

12.0 उद्देश्यम्

अस्या अन्वितेरध्ययनेन ध्वन्यालोकग्रन्थस्य प्रथमोद्योते समागतानां कारिकाणां प्रतिपाद्यविषयस्य ज्ञानं संस्कृतमाध्यमेन कर्तुं शक्यते।

12.1 प्रस्तावना

ध्वनिकार आनंदवर्धनाचार्यो व्याकरणे यथा पाणिनिः वेदान्ते च यथा शंकराचार्यस्तथैव साहित्यशास्त्रे महत्त्वपूर्णं स्थानमावहति। आनंदवर्धनः काश्मीरदेशवासी, सुकविः समालोचको दार्शनिक– श्चासीत्। अस्य कालः ई. नवमशत्याः उत्तरार्द्धतः ई. दशमशत्याः पूर्वार्द्धं (850–920) अस्ति। अवन्तिवर्मणः शासनकालेऽस्य जन्म।

राजतरङ्गिण्यां यथाक्तम्–

"मुक्ताकणः शिवस्वामी कविरानन्दवर्धनः।

प्रथां रत्नाकरश्चागात्साम्राज्येऽवन्तिवर्मणः।।

आनंदवर्धनस्य ध्वन्यालोकः कारिका–वृत्ति–उदाहरणानीति भागत्रयेण रचितः। अस्मिन् ग्रन्थे चत्वार उद्योताःसन्ति। अस्य ग्रन्थस्य महत्त्वं प्रतिपादयता केनचिदुक्तम्–

"ध्वनिनातिगभीरेण काव्यतत्त्वनिवेशिना।

आनन्दवर्धनः कस्य नासीदानन्दवर्धनः।।

ध्वन्यालोको वस्तुतस्तु युगप्रवर्तको ग्रन्थः यत्र काव्यतत्त्वानां सम्यग्व्यवस्था कृता। प्रथमोद्योते ध्वनेः प्रतिष्ठा, ध्वनिविरोधिनां मतानि, तेषां खण्डनं, वाच्याद्भिन्नस्य प्रतीयमानस्य स्वरूपनिर्धारणं, ध्वनिलक्षणञ्चेति विषया मुख्यरूपेण प्रतिपादिताः।

"श्रीमदानन्दवर्धनाचार्य प्रणीतो ध्वन्यालोकः" –प्रथमोद्योतः (विमलासंस्कृतव्याख्या)

अन्वितिः 12.2 मङ्गलाचरणतः तृतीयकारिकां यावत् व्याख्या

स्वेच्छाकेसरिणः स्वच्छस्वच्छायायासितेन्दवः।

त्रायन्तां वो मधुरिपोः प्रपन्नार्तिच्छिदो नखाः।।

ध्वन्यालोककारः श्रीमदानन्दवर्धनः स्वप्रारिप्सितग्रन्थस्य निर्विघ्नसमाप्तये मङ्गलमाचरति। मङ्गलादीनि मङ्गलमध्यानि मङ्गलान्तानि च शास्त्राणि प्रथन्ते वीरपुरूषाण्यायुष्मत्पुरूषाणि च

भवन्ति, अध्येतारश्च प्रवक्तारो भवन्ति, इति महाभाष्यकारोक्ति मनसि निधाय ग्रन्थकृत् ग्रन्थादौ नरसिंहावतारस्य प्रपन्नार्तिच्छेदकनखान् स्मरति।

स्वेच्छया स्वीकृतनरसिंहरूपस्य मधुनामकस्य दैत्यस्य शत्रोः स्वकान्त्या खेदितेन्दवः शरणागतपीडापहारकाः नखाः व्याख्यातृश्रोत्तृंस्त्रायन्ताम्। भगवता स्वेचछया नरसिंहरूपो धारितः न तु कर्मपरतंत्रतया। तस्य नखाः स्वच्छकान्त्या चन्द्रमपि पीडयन्ति। तेषु केवलं निर्मलकान्तिरेव नास्ति परं शरणागतानां अर्तिहरणस्य सामर्थ्यमप्यस्ति।

अस्मिन् श्लोके नित्योद्यागिनः परमेश्वरस्य उत्साहप्रतीतेर्वीररसो ध्वन्यते। बालचन्द्रः नखानां स्वच्छतां कुटिलिमानम् अर्तिच्छेदकत्वञ्चावलोक्य स्वात्मनि खेदमनुभवति। स्वच्छता कुटिलिमानत्वमुभ– यत्र समानं, परं प्रपन्नार्तिच्छेदकत्वं तु नखेषु इति व्यतिरेकालंकारोऽपि ध्वनितः। नखानां बालचन्द्रत्वरूपो वस्तुध्वनिरपि व्यञ्ज्यते

कारिका (का)–

(का) **काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति बुधैर्यः समान्नातपूर्व–**
स्तस्याभावं जगदुरपरे भाक्तमाहुस्तमन्ये।
केचिद् वाचां स्थितमविषये तत्त्वमूचुस्तदीयं
तेन ब्रूमः सहृदयमनः प्रीतये तत्स्वरूपम्।।1।।

प्रसङ्ग :– श्रोतॄणां मनांसि प्रकृतविषये (ध्वनिसिद्धान्ते) स्थापनाय ग्रन्थस्य प्रतिपाद्यविषयं तस्य प्रयोजनञ्च प्रतिपादयन् ग्रन्थकारो ग्रन्थस्यारम्भं विदधाति। अत्र प्रधानतया प्रतिपाद्यवस्तुनः स्वरूपं प्रतिपादयता गौणरूपेण च प्रयोजनस्य प्रयोजनमपि प्रकटितम्।

व्याख्या :– आनंदवर्धनः प्रतिपादयति यत् बुधाः (विद्वांसः) काव्यस्यात्मभूतं यत् तत्त्वं ध्वनिरिति नाम्ना व्यवहरन्ति तस्याप्यभावं केचित् कथयामासुः। अन्ये तं भक्तिप्रतिपाद्यमर्थं स्वीकुर्वन्ति। लक्षणकरणशालीनबुद्धय तदीयं तत्त्वं वाचानिर्वचनीयं जगदुः। अत एवं विद्यासु विमतिषु स्थितासु सहृदयानां मनः प्रीतये ध्वनेः स्वरूपं ब्रूमः।

सारोऽयं वर्तते यत् विद्वद्भिः काव्यात्मनः संज्ञा ध्वनिरितिकृता । यद्यपि ध्वन्यालोकग्रन्थात् पूर्वं न कोऽपि ध्वनिप्रतिपादको ग्रन्थ उपलभ्यते परं वैयाकरणैः श्रूयमाणेषु वर्णेषु ध्वनिरिति व्यवहारः कृतः ततस्तन्मतानुसारिभिरन्यैरपि व्यजंकत्वसाम्याद् काव्यात्मभूतस्य तत्त्वस्य ध्वनिरिति नाम कृतम्। ध्वनिकारो महदाश्चर्यं प्रकटयति यत् अतिरमणीयस्य विद्वद्भिरङ्गीकृतस्यापि ध्वनेः विरोधिनः सन्ति। त्रिप्रकारका विरोधिनःसन्ति तत्र प्रथमेऽभाववादिनः, अन्ये भाक्तवादिनः, केचिच्च अलक्षणीयतावादिनः सन्ति।

ग्रन्थस्य विषयो ध्वनेः स्वरूपम्। प्रयोजनं सहृदयानां कृते ध्वनेः स्वरूपज्ञापनम्। प्रयोजनस्य प्रयोजनं विद्यते सृहृदयानां मनः प्रीतिः।

तत्राभाववादिनां त्रया विकल्पाः सम्भवन्ति। प्रथमविकल्पस्य सारो वर्तते यत् शब्दार्थौ काव्यम्। शब्दगताश्चारूत्वहेतवोऽनुप्रासादयः, अर्थगताश्चोपमादयः प्रसिद्धाः। वर्णसंघटनाधर्मा माधुर्यादयो. ऽपिज्ञायन्ते। वृत्तयः, वैदर्भीप्रभृतयो रीतयश्च गताः श्रवणगोचरम् तद्व्यतिरिक्तो ध्वनिर्नाम कोऽयं पदार्थः ? इतिजिज्ञासामूलकः प्रथमो विकल्पः।

द्वितीय विकल्पस्य सारो विद्यते यत् ध्वनिनामकः कश्चित्पदार्थोनास्ति एव। एतद्विकल्पवादिनां मते सहृदयहृदयाल्लादि शब्दार्थमयत्वमेव काव्यलक्षणं तच्च प्रसिद्धप्रस्थानेषु रीत्यलंकारप्रभृतिष्वेव विद्यते न तु प्रसिद्धप्रस्थानव्यतिरेकिणि ध्वनौ।

तृतीयविकल्परूपेण कथ्यत यत् ध्वनिर्नाम कश्चिदपूर्वः पदार्थो नास्त्येव। यतः रीत्यलंकारप्रभृतिष्वपि कमनीयता अतः पूर्वस्वीकृतेष्वेव ध्वनेरन्तर्भावः करणीयः। तेषामेवान्यतमस्य कस्यचिद् अपूर्वनामकरणे न किञ्चित् वैशिष्ट्यम्। अतः ध्वनिर्ध्वनिरिति नवीनः कोऽपि पदार्थो– पलब्ध–इति अलीकसहृदत्वभावनामुकुलितलोचनैर्नृत्यते तत्र वयं तु हेतुं न विद्मः। तस्मात् प्रवादमात्रं ध्वनिः। तथा च मनोरथकविना अयं श्लोकः कृतः–

"यस्मिन्नस्ति न वस्तु किञ्चन मनः प्रह्लादि सालङ्कृति,

व्युत्पन्नै रचितं न चैव वचनैर्वक्रोक्तिशून्यं च यत्।

काव्यं तद्ध्वनिना समन्वितमिति प्रीत्या प्रशंसन् जडो,

नो विद्मोऽभिदधाति किं सुमतिना पृष्टः स्वरूपंध्वनेः।।

अन्ये तं ध्वनिं भाक्तमाहुः। यद्यपि भाक्तवादिभिः कुत्रापि ध्वनिशब्दस्य नामसङ्कीर्तनः न कृतं परममुख्यवृत्त्या (गुणवत्त्या) काव्येषु व्यवहारं दर्शयद्भिर्ध्वनिमार्गो मनाक् स्पृष्टः। अत एव परिकल्प्य, भाक्तमाहुस्तमन्ये इत्युक्तम्।

तृतीयविरोधिनः सन्ति अलक्षणीयतावादिनः। एतेषां मतं वर्तते यत् ध्वनेस्तत्त्वं गिरामगोचरं केवलं सहृदयहृदयसंवेद्यं वर्तते।

एवंविधासु विमतिषु विद्यमानासु सहृदयमनः प्रीतये ध्वनेः स्वरूपं ब्रूमः। तत्रध्वनेरेव लक्षयितुमार– ब्धस्य भूमिकां रचयितुमिदमुच्यते–

(का) योऽर्थः सहृदयश्लाध्यः काव्यात्मेति व्यवस्थितः।

वाच्यप्रतीयमानाख्यौ तस्य भेदावुभौ स्मृतौ।।2।।

प्रसङ्गः– "काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति" कारिकया ग्रन्थस्य विषयप्रयोजने समुपस्थाय ध्वनेः व्याख्याकर्तुकामः भूमिकां रचयति ध्वनिकारः।

अस्यां कारिकायामर्थस्य द्वौ भेदौ विहितौ वाच्यः, प्रतीयमानश्च। पूर्वस्यां कारिकायां प्रतिज्ञातं "तेन ब्रूमः सहृदयमनः प्रीतये तत्स्वरूपम्"–अर्थात् ध्वनिस्वरूपस्य प्रतिज्ञा वर्तते। अत्र भेदे वाच्यस्यापि सन्निवेशः कृतः। अतः ग्रन्थस्य संगतिः कथं भवति ? अस्य प्रश्नस्य समाधानार्थं कारिकायाः अवतरणे ग्रन्थकारो लिखति यत् कारिकेयं ध्वनिलक्षणस्य भूमिका वर्तते।

व्याख्याः– शब्दार्थशरीरं तावत् काव्यमिति यदुक्तं तत्र शरीरग्रहणाद् केनचिदात्माना भाव्यमेव। सर्वजनसंवेद्यः शब्दः शरीरस्थानीयः। अर्थः सर्वजनसंवेद्यो न भवति। काव्यस्यात्मा कतमोऽर्थो भवति–इतिजिज्ञासायां कथितम् यत् योऽर्थः सहृदयश्लाध्यो भवति स काव्यात्मा भवति। तदा जिज्ञासा भवति यत कतिविधोऽर्थः, कमर्थं सहृदया प्रशंसन्ति ? तद्भवितव्यं केनचिद् वैशिष्ट्येन। अस्य समाधानं कृतं कारिकाया उत्तरार्द्धेन यत्" वाच्यप्रतीयमानौ–अर्थस्य द्वौ भेदौ पूर्ववर्तिभिरङ्गींकृतौ। तत्र वाच्यार्थस्तु उपमादिभिः प्रकारैः प्रसिद्धः, तस्मै न श्लाघ्यन्ते सहृदयाः। प्रतीयमानस्तु वाच्याद् भिन्नः सहृदयश्लाध्यः अत स एव काव्यस्यात्मा। वाच्यार्थस्तु न काव्यस्यात्मा

कारिका

तत्रवाच्यः प्रसिद्धो यः प्रकारैरूपमादिभिः।

बहुधा व्याकृतः सोऽन्यैः ततो नेह प्रतन्यते।। 3।।

प्रसङ्गः– द्वितीयकारिकायामुक्तं यत् सहृदयजनश्लाध्यः प्रतीयमानोऽर्थः काव्यस्यात्मा। वाच्यः प्रतीयमानश्च अर्थस्य द्वौ भेदौ स्तः। तत्र वाच्यार्थविषयिणी कारिकेयं विद्यते।

व्याख्याः– ध्वनिकारपूर्ववर्तिभिराचार्यैः वाच्यप्रतीयमानाख्यौ द्वौ भेदौ स्वीकृतौ। तत्र काव्येषु लौकिकवाच्यार्थस्य घटपटादिरूपस्य वैशिष्ट्याभावाद् न कोऽप्युपयोगः। काव्येषु–उपमादिभिः प्रकारैः प्रसिद्धो वाच्यार्थो ग्राह्यः। उपमादिष्वलंकारेषु चमत्कारो भवति काव्यं तु ललिलोचितसन्निवेशचारू, सहृदयहृदयाह्लादि शब्दार्थमयमेव भवति। ध्वनिकारः प्रतिपादयति यत् एतादृशस्यालंकार रूपस्य वाच्यार्थस्य भामहप्रभृतिभिराचार्यैः बहुधा व्याख्यानं कृतमतः। ममग्रन्थस्य स विषयो नास्ति, यत्र तत्र यथायोगं तदर्थस्यानुवादमहं करिष्ये।

12.3 चतुर्थकारिकातः द्वादश कारिकां यावत् व्याख्या

(का) **प्रतीयमानं पुनरन्यदेव वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम्।**

यत्तत्प्रसिद्धावयवातिरिक्तं विभाति लावण्यमिवाङ्गनासु।।4।।

प्रसङ्गः– काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति ध्वनिकारस्य सिद्धान्तः। ध्वनिरेकोऽर्थः। योऽर्थः सहृदयैः श्लाध्यो भवति, काव्ये च प्राधान्यं भजते सोऽर्थ एव ध्वनिः। तत्रार्थस्य द्वैविध्यं भवति। वाच्यः

प्रतीयमानश्च द्वावर्थौ स्तः। किं द्वावेव काव्यस्यात्मरूपेण प्रतिष्ठितौ भवतः ? तदाह ध्वनिकारः प्रतीयमान एव यदा प्रधानो भवति तदा स एव ध्वनिशब्देनाभिधीयानः काव्यस्या भवति। प्रतीयमानस्य किं स्वरूपं, किं वैशिष्ट्यमिति प्रस्तुतायां कारिकायामभिधीयते।

व्याख्याः– महाकवीनां वाणीषु (काव्येषु) वाच्याद्भिन्नमेव प्रतीयमानं विलक्षणमेव वस्तु विद्यते। यथा ललनासु प्रतीतेभ्योऽधरनासिकाकपोलादिभ्यो व्यतिरिक्तं लावण्यं भवति तथैव सहृदयहृदयावर्जकं प्रतीयमानं वाच्याचाद् भिन्नमेव तत्त्वम्। प्रतीयमानरूपः सोऽर्थो वाच्यसामर्थ्याक्षिप्तं वस्तुमात्रम्, अलंकाररसादयश्चेत्यनेकप्रभेदप्रभिन्नो भवति। सर्वेषु प्रभेदेषु स वाच्याद्भिन्न एव।

तत्र प्रतीयमानस्य प्रथमो भेदो वस्तुरूपः पञ्चविधः।

1. स हि कदाचिद् वाच्ये विधिरूपे प्रतिषेधरूपः।

यथा– **"भ्रम धार्मिक विश्रब्धः स शुनकोऽद्य मारितस्तेन।**
गोदानदीकच्छकुञ्जवासिना दृप्तसिंहेन।।
अत्र वाच्यार्थो भ्रमणरूपविधिरूपः परं व्यंग्यार्थो निषेधरूपः।

2. क्वचिद् वाच्ये प्रतिषेधरूपे विधिरूपो यथा–

श्वश्रूरत्र निमज्जति अत्राहं दिवसकं प्रलोकय।
मा पथिक रात्र्यन्धक शय्यायां मम निमंक्ष्यसि।।

अत्र वधूवाक्येन निषेधरूपे वाच्ये प्राप्ते सत्यपि, आमन्त्रणरूपविधिरूपे व्यंग्ये वाक्यार्थपर्यवसायः।

3. क्वचिद् वाच्ये विधिरूपेऽनुभयरूपो यथा–

व्रज ममैवैकस्या भवन्तु निःश्वासरोदितव्यानि।
मा तवापि तया विना दाक्षिण्यहतस्य जनिषत।।

अत्र वाच्यार्थस्तु 'व्रज' इत्यनेन विधिरूपः।

व्यङ्यार्थस्तु न विधिरूपो न वा निषेधरूपः। खण्डितानायिकाया उक्तित्वात् प्रगाढमन्युरेव व्यङ्ग्यः।।

4. क्वचिद् वाच्ये प्रतिषेधरूपेऽनुभयरूपो यथा –

प्रार्थये तावत् प्रसीद निवर्तस्व मुखशशिज्योत्स्नाविलुप्ततमोनिवहे।
अभिसारिकाणां विघ्नं करोष्यन्यासामपि हताशे।।

अत्र 'निवर्तस्व' इतिपदेन वाच्यार्थस्तु निषेधरूपः। व्यङ्ग्यार्थो न प्रतिषेधरूपो न वा विधिरूपः। परमनुभयरूपो वल्लभाभिप्राश्चाट्वात्मा व्यंग्यः।

5. क्वचिद् वाच्याद् विभिन्नविषयत्वेन व्यवस्थापितो यथा

कस्य वा न भवति रोषो दृष्ट्वा प्रियायाः सव्रणमधरम्।
सभ्रमरपद्माघ्रायिणि वारितवामे सहस्वेदानीम्।।

अत्र वाच्यार्थस्य विषयस्तु अविनीतां नायिका वर्तते परमस्य व्यंग्यार्थोऽस्ति यत् अस्या व्रणं परपुरूषजन्यं नास्ति अपितु भ्रमरदशनजन्यं वर्ततेऽत अस्या अपराधो नास्ति। अस्य व्यंग्यस्य विषयो नायकः। अत्र वाच्यव्यङ्गयोर्विषयभेदः।

अलंकाररूपप्रतीयमानोऽपि वाच्याद्भिन्नः। रस–भाव–रसाभास–भावाभास–भावशन्ति–भावोदय–भावसन्धि भावशबलतारूपभेदादष्टविधो रसरूपप्रतीयमानस्तु स्वप्नेऽपि न वाच्यः। वाच्याद् भिन्न एव सः।।

(का) **काव्यत्मा स एवार्थस्तथा चादिकवेः पुरा।**
क्रौञ्चद्वन्द्वियोगोत्थः शोकः श्लोकत्वमागतः।।5।।

प्रसङ्गः— काव्यात्मभूतस्य प्रतीयमानस्य त्रयो भेदा सन्ति। किं वस्त्वलंकाररसादिरूपाः त्रय एव काव्यस्यात्मरूपा सन्ति उत कश्चिदेक इति जिज्ञासायामाह ध्वनिकारः कारिकामिमाम्।

व्याख्याः— चतुर्थकारिकायां प्रतिपादितं यत् प्रतीयमानार्थो वाच्याद्भिन्नः। तस्मिन्नेवार्थे वैलक्षण्यं रमणीयताया विद्यते। प्रतीयमानस्य त्रय एव भेदा वाच्याद्भिन्नाएव। वृत्तिभागे प्रोक्तं **रसादीनाम**— भिधेयत्वं न कथञ्चिद्। इति तृतीयोऽपि प्रभेदो (रसादिरूपः) वाच्याद्भिन्न एवेति स्थितम्। रसादिरूपः स एवार्थः काव्यस्यात्मा यद्यपि विविधरचनाप्रपञ्चेन काव्ये चारुता संपद्यते परं तयापि वस्त्वलंकाररूपौ प्रतीयमानौ न काव्यात्मरूपौ भवतः। केवलं रसादिरूप एवार्थ सारभूततया आत्मरूपतां भजते। अस्मिन् विषये चादिकवेः वाल्मीकेर्निहतसहचरविरहकातरक्रौञ्चाक्रन्दजनितः श्लोकरूपतया परिणतः शोक एव प्रमाणम्। शोको हि करूणरसस्थायिभावः। स स्थायी स्वदते रसः। वाल्मीकेः श्लोकः—

मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीः समाः।

यत्क्रौञ्चमिथुनादेकमवधीः काममोहितम्।।

तन रस एव वस्तुत आत्मा। वस्त्वलंकारध्वनी तु सर्वथा रसं प्रति पर्यवस्येते इति वाच्यादुत्कृष्टौ तावित्यभिप्रायेण "ध्वनिः काव्यात्मेति" सामान्येनोक्त इत्यभिनवगुप्तपादाः।।

(का) **सरस्वती स्वादु तदर्थवस्तु निःष्यन्दमाना महतां कवीनाम्।**

अलोकसामान्यमभिव्यनक्ति परिस्फुरन्तं प्रतिभाविशेषम्।।6।।

प्रसङ्गः— प्रतीयमानार्थः काव्यस्यात्मा—इत्यत्र वाल्मीकेः शोकः श्लोकरूपेण परिणत इति ऐतिह्यं प्रमाणं प्रदर्श्य स्वसंवित्तिसिद्धमपि प्रमाणं कारिकयानया दीयते।

व्याख्याः— काव्ये वाच्याद् भिन्नं वाच्यवाचकपुरःसरं सहृदयहृदयाह्लादि, वाच्यसामर्थ्याक्षिप्तं प्रतीयमानं किञ्चिदन्यदेव वस्तु वर्तते। तत्र तृतीयभेदो रसादिलक्षण एव वस्तुतः काव्यस्यात्मा एवमितिहासमुखेन (वाल्मीकेः श्लोकमुखेन) प्रदर्श्य अस्यां कारिकायां तस्य स्वसंवेदनसिद्धत्वमपि प्रतिपाद्यते। महाकवीनां वाक् तमेव रसादिध्वनिमेव प्रकटयति। सामान्यजनाः वाच्यार्थ—द्वारा व्यवहरन्ति। महाकवीनां वाणीषु व्यंग्यार्थस्य सौन्दर्यं दृश्यते येन कवीनां प्रतिभाविशेषः द्योत्यते। एतदर्थं महाकवयो विशिष्टमुद्योगं न कुर्वन्ति परम् अपूर्वनिर्माणक्षमा सा प्रतिभा स्वयमेव स्फुरति। अनया प्रतिभयैवातिविचित्रकविपरम्परावाहिनि संसारे कालिदासप्रभृतयो द्वित्राः पञ्चषा वा महाकवय इति गण्यन्ते।

वस्तुतः काव्ये यदलौकिकं रसरूपमाह्लादकत्वं तत्तु कवेः प्रतिभाया एव फलम्। तदेवाह भट्टनायकः—वाग्धेनुर्दुग्ध एतं हि रस यद्बालतृष्णया, तेन नास्य समः स स्याद् दुह्यते योगिभिर्हि सः। यथा गौ वत्सं प्रति मधुरं स्निग्धं च दुग्धरूपं रसं स्वयमेव प्रकटयति तथैव महाकवीनां वाणी सहृदयान् प्रति दिव्यमानन्दरसं प्रस्नुते। योगिभिर्यदान्दो योगेन लभ्यते तत्तु न काव्यानन्दसमतां प्राप्तुमर्हति अतएव—

यं सर्वशैलाः परिकल्प्य वत्सं मेरौ स्थिते दोग्धरि दोहदक्षे।

भास्वन्ति रत्नानि महौषधींश्च पृथूपदिष्टां दुदुहुर्धरित्रीम्।।

अत्र यथा हिमालये सारभूतप्रधानरत्नानां महौषधीनां च पात्रत्वं वर्तते तथैव वाग्धेनोर्यदानन्दो वर्तते तं सहृदया एव प्राप्नुवन्ति न योगिनः। यतः सहृदयहृदयेषु रसाभिनिवेशो जायते—यथोक्तं भट्टतौतेन—"नायकस्य कवेः श्रोतुः समानोऽनुभवस्ततः।" रसास्वादे रसिकानां सहृदयता अपेक्ष्यते। अभिनवगुप्तपादाचार्येण सहृदयस्य स्वरूपं प्रकटितम् — "येषां काव्यानुशीलनाभ्यासवशाद्विशदीभूते मनोमुकुरे वर्णनीयतन्मयीभवनयोग्यता ते सहृदयसंवादभाजः सहृदयाः।

इदं चापरं प्रतीयमानस्यार्थस्य सद्भावसाधनं प्रमाणम्—

(का) **शब्दार्थशासनज्ञानमात्रेणैव न वेद्यते।**

वेद्यते स तु काव्यार्थतत्त्वज्ञैरेव केवलम्।। 7।।

प्रसङ्गः— वस्त्वलंकारसरूपप्रतीयमानोऽर्थो वाच्याद् भिन्न इति चतुर्थकारिकायां प्रतिपादितं विधि— निषेध—अनुभय—विषयभेदरूपेण। संप्रति प्रतीयमानस्य सत्तायामपरं प्रमाणं दीयते।

व्या.— प्रतीयमानं पुनरन्यदेव वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनामिति कारिकायां वाच्यप्रतीयमानयोः स्वरूपविषयभेदौ प्रतिपादितो "भ्रम धार्मिक" इत्यादिभिः उदाहरणैः। सम्प्रतिः वाच्यार्थप्रतीयमानयो— ग्राहकसामग्री भेदोऽप्यस्ति इति—प्रतिपाद्यते। वाच्यवाचकरूपपरिज्ञानादेव वाच्यार्थस्य प्रतीतिर्जायते यतो हि शदानुशासनेनार्थनुशासनेन वाच्यार्थस्य प्रतीतिः। परं प्रतीयमानस्य प्रतीतिः शब्दार्थशासनज्ञानमात्रेण न भवति सोऽर्थस्तु काव्यार्थतत्त्वज्ञैरेव ज्ञायते। वाच्यवाचकलक्षणमात्रकृतश्रमाणां काव्यतत्त्वार्थभावनाविमुखानामरसिकानां कृतेऽगोचर एव प्रतीयमानार्थः। तस्य ज्ञानाय तु काव्यार्थवासनैव कारणम्। यथोक्तमन्यत्र—

"सवासनानां सभ्यानां रसस्यास्वादनं भवेत्।

निर्वासनास्तु रङ्गान्तः काष्ठकुड्याश्मसन्निभाः।।

वाच्य—प्रतीयमानयोर्भेदबोधिका साहित्यदर्पणकास्य कारिकेयं प्रसिद्धा वर्तते। कारिका यथा—

बोद्धृस्वरूप—संख्यानिमित्त कार्य प्रतीतिकालानाम्।

आश्रयविषयादीनां भेदाद्भिन्नोऽभिधेयतो व्यंग्यः।। 5/2

एवं वाच्यव्यतिरेकिणो व्यङ्ग्यस्य सद्भावं प्रतिपाद्य प्राधान्यं तस्यैवेति दर्शयति—

(का) **सोऽर्थस्तद्व्यक्तिसामर्थ्ययोगी शब्दश्च कश्चन।**

यत्नतः प्रत्यभिज्ञेयौ तौ शब्दार्थौ महाकवेः।।8।।

प्रसङ्ग :— काव्यात्मभूतः प्रतीयमानोऽर्थः वाच्याद् भिन्न इति स्वरूप विषय—ग्राहकसामग्रीभेदैः सम्यक् प्रतिपाद्य काव्ये तस्यैव (प्रतीयमानस्यैव) प्राधान्यं भवतीति प्रतिपादयति ध्वनिकारः।

व्या.— स प्रतीयमानार्थोऽपि कश्चन भवति न तु अर्थमात्रम्, तस्यार्थस्याभिव्यक्तौ कश्चनैव शब्दः समर्थः न तु शब्दमात्रम् अतः महाकविना तावेव शब्दार्थौ प्रत्यभिज्ञेयौ। 'महाकवेः' इतिपदे षष्ठी द्विधा भवति, कर्तरि, शेषे वा। यदि कर्तरि षष्ठी मन्येत तर्हि वाक्यस्यार्थो भविष्यति—महाकविरेवं'— विधं व्यंग्यार्थ व्यंजकशब्दं च प्रत्यभिज्ञायेत। शेष षष्ठ्यां च "सहृदयैः" इति पदं संयोज्यास्यार्थो भविष्यति—सहृदयैः महाकवेरवंविधौ व्यंग्यव्यञ्जकौ प्रत्यभिज्ञेयौ। इत्थं महाकवेः सहृदयस्य च प्रयत्नो व्यंग्यव्यंजकयोः प्रत्यभिज्ञानेऽनिवार्यो वर्तते। एवं व्यंग्यस्य प्राधान्ये लोकसिद्धं प्रमाणमपि विद्यते। तथाविधव्यंग्यव्यजंकाभ्यामेव सुप्रयुक्ताभ्यां महाकवित्वलाभो महाकवीनाम्, न वाच्यवाचकरच— नामात्रेण। अत्र प्रत्यभिज्ञाशब्देन ज्ञातशब्दस्यैव सुष्ठुप्रयोगो ध्वनिकारसम्मतः।

कीदृशौ शब्दार्थौ काव्येऽभिमतौ—इति ध्वनिकारसम्मतमेव अर्थं स्फोरयति कुन्तकः—

"शब्दो विवक्षितार्थैकवाचकोऽन्येषु सत्स्वपि।

अर्थःसहृदयाह्लादकारिस्वस्पन्दसुन्दरः"

एवं व्यंग्यस्यार्थस्य व्यंजनकस्य शब्दस्य च प्राधान्यं वदता व्यंग्यव्यंजकभावस्यापि प्राधान्यमुक्तमिति ध्वनति, ध्वन्यते, ध्वननमिति त्रितयमप्युपपन्नमित्युक्तम्—इति लोचनकाराः श्रीमदभिनगुप्तपादाचार्याआहुः।।

इदानीं व्यंग्यव्यञ्जकयोः प्राधान्येऽपि यद्वाच्यवाचकावेव प्रथममुपाददते कवयस्तदपि युक्तमेवेत्याह

(का) **आलोकार्थी यथा दीपशिखायां यत्नवाञ्जनः।**

तदुपायतया तद्वदर्थे वाच्ये तदादृतः।।।9।।

प्रसङ्गः— सहृदयाह्लादकारिव्यंग्यार्थः काव्यस्यात्मा।

अयं व्यंग्यार्थो वाच्याद् विभिन्न एव। वाच्यसामर्थ्याक्षिप्तो व्यंग्यार्थ—इत्यनयोः सम्बन्धः। यद्यपि प्रतीयमानः काव्यात्मा, तत्रैव यत्नः क्रियते सहृदयैः तथापि वाच्यार्थज्ञाने किमर्थं प्रयत्नः सहृदयानाम् इति प्रतिपाद्यतेऽत्र।

व्या.— यथा आलोकार्थी (आलोकनमालोकः वनितावदनारविन्दादि विलोकनार्थी) सन्नपि दीपशिखायां यत्नवान् भवति यतः दीपशिखा प्रकाशस्य उपाय रूपाभवति दीपशिखामन्तरेण आलोक न सम्भवति। तद्वद् व्यंग्यार्थस्य रहस्यं ज्ञातुमिच्छन्त सहृदया वाच्यार्थे यत्नवन्तो भवन्ति यतः वाच्यार्थस्य ज्ञानं विना व्यंग्यार्थस्य बोधो न जायते। कविः वाच्यवाचकौ प्रथममुपादत्ते। एवं सत्यपि उपेयरूपस्य व्यंग्यार्थस्यैव प्राधान्यं न तूपायभूतस्य वाच्यार्थस्य। अनेन प्रतिपादकस्य कवेर्व्यङ्ग्यमर्थंप्रति व्यापारं प्रदर्शितवान् ध्वनिकारः।

(का) **यथा पदार्थद्वारेण वाक्यार्थः सम्प्रतीयते।**
वाच्यार्थपूर्विका तद्वत् प्रतिपत्तस्य वस्तुनः।।10।।

व्या.— यथा कवेः कृते व्यंग्यार्थस्य प्रतिपादनं मुख्यं भवति तथैव सहृदयस्य कृते व्यंग्यार्थस्य ज्ञानं भवति तथापि स वाच्यार्थज्ञाने प्रथमं प्रवर्तते। यथा पदार्थज्ञानेन वाच्यार्थः प्रतीयते तथैव व्यंग्यार्थस्य ज्ञानमपि वाच्यार्थपूर्वकमेव भवति। वाच्यार्थः कदापि प्रतिपाद्यं न भवति स तु व्यंग्यार्थस्य प्रतिपादनस्योपायरूपं भवति। यथा वाच्यार्थज्ञाने पदार्थज्ञानं न प्रधानं तथैव व्यंग्यार्थज्ञाने वाच्यार्थज्ञानं प्रधानं न भवति।

(का) **स्वसामर्थ्यवशेनैव वाक्यार्थं प्रथयन्नपि।**
यथा व्यापारनिष्पत्तौ पदार्थो न विभाव्यते।।11।।

(का) **तद्वत् सचेतसां सोऽर्थो वाच्यार्थविमुखात्मनाम्।**
बुद्धौ तत्त्वार्थदर्शिन्यां झटित्येवावभासते।।2।।

व्या.— यद्यपि व्यङ्गयार्थस्य प्रतीतिर्वाच्यार्थपूर्विका भवति तथापि व्यंग्यार्थस्यैव प्राधान्यं भवति— इति दर्शयति ध्वनिकारः। पदार्थज्ञानात् वाक्यार्थज्ञानं भवति। स्वसामर्थ्यवशेनैव पदार्थो वाक्यार्थं प्रतिपादयति परं वाक्यार्थज्ञानरूप व्यापारस्य समाप्तौ यथा पदार्थज्ञानं पृथक्तया न प्रतीयते तथैव वाच्यार्थ—विमुखात्मनां सहृदयानां प्रतीयमानार्थदर्शिन्यां बुद्धौ सोऽर्थो झटित्येव प्रकाशते। प्रतीयमा— नार्थज्ञाने वाच्यार्थज्ञानं पृथक्तया न विभाव्यते।

एवमासु कारिकासु प्रतीयमानस्य प्राधान्यं प्रतिपादक—प्रतिपाद्य—व्यापारदृशा प्रतिपादितम्।

12.4 प्रथमोद्योतस्य त्रयोदशकारिकातएकोनविंशतिकारिकांयावत् व्याख्या

(का) **यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृतस्वार्थौ।**
व्यङ्क्तः काव्यविशेषः स ध्वनिरिति सूरिभिः कथितः।।13।।

प्रसङ्गः— ध्वनिकारमते काव्यस्यात्मा ध्वनिः। स चार्थविशेषः।

यमर्थं सहृदयाः श्लाघन्ते सोऽतिरमणीयः प्रतीयमानार्थो ध्वनिः। अतः पूर्वकारिकास प्रतीयमानस्य वाच्याद् भेदं प्रदर्श्य तस्य सत्ता प्रतिष्ठापिता, सहैव तस्य प्राधान्यमपि प्रतिपादितं संप्रति ध्वनेः स्वरूपमभिधीयते।

व्या.— "प्रतीयमानं पुनरन्यदेव" इतिकारिकातः प्रारम्भ्य तद्वत् सचेतसां सोऽर्थः" इति यावत् कारिकासु वाच्यव्यतिरेकिणो व्यङ्ग्यार्थस्य सत्ता, प्राधान्यं च प्रतिष्ठापितम्। प्रकृते तस्योपयोगं प्रदर्शयन् ध्वनिस्वरूपं प्रतिपादयति ध्वनिकारः।

यत्रार्थो वाच्यविशेषः वाचकविशेषः शब्दो वा तमर्थं व्यङ्क्तः, स काव्यविशेषो ध्वनिः। यत्र अर्थः स्वात्मानं, शब्दो वा अभिधेयं गुणीकृत्य (उपसर्जनीकृत्य) तमर्थं (सरस्वती स्वादु तदर्थवस्तु—इति यदुक्तम्) अभिव्यनक्ति स ध्वनिरिति। "कारिकायां निबद्धस्य" उपसर्जनीकृ तस्वार्थौ" इति पदस्यार्थं स्फोरयता ध्वनिकारेण उक्तम्—

> **"अर्थो गुणीकृतात्मा, गुणीकृताभिधेयः शब्दो वा यत्रार्थान्तमभिव्यनक्ति स ध्वनिरिति।"**

व्यङ्क्त इति द्विवचनवस्य स्वारस्यमिदं वर्तते यदा शाब्दव्यंजनायां शब्दस्य व्यंजकता भवति तत्रार्थस्यापि सहकारिता, यत्र आर्थ व्यंजनायामर्थस्य व्यञ्जकता भवति तत्रशब्दस्य सहकारिता भवति यथोक्तम् दर्पणकारेण

शदबोध्यो व्यनक्त्यर्थः शब्दोऽप्यर्थान्तराश्रयः।

एकस्य व्यञ्जकत्वे तदन्यस्य सहकारिता।। साहित्यदर्पणं 2/18

एवं सर्वत्र शब्दार्थयोरुभयोरपि ध्वननव्यापारः।

तथा च व्यंग्यप्राधान्ये हि ध्वनिः। अनेन वाच्यवाचकचारुत्वहेतुभ्य उपमादिभ्योऽनुप्रासादिभ्यश्च विभक्त एव ध्वनेर्विषयः। ध्वनिरेव सहृदयहृदयाह्लादकारि काव्यतत्त्वम्। वाच्यवाचकमात्राश्रयिणि रीत्यलंकारादिप्रस्थाने व्यङ्यव्यञ्जकसमाश्रयेण व्यवस्थितस्य ध्वनेः कथमन्तर्भावः। ध्वनिरङ्गी वाच्यवाचकचारुत्वहेतवस्तु तस्याङ्गभूता अतः ध्वनेरन्तर्भाव तेषु कथं परिकरश्लोकश्चात्र—

व्यंग्यव्यञ्जकसम्बन्धनिबन्धनतया ध्वनेः।

वाच्यवाचकचारुत्वहेत्वन्तः पातिता कुतः।।

येषु पर्यायोक्तप्रभृतिषु अलंकारेषु वाच्योपसर्जनीभावेन व्यंग्यस्यावस्थानं तदा सोऽपि ध्वनि—विषयो भवतु, न तु स एव ध्वनिरिति वक्तुं शक्यते। यत्र वाच्यमात्रानुयायिनो व्यंग्यस्य प्राधान्यं नास्ति तत्र समासोक्त्यादयोऽलंकाराः।

यत्र व्यंग्यस्य प्रतीतिमात्रमस्ति, तस्य प्राधान्यं न प्रतीयते तत्र ध्वनिर्नास्ति। ध्वनेर्विषय स एव मन्तव्यः, यथोक्तम्—

तत्परावेव शब्दार्थौ यत्र व्यङ्ग्यं प्रति स्थितौ।

ध्वनेः स एव विषयो मन्तव्यः सङ्करोज्झितः।।

ध्वनिलक्षणकारिकायां "सूरिभिः कथितः इति या उक्तिः वर्तते सा विद्वदुपज्ञेया न तु यथाकथञ्चित् प्रवृत्ता। वैयाकरणा श्रूयमाणेषु वर्णेषु ध्वनिरिति व्यवहरन्ति। तन्मतानुसारिभिः साहित्यतत्त्वविद्भिर्वाच्य—वाचक—सम्मिश्रः शब्दात्मा काव्यमिति व्यपदेश्यो व्यञ्जकत्वसाम्याद् ध्वनिरित्युक्तः। ध्वनिशब्दस्य पञ्चार्था अभिनवगुप्तपादैः प्रदर्शिताः। 1. ध्वनति ध्वनयति वा यः स व्यंजकः शब्दो ध्वनिः। 2. ध्वनति ध्वनयति वा यः स व्यंजकोऽर्थो ध्वनिः। 3. ध्वन्यते इति ध्वनिः, वस्त्वलंकाररसादि।

4. ध्वन्यते अनेन इति ध्वनिः। शब्दार्थव्यापारो ध्वनिः। 5. ध्वन्यतेऽस्मिन्निति ध्वनिः। यस्मिन् वस्त्वलंकाररसादयो ध्वन्यन्ते तत् काव्यं ध्वनिः।

एवमस्यां कारिकायां ध्वनिस्वरूपं निरूपितमभाववादिनश्च प्रत्युक्ताः। अस्ति ध्वनिः काव्यस्यात्मेति सिद्धान्तः स्थापितः।

(का) **भक्त्या बिभर्ति नैकत्वं रूपभेदादयं ध्वनिः।**

अतिव्याप्तेरथाव्याप्तेर्न चासौ लक्ष्यते तया।।14।।

प्रसङ्गः— अस्यां कारिकायां भाक्तवादिनां मतं दूषयति।

व्या.— प्रथमकारिकायामुक्तं "भाक्तमाहुस्तमन्ये।"

वृत्तौ च लिखितमन्ये तं ध्वनिसंज्ञितं काव्यात्मानं गुणवृत्तिरित्याहुः। भक्तौ (लक्षणायां) ध्वनेरन्तर्भावकरणस्य त्रयो विकल्पाः संभवन्ति। 1 ध्वनिर्लक्षणा च एकमेव वस्तु वर्तते किं एकस्यैव वस्तुनः नामद्वयमस्ति ध्वनिर्लक्षणा वा घटकलशवत् पर्यायः भक्तिर्लक्षणा वा ध्वनेर्लक्षणं वर्तते। लक्षणं चासाधारण—धर्मकथनं तच्चैकं वस्तु, अन्यस्माद् पृथक् करोति यथा "गन्धवती पृथिवीति" गन्धवत्व— लक्षणं पृथिवीमन्येभ्यः सजातीयविजातीयपदार्थेभ्यो व्यावर्तयति (पृथक्करोतीति) किं भक्तिर्ध्वनेर्ल— क्षणमस्ति। 3. किं भक्तिः सत्तामात्रेण ध्वनेरुपलक्षणं वर्तते यथा काकः सत्तामात्रेण देवदत्तस्य गृहस्य परिचायको भवति (काकवद्देवदत्तगृहम्—इत्यत्र काकः देवदत्तस्य गृहस्य उपलक्षणम्)।

तत्र प्रथमविकल्पस्य (घटकलशवत्पर्यायइत्यस्य) निराकरणम्।। भक्त्याबिभर्तिनैकत्वं रूपभेदाद् ध्वनिः भक्त्या घटकलशवत् एकत्वं न बिभर्ति। ध्वनिशब्दस्य व्यवहारः पंचसु अर्थेषु भवति–शब्दः, वाच्यार्थः, व्यञ्जनाव्यापारः, व्यङ्ग्यार्थः, समेषां समुदायरूपं काव्यमिति। एषुसर्वेर्ष्वेषु भक्तिशब्दस्य योजना कार्या। पंचस्वर्थेषु ध्वनौ लक्षणायां च रूपभेदोऽस्ति। आलोककारो ध्वनिस्वरूपं प्रतिपादयति "वाच्यव्यतिरिक्तस्यार्थस्य वाच्यवाचकाभ्यां तात्पर्येण प्रकाशनं यत्र व्यङ्ग्यप्राधान्ये स ध्वनिः। तात्पर्येण प्रकाशनमित्यस्यार्थोऽस्ति "वक्तुरभिप्रायस्य विश्रातिः व्यंग्यार्थे भवति, अतो व्यंग्यार्थ एवा– र्थोऽभिव्यज्यते। भक्तेः स्वरूपं तु "उपचारमात्रं भक्तिः इति। यः शब्दो यस्मिन्नर्थे संकेतितः तमर्थं परित्यज्य तत्सम्बद्धान्यार्थस्य प्रतिपादनुमुपचारः एवं रूपभेदाद् ध्वनिर्भक्तिश्च अभिन्नौ न स्तः।

द्वितीय विकल्पस्य (भक्तिर्ध्वनेर्लक्षणम्) इत्यस्य निरासायोक्तम् "अतिव्याप्तेरथाव्याप्तेर्न चासौ लक्ष्यते तया।। यदि भक्तिर्ध्वनेर्लक्षणं भवेत् तदा अतिव्याप्तिरव्याप्तिश्च लक्षणदोषौ भविष्यतः।

ध्वनिव्यतिरिक्तविषयेऽपि भक्तिलक्षणसंभवातदतिव्याप्तिर्लक्षणदोषः। व्यंग्यकृतमहत्सौष्ठवं यत्र भवति तत्र ध्वनिः परमेतदभावेऽपि कवयः प्रसिद्ध्यनुरोधात् उपचरितशब्दशक्त्या (लक्षणया) व्यवहरन्ति।

यथा– **परिम्लानं पीनस्तनजघनसङ्गादुभयतः**
तनोर्मध्यस्यान्तः परिमलिनमप्राप्य हरितम्।
इदं व्यस्तन्यासं श्लथभुजलताक्षेपवलनैः
कृशाङ्ग्याः सन्तापं वदति बिसिनीपत्रशयनम्।।

अत्र व्यङ्ग्यकृतमहत्सौष्ठवं नास्ति, अतः ध्वनेर्नायं विषयस्तथापि कविना लक्षणावृत्तिराश्रिता "वदतीत्यत्र"

(का) उक्त्यन्तरेणाशक्यं यत् तच्चारुत्वं प्रकाशयन्।
शब्दो व्यञ्जकतां बिभ्रद् ध्वन्युक्तेर्विषयी भवेत्।।5।।

(का) रूढा ये विषयेऽन्यत्र शब्दाः स्वविषयादपि।
लावण्याद्याः प्रयुक्तास्ते न भवन्ति पदं ध्वनेः।।6।।

(का) मुख्यां वृत्तिं परित्यज्य गुणवृत्यार्थदर्शनम्।
यदुद्दिश्य फलं तत्र शब्दो नैव स्खलद्गतिः।।7।।

(का) वाचकत्वाश्रयेणैव गुणवृत्तिर्व्यवस्थिता।
व्यञ्जकत्वैकमूलस्य ध्वनेः स्याल्लक्षणं कथम्।।8।।

प्रसङ्गः– आसु चतसृषुकारिकासु प्रतिपाद्यते यत्
भक्तिर्न ध्वनेर्लक्षणमतिव्याप्तिलक्षणदोषत्वात्।

व्या.– पूर्वकारिकायां प्रतिपादितं यत् कवयो व्यगंयकृतमहत्सौष्ठवाभावस्थलेष्वपि लक्षणया शब्दप्रयोगं कुर्वन्ति। अत्र प्रतिपाद्यते यत् यच्चारुत्वं ध्वन्यतिरिक्तेन स्फुटेन शब्दार्थव्यापारेण (अभिधा– लक्षणाख्येन) अशक्यं भवति तच्चारुत्वं प्रकाशयन् शब्दो व्यञ्जकतां बिभ्रद् ध्वनिशब्देनोच्यते। "परिम्लानं पीन" इत्यस्मिन् पद्ये 'वदति' शब्द उक्त्यन्तराशक्यस्य चारूत्वस्य प्रकाशको नास्ति।

लक्षणायाः द्वितीयभेदे निरूढलक्षणयामपि ध्वनिर्न भवति। ये शब्दाः स्वविषयादपि अन्यत्र रूढ़ा भवन्ति ते लावण्यप्रभृतयः शब्दा ध्वनेः पदं न भवन्ति।

लक्षणायाः द्वौ भेदौ प्रयोजनवती लक्षणा निरूढा लक्षणा च। तत्र प्रयोगपरम्परया यः शब्दोऽर्थान्तरे निरूढः, तं श्रुत्वा मूलार्थस्य प्रतीतिर्नजायते। तद्भिन्नायां लक्षणायां विशेषप्रयोजनं बोधयितुं शब्दस्यार्थान्तरे प्रयोगः क्रियते प्रयोजनस्य बोधश्च व्यंजनावृत्त्या भवति, स व्यङ्ग्योऽपि द्विविधः। तत्रैको व्यङ्ग्यः तादृशो भवति, यदि तस्याभिधानं लाक्षणिकशब्दं परित्यज्यान्यशब्देन क्रियते तदा तादृशी रमणीयता न भवति यादृशी लाक्षणिकशब्दप्रयोगेण।

अयमेव ध्वनेर्विषयः। द्वितीयस्तादृशोभवति यस्याभिधानं शब्दान्तरेण कृतेऽपि रमणीयता तथैव भवति, नायं ध्वनेर्विषयः।

उपर्युक्तविवेचनेनैतद् सिद्धयति यत् यत्र–यत्र लक्षणा तत्र–तत्र सर्वत्र ध्वनिरति नियमो नास्ति। अतएव लक्षणया ध्वनिर्नलक्ष्यते। यदि लक्षणया ध्वनिर्ज्ञायेत तर्हि यत्र'–कुत्रापि लक्षणा भविष्यति तत्र ध्वनिव्यवहारः स्यात् तदायमतिव्याप्तिर्दोषः।।15–16।।

अस्यान्यप्रकारेण विवेचनं कर्तुं शक्यते यथा असाधारणधर्मवचनमेव लक्षणं, लक्षणं धर्मः, लक्ष्यं च धर्मि। लक्ष्यलक्षणभावो तदैव भवति यदा लक्ष्यलक्षणयोरेकविषयः स्यात्। ययोर्विषये भिन्नता भवति तयोर्लक्ष्यलक्षणभावो न भवति। अनया रीत्या लक्षणाध्वन्योर्विषये विचारः करणीयः। लक्षणाया विषयोऽस्त्यमुख्यार्थः, यथा 'गङ्गायां घोषः' अत्र–लक्षणाया विषयो वर्तते अमुख्योऽर्थो "गंगातटः"। एतद्विपरीतं ध्वनेः (व्यंजनायाः) विषयोऽस्ति लक्षणायाः प्रयोजनं (यथा) "गंगायां घोषः" इत्यत्र शैत्यपावनत्वादिकम्। एवं विषयभेदादनयोर्नतु लक्ष्यलक्षणभावो न वा धर्मधर्मिभावो भवितुमर्हति। अत्र प्रश्नः समुदेति–यत् अत्र द्वौ लक्षणाव्यापारौ स्वीकर्तव्यौ, प्रथमेन व्यापारेण तटे लक्षणा, द्वितीयेन च प्रयोजने लक्षणा, प्रयोजनप्रतीतये पृथक् व्यञ्जनाव्यापारस्य आवश्यकतैव नास्ति। एतस्योत्तरं दातुं "मुख्यांवृत्तिं" इतिकारिकाया अवतरणं विद्यते। द्वौ लक्षणाव्यापारौ नाङ्गीकर्तव्यौ यतो हि द्वितीयवारं लक्षणाया सामग्री (मुख्यार्थबाधः, मुख्यार्थयोगः, प्रयोजनान्तरं च) नोपालभ्यते। कारिकाया सारोऽयं वर्तते, यत् शब्दस्य मुख्या वृत्तिर्व्यापारो वा अभिधैव वर्तते, लक्षणास्वीकारे तस्या मुख्यवृत्तेः परित्यागः क्रियते तथा च गौणवृत्या यस्या अपरं नाम लक्षणा वर्तते, तयार्थस्य प्रत्यायनं कार्यते, सोऽर्थश्चामुख्यः। यत्प्रयोजनमुद्दिश्य लक्षणाङ्गीकृता तस्य प्रतीतये नाभिधा न च लक्षणा समर्था अपितु ध्वननव्यापारः (अस्खलदर्थबोधकः) वर्तते।।7।।

संप्रति "वाचकत्वाश्रयणैव" इतिकारिकया प्रतिपाद्यते यत् भक्तिर्यदि ध्वनेर्लक्षणं भविष्यति तदा अव्याप्तिलक्षण दोषः स्यात्। लक्ष्यैकदेशावृत्तित्वमव्याप्तिः। यदि लक्षणं लक्ष्यस्य सर्वेषु भेदेषु न घटते तदाव्याप्तिलक्षण दोषः। अभिधामूलध्वनिर्लक्षणामूल ध्वनिश्चेति ध्वने र्द्वौ भेदौ तत्र लक्षणामूल ध्वनौ तु मूले लक्षणाभवति परमभिधामूलध्वनौ तु तत्स्पर्शोऽपि नास्ति, अन्यच्च लक्षणा वाचकत्वाश्रयेण तिष्ठति सा व्यञ्जकत्वैकमूलस्य ध्वनेः लक्षणं कथं भवेत् तस्माद् भक्तिरलक्षणं ध्वनेः।

(का) कस्यचिद् ध्वनिभेदस्य सा तु स्यादुपलक्षणम्।
लक्षणेऽन्यैः कृते चास्य पक्षसंसिद्धिरेव नः।।9।।

प्रसङ्गः– भाक्तवादिनां त्रयो विकल्पा भवितुमर्हन्ति। तत्र प्रथमयोः (ध्वनिर्भक्तिश्च घटकलशवत् पर्यायौ, भक्ति र्ध्वनेलक्षणम् इति) विकल्पयोः खण्डनं पूर्वकारिकासु कृतम्। संप्रति अनया कारिकया तृतीय विकल्पस्य खण्डनं विधीयते।

व्या– भाक्तवादिनां तृतीयविकल्पोऽस्ति लक्षणा ध्वनेरुप लक्षणं भवितुमर्हति। यथा 'काकवद् देवदत्तस्य गृहम्' इत्यत्र काकत्वं देवदत्तस्य गृहस्य न तु लक्षणं न वा विशेषणं विद्यते परमवर्तमानव्यावर्तक धर्मरूपमुपलक्षणम्। तात्पर्यमिदं वर्तते यत् लक्षणकारः समस्तसमूहे कस्यचिदेकस्य तत्त्वस्य परिचयं ददाति तदाधारेण शेषसमूहस्य बोधो भवति, एतदेव उपलक्षणम्। उपलक्षणवादिनां तात्पर्यं विद्यते यत् ध्वनेः कश्चिदेको भेद एवंविधो भविष्यति यत्र लक्षणा विद्यमाना भवति। तदा तमुपलक्षण मत्वा शेषभेदानां तस्मिन्नेव समाहारो भविष्यति, ध्वनेः पृथक्लक्षणकरणस्य का आवश्यकता वर्तते? अतोऽत्रविचार्यते। लक्षणा ध्वनेः कस्यचिद् भेदस्योपलक्षणं भवितुं शक्यते परं यदि च गुणवृत्यैव ध्वनिर्लक्ष्यत इत्युच्यते तदा अभिधा व्यापारेण तदितरोऽलंकारत्त्वर्गः समग्र एव लक्ष्यत इति प्रत्येकमलंकाराणां लक्षणकरण वैयर्थ्यप्रसंगः। यथाभिधाव्यापारेणोपलक्षण भूतेन अलंकारा न ज्ञायन्ते, तथैवोपलक्षणभूतेन लक्षणाव्यापारेण ध्वनेः सकला भेदा न ज्ञायन्ते, अतः लक्षणा ध्वनेरुपलक्षणं नास्ति। आनंदवर्धनो लिखति यदि भक्तिरेव ध्वनेर्लक्षणमिति स्वीकुर्वद्भिः ध्वनेलक्षणं विहितं तदास्माकं पक्षसंसिद्धिः।

यस्माद् ध्वनिरस्तीति नः पक्षः। स चान्यैः अस्मत्पूर्वमेव संसिद्ध इति अयत्नसम्पन्नसमीहितार्था सम्पन्नाः स्मः।

अलक्षणीयतावादस्य खण्डनम्

"एकोनविंशतितमकारिकायाः वृत्तिभागे ध्वनिकारोऽलक्षणीयतावादस्य खण्डनं करोति। ये ध्वनिं सहृदयहृदयसंवेद्यमनिर्वचनोयमेव प्रतिपादयन्ति ते परीक्ष्यवादिनो न सन्ति। ध्वनेः सामान्यलक्षणं "यत्रार्थः शब्दो वा" इतिकारिकया प्रतीयमानं पुनरन्यदेव" प्रभृतिकारिकाभिः तस्यातिशयित्वं प्रतिपादितं तथा च ध्वनिभेदानां विशेषलक्षणानि च ध्वन्योलोके कृतानि तथापि यद्यनाख्येयत्वं तत् सर्वेषामेव वस्तूनां तत्प्रसक्तम्।।

यदि ते काव्यान्तरातिशायितया वेदान्तिवत् अनिर्वचनीयत्वं ध्वनेः स्वीकुर्वन्ति तेऽपि युक्ता–भिधायिन एव।

12.5 पारिभाषिक शब्दावली

स्वेच्छया – स्वीकृतनरसिंहरूपस्य मधुनामकस्य दैत्यस्य शत्रोः स्वकान्त्या खेदितेन्दवः शरणागतपीडापहारकाः नखाः व्याख्यातृश्रोत्तृंस्त्रायन्ताम्।

प्रतीयमानं – महाकवीनां वाणीषु (काव्येषु) वाच्याद्भिन्नमेव प्रतीयमानं विलक्षणमेव वस्तु विद्यते।

रसादिलक्षण – तत्र तृतीयभेदो रसादिलक्षण एव वस्तुतः काव्यस्यात्मा एवमितिहासमुखेन (वाल्मीकेः श्लोकमुखेन) प्रदर्श्य अस्यां कारिकायां तस्य स्वसंवेदनसिद्धत्वमपि प्रतिपाद्यते।

ध्वनिः – यमर्थं सहृदयाः श्लाघन्ते सोऽतिरमणीयः प्रतीयमानार्थो ध्वनिः।

12.6 अभ्यासार्थ प्रश्न

प्रश्न : 1 योऽर्थः सहृदयश्लाध्य इति कारिकाया सप्रसङ्गं व्याख्या विद्येया।

प्रश्न : 2 प्रतीयमानं पुनरन्यदेव इति कारिकाव्याख्येया।

प्रश्न : 3 ध्वनेः स्वरूपबोधिकां कारिकां विलिख्य तस्याः व्याख्या कार्या।

प्रश्न : 4 भाक्तवादस्य खण्डनं कारिकाविलेखनपूर्वं कार्यम्

प्रश्न : 5 काव्यस्यात्मा स एवार्थ :– इति कारिका व्याख्येया

प्रश्न : 6 मुख्यां वृत्तिं परित्यज्य इति सम्यग्व्याख्येया।

उत्तराणि– समेषां प्रश्नानामुत्तराणि तत्तत्कारिकाणां व्याख्यासु दृष्टव्यानि।

12.7 सारांश

अध्यायेऽस्मिन् ध्वन्यालोकग्रन्थस्य प्रथमोद्योते समागतानां कारिकाणां प्रतिपाद्यविषयस्य ज्ञानं संस्कृतमाध्यमेन प्राप्तम् ।ध्वन्यालोको वस्तुतस्तु युगप्रवर्तको ग्रन्थः यत्र काव्यतत्त्वानां सम्यग्व्यवस्था कृता। प्रथमोद्योते ध्वनेः प्रतिष्ठा, ध्वनिविरोधिनां मतानि, तेषां खण्डनं, वाच्याद्भिन्नस्य प्रतीयमानस्य स्वरूपनिर्धारणं, ध्वनिलक्षणञ्चेति विषया मुख्यरूपेण प्रतिपादिताः।प्रथमोद्योतस्य मंगलाचरणतः एकोनविंशतिकारिकांयावत् व्याख्याप्यध्यायेऽस्मिन् कृता ।

12.8 संदर्भ ग्रंथ सूची

1. ध्वन्यालोक (लोचन सहित), टीकाकार डॉ. रामसागर त्रिपाठी, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली–पटना–वाराणसी, 1989.
2. ध्वन्यालोक, व्या. आचार्य विश्वेश्वर सिद्धान्तशिरोमणी, ज्ञानमण्डल लिमिटेड, वाराणसी, 2009.
3. आनन्दवर्धन ,डॉ. रेवाप्रसाद द्विवेदी, मध्य प्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, भोपाल प्र.सं., 1972.

इकाई—13

ध्वन्यालोक के द्वितीय उद्योत में प्रतिपादित मुख्य विषय का विवेचन

इकाई की रूपरेखा

13.0 उद्देश्य
13.1 प्रस्तावना
13.2 ध्वनि भेद
13.3 रसध्वनि, रसवदलंकार एवं अलंकारों का विषय विभाजन
13.4 गुण, अलंकार एवं दोष विवेचन
13.5 रसध्वनि में अलंकारों के सन्निवेश की समीक्षा
13.6 शब्दशक्तिमूलध्वनि और श्लेष का विषय पार्थक्य
13.7 पारिभाषिक शब्दावली
13.8 अभ्यासार्थ प्रश्न
13.9 सारांश
13.10 संदर्भ ग्रंथ सूची

13.0 उद्देश्य

इस इकाई के माध्यम से ध्वन्यालोक के द्वितीय उद्द्योत में प्रतिपादित विषयों का ज्ञान प्राप्त कर सकेंगे। इस उद्द्योत का उद्देश्य ध्वनि के भेदोपभेदों का विवेचन करना साथ ही उसके उपयोगी विषयों पर प्रकाश डालना है।

13.1 प्रस्तावना

आचार्य आनन्दवर्धन (855—884 ई.) ने ध्वन्यालोक नामक अपने सुप्रसिद्ध ग्रन्थ में काव्य को आत्मा के रूप में ध्वनि को प्रतिष्ठित किया है। इनके सिद्धान्त का सार है "काव्यस्यात्मा ध्वनिः"। ध्वनि काव्य में व्याप्त रहने वाला अतिरमणीय अर्थ है। सहृदयजन इसकी प्रशंसा करते हैं। वाल्मीकि आदि कवियों के काव्यों में वाच्यार्थ से भिन्न सहृदयजन संवेद्य एवं श्लाघ्य प्रतीयमान अर्थ कुछ विलक्षण ही काव्य वस्तु। यह प्रतीयमान अर्थ आस्वाद्य होकर जब अन्य अर्थों की तुलना में प्रधान होता है तब ध्वनि कहा जाता है। इसके वस्तु, अलंकार एवं रस ये तीन भेद होते हैं। प्रतीयमान अर्थ की प्रतीति अभिधा आदि व्यापारों से भिन्न व्यञ्जना नामक शब्द और अर्थ के व्यापार से ही होती है। वस्तु और अलंकार रूप तो वाच्य भी हो सकते हैं किन्तु वाच्य अवस्था में ये ध्वनि नहीं कहे जाते हैं रस रूपी प्रतीयमान तो स्वप्न में भी वाच्य नहीं होता। काव्य की आत्मा तो वस्तुतः यह प्रतीयमान ही हाती है—

काव्यस्यात्मा स एवार्थस्तथा चादिकवेः पुरा।
क्रौञ्चद्वन्द्ववियोगोत्थः शोकः श्लोकत्वमागतः।। ध्वन्यालोक 1/5

काव्य रस के स्पर्श से वस्तु और अलंकार रूप ध्वनि भी काव्य के आत्मरूप में प्रतिष्ठित है। ध्वनि का सामान्य लक्षण इस प्रकार है —

यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृतस्वार्थौ।
व्यङ्क्तः काव्यविशेषः स ध्वनिरिति सूरिभिः कथितः।। ध्वन्यालोक 1/13

"जहाँ अर्थ अपने स्वरूप को तथा शब्द अपने अर्थ को गौण बनाकर उस प्रतीयमान अर्थ को व्यक्त करते हैं उसे काव्य विशेष के विद्वानों ने ध्वनि कहा है।"

ध्वन्यालोक का प्रथम उद्योत ध्वनिसिद्धांत की भूमिका है। इसमें ध्वनि की स्थापना, ध्वनि विरोधियों के मत एवं उनका खण्डन तथा ध्वनि का स्वरूप प्रधान रूप से विवेचित हुआ है। द्वितीय उद्द्योत में ध्वनि के भेदों का विवेचन है।

13.2 ध्वनिभेद

ध्वन्यालोक के प्रथम उद्द्योत में आनन्दवर्द्धन ने काव्य की आत्मा के रूप में ध्वनि को प्रतिष्ठित किया है। ध्वनि का सामान्य स्वरूप प्रतिपादित करने के पश्चात् सभी ध्वनिविरोधियों का खण्डन करके अंत में कहा–"अस्ति ध्वनिः" अर्थात् ध्वनि की सत्ता है तथा वही काव्य का आत्मा है।

ध्वनि के भेदों का विवेचन करते हुए ध्वनिकार लिखते हैं कि सामान्यतः अविवक्षितवाच्य तथा विवक्षितान्यपरवाच्य भेद से ध्वनि के दो प्रकार हैं –

"स चाविवक्षितवाच्यो विवक्षितान्यपरवाच्यश्चेति द्विविधः सामान्येन।"

द्वितीय उद्द्योत के प्रारम्भ में कहा कि इन दो भेदों में से प्रथम अविवक्षितवाच्यध्वनि के दो भेद होते हैं।

अविवक्षितवाच्यध्वनिः

"अर्थान्तरे सङ्क्रमितमत्यन्तं वा तिरस्कृतम्।
अविवक्षितवाच्यस्य ध्वनेर्वाच्यं द्विधा मतम्।। ध्व. 2/1

अविवक्षितवाच्य ध्वनि के मूल में लक्षणावृत्ति रहती है जिससे इसे लक्षणामूलध्वनि कहा जाता है। यहाँ वाच्यार्थ अविवक्षित रहता है। अविविक्षितवाच्यार्थ या तो अर्थान्तर में संक्रमित कर दिया जाता है या अत्यंत तिरस्कृत कर दिया जाता है इस आधार पर इसके 1. अर्थान्तर संक्रमित एवं 2 अत्यन्ततिरस्कृत ये दो भेद होते है।

अर्थान्तर संक्रमित वाच्य का उदाहरण "रामोऽस्मि सर्वं सहे" है तथा अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य का उदाहरण–"निःश्वासान्ध इवादर्शश्चन्द्रमा न प्रकाशते" है। (इन सभी भेदा के स्वरूप और उदाहरणों की विशेष व्याख्या कारिकाओं की व्याख्या में देखें।)

विवक्षितान्यपरवाच्यध्वनिः

असंलक्ष्यक्रमोद्योतः क्रमेण द्योतितः परः।
विवक्षिताभिधेयस्य ध्वनेरात्मा द्विधा मतः।।ध्व. 2/2

विवक्षितान्यपरवाच्यध्वनि के मूल में अभिधा शक्ति होती है। अतः इसे अभिधामूलध्वनि भी कहा जाता है। इसमें वाच्यार्थ की विवक्षा वाच्यार्थरूप में नहीं अपितु ध्वनिपरत्वेन होती है। यहाँ ध्वनि की आत्मा असंलक्षितक्रम से तथा संलक्षितक्रम से होती है। अतः 1 असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य तथा 2 संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य ये दो भेद इस ध्वनि के होते है।

1. असंलक्ष्यकव्यङ्ग्यध्वनिः–

इनमें असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य के भेदों की गणना करना संभव नहीं है अतः भेद की दृष्टि से इसे एक ही माना जाता है। इस असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य ध्वनि में रस, भाव, रसाभास, भावाभास, भावशान्ति, भावोदय, भावसन्धि, भावशबलता आदि प्रधान रूप से प्रतीत होते हुए ध्वनि के आत्मरूप से स्थित होते हैं।

इनमें रसध्वनि के उदाहरण के रूप में **"निःशेषच्युतचन्दनं स्तनतटं"** आदि को ले सकते है।

ये रसादि जहाँ प्रधान होते हैं वहीं रसादिध्वनि हैं यदि ये अङ्गरूप में आते हैं तब रसवदादि अलंकार होते हैं ध्वनि नहीं। निम्नकारिका में यही कहा जा रहा है:–

"रस–भावतदाभासतत्प्रशान्त्यादिरक्रमः।
ध्वनेरात्माऽङ्गिभावेन भासमानो व्यवस्थितः।।ध्व. 2/3

रस के रूप में शृङ्गार, हास्य, करुण, रौद्र, वीर, भयानक, बीभत्स्य, अद्भुत और शान्त ये नो भेद प्रसिद्ध हैं। भाव अनन्त हैं। इसी प्रकार रसाभास, भावाभास के भी भेद गिने नहीं जा सकते। इस प्रकार रसादिध्वनि के अनंत भेद हैं।

2. संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य ध्वनिः–

घण्टा बजाने के पश्चात् जैसे अनुरणन होता है वैसे ही व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति क्रमशः होती है उसे संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य ध्वनि कहते हैं। इसके 1. शब्दशक्तिमूल 2. अर्थशक्तिमूल और 3. शब्दार्थोभयशक्तिमूल–भेद से तीन भेद होते हैं। वैसे 20 वीं कारिका में स्पष्टतः प्रथम दो भेदों का उल्लेख किया है। कारिका इस प्रकार हैः–

क्रमेण प्रतिभात्यात्मा योऽनुस्वानसन्निभः।

शब्दार्थशक्तिमूलत्वात् सोऽपि द्वेधा व्यवस्थितः।।ध्व. 2/20

किन्तु 23वीं कारिका में संकेत रूप में तथा इसकी वत्ति एवं उदाहरण में शब्दार्थोभयशक्त्युत्थ भेद को भी संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यध्वनि में स्वीकार किया है।

"शब्दार्थशक्त्याक्षिप्तोऽपि व्यङ्ग्योऽर्थः कविना पुनः।

यत्राविष्क्रियते स्वोक्त्या सान्यैवालङ्कृतिर्ध्वनेः।।2/23

वृत्ति–"शब्दशक्त्या, अर्थशक्त्या, शब्दार्थशक्त्या वाक्षिप्तोऽपिः।

अ. शब्दशक्त्युत्थध्वनि के भी दो भेद हैं – एक वस्तुध्वनि एवं एक अलंकार ध्वनि।

वस्तुध्वनि का उदाहरण "पथिक नात्र स्रस्तरमस्ति" है तथा अलंकार ध्वनि का उदाहरण–"अत्रान्तरे कुसुमसमययुगमुपसंहन्नजृम्भत ग्रीष्माभिधानः फुल्लमल्लिका धवलाट्टहासो महाकालः" है। (विशेषविवरण कारिकाओं की व्याख्या में)

आ. अर्थशक्त्युद्भव ध्वनिः

इस ध्वनि में अभिधाव्यापार से ज्ञात अर्थ शब्द के व्यापार के बिना ही ध्वनन व्यापार से अर्थान्तर को स्वतः ही अभिव्यक्त कर देता है। कारिका में कहा गया हैः–

"अर्थशक्त्युद्भवस्त्वन्यो यत्रार्थः स प्रकाशते।

यस्तात्पर्येण वस्त्वन्यद् व्यनक्त्युक्तिं विना स्वतः।। 2/22

इसका उदाहरण हैः–

"एवं वादिनि देवर्षौ पार्श्वे पितुरधोमुखी।

लीलाकमलपत्राणि गणयामास पार्वती।"

अर्थशक्त्युद्भवध्वनि के प्रथम तीन भेद होते हैं 1 स्वतः सम्भवी 2 कविप्रौढोक्ति सिद्ध 3 कविनिबद्धवक्तृ प्रौढोक्तिसिद्ध।

प्रत्येक में वस्तु और अलंकार की व्यंजकता एवं व्यङ्ग्यता के आधार पर 4–4 भेद होकर कुल बारह भेद होते हैं।

जैसे अर्थशक्त्युद्भव स्वतः सम्भवी ध्वनि के चार भेद इस प्रकार होंगे 1. वस्तु से वस्तु व्यङ्ग्य 2 वस्तु से अलंकार व्यङ्ग्य 3. अलंकार से वस्तु व्यङ्ग्य 4. अलंकार से अलंकार व्यङ्ग्य। इसी प्रकार कवि प्रौढोक्ति सिद्ध एवं कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्ति सिद्ध में भी चार–चार भेद होंगे। (इनके उदाहरण कारिकाओं की व्याख्या में देखें)

(इ) उभयशक्ति का एक भेद है।

उदाहरण– अतन्द्रचन्द्राभरणा समुद्दीपितमन्मथा।

तारकातरला श्यामा सानन्दं न करोति कम्।।

(मेघ आदि के आवरण से रहित) चमकते हुए चन्द्रमा से विभूषित (श्यामाशब्दश्लिष्ट है। उसके दो अर्थ है एक रात्रि और दूसरा षोडशवर्षीया नायिका, इस दूसरे पक्ष में उज्ज्वल चन्द्र के आकारवाले सिर के आभूषण को धारण करने वाली श्यामा अर्थात् षोडश वर्षीया

नायिका) कामदेव को उद्दीप्त करने वाली (श्यामा रात्रि तथा षोडशवर्षीया नायिका) किसको आनंदित नहीं करती है।

यहाँ (उक्त विशेषणों से विशिष्ट श्यामा रात्रि के समान उक्त विशेषणों से विशिष्ट षोडशवर्षीया नायिका यह) उपमा अलंकार व्यङ्ग्य है।

ध्वनि भेदों का संकलन

ध्वनि

अविवक्षितवाच्यध्वनि (2 भेद)	**विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि (16 भेद)**
(लक्षणामूला)	**(अभिधामूला)**
(1) अर्थान्तर संक्रमितवाच्यध्वनि	(1). असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यध्वनि (रसभावादि भेद से 1 प्रकार)
(2) अत्यन्त तिरस्कृतवाच्यध्वनि	(2). संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यध्वनि :– शब्दशक्त्युद्भवध्वनि
(अ) अर्थशक्त्यद्भवध्वनि	(ब) शब्दार्थोभयशक्त्युत्थ

ध्वनि (एक ही भेद)

(1). शब्दशक्त्युद्भवध्वनि :–

1. वस्तुध्वनि 2 अलंकारध्वनि

(2). अर्थशक्त्युद्भवध्वनि (12 भेद)

(अ) स्वतः संभवी (4 भेद)	(आ) कविप्रौढोक्ति (4 भेद)	(इ) कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्ति (4 भेद)
1. वस्तु से वस्तु व्यङ्ग्य	1. वस्तु से वस्तु व्यङ्ग्य	1. वस्तु से वस्तु व्यङ्ग्य
2. वस्तु से अलंकारव्यङ्ग्य	2. वस्तु से अलंकार व्यङ्ग्य	2. वस्तु से अलंकार व्यङ्ग्य
3. अलंकार से वस्तुव्यङ्ग्य	3. अलंकार से वस्तु व्यङ्ग्य	3. अलंकार से वस्तु व्यङ्ग्य
4. अलंकार से अलंकार व्यङ्ग्य	4. अलंकार से अलंकार व्यङ्ग्य	4. अलंकार से अलंकार व्यङ्ग्य

कुल अठारह भेद होते हैं। द्वितीय उद्द्योत में इन्हीं भेदों का वर्णन है। तृतीय उद्द्योत में इनके और भेद किए गए हैं।

13.3 रसादिध्वनि, रसवदलंकार एवं उपमादि अलंकारों का विषय विभाजन

अभिधामूल ध्वनि (विवक्षितान्यपरवाच्यध्वनि) का एक भेद असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यध्वनि नाम से कहा जाता है। इसमें व्यङ्ग्य की प्रतीति में क्रम तो होता है किन्तु वह सम्यक् प्रकार से लक्षित नहीं होता। इस ध्वनि में रस, भाव, तदाभास (अर्थात् रसाभास और भावाभास) और भावशान्ति आदि प्रधान रूप से प्रतीत होते हुए ध्वनि के आत्मरूप से स्थित होते हैं।

रसध्वनि का विषय :

> **"वाच्यवाचकचारुत्वहेतूनां विविधात्मनाम्।**
> **रसादिपरता यत्र स ध्वनेर्विषयो मतः।। ध्व. 2/4**

जहाँ विविधस्वरूप वाले वाच्य और वाचक के चारुत्व के हेतु (अलंकार) रसादिपरक (रसादि के अड्.ग) होते हैं वह ध्वनि (रसादिध्वनि) का विषय होता है।

यहाँ 'रस्यते इति रसः" इस व्युत्पत्ति से रस, भाव, तदाभास, भावशान्ति आदि का ग्रहण होता है।

जहाँ रसादि की प्रतीति प्रधानरूप से हो वे किसी के अंग न बने हों वह रसादिध्वनि का विषय हैः–

"तस्माद्यत्र रसादयो वाक्यार्थी भूताः स सर्वः न रसादेरलंकारस्य विषयः, स ध्वनेः प्रभेदः।

> **यः पुनरङ्गी रसो भावो वा सर्वाकारमलङ्कार्यः स ध्वनेरात्मेति।"**

अर्थात् जहाँ रसादि वाक्यार्थीभूत (अर्थात् प्रधानतया बोधित) होते हैं, वह सब (स्थल) रसादि अलंकार के विषय न होकर रसादिध्वनि के भेद हैं।

जो अङ्गी रस या भाव सब प्रकार से अलङ्कार्य है वह ध्वनि का (आत्मा) स्वरूप है।

रसवदलङ्कारों का विषय

रसादि ध्वनि का विवेचन करते हुए ध्वनिकार ने द्वितीय उद्योत की तृतीय कारिका में लिखा–"ध्वनेरात्माङ्गीभावेन भासमानो व्यवस्थितः" अर्थात् प्राधान्येन प्रतीत होने वाले रस आदि ध्वनि के आत्मा हैं। इससे यह ज्ञात होता है कि रसादि की प्रतीति कहीं कहीं प्रधान न होकर अप्रधान रूप में भी होती है। जहाँ रस किसी अन्य के अङ्गरूप होकर प्रतीत होते हैं वहाँ रसादि ध्वनि रूप न होकर रसवदलंकार कहलाते हैं। ये चार प्रकार के होते हैं–रसवत्, प्रेय, ऊर्जस्वि और समाहित।

"रस्यते इति रसः इस व्युत्पत्ति से रस, भाव, तदाभास (रसाभास और भावाभास – अनौचित्यप्रवर्तिता रसा रसाभासाः और अनौचित्यप्रवर्तिता भावा भावाभासाः) एवं भावशान्त्यादि ये चारों रस कहे जाते हैं। इन्हीं चारों की अङ्गरूप से प्रतीति होने पर रसवदलंकार चार प्रकार के कहलाते हैं। रस किसी अन्य रसादि का अङ्ग हो जाए तो रसवद्, भाव अन्य का अङ्ग प्रतीत हो तो प्रेय, रसाभास या भावाभास किसी अन्य अर्थ के अङ्ग हो जावें तो ऊर्जस्वि और भावशान्त्यादि किसी के अङ्ग बन जावें तो समाहित नामक अलंकार कहा जाता है। रसवदलंकार के विषय का निरूपण करते हुए ध्वनिकार लिखते हैंः–

प्रधानेऽन्यत्र वाक्यार्थे यत्राङ्गन्तु रसादयः।

काव्ये तस्मिन्नलङ्कारो रसादिरिति मे मतिः। ध्व. 2/5

अन्यत्र वाक्यार्थ के प्रधान होने पर जहाँ रस इत्यादि अंग हो रहे हैं। उस काव्य में रस इत्यादि अलंकार बन जाते हैं, यह मेरी सम्मति है। यहाँ 'अन्यत्र' शब्द का अर्थ ह–जहाँ वाच्य, वाचक इत्यादि काव्य के अनेक तत्त्व रसादिपरक ही नहीं होते इसके प्रतिकूल 'रसादि' ही वाक्यार्थपरक होते हैं। जहाँ वाच्य, वाचक चारुत्व हेतु अलंकार रसादिपरक होते हैं वहाँ रसादिध्वनि है किन्तु इसके विपरीत जहाँ ये चारुता के हेतु रसादिपरक न होकर रसादि ही वाक्यार्थ परक हो जावें अर्थात् किसी अन्य के अङ्ग बन जावें वहाँ रसवदलंकार का विषय होता है–यह ध्वनिकार का पक्ष है। यह स्थिति तीन प्रकार से हो सकती है। 1. जहाँ पर प्रधानता किसी दूसरे रसस्वरूप की हो 2. जहाँ एक मात्र कोई वस्तु प्रधान हो, और 3. जहाँ कोई ऐसी वस्तु प्रधान हो जिसे अलंकार के नाम से भी अभिहित किया जा सके। इसी विषय को वृत्ति में स्पष्ट करते हुए लिखा है–

यस्मिन् काव्ये प्रधानतयाऽन्योऽर्थो वाक्यार्थीभूतस्तस्य चाङ्गभूता ये रसादयस्ते रसादेरलंकारस्य विषया इति मामकीनः पक्षः।

जैसे चाटूक्तियों में प्रेयोऽलंकार के वाक्यार्थ होने पर रस इत्यादि अङ्गभूत देखे जाते हैं। वह रसवदादि अलंकार शुद्ध और संकीर्ण भेद से दो प्रकार का होता है। (उदाहरण व्याख्या भाग में देखें)

रसवदलंकार के विषय में अन्य भी मत हैं। कुछ का मत है कि वाच्य वाचक की चारुता बढ़ाते हुए जो रसोपकारक हो वह अलंकार होता है। रसवदलंकार तो रसादि के साक्षात् उपकारक हैं अतः इनमें अलंकार का लक्षण घटित नहीं होता। ऐसी दशा में जहाँ रसादि प्रधान नहीं होते वहाँ वे लोग गुणीभूत व्यङ्ग्य मानते हैं। उनके मत में ध्वनि और गुणीभूत व्यङ्ग्य– ये दो ही वस्तु हैं, इनसे भिन्न रसवदलंकार नाम की तीसरी वस्तु नहीं है। परन्तु ध्वनिकार ने रसवदलंकार भी माने हैं और गुणीभूत व्यङ्ग्य भी। इनके मत में रसादिध्वनि के अपराङ्ग होने में रसवत् तथा प्रेयोऽलंकार और वस्तु या अलङ्कार व्यङ्ग्य के अपराङ्गादि होने में गुणीभूतव्यङ्ग्य मानने से ही दोनों का समन्वय हो सकेगा।

उपमादि अलंकार का विषय

_______वाच्य और वाचक रूपी अङ्ग के आश्रित को अलंकार कहते हैं। "अङ्गाश्रितास्त्वलङ्कारा मन्तव्याः कटकादिवत्।। ध्व. 2/6 ध्वनिकार ने संग्रह श्लोक में यह स्पष्ट किया है कि रस, भाव आदि के तात्पर्य से (अर्थात् रसभावादि को प्रधान मानकर उनके अङ्ग रूप में) अलंङ्कारों की स्थिति ही सब अलङ्कारों के अलङ्कारत्व का साधक है।

रसभावादितात्पर्यमाश्रित्य विनिवेशनम्।

अलङ्कृतीनां सर्वासामलङ्कारत्वसाधनम्।।

रसादि, रसवदलङ्कार एवं उपमादि अलंकारों के विषय विभाजन को इस प्रकार समझा जा सकता हैः–

1. जहाँ रसादि को प्रतीति प्रधान रूप से होती है वहां रसध्वनि का विषय है। (वाच्यवाचक चारुत्व...2/4 कारिका)
2. जहाँ मुख्य रस अलंकार्य है और कोई दूसरा रस भी अङ्गभूत नहीं हैं वहां उपमादि अलंकार का क्षेत्र है।

   (रसभावादितात्पर्य... साधनम्।। "तस्योपमादयोऽलंकाराः)
3. जहाँ वाच्य, वाचक चारुता के हेतु अलंकार आदि रसादिपरक न हो, कोई अन्य अर्थ प्रधान हो तथा रसादि अङ्गरूप में हों वह रसवदलंकार का क्षेत्र होता है।

(प्रधानेऽन्यत्रवाक्यार्थे... मे मतिः 2/5, यत्र तु प्राधान्येनार्थान्तरस्य वाक्यार्थीभावे रसादिश्चारुत्वनिष्पत्तिः क्रियते स रसादेरलङ्कारताया विषयः।, तस्मादङ्गत्वेन रसादीनामलङ्कारता)

13.4 गुण, अलंकार एवं दोष विवेचन

गुण और अलंकारों के स्वरूप के विषय में काव्य शास्त्र में अनेक मतवाद रहे हैं। ध्वनिकार ने प्रथम बार इनके स्वरूप एवं विभाग को सुव्यवस्थित किया। काव्य में अङ्गी रसादिध्वनि होता है। उस रसादि लक्षण अङ्गी के साक्षात् आश्रित रहने वाले गुण कहे जाते हैं तथा रस के अङ्गभूत शब्द और अर्थ में रहने वाले धर्म हैं उन्हें अलंकार कहा जाता है जैसे अङ्गाश्रित कटककुण्डल आदि को अलंकार कहा जाता है। कारिका इस प्रकार हैः–

तमर्थमवलम्बन्ते येऽङि्.गनं ते गुणाः स्मृताः।

अङ्गाश्रितास्त्वलङ्कारा मन्तव्याः कटकादिवत्।। ध्व. 2/6

गुण वे धर्म हैं जो काव्यशरीर में रहते तो हैं किन्तु अङ्गी के आश्रित। अड्.गी काव्य में ध्वनि है। जिस प्रकार लोक में शौर्य आदि आत्मा के धर्म हैं उसी प्रकार माधुर्य आदि गुण भी रसादि के धर्म हैं। रसादि के व्यजंक शब्द और अर्थ हैं। काव्य अङ्गी है शब्द और अर्थ उसके अङ्ग है, अङ्गों के आश्रित रहने वाले धर्म अलंकार होते हैं।

आनन्दवर्धन ने माधुर्य, ओज और प्रसाद ये तीन गुण माने हैं। भामह ने भी तीन ही गुण माने थे। वामन, दण्डी आदि ने 10 शब्द गुण और 10 अर्थ गुण माने हैं। आनन्दवर्धन तथा भामह में संख्या की ही समानता है। गुणों के स्वरूप विवेचन में अंतर है।

1. माधुर्यगुण

"शृङ्गार एव मधुरः परः प्रह्लादनो रसः।

तन्मयं काव्यमाश्रित्य माधुर्यं प्रतितिष्ठिति।। ध्व. 2/7

शृङ्गारे विप्रलम्याख्ये करुणे च प्रकर्षवत्।

माधुर्यमार्द्रतां याति यतस्तत्राधिकं मनः।। वही 2/8

शृङ्गार ही मधुर तथा परम आनन्ददायक रस होता है। शृङ्गाररसमय काव्य का आश्रय लेकर माधुर्य गुण अवस्थित होता है। विप्रलम्भ शृङ्गार और करुणरस में माधुर्य की उत्तरोत्तर अधिकता होती है। कारण यह है कि इन रसों में मन क्रमशः अधिक आर्द्रता को

प्राप्त हो जाता है। चित्त की आर्द्रता का नाम ही माधुर्य है। आनन्दवर्धन ने यहाँ कोई उदाहरण नहीं दिया है। साहित्यदर्पण में इसका उदाहरण यह दिया गया है:–

"अनङ्गमङ्गलभुवस्तदपाङ्गस्य भङ्गयः।
जनयन्ति मुहुर्यूनामन्तः सन्तापसन्ततिम्।।

(उस सुन्दरी के अपाङ्गों की ये लीलाएँ, जो अनङ्ग की मङ्गलमयी जन्मभूमियाँ है, युवा प्रेमियों के हृदय में निरन्तर संताप उत्पन्न किया करती है।

2. ओज गुण

रौद्रादयो रसाः दीप्त्या लक्ष्यन्ते काव्यवर्तिनः।
तद्व्यक्तिहेतू शब्दार्थावाश्रित्यौजो व्यवस्थितम्।। ध्व. 2/9

काव्य में रहने वाले रौद्र इत्यादि रस दीप्ति के द्वारा लक्षित होते हैं। उस दीप्ति को व्यक्त करने में जो शब्द और अर्थ कारण होते हैं उन्हीं का आश्रय लेकर ओजगुण व्यवस्थित होता है।

रौद्र आदि रस बहुत बड़ी दीप्ति अर्थात् उज्ज्वलता को उत्पन्न कर देते हैं अतः लक्षणा से वे रौद्र आदि ही दीप्ति कहे जाते हैं। उस दीप्ति को प्रकाशित करने वाला दीर्घ समास रचना से युक्त वाक्य होता है। जैसे:

चञ्चद्भुज भ्रमितचण्डगदाभिघात–
सञ्चूर्णितोरुयुगलस्य सुयोधनस्य।
स्त्यानावनद्धघन शोणितशोणपाणि–
रुत्तंसयिष्यति कचांस्तव देवि भीमः।।

ओज का प्रकाशक अर्थ दीर्घसमासरचना से रहित प्रसादगुणयुक्त पदों से बोधित अर्थ (भी) होता है।

यो यः शस्त्रं बिभर्ति स्वभुजगुरुमदः पाण्डवीनां चमूनां,
यो यः पाञ्चालगोत्रे शिशुरधिकवया गर्भशय्यां गतो वा।
यो यस्तत्कर्मसाक्षी चरति मयि रणे यश्च यश्च प्रतीपः,
क्रोधान्धस्तस्य तस्य स्वयमपि जगतामन्तकस्यान्तकोऽहम्।।

इन दोनों उदाहरणों में क्रमशः शब्द और अर्थ ओजः स्वरूप हैं।

3. प्रसाद

समर्पकत्वं काव्यस्य यत्तु सर्वरसान् प्रति।
स प्रसादो गुणो ज्ञेयः सर्वसाधारणक्रियः।। ध्व. 2/10

सब रसों के प्रति काव्य का जो एक समर्पकत्व गुण होता है, उसे ही प्रसाद कहते है; इसकी क्रिया सर्वसाधारण होती है।

प्रसाद का अर्थ है शब्द और अर्थ की स्वच्छता। वह सभी रसों में और सभी प्रकार की रचनाओं में पाया जाता है, किन्तु रहता है, वह भी व्यङ्ग्य अर्थ पर निर्भर। इसके अभिव्यक्त शब्द वे हैं जिनके अर्थ, उनके श्रवणमात्र से ही झलक उठते है।

उदाहरण–

सूचीमुखेन सकृदेव कृतव्रणस्त्वं
मुक्ताकलाप! लुठसि स्तनयोः प्रियायाः।
बाणैः स्मरस्य शतशो विनिकृत्तमर्मा
स्वप्नेऽपि तां कथमहे न विलोकयामि।।

दोषः– आनन्दवर्धन के पूर्ववर्ती आचार्यो ने काव्यदोषों पर विस्तार से चर्चा की उनके स्वरूप एवं भेदों का निरूपण किया। आनन्दवर्धन को ध्वनिमार्ग की स्थापना करनी थी। दोष के

महान् प्रपंच में न पड़कर उन्होंने गुणों के समान दोषों के विषय में भी कहा कि जैसे गुणों की व्यवस्था रस पर निर्भर है वैसे ही दोषों की दोषता और अदोषता की व्यवस्था भी रस पर ही निर्भर है, उनका कथन है कि श्रुतिदुष्टत्व आदि दोष जो अनित्य कहे गए हैं वे ध्वन्यात्मभूत शृङ्गार में ही त्याज्य कहे गए हैं। ये श्रुतिदुष्टत्व आदि दोष हैं:– श्रुतिदुष्ट, अथदुष्ट, कल्पनादुष्ट और श्रुतिकटुत्व ये चार दोष हैं।

ये अनित्य दोष इसलिए कहे गए हैं क्योंकि ये न तो वाच्यार्थमात्र में, न शृङ्गार से भिन्न व्यङ्ग्य रसादि) में और ध्वनि के अनात्मभूत शृङ्गार (गुणीभूत शृङ्गार) में हेय कहे गए हैं किन्तु प्रधानतया व्यङ्ग्य ध्वन्यात्मक शृङ्गार में ही हेय कहे गए हैं। कारिका इस प्रकार से है–

श्रुतिदुष्टादयो दोषा अनित्या ये च दर्शिताः।

ध्वन्यात्मन्येव शृङ्.गारे ते हेया इत्युदाहृताः।। ध्व. 2/11

ये श्रृतिदुष्टत्व आदि दोष बीभत्स में गुण हो जाते हैं।

13.5 रस ध्वनि में अलंकारों के सन्निवेश की समीक्षा

काव्य की आत्मा के रूप में प्रतिष्ठित ध्वनि अङ्गी है। अलंकार उसके अङ्ग हैं। दोनों में अङ्गाङ्गिभाव है। रसभाव आदि को प्रधान मानकर सन्निविष्ट अलंकार ही वस्तुतः अलंकार (चमत्कार हेतु) होते हैं। ध्वनि के भी अनेक–भेद–प्रभेद होते हैं। उनमें रसादिध्वनि अत्यन्त कोमल है अतः इसमें अलंकारों का सन्निवेश विचार पूर्वक किया जाता है। अतः ध्वनिकार ने इस पर बहुत विस्तार से सूक्ष्म विवेचन किया है। शृङ्गाररस में शब्दालङ्कारों का अधिक प्रयोग अनुचित है। ध्वनिकार कहते हैं:–

"शृङ्गारस्याङ्गिनो यत्नादेकरूपानुबन्धवान्।

सर्वेष्वेव प्रभेदेषु नानुप्रासः प्रकाशकः।। ध्व. 2/14

अङ्गी शृङ्गार के सभी प्रभेदों में यत्नपूर्वक समान रूप से (निरंतर) उपनिबद्ध अनुप्रास रसाभिव्यंजक नहीं होता है। जहाँ शृङ्गार प्रधान न होकर अप्रधान हो वहाँ कवि चाहे तो अनुप्रास का निरन्तर सन्निवेश करे चाहे तो न करे। किन्तु ध्वन्यात्मभूत शृङ्गार में यमक सदृश शब्दश्लेष या सभङ्गश्लेष आदि का प्रयोग नहीं करना चाहिए; चाहे कवि में ऐसा करने का सामर्थ्य हो।

यदि यमकादि का सन्निवेश करता है तो यह कवि का प्रमाद ही होगा। शृङ्गार में भी विप्रलम्भ में विशेषरूप से।

"ध्वन्यात्मभूते शृङ्गारे यमकादिनिबन्धनम्।

शक्तावपि प्रमादित्वं विप्रलम्भे विशेषतः।। ध्व. 2/15

अलङ्कार प्रयोग की कसौटी

रसादिध्वनि में अलंकारों का सन्निवेश किस युक्ति से किया जावे इस विषय में ध्वनिकार कहते हैं:–

"रसाक्षिप्ततया यस्य बन्धः शक्यक्रियो भवेत्।

अपृथग्यत्ननिर्वर्त्यः सोऽलङ्कारो ध्वनौ मतः।।ध्व. 2/16

कवि रस की रचना में समाहित चित्त होकर जब विभावादि योजना करता है उस योजना से ही निष्पन्न होकर बिना किसी अन्य प्रयत्न के यदि अलंकार की योजना हो सके तब वही अलंकार ध्वनि में मान्य है। जिस अलंकार योजना में विभावादि के योजन से भिन्न प्रयत्न करना पड़े वह अलंकार ध्वनि में मान्य नहीं है। यमक आदि दुर्घट अलंकारों में भिन्न प्रयत्न करना पड़ता है इसलिए ध्वनि में यमकादि का निबंधन निषिद्ध है। यमकादि से भिन्न अलंकार रस में समाहित चित्त वाले प्रतिभावान् कवि के सामने होड़ लगाकर स्वयं दौड़े आते हैं। जहाँ यमकादि के रहते हुए भी कुछ सरस रचना हो जाती है वहाँ यमकादि की प्रधानता

है, रस अङ्ग होते है। रसाभास में यमकादि अङ्ग हो सकते हैं परन्तु रसध्वनि में पृथक् प्रयत्न से संपन्न होने के कारण यमकादि अलंकार अङ्ग कदापि नहीं बनते है।

ध्वन्यात्मभूत शृङ्गार में समीक्षापूर्वक सन्निविष्ट रूपक आदि अलंकार वस्तुतः चमत्कारजनक होते हुए अङ्ग बनते हैं। जहाँ अलंकार रसादि परक हों वे ही ध्वनि में मान्य हैं –

ध्वन्यात्मभूते शृङ्गारे समीक्ष्य विनिवेशितः।

रूपकादिरलङ्कारवर्ग एति यथार्थताम्।। ध्व. 2/17

समीक्षा का प्रकार

ध्वनि में रूपक आदि अलंकारों के सन्निवश के छः नियम हैं। ध्वनिकार लिखते हैं–

विवक्षा तत्परत्वेन नाङ्गित्वेन कदाचन।

काले च ग्रहणत्यागौ नातिनिर्वहणैषिता।। ध्व. 2/18

निर्व्यूढावपि चाङ्गत्वे यत्नेन प्रत्यवेक्षणम्।

रूपकादिरलङ्कारवर्गस्याङ्गत्वसाधनम्।। ध्व. 2/19

रूपक आदि अलंकारों को काव्य का अङ्ग बनाने के लिए कवि को इन बातों का विचार करना चाहिए–

1. रूपक आदि अलंकारों की विवक्षा (सदैव रस को प्रधान मानकर) रसपरत्वेन ही हो।
2. रूपक आदि अलंकार ध्वनि में कभी भी प्रधान न बन पाए।
3. इनका रस की दृष्टि से उचित समय पर ग्रहण हो।
4. इनका रस की दृष्टि से ही उचित समय पर त्याग होना चाहिए।
5. काव्य में आदि से अंत तक निर्वाह की इच्छा नहीं होनी चाहिए।
6. यदि कहीं बिना पृथक् यत्न के आदि से अंत तक निर्वाह हो भी जावे तो वह अङ्ग रूप में ही हो–इस बात को सावधानी पूर्वक देख लेना चाहिए।

(इन सभी के उदाहरण इन कारिकाओं की व्याख्या में देखें)

13.6 शब्दशक्तिमूलध्वनि और श्लेष का विषय पार्थक्य

आचार्य आनन्दवर्धन ने काव्य की आत्मा ध्वनि स्वीकार करते हुए सभी काव्य तत्त्वों का समुचित सन्निवेश किया है। प्रथम उद्योत में सभी पूर्व पक्षों का निराकरण करके 'अस्ति ध्वनिः" कहकर ध्वनि की प्रतिष्ठा की है। द्वितीय उद्योत में ध्वनि भेदों का विस्तार से वर्णन किया है। इसी क्रम में अभिधामूलध्वनि के असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य एवं संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य– ये दो भेद किए गए हैं।

संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य के भी शब्दशक्त्युद्भव और अर्थशक्त्युद्भव– ये दो भेद किए हैं। कारिका इस प्रकार हैः–

क्रमेण प्रतिभात्यात्मा योऽनुस्वानसन्निभः।

शब्दार्थशक्तिमूलत्वात् सोऽपि द्वेधा व्यवस्थितः।। ध्वन्यलोक 2/20

शब्दशक्त्युद्भव संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यध्वनि में वाच्यार्थ प्रतीति के पश्चात् क्रमशः शब्दशक्ति के द्वारा वाच्यार्थ से भिन्न व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति होती है।

यहाँ प्रश्न यह उपस्थित होता है कि श्लेष में भी शब्द शक्ति से द्वितीय अर्थ की प्रतीति होती है यदि इसको शब्दशक्त्युद्भव ध्वनि में अन्तर्भाव कर दिया जाएगा तब श्लेष का अवसर कहाँ होगा?

इस प्रश्न का उत्तर देने के लिए ध्वनिकार ने निम्न कारिका लिखी हैः–

आक्षिप्त एवालङ्कारः शब्दशक्त्या प्रकाशते।

यस्मिन्ननुक्तः शब्देन शब्दशक्त्युद्भवो हि सः।। वही 2/2।

ध्वनिकार के अनुसार जहाँ शब्द से साक्षात् संकेतित अर्थ का ग्रहण कराने वाली अभिधा से अनुक्त आक्षेप सामार्थ्य से ही शब्दशक्ति द्वारा अलङ्कार की प्रतीति होती है वह शब्दशक्त्युद्भव ध्वनि का विषय है।

कारिका के स्वारस्य को ध्वनिकार ने वृत्ति में समझाया है। सार यह है कि–

1. जहाँ शब्दशक्ति (अभिधा) से वस्तुद्वय की प्रतीति होती है वह श्लेष का विषय है।. जैसे–"येनध्वस्तमनोभवेन बलिजित्कायः पुरास्त्रीकृतः" इस उदाहरण में विष्णु और शिवपरक अर्थ वस्तुरूप है तथा अभिधाशक्ति से ही प्रतीत हो रहे हैं।

2. जहाँ शब्द शक्ति से साक्षात् वाच्य रूप में अलङ्कारान्तर की प्रतीति होती है वहाँ भी श्लेष का विषय है (यत्र शब्दशक्त्या साक्षादलङ्कारान्तरं वाच्यं सत् प्रतिभासते स सर्वः श्लेषविषयः) जैसे– तस्या विनापि हारेण निसर्गादेव हारिणौ।

   जनयामासतुः कस्य विस्मयं न पयोधरा।।

   यहाँ शृङ्गार रस का व्यभिचारी भाव विस्मय और अपि शब्द से विरोधालङ्कार दोनों ही अभिधा व्यापार से प्रकाशित हो रहे है।

3 अनेकार्थक शब्दस्थल में जहाँ शब्द की शक्ति को एक अर्थ में नियंत्रित करने का कोई कारण स्थित न हो वहाँ भी श्लेष का विषय है। यथा– "येन ध्वस्तमनोभवेन "इस उदाहरण में अभिधा की शक्ति नियंत्रित नहीं है अतः द्वितीय अर्थ का बोध भी अभिधा से ही होता है।

4. जहाँ द्वितीय अर्थ का बोध अभिधा से ही कराने के लिए कोई साधक प्रमाण उपस्थित हो वहाँ भी श्लेष अलंकार ही होता है ध्वनि नहीं। जैसे– 'तस्या विनापि हारेण' इस उदाहरण में अपि शब्द द्वितीय अर्थ को अभिधा से बताने में साधक प्रमाण है। यदि अपि शब्द नहीं होता तो यहाँ ध्वनि होती।

5. जहाँ वस्तुरूप अर्थ से भिन्न अलंकार आक्षिप्त होकर भी यदि किसी शब्दान्तर से उक्त हो जाता है वह भी शब्दशक्त्युद्भवध्वनि का विषय न होकर वाच्य श्लेष का ही विषय होता है जैसे–

   "दृष्ट्या केशव गोपरागहृतया किञ्चिन दृष्टं मया,
   तेनैव स्खलितास्मि नाथ पतितां किन्नाम नालम्बसे।
   एकस्त्वं विषमेषु खिन्नमनसां सर्वाबलानां गति–
   गोंप्येवं गदितः सलेशमवताद् गोष्ठे हरिर्वश्चिरम्।।

   यहाँ 'केशवगोपरागहृतया' पतितां, विषमेषु खिन्नमनसां आदि शब्दों के अनेक अर्थ हैं किन्तु प्रकरणादिवश एक अर्थ में नियंत्रण होने से द्वितीय अर्थ की प्रतीति अभिधा से नहीं हो सकती किन्तु 'सलेश' पद के प्रयोग के कारण प्रकरणादि की एकार्थनियामक शक्ति कुण्ठित हो गई तथा अभिधा ही प्रतिप्रसूत सी होकर दोनों अर्थ वाच्य रूप ही हो जाते हैं इसलिए द्वितीय अर्थ आश्रित ही नहीं रहा पुनः वाच्य हो गया अतः शब्दशक्त्युद्भव ध्वनि का विषय नहीं है।

6. जहाँ शब्दशक्ति के सामर्थ्य से आक्षिप्त होकर अलङ्कारान्तर प्रतीत होता है। वह सब ध्वनि का विषय है (यत्र तु सामर्थ्याक्षिप्तं सदलङ्.कारान्तरं शब्दशक्त्या प्रकाशते स सर्व एव ध्वनेर्विषयः।।)

अनेकार्थकस्थलों में प्रकरण आदि के द्वारा अभिधा की शक्ति एक अर्थ में नियंत्रित हो जाती है। नियंत्रित अभिधा अन्य अर्थ का बोध कराने में समर्थ नहीं वहाँ द्वितीय अर्थ अलङ्कार की प्रतीति व्यंजना से होती है। यही शब्दशक्त्युद्भव ध्वनि का विषय है।

उदाहरण–"अत्रान्तरे कुसुमसमययुगमुपसंहन्नजृम्भत ग्रीष्माभिधानः फुल्लमल्लिकाधवलाट्टहासो महाकालः।"

"जिस प्रकार सतयुग इत्यादि को समेट कर फूली हुई मल्लिका के समान श्वेत अट्टहासवाले दानवों आर अभक्तों के लिए भीषण महाकाल भगवान् शिव का आविर्भाव होता है। उसी प्रकार वसंत काल के दो महीनों का उपसंहार कर ग्रीष्म नामक विशाल समय का आविर्भाव हुआ जिसमें प्रफुल्लित मल्लिकाओं का विकास दृष्टिगत हो रहा था जिससे अट्टालिकाएँ हँसती सी जान पड़ती थी"। यहाँ शब्दशक्तिमूलक उपमा ध्वनि है।

इस प्रकरण में आनन्दवर्धन ने अलंकार को ही शब्दशक्तिमूलक ध्वनि का विषय माना है वस्तु को नहीं। अभिनवगुप्त भी इसी मत को मानते हैं। किन्तु परवर्त्ती आचार्य मम्मट, विश्वनाथ और जगन्नाथ ने वस्तुध्वनि को भी शब्दशक्त्युद्भव ध्वनि का विषय स्वीकार किया है। मम्मट लिखते हैं:–

"अलङ्कारोऽथ वस्त्वेव शब्दाद्यत्रावभासते।।

प्रधानत्वेन स ज्ञेयः शब्दशक्त्युद्भवो द्विधा। काव्यप्रकाश 4/38–39

अर्थात् जहाँ पर शब्द से ही अलङ्कार अथवा वस्तु व्यञ्जित हो उसकी प्रधानता भी हो वहाँ पर शब्दशक्त्युद्भव ध्वनि होती है, वह दो प्रकार की होती है अलङ्कार ध्वनि एवं वस्तुध्वनि। वस्तुध्वनि के उदाहरण के रूप में निम्नश्लोक दिया गया है:–

"पथिक नात्र स्रस्तरमस्ति मनाक् प्रस्तरस्थले ग्रामे।

उन्नतपयोधरं प्रेक्ष्य यदि वससि तद्वस।।"

रसगंगाधर ग्रन्थ के परिशीलन से ज्ञात होता है कि शब्दशक्ति मूलक वस्तुध्वनि वहाँ स्वीकार की जानी चाहिए जहाँ दो अर्थों का आच्छाद्य–आच्छादक भाव हो। अर्थात् जहाँ पर वक्ता सर्वसाधारण में समझे जाने के लिए जिस बात को कहे उसके कुछ शब्दों के बल पर एक दूसरा और अर्थ निकल आवे और उस अर्थ को उस वक्ता के निकटवर्ती व्यक्ति ही समझ सकें। इस प्रकार पण्डितराज के मत में जहाँ अपने अभिप्राय को छिपाकर कहना अभीष्ट होता है वहाँ शब्दशक्तिमूलक वस्तुध्वनि होती है। जैसे 'पथिकनात्र स्रस्तरमस्ति" इस उदाहरण में नायिका अपने अभिप्राय को छिपाकर कहती है तथा निकटवर्ती पथिक ही उस आशय को समझ पाते हैं कि यदि उपभाग की क्षमता हो तो ठहरो।।

इस संपूर्ण विवेचन का सार यह है कि शब्दशक्त्युद्भव ध्वनि एवं श्लेष अलंकार का विषय भिन्न–भिन्न है। न तो दो अर्थों की प्रतीति मात्र में श्लेष होता है और न शब्दशक्त्युद्भव ध्वनि ही होती है अपितु जहाँ द्वितीय अर्थ अलंकार हो तथा शब्दशक्ति के सामर्थ्य से आक्षिप्त ही हो तथा वाच्य कदापि न हो वहाँ शब्दशक्त्युद्भव ध्वनि होती है तथा जहाँ द्वितीय अर्थ वस्तु रूप हो तथा अभिधा से अर्थ की प्रतीति हो वहाँ श्लेष अलंकार है।

13.7 पारिभाषिक शब्दावली

ध्वनि – "जहाँ अर्थ अपने स्वरूप को तथा शब्द अपने अर्थ को गौण बनाकर उस प्रतीयमान अर्थ को व्यक्त करते हैं उसे काव्य विशेष के विद्वानों ने ध्वनि कहा है।"

ध्वनि–भेद – ध्वनि के भेदों का विवेचन करते हुए ध्वनिकार लिखते हैं कि सामान्यतः
संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य – घण्टा बजाने के पश्चात् जैसे अनुरणन होता है वैसे ही व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति क्रमशः होती है उसे संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य ध्वनि कहते हैं।

अर्थशक्त्युद्भवध्वनि – के प्रथम तीन भेद होते हैं 1 स्वतः सम्भवी 2 कविप्रौढोक्ति सिद्ध 3 कविनिबद्धवक्तृ प्रौढोक्तिसिद्ध।

"रस्यते इति रसः इस व्युत्पत्ति से रस, भाव, तदाभास (रसाभास और भावाभास – अनौचित्यप्रवर्तिता रसा रसाभासाः और अनौचित्यप्रवर्तिता भावा भावाभासाः) एवं भावशान्त्यादि ये चारों रस कहे जाते हैं।

रसवदलंकार – जहाँ वाच्य, वाचक चारुता के हेतु अलंकार आदि रसादिपरक न हो, कोई अन्य अर्थ प्रधान हो तथा रसादि अङ्गरूप में हों वह रसवदलंकार का क्षेत्र होता है।

13.8 अभ्यासार्थ प्रश्न

प्रश्न 1 ध्वनि भेदों को विस्तार पूर्वक विवेचन कीजिए।

उत्तर इकाई 13.2 देखें।

प्रश्न 2 रसादिध्वनि एवं रसवदलंकारों का स्वरूप स्पष्ट करते हुए दोनों के विषय का विभाजन कीजिए।

उत्तर इकाई 13.3 देखें

प्रश्न 3 रसादिध्वनि में अलंकारों के सन्निवेश के प्रकार लिखें।

उत्तर इकाई 13.5 देखें

प्रश्न 4 शब्दशक्तिमूलध्वनि एवं श्लेष का विषय विभाजन कीजिए।

उत्तर इकाई 13.6 देखें

13.9 सारांश

इस इकाइ में हमने ध्वन्यालोक के द्वितीय उद्योत में प्रतिपादित विषयों का ज्ञान प्राप्त किया। इस उद्योत में हमने ध्वनि के भेदोपभेदों का विवेचन किया । प्रारम्भ में रसध्वनि, रसवदलंकार एवं अलंकारों का विषय विभाजन, गुण, अलंकार एवं दोष विवेचन किया । अन्त में रसध्वनि में अलंकारों के सन्निवेश तथा समीक्षाशब्दशक्तिमूलध्वनि और श्लेष का विषय पार्थक्य इत्यादि का ज्ञान प्राप्त किया

13.10 संदर्भ ग्रंथ सूची

1. ध्वन्यालोक (लोचन सहित), टीकाकार डॉ. रामसागर त्रिपाठी, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली–पटना–वाराणसी, 1989.
2. ध्वन्यालोक, व्या. आचार्य विश्वेश्वर सिद्धान्तशिरोमणी, ज्ञानमण्डल लिमिटेड, वाराणसी, 2009.
3. आनन्दवर्धन ,डॉ. रेवाप्रसाद द्विवेदी, मध्य प्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, भोपाल प्र.सं., 1972.

इकाई 14

ध्वन्यालोक (द्वितीय उद्योत)

(कारिका संख्या 01 से 11)

इकाई की रूपरेखा

14.0 उद्देश्य
14.1 प्रस्तावना
14.2 द्वितीय उद्द्योत की 1 से 3 तक की कारिकाओं एवं महत्वपूर्ण उद्धरणों की सप्रसङ्ग व्याख्या
14.3 द्वितीय उद्द्योत की 4 एवं 5 तक कारिकाओं एवं महत्वपूर्ण उद्धरणों की सप्रसङ्ग व्याख्या
14.4 द्वितीय उद्द्योत की 6 से 11 तक कारिकाओं एवं महत्वपूर्ण उद्धरणों की सप्रसङ्ग व्याख्या
14.5 पारिभाषिक शब्दावली
14.6 अभ्यासार्थ प्रश्न
14.7 सारांश
14.8 संदर्भ ग्रंथ सूची

14.0 उद्देश्य

इस इकाई के माध्यम से ध्वन्यालोक के द्वितीय उद्द्योत की कारिका संख्या 1 से 11 तक की कारिकाओं एवं उनमें आए हुए उद्धरणों भी सप्रसङ्गपूर्वक व्याख्या समझ पाएगे।

14.1 प्रस्तावना

ध्वन्यालोक के द्वितीय उद्द्योत की उक्तकारिकाओं में ध्वनिकार ने अभिधामूल एवं लक्षण मूलध्वनि के भेदों का प्रतिपादन, रस ध्वनि, रसवदलंकार एवं उपमा आदि अलंकारों के विषय का पार्थक्य, गुण और अलंकारों का विभाजन एवं ध्वनि में वर्जित दोषों का विवेचन किया है।

14.2 कारिका संख्या 2/1 से 3 तक की व्याख्या

ध्वनिकार आनंदवर्धन ने अपने युगप्रवर्तक ग्रंथ ध्वन्यालोक के प्रथम उद्द्योत में ध्वनि सिद्धांत की स्थापना की है। ध्वनिविरोधी आचार्यों का युक्तिपूर्वक खण्डन करने के पश्चात् उन्होंने स्थापित किया कि "अस्ति ध्वनिः"। ध्वनि है। तथा ध्वनि के सामान्य रूप से अविवक्षितवाच्य तथा विवक्षितान्यपरवाच्य ये दो भेद हैं।

अविवक्षितवाच्य ध्वनि

लक्षणामूल ध्वनि को ही अविविक्षितवाच्य ध्वनि कहा जाता है। इस में 'ध्वनि' अथवा 'व्यङ्ग्यार्थ' का लक्षणामूलक होना ही इसके 'अविवक्षितवाच्य' कहे जाने का कारण है क्योंकि वाच्यार्थ के 'अविवक्षित होने का अभिप्राय उसके स्वरूप का बाधित होना ही है। लक्षणा में वाच्यार्थ (मुख्यार्थ) बाधित होता है। लक्षणामूलध्वनि में व्यङ्गयार्थ की प्रतीति लक्ष्यार्थ (लक्षणामूला आर्थीव्यंजना में) व्यंजक होता है। लक्षणामूला शब्दी व्यंजना म भी वाच्यार्थ और व्यङ्ग्यार्थ लक्ष्यार्थ से बाधित होता है।

अविवक्षित अर्थात् अन्वय के अयोग्य हो गया है वाच्य अर्थ जहाँ ऐसे ध्वनि को अविवक्षितवाच्य ध्वनि कहते हैं।

अविवक्षितवाच्य ध्वनि के दो भेद होते हैं। एक अर्थान्तरसंक्रित दूसरा अत्यंततिरस्कृतवाच्य। प्रथम भेद में वाच्यार्थ पूर्णतया अन्वय के अयोग्य नहीं होता। वाच्यार्थ का उपयोग अवश्य

होता है। किन्तु वह अर्थ अपूर्ण सा मालूम पड़ता रहता है। अतः वह अपनी पूर्ति के लिए दूसरे धर्मों से मिल जाता है, इसी कारण वह अर्थ और का जैसा हो जाता है ये सभी धर्म प्रतीयमान होते है। इन समस्त धर्मो का धर्मी में संक्रमण हो जाता है या कर दिया जाता है। इसे ही अर्थान्तर संक्रमितवाच्य ध्वनि कहा जाता है। अर्थान्तरे वाच्यलक्ष्यसाधारणे संक्रमितं परिणतं वाच्यं यत्र स ध्वनिः। अर्थान्तसंक्रमितवाच्य ध्वनि' पद में कर्मधारय समास से यह अर्थ ज्ञात होता है। समास इस प्रकार होगा–"अर्थान्तरसंक्रमितश्चासौ वाच्यश्च, अर्थान्तरसंक्रमितवाच्यः तस्य तत्सम्बन्धि– त्वेन ध्वनिः, अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य ध्वनिः। जैसे कोई गुम्फनसूत्र गुंथे फूलों के कारण एक दूसरे रूप में दिखायी दिया करता है वैसे ही इस ध्वनि का (अभिव्यञ्जक) 'अविवक्षितवाच्य' भी, उन–उन लक्षित धर्मों से संवलित हो जाने के कारण, एक दूसरे रूप में ही परिणत सा (अर्थान्तरसंक्रमित) प्रतीत हुआ करता है।

बहुव्रीहि समास में 'अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य ध्वनि का अभिप्राय उस काव्यरचना का है जिसमें 'ध्वनि' अथवा व्यङ्ग्यार्थ ऐसा हुआ करता है, जिसका व्यंजक अर्थ (वाच्य) अपने एक विशिष्ट स्वरूप (लक्ष्य) में परिणत प्रतीत हुआ करता है। समास इस प्रकार होगा–अर्थान्तरे संक्रमितं वाच्यमस्ति यस्य सोऽर्थान्तरसंक्रमितवाच्यः स चासौ ध्वनिश्च अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य–ध्वनिः। अविवक्षितवाच्य ध्वनि काव्य का जो दूसरा भेद "अत्यततिरस्कृतवाच्य ध्वनि कहा जाता है जहां व्यंजकरूप से अवस्थित मुख्यार्थ, अपने स्वरूप का सर्वथा परित्याग करके, अपने से भिन्न किसी अर्थ–स्वरूप में परिणत हो जाया करता है। वहाँ वाच्यार्थ सर्वथा अनुपपन्न हो जाता है वस्तुतः वह तिरस्कृत हो जाता है, उसका उपयोग केवल लक्ष्यार्थ की प्रतीति में ही होता है। वह लक्ष्यार्थ बोध का उपाय मात्र है जैसा कि लोचनकार अभिनव गुप्त लिखते हैं–"यस्त्वनुपपद्यमान उपायतामात्रेण अर्थान्तरप्रतिपत्तिं कृत्वा पलायत इव स तिरस्कृत इति।। इन भेदों का विवेचन करने वाली कारिका इस प्रकार हैः–

(का) **"अर्थान्तरे सङ्क्रमितमत्यन्तं वा तिरस्कृतम्।**
अविवक्षितवाच्यस्य ध्वनेर्वाच्यं द्विधा मतम्। 2/1

अविवक्षितवाच्य (लक्षणामूल) ध्वनि का वाच्य दो प्रकार का होता है–

1. अर्थान्तरसङ्क्रमित 2. अत्यन्ततिरस्कृत।

इन दोनों भेदों में व्यङ्ग्य में ही उत्कर्ष रहता है।

भेदों का आधार

अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य ध्वनि एवं अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य ध्वनि इन दोनों में व्यंजना से व्यङ्गयार्थ बोध हाता है। यहां "संक्रमित' शब्द में प्रेरणार्थक णिच् प्रत्यय का प्रयोग किया गया है, इसलिए उनका प्रयोजककर्ता अपेक्षित है। इसी प्रकार तिरस्कृत में भी कर्ता की अपेक्षा है। इसका आशय यह है कि (अर्थ अपनी विशेषता से ही स्वतः दूसरे अर्थ में 'संक्रान्त' नहीं हो जाता अपितु) व्यंजनाव्यापार का जो सहकारी वर्ग है, उसी का यह प्रभाव होता है कि वह एक अर्थ (मूल वाच्यार्थ) का संक्रमण दूसरे अर्थ में करा देता है। यही तिरस्कृत शब्द के क्त प्रत्यय का भी अर्थ है अर्थात् व्यंजक का सहकारी वर्ग ही वाच्यार्थ के तिरस्कार करने में कारण होता है।

लक्षणा के प्रभाव से यह कैसे हो जाता है, इसके लिए लक्षणा की प्रक्रिया को समझना चाहिए। लक्षणा के तीन कारण हैं। मुख्यार्थबाध, मुख्यार्थयोग एवं रूढि या प्रयोजन में से कोई एक। जिस व्यापार के द्वारा मुख्यार्थ के बाध होने पर मुख्यार्थ से संबध अन्य अर्थ (मुख्यार्थ से भिन्न) की प्रतीति रूढि या प्रयोजन के कारण होती है, उस शब्द व्यापार का नाम लक्षणा है। यह शब्द का स्वाभाविक व्यापार नहीं अपितु आरोपित व्यापार है। मुख्यार्थ बाध के बिना लाक्षणा नहीं होती है। मुख्यार्थबाध का अर्थ है अभिधा से वाच्यार्थ जिस रूप में ज्ञात हुआ उस रूप में उसका उपयोग न होना। उपयोग न होने का कारण चाहे अन्वय की असंगति हो चाहे तात्पर्य की असङ्गति। जैसे "गङ्गायां घोष" यहां सप्तम्यन्त गंगा का अर्थ है भगीरथ के रथ से उत्खात जल प्रवाह में घोष–अहीरों की बस्ती है। जलप्रवाह आधार है तथा घोष आधेय है जल प्रवाह में घोष नहों रह सकता इसलिए आधाराधेयरूप

अन्वय सङ्गत नहीं हुआ। दूसरा उदाहरण देखें "काकेभ्यो दधि रक्ष्यताम्" कौओं से दही की रक्षा करें। यहाँ अन्वय तो सङ्गत हो जाता है क्योंकि कौओं से दही की रक्षा की जाती है किन्तु वक्ता का प्रयोजन सिद्ध नहीं होता है क्योंकि वक्ता का तात्पर्य है कि जो भी दही को नुकसान पहुंचाने वाले हैं, उनसे दही की रक्षा की जावे। इस प्रकार यहां तार्त्य की अनुपपत्ति है।

दूसरा हेतु है मुख्यार्थ योग। लक्ष्यार्थ और मुख्यार्थ में सामीप्य आदि कोई न कोई संबंध अवश्य रहता है। लक्ष्यार्थ मुख्यार्थ से असंबंद्ध नहीं होता। तीसरा हेतु है रूढि या प्रयोजन। रूढि, परंपरा या लोकप्रवाह है। वक्ता या तो रूढि के कारण शब्द की स्वाभाविक शक्ति अभिधा को छोड़कर लक्षणा का आश्रय लेता है जैसे 'कर्मणि कुशलः' या प्रयोजन के कारणजैसे "गङ्गायां घोषः"

लक्षणा के उपादान लक्षणा एवं लक्षणलक्षणा दा मुख्य भेद गाने गए हैं। लक्षण इस प्रकार है–

"स्वसिद्धये पराक्षेपः परार्थं स्वसमर्पणम्।

उपादानं लक्षणं चेत्युक्ता शुद्धैव सा द्विधा।। काव्य प्रकाश 2/10

जहाँ मुख्यार्थ अपने अन्वय सिद्धि के लिए किसी अर्थ का आक्षेप कर लेता है उसे उपादन लक्षणा कहते हैं। इसीका दूसरा नाम अजहत्स्वार्था भी है। जैसे 'कुन्ताः प्रविशन्ति यहां कुन्त अचेतन होने के कारण प्रवेश क्रिया में अन्वय के योग्यनहीं है अतः स्वसंयोगी पुरूषों का आक्षेप कर लेता है। अतः अर्थ के उपादान (ग्रहण) के कारण इसे उपादान लक्षणा कहते है।

जहाँ मुख्यार्थ परार्थ की अन्वय संगति के लिए अपने अर्थ का पूर्णतः समर्पण कर देता है इसे लक्षणलक्षणा कहते है।लक्षण का अर्थ है त्याग। इसका दूसरा नाम जहत्स्वार्था है। जैसे–गङ्गायां घोषः" इस वाक्य में जल प्रवाह रूप गंगा के साथ आभीरपल्ली (घोसियों की बस्ती) का आधाराधेय भाव से अन्वय संगत नहीं होता है अतः घोष पदार्थ की आधेयता सिद्धि के लिए गंगा शब्द अपने अर्थ का समर्पण कर देता है। गंगा शब्द अपने प्रवाहरूपी अर्थ को छोड़कर लक्षणा के द्वारा 'तटरूप' अर्थ का बोध कराता है।

उपादान लक्षणा में शब्द अपने मुख्यार्थ को छोड़ता नहीं अपितु लक्षणा उसके अर्थ को किसी विशेष अर्थ में सङ्क्रान्त करा देती है। यही अर्थान्तरसंक्रमितवाच्यध्वनि का मूल है।

लक्षण–लक्षणा में स्वार्थ पूर्णतः परित्याग करदिया जाता है–इसका तिरस्कार हो जाता है। अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य ध्वनि का मूल यही लक्षणा है।

1. अर्थान्तसङ्.क्रमितवाच्यध्वनि का उदाहरणः–

स्निग्धश्यामलकान्तिलिप्तवियतो वेल्लद्बलाका घना,

वाताः शीकरिणः पयोदसुहृदामानन्दकेकाः कलाः।

कामं सन्तु दृढं कठोरहृदयो रामोऽस्मि सर्वं सहे,

वैदेही तु कथं भविष्यति ह हा हा देवि धीरा भव।।

अर्थः– स्निग्ध और श्यामल मेघों भी कान्ति से आकाश लिप्त हो रहा है, बादलों क चारों ओर हर्षपरवश बलाकाएं उड़ रही हैं। वायु जल कणों से व्याप्त होने के कारण अत्यन्त शीतल है और मेघों के सुहृद् मयूरों की आनंददायक प्रकृति–मधुर केका वाणी भी व्याप्त हो रही है। हुआ करे, मैं तो कठोरहृदय राम हूँ। सब कुछ सह रहा हूँ। किन्तु वैदेही कैसी होगी 'हाय हाय हाय देवी धैर्य धारण करो।

इस श्लोक में वक्ता राम है। अतएव 'रामोऽस्मि के स्थान पर केवल 'अस्मि' कहने पर भी 'अहम्' पद की प्रतीति द्वारा राम का बोध हो जाता। इसलिए प्रकृति में रामपद का मुख्यार्थ अनुपपन्न होकर उपादान लक्षणा द्वारा, अत्यंत दुःखसहिसष्णुत्वविशिष्ट राम का बोध कराता है। रामपद अत्यन्त दुःखसहिष्णुत्व विशिष्ट राम का बोधक होने से अर्थान्तरसङ्क्रमितवाच्य ध्वनि का उदाहरण है। यहां 'दुःखसहिष्णुत्व आदि धर्मों का अतिशय व्यङ्ग्य है।

2. अत्यन्ततिरस्कृत वाच्यध्वनि का उदाहरणः—

रविसङ्क्रान्तसौभाग्यस्तुषारावृतमण्डलः।

निःश्वासान्ध इवादर्शश्चन्द्रमा न प्रकाशते।।

अर्थः— (हेमन्त में सूर्य के चन्द्रमा के समान अनुष्ण और आह्लददायक हो जाने से) जिस (चन्द्रमा) की शोभा सूर्य में सङ्क्रान्त हो गई है (अथवा सूर्य से प्रकाश को ग्रहण करने वाला) तुषार से आच्छादित मण्डलवाला चन्द्रमा निःश्वास से मलिन दर्पण के समान प्रकाशित नहीं हो रहा है।

यहाँ 'अन्ध' शब्द नेत्रहीन का वाचक है। चन्द्रमा में यह अर्थ युक्तिसंङ्गत नहीं होता है। अतः 'अन्ध' शब्द अपने नेत्रहीनत्व अर्थ को पूर्णतः छोड़कर 'अप्रकाशरूप अर्थ को जहत्स्वार्था लक्षणलक्षणा से बोधित कराता है। अप्रकाशातिशय यहां व्यङ्ग्य है।

विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि के दो भेद

ध्वनि का दूसरा भेद विवक्षितान्यपरवाच्य अभिधामूलक होता है। इस प्रभेद में न तो वाच्यार्थ बाधित होता है, न उसका तिरस्कार होता है, न अन्य में संक्रमण। इसमें व्यंजना के साथ अभिधा का भी उपयोग होता है। किन्तु चरम लक्ष्य ध्वनि ही होता है। जहाँ वाच्यार्थ और व्यङ्ग्यार्थ के मध्य अन्तर लक्षित न हो तथा वाच्यार्थ के बोध साथ ही व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति हो जावे वह असंलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य ध्वनि कहा जाता है। इसमें वाच्यार्थ के अनन्तर व्यङ्ग्यार्थ के बोध का क्रम लक्षित नहीं होता। इसके रस, भाव, रसाभास, भावाभास, भावशांति, भावसंधि, भवोदय, भावशबलता इत्यादि अनेक भेद होते हैं। यह विवक्षितान्यपरवाच्य का प्रथम भेद है। असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य का अर्थ है—न संलक्ष्यः न सम्यग् ज्ञातः सन्नपि क्रमो यस्य व्यङ्ग्स्य सः।। अर्थात् ऐसा व्यङ्ग्यार्थ जिसकी प्रतीति में व्यंजकरूप वाच्य अर्थ की पूर्व—प्रतीति असंभव है। यह काव्य रसभावादिरूप ध्वनिकाव्य है जैसा कि कहा गया हैः—

"रसादयो हि विभावानुभावव्यभिचारिभिः प्रथमाविर्भूतैरनन्तरमाविष्क्रियन्ते—इत्यस्ति क्रमः। स चाशुभावित्वान्न लक्ष्यते, विभावादिसमकालमेव रसादीनां प्रतीयमानत्वात्।

विवक्षितान्यपरवाच्यव्यङ्ग्य ध्वनि का दूसरा भेद संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यध्वनि है। इसमें वाच्यार्थ के बाद व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति में स्पष्ट अंतर प्रतीति गोचर हो संलक्ष्यक्रमो मुख्यार्थप्रतीत्यनन्तरं हि धण्टानुरणनप्रतिमः सहृदयप्रतिभासमर्पितो वस्त्वलंकारवपुर्व्यङ्ग्योऽर्थः प्रतिभाति।"

कारिका इस प्रकार है :—

(का) **असंलक्ष्यक्रमोद्योतः क्रमेण द्योतितः परः।**

विवक्षिताभिधेयस्य ध्वनेरात्मा द्विधा मतः।। 2/2।।

अर्थः— विवक्षितवाच्य ध्वनि की आत्मा दो प्रकार की होती है— 1 जिसमें ध्वनि के उद्योतन (व्यंजन) व्यापार का क्रम लक्षित न किया जाये उसे संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि कहते हैं और 2 जिसमें द्योतनक्रम लक्षित किया जा सके संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य विवक्षितवाच्य ध्वनि कहते हैं।"

मुख्य रूप में प्रकाशमान व्यङ्ग्य अर्थ ध्वनि की आत्मा होता है।

(का) **तत्र—रसभावतदाभासतत्प्रशान्त्यादिरक्रमः।**

ध्वनेरात्माऽङ्गिभावेन भासमानो व्यवस्थितः।।2/3।।

अर्थ—रस, भाव तदाभास (अर्थात् रसाभास और भावाभास) और भावशान्ति आदि (आदि शब्द से भावोदय, भावसंधि और भावशबलता का भी ग्रहण होता है) अक्रम (असंलक्ष्यक्रमव्यङ्गय) अंगीभाव से (अर्थात् प्राधान्येन) प्रतीत होते हुए ध्वनि के आत्मा (स्वरूप) रूपसे स्थित होते हैं।।

रसादिरूप अर्थ वाच्य के साथ ही सा प्रतीत होता है और वह प्रधानरूप से प्रतीत होने पर ध्वनि का आत्मा (स्वरूप) होता है।

1. रसः— "रस्यते इति रसः" इस व्युत्पत्ति के अनुसार रस, भाव, तदाभास, शांति आदि 'रस' कहे जाते हैं किन्तु इनमें कुछ भेद है।

विभाव अनुभाव और व्यभिचारी भावों से व्यक्त हुआ 'स्थायी भाव' रस कहा जाता है।

"व्यक्तः स तैर्विभावाद्यैः स्थायी भावो रसः स्मृतः।।" का प्र. 4/28

विभावादि से व्यक्त हुआ स्थायी भाव ही सहृदयों के हृदय में रसरूप को प्राप्त होता है।

"विभावेनानुभावेन व्यक्तः संचारिणा तथा।

रसतामेति रत्यादिः स्थायी भावः सचेतसाम्।। सा.द. 3।

रति आदि नौ स्थायी भाव ही शृङ्गार, वीर, करुण, हास्य, भयानक, बीभत्स, अद्भुत, रौद्र और शांत रस रूप में आस्वाद्य होते है।

भावः— **रतिर्देवादिविषया व्यभिचारी तथाञ्जितः।**

भावः प्रोक्तः, ("का प्र. 4/35)

अर्थात् देवता, गुरू, राष्ट्र, प्रकृति आदि विषयकरति प्रेम तथा प्रधान रूप से व्यक्त व्यभिचारी भाव को 'भाव' कहते है।

<u>रसाभास और भावाभास</u> :— "तदाभासा ह्यनौचित्यप्रवर्तिताः।।"

रस और भाव के अनुचित वर्णन को क्रमशः रसाभास और भावाभास कहते हैं।

14.3 कारिकासंख्या 4 एवं 5 की व्याख्या

ध्वनि काव्य की आत्मा है। त्रिविध ध्वनियों में रसादिध्वनि प्रधान है। प्रधान रूप से प्रतीत होने वाले रस भाव आदि ध्वनि की आत्मा है (ध्वनेरात्माङ्गिभावेन भासमानो व्यवस्थितः 2/3)। ध्वनिकार के इस कथन से प्रतीत होता है कि रसादि कहीं—कहीं अङ्गरूप में भी भासित होते है। अङ्ग रूप में भासित होने वाले रसादि की ध्वनि संज्ञा न होकर कोई और संज्ञा होनी चाहिये। अङ्गरूप में रसादि के भासित होने पर ध्वनिकार ने उनकी संज्ञा रसवदलंकार की है। इनमें प्रधानरूप से रसादि का आस्वाद नहीं होता, वहां कोई अन्य अर्थ प्रधान होता है रसादि अङ्ग बनते हैं, यह अङ्ग बनना ही उनकी अलंकार संज्ञा का कारण है।

असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यध्वनि, एवं रसवदलंकार का विषय पार्थक्य

ध्वनि का विषय

(का) **वाच्यवाचकचारुत्वहेतूनां विविधात्मनाम्।**

रसादिपरता यत्र स ध्वेर्विषयो मतः।। 2/4

अर्थः— जहाँ रस आदि प्रधान हो और विभिन्न प्रकार के वाच्य (अर्थ) वाचक (शब्द) तथा उन दोनों की चारुता में हेतु (गुण) उन रस इत्यादि का ही अनुसरण करने वाले है तथा उन्हीं के अनुगामी हो वह ध्वनि का विषय माना जाता है।

इस कारिका की वृत्ति में ध्वनिकार लिखते हैं कि "रस—भाव—तदाभास—तत्प्रशमलक्षणं मुख्यमर्थमनुवर्तमाना यत्र शब्दार्थालड्.कारा गुणाश्च परस्परं ध्वन्यपेक्षया विभिन्न रूपा व्यवस्थितास्तत्रकाव्ये ध्वनिरिति व्यपदेशः।।"

अर्थात् जहाँ रसादि मुख्य अर्थ हों तथा गुण अलंकार आदि चमत्कार हेतु उसी के चमत्कार के बढ़ाने की अपेक्षा से सन्निविष्ट हों वह ध्वनि का विषय है। वह रसवदलंकार का विषय नहीं है।

रसवदलंकार का विषय

(का) **प्रधानेऽन्यत्र वाक्यार्थे यत्राङ्गन्तु रसादयः।**

काव्ये तस्मिन्नलंकारो रसादिरति मे मतिः।। 2/5

अर्थ– अन्यत्र वाक्यार्थ के प्रधान होने पर जहाँ रस इत्यादि अङ्ग हो रहे हैं। उस काव्य में रस इत्यादि अलंकार बन जाते हैं यह मेरी सम्मति है।

कारिका की वृत्ति में आनंदवर्धन लिखते हैः–

यद्यपि रसवदलङ्कारस्यान्यैर्दर्शितो विषयस्तथापि यस्मिन् काव्ये प्रधानतयाऽन्योऽर्थो वाक्यार्थीभूतस्तस्य चाङ्गभूता ये रसादयस्ते रसादेरलङ्कारस्य विषया इति मामकीनः पक्षः। तद्यथा चाटुषु प्रेयोऽलङ्कारस्य वाक्यार्थत्वेऽपि रसादयो अङ्गभूता दृश्यन्ते।"

अर्थ– यद्यपि रसवदलङ्कार का विषय अन्यों ने प्रदर्शित किया है फिर भी जिस काव्य में प्रधानतया कोई अन्य अर्थ (रस, या वस्तु या अलङ्कार) वाक्यार्थ हो उस (प्रधान वाक्यार्थ) के अङ्गभूत जो रसादि हो) वे रसादि अलङ्कार के विषय होते हैं, यह मेरा पक्ष है। जैसे चाटु (वाक्यों–चापलूसी के वचनों) में प्रेयोऽलंकार (भामह ने गुरु, देव, नृपति, पुत्रविषयक प्रेमवर्णन को प्रेयोऽलंकार कहा है उस के (मुख्य) वाक्यार्थ होने पर भी रसादि अङ्गरूप में दिखलायी देते हैं। (वहाँ रसादि अलंकार होगा यह मेरा मत है।)

रसवदलंकार

प्राचीन आचार्यों ने रसवत् शब्द का अर्थ किया था रस से युक्त, अर्थात् काव्य। उनके अनुसार काव्य में रस भी उसी प्रकार एक शोभावर्धक अड्.ग है जिस प्रकार अनुप्रास और उपमा आदि अलंकार। इस कारण उनकी दृष्टि में रस भी काव्य के लिए एक अलंकार ही है। आनन्दवर्धन ने 'रसवत्' शब्द का दूसरा ही अर्थ किया है। उन्होंने इसका अर्थ 'रसतुल्य' किया है। दोनों में अंतर स्पष्ट है। प्राचीन आचार्यों ने 'रसवत्' शब्द में मतुप् प्रत्यय माना है जबकि आनन्दवर्धन ने तुल्यार्थक 'वति' प्रत्यय माना है। आनंदवर्धन का कहना है कि यद्यपि रस सदा प्रधान ही रहता है, किन्तु जब कभी वह अप्रधान हो जाता है। तब वह रस न कहलाकर 'रसवत्' कहलाता है क्योंकि तब वह दूसरों की शोभा बढ़ाता हुआ दिखाई देता है। वस्तुतः वह रस रह ही नहीं जाता। वह तो स्थायी भाव या संचारीभाव ही रहता है। केवल सामान्य भावों की अपेक्षा इस भाव की स्थिति कुछ अधिक पुष्ट रहती है। इसीलिए इसे रसवत् कह दिया जाता है। यह दो प्रकार का होता है–1. शुद्ध और 2. सङ्कीर्ण

1. शुद्ध रसवदलंकार

शुद्ध रसवदलंकार का अर्थ है जो अङ्गभूत अन्य रस या अलङ्कार से मिश्रित न हो अर्थात् जहां एक ही रस आदि (रसावस्था तक न पहुँचा हुआ स्थायी भाव या संचारी) प्रेयोऽलङ्कार अर्थात् गुरु, देव, नृपति पुत्र विषय प्रीति का अङ्ग है। वह शुद्ध रस रसवदलंकार है। उदा–

> **किं हास्येन न मे प्रयास्यसि पुनः प्राप्तश्चिराद् दर्शनं**
> **केयं निष्करुण। प्रवासरुचिता? केनासि दूरीकृतः।**
> **स्वप्नान्तेष्विति ते वदन् प्रियतमव्यासक्तकण्ठग्रहो**
> **बुद्ध्वा रोदिति रिक्तबाहुवलयस्तारं रिपुस्त्रीजनः।।**

अर्थ– (इस श्लोक में किसी राजा की स्तुति की गई है। भाव यह है कि तुमने अपने शत्रुओं का विनाश कर डाला। उनकी स्त्रियाँ रात को स्वप्न में अपने पति को देखती है और उनके गले में हाथ डालकर कहती है) हँसी करने से क्या लाभ है? बहुत दिन बाद दर्शन हुए हैं। अब मैं जाने नहीं दूँगी। हे निष्ठुर! बताओ, तुम्हारी प्रवास में रुचि क्यों हो गई है ? तुमको किसने मुझसे अलग कर दिया है ? स्वप्न में पति के कण्ठ का आलिङ्गन कर इस प्रकार कहने वाली तुम्हारी रिपुनारियाँ उठकर (प्रियतम के कण्ठग्रह के लिए) अपने फैलाए हुए बाहुवलय को रिक्त देखकर तारस्वर से रोती हैं।

इस पद्य में राजविषयक रति प्रधान होने से चाटुरूप प्रेयोऽलंकार प्रधान है। इसमें शत्रुनारियों की करुण स्थिति अङ्ग बन गई है। अतः शुद्ध रसवदलंकार है।

सङ्कीर्ण रसवदलंकार

सङ्कीर्ण रसवदलंकार वहाँ होता है जहाँ अन्य अर्थ प्रधान हो साथ ही कोई अप्रधान रस अङ्ग बन गया हो और उस का भी अङ्ग कोई अन्य अप्रधान रस या अलंकार हो।

उदा– **क्षिप्तो हस्तावलग्नः प्रसभमभिहतोऽप्याददानोंऽशुकान्तं**
गृह्णन् केशेष्वपास्तश्चरणनिपतितो नेक्षितः सम्भ्रमेण।
आलिङ्गन्योऽवधूतस्त्रिपुरयुवतिभिः साश्रुनेत्रोत्पलाभिः
कामीवार्द्रापराधः स दहतु दुरितं शाम्भवो वः शराग्निः।।

अर्थः– त्रिपुरदाह के अवसर पर भगवान् शंकर की शराग्नि अपराध में आर्द्रकामी के समान जब त्रिपुर युवतियों के हाथ में लगी तब उन युवतियों ने अपने नेत्र कमलों को आंसुओं से भरकर उसे एक ओर को फेंक दिया। जब उसने वस्त्र का छोर पकड़ा तब बलात् उसको तिरस्कृत कर दिया। केश पकड़ने पर उसको दूर फेंक दिया, पैरों पर गिरने पर सम्भ्रम से उसकी ओर देखा भी नहीं और आलिङ्गन करने पर उसे दूर हटा दिया। वही भगवान् शंकर की शराग्नि आप लोगों के पापों को जला डाले।।

यहाँ त्रिपुरारि (शिव) के प्रभावातिशय के (मुख्य) वाक्यार्थ होने पर श्लेषसहित ईर्ष्याविप्रलम्भ और करुण उसका अङ्ग है। इसलिए यहाँ सङ्कीर्ण रसादि अङ्ग है।

ध्वनिकार ने यहाँ यह प्रश्न उठाया है कि जहाँ रसका वाक्यार्थत्व है वहाँ ध्वनि है। ऐसे स्थलों में रसवत् अलंकार कैसे हो सकता है। चारुत्वहेतु को अलंकार कहते हैं। रस जब अलंकार्य है तो वह अंलकार कैसे हो सकता है? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए ध्वनिकार लिखते हैं – रसभावादितात्पर्यमाश्रित्य विनिवेशनम्।

अलङ्कृतीनां सर्वासामलङ्कारत्वसाधनम्।।

अर्थ– रस, भव आदि के तात्पर्य से (अर्थात् रसभावादि को प्रधान मानकर उनके अङ्गरूप में) अलङ्कारों की स्थिति ही सब अलङ्कारों के अलङ्कारत्व (चारुत्व हेतु) का साधक है। रसध्वनि, रसवदलंकार और उपमादि अलंकारों का क्षेत्र भिन्न–भिन्न होता है। इस विवेचन का सार यह है :–

1. जहाँ रसादि वाक्यार्थीभूत अर्थात् प्रधान रूप से प्रतीयमान है वह ध्वनि का विषय है, रसवदलंकारों का नहीं।
2. जहाँ मुख्य रस अलंकार्य है और कोई दूसरा रस भी अङ्ग रूप में नहीं है। वहाँ चारुत्व हेतु के रूप में उपमादि अलंकार को अलंकार कहा जाता है। यतः वहाँ रसादि अलंकार्य रूप में रहते हैं।
3. जहाँ अन्य अर्थ के प्रधान होने पर रसादि के द्वारा चारुत्व की निष्पत्ति होती है वह रसवदादि अलंकार का विषय है।

कुछ लोग चेतन और अचेतन के वर्णन भेद से इनमें भेद मानते हैं। इस विषय में ध्वनिकार ने यहाँ यह प्रसङ्ग उठाया है–

चेतनवस्तुओं का वर्णन जहाँ मुख्य हो वह रसवदलंकार का विषय होता है यदि यह माना जावे तब उपमा आदि अलंकारों का विषय या तो प्रविरल (अत्यल्प) होगा या उनका कोई विषय ही नहीं होगा क्योंकि जहाँ अचेतन वस्तु का वर्णन प्रधान होगा वहाँ भी चेतनवस्तु का वर्णन यथाकथचिंत रूप में उपस्थित हो ही जाएगा। ऐसी स्थिति में यदि यह माना जावे कि अचेतनवस्तुओं का वर्णन हो वहाँ रसवदलंकार का विषय नहीं है तब यह भी मानना युक्तिसंगत नहीं है क्योंकि बहुत बड़े रसमय काव्यभाग को नीरस मानना पड़ेगा जबकि वे सरस होते हैं। अतः चेतन और अचेतन वस्तु के वर्णन को मुख्य मानकर ध्वनि, रसवदलंकार और उपमा आदि का विभाजन नहीं करना चाहिए। जहाँ रसादि अङ्ग हो वहाँ रसवदलंकार तथा रसादि जहाँ अङ्गी हो वह ध्वनि–यह मानना ही युक्ति संगत है।

14.4 कारिका संख्या 6 से 11 तक की व्याख्या

गुण और अलंकारों का भेद

(का) **तमर्थमवलम्बन्ते येऽङ्गिनं ते गुणाः स्मृताः।**

अड्.गाश्रितास्त्वलङ्कारा मन्तव्याः कटकादिवत्।। 2/6

ये तमर्थं रसादिलक्षणमङ्गिनं सन्तमवलम्बन्ते ते गुणाः शौर्यादिवत्। वाच्यवाचकलक्षणान्यङ्गानि ये पुनस्तदाश्रितास्तेऽलङ्कारा मन्तव्याः कटकादिवत्।।

अर्थः— गुण वे माने जाते हैं जो रसरूप उस अङ्गी अर्थ का आश्रय लेते हैं और अलङ्कार करक इत्यादि के समान अङ्गाश्रित ही माने जाने चाहिए।।

काव्य में रस अङ्गी होता है। उसके आश्रित रहने वाले धर्म गुण कहे जाते हैं। जैसे शौर्य आदि आत्मा के धर्म ह। शब्द और अर्थ काव्य के अङ्ग है। अङ्ग के आश्रित रहने वाले धर्म अलंकार कहे जाते हैं जैसे कटककुण्डल आदि।

(का) **शृङ्गार एव मधुरः परः प्रहलादनो रसः।**

तन्मयं काव्यमाश्रित्य माधुर्यं प्रतितिष्ठति।। 2/7।

शृङ्गार एव रसान्तरापेक्षया मधुरः प्रह्लादहेतुत्वात्। तत्प्रकाशनपरशब्दार्थतया काव्यस्य स माधुर्यलक्षणो गुणः। श्रव्यत्वं पुनरोजसोऽपि साधारणमिति।।

अर्थः— शृङ्गार ही सबसे अधिक आनंददायक मधुर (माधुर्ययुक्त) रस है। उस शृङ्गारमय काव्य के आश्रित ही माधुर्यगुण रहता है।

शृङ्गार ही अन्य रसों की अपेक्षा अधिक आह्लाद जनक होने से मधुर है। उसको प्रकाशित करने वाले शब्दार्थयुक्त काव्य का वह माधुर्य गुण होता है। श्रव्यत्व तो ओज का भी साधारण धर्म है।

कारिका में आया हुआ 'एव'शब्द (शृड्.गार एव मधुरः) विजातीय अन्य का व्यवच्छेदक है। कहने का तात्पर्य यह है कि गुण के विजातीय हैं शब्द और अथ। गुण शब्द और अर्थ के धर्म नहीं है अपितु रसैकधर्म हैं वे एकमात्र रस के ही धर्म है। प्राचीन काव्य शास्त्रियों ने दस शब्दगुण और दस अर्थगुण माने हैं—

श्लेषः प्रसादः समता माधुर्यं सुकुमारता।

अर्थव्यक्तिरुदारत्वमोजः—कान्ति—समाधयः।।

आनंदवर्धन ने इन दस गुणों का अंतर्भाव माधुर्य, ओज और प्रसाद में ही कर दिया है।

गुणालङ्कार भेद

आनंदवर्धन ने गुण को रसनिष्ठ माना है। रस सहृदय निष्ठ होता है, न कविनिष्ठ और न काव्यनिष्ठ। गुण उस अङ्गी अर्थ के आश्रित रहते है। अङ्गी का अर्थ आत्मा है और 'आत्मा' शब्द काव्य में ध्वनि के लिए अपनाया है। ध्वनि के तीन प्रकार हैं रस अलंकार और वस्तु। माधुर्य आदि गुण लोक के समान काव्य में भी रसधर्म हैं। शौर्य आत्मा का धर्म है, वह मृत शरीर का धर्म नहीं है। जीवित और जागता हुआ व्यक्ति ही शूर होता है, सोया और मृत नहीं। शरीर से अलग रहकर आत्मा किसी प्रकार का शौर्य नहीं दिखा सकती जो शरीर में रहकर बहुत कुछ करती है। ध्वन्यालोक की कारिका में तो अङ्गी (ध्वनि) के आश्रित को गुण कहा है वृत्ति में अङ्गी को रसादि लक्षण ही कहा है न कि वस्तु और अलंकाररूप। अतः इस आशय को समझते हुए अभिनवगुप्त और मम्मट आदि ने गुणों को अङ्गी रस का ही धर्म माना है।

अलंकार काव्य के वे धर्म हैं जो काव्य शरीर के अङ्ग शब्द और अर्थ में रहते हैं तथा उन अङ्गों और उनके द्वारा उनके अड्.गयों के चारुत्व के हेतु बनते हैं, वैसे अलंकार और कुछ नहीं, केवल 'वाग्विकल्प' या उक्तिवैचित्र्य है। मुख्य या अङ्गी होते हैं रस, भाव आदि व्यङ्ग्य अर्थ। आनंदवर्धन ने अलंकार के विषय में निम्न वाक्य कहे हैं —

1. अङ्गाश्रितास्त्वलंकारा मन्तव्याः कटकादिवत्। ध्व. 2/6
2. अलङ्कारो हि अड्गिनश्चारुत्वहेतुः। ध्व. 2/17 वृत्ति

3. अलङ्कारो हि चारुत्वहेतुः। ध्व. पृ 197

4. शब्दगताश्चारुत्वहेतवोऽनुप्रासादयः, अर्थगताश्चोपमादयः ध्व. पृ. 16

5. अनन्ता हि वाग्विकल्पाः, तत्प्रकारा एव चालंकाराः। ध्व. पृ. 47

माधुर्यगुण

चित्त की आर्द्रता का नाम है माधुर्य। शृङ्गार ही मधुर है। शृङ्गारमय काव्य का आश्रय लेकर मार्धुयगुण रहता है।

(का) **शृङ्गारे विप्रलम्भाख्ये करुणे च प्रकर्षवत्।**
माधुर्यमार्द्रतां याति यतस्तत्राधिकं मनः।। ध्व. 2/8

अर्थः— विप्रलम्भशृङ्गार और करुणरस में माधुर्य (गुण का प्रयोग विशेषरूप से) उत्कर्षयुक्त होता है, क्योंकि उसमें मन अधिक आर्द्रता को प्राप्त होता है।

उदा. **अनङ्गमङ्गलभुवस्तदपाङ्.गस्य भङ्गयः।**
जनयन्ति मुहुर्यूनामन्तः सन्तापसन्ततिम्।।

यहाँ 'अनङ्ग' मङ्गल आदि शब्द माधुर्य की अभिव्यंजना में तत्पर हैं। यहाँ शृङ्गार रस है।

ओजगुण

(का) **रौद्रादयो रसा दीप्त्या लक्ष्यन्ते काव्यवर्तिनः।**
तद्व्यक्तिहेतू शब्दार्थावाश्रित्यौजो व्यवस्थितम्।। ध्व. 2/9

रौद्रादयो हि रसाः परां दीप्तिमुज्ज्वलतां जनयन्तीति लक्षणया त एव दीप्तिरित्युच्यते।

अर्थः— काव्य में रहने वाले रौद्र इत्यादि रस दीप्ति के द्वारा पहिचाने जाते हैं। उस दीप्ति गुण की अभिव्यक्ति में निमित्त शब्द और अर्थ का आश्रय लेकर ओज व्यवस्थित होता है।

कारिका में "रौद्रादयः" कहने का तात्पर्य है रौद्ररस सदृशअन्य रस। इस प्रकार वीर और अद्भुत का समावेश हो जाता है। दीप्ति का स्वभाव है कि वह पाठकों, दर्शकों या श्रोताओं के हृदय को विकसित, विस्तृत या प्रज्वलित कर देती है। उसी दीप्ति को मुख्य रूप में ओज कहा जाता है। रौद्र आदि रस दीप्ति को उत्पन्न करते हैं। रौद्र आदि रस दीप्ति के कारण हैं दीप्ति कार्य। अतएव कारण में कार्य का उपचार होने से रौद्र इत्यादि ही ओजः शब्द से कहे जाते हैं। इससे लक्षित लक्षणा के द्वारा उसको प्रकाशित करने वाले ऐसे शब्द की दीप्ति कहते हैं जो कि दीर्घसमासरचना–गर्भित वाक्य के रूप में हाता है–"तत्प्रकाशनपरः शब्दो दीर्घसमासरचनालङ्कृतं वाक्यम्।"

उदा. **चञ्चद्भुजभ्रमितचण्डगदाभिघात–**
सञ्चूर्णितोरुयुगलस्य सुयोधनस्य।
स्त्यानावनद्धघनशोणितशोणपाणि–
रुत्तंसयिष्यति कचांस्तव देवि भीमः।।

अर्थः— फड़कती हुई भुजाओं द्वारा घुमाई हुई प्रचण्ड गदा के अभिघात से दुर्योधन की दोनों उरुओं को एक साथ चूर्ण कर आर्द्र तथा गाढे शोणित से अपने हाथों को लाल कर के हे देवि! वह भीम तुम्हारे केशों को बाँधेगा।"

यहाँ शब्दयोजना इतनी ऊर्जस्वी है कि इससे चित्त में दीप्ति का अनुभव होता है। यहाँ रस रौद्र है।

ओज का दूसरा स्वरूप होता है जिसमें लंबे लंबे समासों की अपेक्षा किए बिना अर्थ ही ओजरूप होता है–"तत्प्रकाशनपरश्चार्थोऽनपेक्षितदीर्घसमासरचनः प्रसन्नवाचकाभिधेयः।।

उदा– **यो यः शस्त्रं बिभर्ति स्वभुजगुरुमदः पाण्डवीनां चमूनाम्**
यो यः पाञ्चालगोत्रे शिशुरधिकवया गर्भशय्यां गतो वा।
यो यस्तत्कर्मसाक्षी चरति मयि रणे यश्च यश्च प्रतीपः,

क्रोधान्धस्तस्य तस्य स्वयमपि जगतामन्तकस्यान्तकोऽहम्।।

अर्थः— पाण्डवों की सेना में अपने भुजबल के अधिक अभिमान से परिपूर्ण जो व्यक्ति शस्त्रधारण करता है, पांचालों के वंश में जो कोई बालक है, अधिक आयुवाला है, या गर्भशय्या में ही विराजमान है, जो कोई उस (द्रोणवध रूप) कर्म का साक्षी है अथवा मेरे युद्ध में विराजमान होने पर जो कोई विरूद्ध रूप में आता है, चाहे वह सारे विश्व का ही संहारक क्यों न हो मैं क्रोधान्ध होकर उसका अंत कर सकता हूं।

अश्वत्थामा की इस उक्ति में जो दीप्ति का अनुभव होता है। उसकी अभियक्ति में कारण निर्मल और स्पष्ट अर्थयोजना ही है।

प्रसादगुण

(का) **समर्पकत्वं काव्यस्य यत्तु सर्वरसान् प्रति।**

स प्रसादो गुणो ज्ञेयः सर्वसाधारणक्रियः।। ध्व. 2/10

प्रसादस्तु स्वच्छता शब्दार्थयोः। स च सर्वरससाधारणो गुणः। सर्वरचनासाधारणश्च व्यङ्ग्यार्थापेक्षयैव मुख्यतया व्यवस्थितो मन्तव्यः।

अर्थः— काव्य का सब रसों के प्रति जो एक समपर्कत्व गुण होता है उसे ही प्रसाद कहते है, इसकी क्रिया सब रसों के प्रति सर्वसाधारण होती है।

सभी प्रकार के काव्यों में एक ऐसा गुण विद्यमान होना चाहिए कि काव्य सहृदय पाठकों, दर्शकों और श्रोताओं के हृदय से मेल खा जावे और अपनी आत्मा अथवा स्वरूप का संचार एकदम सहृदयों में कर दें। इसी गुण को प्रसाद गुण कहते हैं। यह इसी प्रकार होता है जिस प्रकार सूखे काष्ठ में आग एकदम व्याप्त हो जाती है अथवा जिस प्रकार साफ धुले हुए कपड़े के तार–तार को पानी एकदम पकड़ लेता है। यह स्वच्छता ऐसा गुण है जिससे काव्य हृदय को एकदम आक्रान्त कर लेता है, यह सभी रसों का गुण होता है। प्रसाद स्वच्छता है शब्द और अर्थ की। गुण यद्यपि रस के धर्म हैं किन्तु रसों को अभिव्यक्त करने वाले शब्द और अर्थ में इनका लाक्षणिक प्रयोग होता है।

उदा. **सूचीमुखेन सकृदेव कृतव्रणस्त्वं**

मुक्ताकलाप! लुठसि स्तनयोः प्रियायाः।

बाणैः स्मरस्य शतशो विनिकृत्तमर्मा

स्वप्नेऽपि तां कथमहं न विलोकयामि"

अर्थ— अरे मुक्ताहार! जब कि एक बार भी (गूंथे जाने के समय) सूची के अग्रभाग से विद्ध होने पर, तू, किसी प्रेयसी के स्तनों पर लौटने लगता है तो सहस्रों बार काम के बाणों से छिन्न–भिन्न हृदय वाले मुझे, वह प्रेयसी, क्या बात है कि, स्वप्न में भी कभी नहीं दीख पड़ती"

यहाँ शृङ्गार रस है। श्लोक पढते ही अर्थ बोध हो जाता है और चित्त स्वच्छता को प्राप्त हो जाता है।

(का) **श्रुतिदुष्टादयो दोषा अनित्या ये च दर्शिताः।**

ध्वन्यात्मन्येव शृङ्गारे ते हेया इत्युदाहृताः।।ध्व. 2/11।

अर्थः— श्रुतिदुष्टादि जो अनित्यदोष बताए गए हैं वे ध्वन्यात्मक शृङ्गार में ही त्याज्य कहे गए हैं।

ध्वनिकार ने चौथी कारिका से लेकर अब तक रसादिध्वनि, रसवदलंकार, उपमादि अलंकार एवं रसाश्रित गुणों का विवेचन किया है। इस कारिका में प्रतिपादित करना चाहते हैं कि रसादिध्वनि के आधार पर ही दोष की व्याख्या हो सकती है। रसात्मभूत ध्वनि में जो व्याघात पहुँचाएँ वे दोष हैं। दोषों की नित्य दोष अनित्यदोष व्यवस्था भी रसाश्रित ही है।

भामह ने वाणी के चार दोष कहे हैः—

श्रुतिदुष्टार्थदुष्टत्वे कल्पनादुष्टमित्यपि।
श्रुतिकष्टं तथैवाहुर्वाचां दोषं चतुर्विधम्।।

श्रुतिदुष्ट आदि दोष अनित्य इसलिए हैं कि ये दोष न तो वाच्यार्थमात्र में न शृङ्गार से भिन्न व्यङ्ग्य (रसादि) में और न ध्वनि के अनात्मभूत शृङ्गार (गुणीभूतशृङ्गार) में दोष है। किन्तु जब ध्वनि की आत्मा के रूप में शृङ्गार रस होता है तब ये दोष होते हैं।

इस प्रकार दोषों की नित्य, अनित्य व्यवस्था भी रसध्वनि पर आश्रित है।

14.5 पारिभाषिक शब्दावली

अविवक्षितवाच्य ध्वनि – लक्षणामूल ध्वनि को ही अविविक्षितवाच्य ध्वनि कहा जाता है। इस में 'ध्वनि' अथवा 'व्यङ्ग्यार्थ' का लक्षणामूलक होना ही इसके 'अविवक्षितवाच्य' कहे जाने का कारण है क्योंकि वाच्यार्थ के 'अविवक्षित होने का अभिप्राय उसके स्वरूप का बाधित होना ही है।

अर्थान्तर संक्रमितवाच्य – एक अर्थान्तरसंक्रित दूसरा अत्यंततिरस्कृतवाच्य। प्रथम भेद में वाच्यार्थ पूर्णतया अन्वय के अयोग्य नहीं होता। वाच्यार्थ का उपयोग अवश्य होता है। किन्तु वह अर्थ अपूर्ण सा मालूम पड़ता रहता है। अतः वह अपनी पूर्ति के लिए दूसरे धर्मों से मिल जाता है, इसी कारण वह अर्थ और का जैसा हो जाता है ये सभी धर्म प्रतीयमान होते है। इन समस्त धर्मो का धर्मी में संक्रमण हो जाता है या कर दिया जाता है। इसे ही अर्थान्तर संक्रमितवाच्य ध्वनि कहा जाता है।

अविवक्षितवाच्य ध्वनि – काव्य का जो दूसरा भेद "अत्यततिरस्कृतवाच्य ध्वनि कहा जाता है जहां व्यंजकरूप से अवस्थित मुख्यार्थ, अपने स्वरूप का सर्वथा परित्याग करके, अपने से भिन्न किसी अर्थ–स्वरूप में परिणत हो जाया करता है।

अजहत्स्वार्था – जहाँ मुख्यार्थ अपने अन्वय सिद्धि के लिए किसी अर्थ का आक्षेप कर लेता है उसे उपादन लक्षणा कहते हैं। इसीका दूसरा नाम अजहत्स्वार्था भी है।

जहत्स्वाथा – जहाँ मुख्यार्थ परार्थ की अन्वय संगति के लिए अपने अर्थ का पूर्णतः समर्पण कर देता है इसे लक्षणलक्षणा कहते है।लक्षण का अर्थ है त्याग। इसका दूसरा नाम जहत्स्वार्था है।

असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य का अर्थ है – न संलक्ष्यः न सम्यग् ज्ञातः सन्नपि क्रमो यस्य व्यङ्ग्स्य सः।। अर्थात् ऐसा व्यङ्ग्यार्थ जिसकी प्रतीति में व्यंजकरूप वाच्य अर्थ की पूर्व–प्रतीति असंभव है।

संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यध्वनि – विवक्षितान्यपरवाच्यव्यङ्ग्य ध्वनि का दूसरा भेद संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यध्वनि है। इसमें वाच्यार्थ के बाद व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति में स्पष्ट अंतर प्रतीति गोचर हो संलक्ष्यक्रमो मुख्यार्थप्रतीत्यनन्तरं हि धण्टानुरणनप्रतिमः सह्रदयप्रतिभासमर्पितो वस्त्वलंकारवपुर्व्यङ्ग्योऽर्थः प्रतिभाति।"

14.6 अभ्यासार्थ प्रश्न

बोध प्रश्न एवं उत्तर

प्र. 1 अविवक्षितवाच्य ध्वनि का प्रतिपादन करने वाली कारिका की सप्रसङ्.ग व्याख्या कीजिए।

उ. कारिका संख्या 2/1 में देखें।

प्र. 2 विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि का विवेचन करने वाली कारिका की व्याख्या कीजिए।

उ. कारिका संख्या 2/2 एवं 3 में देखें।

प्र. 3 रसध्वनि के विषय की मीमांसा कीजिए।

उ. कारिका संख्या 2/4 में देखें।

प्र. 4 रसध्वनि, रसवदलंकार एवं उपमा के विषय का विभाजन कीजिए।

उ. कारिका संख्या 2/4 एवं 5 देखें।

प्र. 5 गुणों का स्वरूप एवं उदाहरण लिखें।

उ. कारिका संख्या 2/6, 7, 8, 9 एवं 10 देखें।

14.7 सारांश

इस इकाई में हमने ध्वन्यालेक के द्वितीय उद्द्योत की कारिका संख्या 1 से 11 तक की कारिकाओं एवं उनमें आए हुए उद्धरणों भी सप्रसङ्गपूर्वक व्याख्या की ।ध्वन्यालोक के द्वितीय उद्द्योत की उक्तकारिकाओं की व्याख्या के प्रकम में हमने ध्वनिकार कृत अभिधामूल एवं लक्षण मूलध्वनि के भेदों का प्रतिपादन, रस ध्वनि, रसवदलंकार एवं उपमा आदि अलंकारों के विषय का पार्थक्य, गुण और अलंकारों का विभाजन एवं ध्वनि में वर्जित दोषों का विवेचन किया ।

14.8 संदर्भ ग्रंथ सूची

1. ध्वन्यालोक (लोचन सहित), टीकाकार डॉ. रामसागर त्रिपाठी, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली–पटना–वाराणसी, 1989.
2. ध्वन्यालोक, व्या. आचार्य विश्वेश्वर सिद्धान्तशिरोमणी, ज्ञानमण्डल लिमिटेड, वाराणसी, 2009.
3. आनन्दवर्धन ,डॉ. रेवाप्रसाद द्विवेदी, मध्य प्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, भोपाल प्र.सं., 1972.

इकाई 15

ध्वन्यालोक (द्वितीय उद्योत)

(कारिका संख्या 12 से 22)

इकाई की रूपरेखा

15.0 उद्देश्य
15.1 प्रस्तावना
15.2 कारिका संख्या 12 से 15 तक की व्याख्या
15.3 कारिका संख्या 16 से 19 तक की व्याख्या
15.4 कारिका संख्या 20 से 22 तक की व्याख्या
15.5 पारिभाषिक शब्दावली
15.6 अभ्यासार्थ प्रश्न
15.7 सारांश
15.8 संदर्भ ग्रंथ सूची

15.0 उद्देश्य

इस इकाई के माध्यम से ध्वन्यालोक के द्वितीय उद्द्योत की कारिका संख्या 12 से 22 तक की व्याख्या एवं उनमें आने वाले उद्धरणों की समीक्षा जानी जा सकती है।

15.1 प्रस्तावना

ध्वन्यालोक ध्वनि सिद्धांत का महनीय ग्रंथ है। इसके द्वितीय उद्द्योत में ध्वनि भेदों की विस्तार से चर्चा की गई है। प्रस्तुत इकाई में असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य का एक भेद मानने के पीछे क्या युक्ति है। इसके विवेचन के साथ रसादिध्वनि में अलंकारों के सन्निवेश की क्या युक्ति एवं प्रकार है–इसका विस्तार से विवेचन किया गयां है। साथ ही संलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य के भेदों की चर्चा है।

15.2 कारिका संख्या 2/12 से 2/15 तक की व्याख्या

(का.) **तस्याङ्गनां प्रभेदा ये प्रभेदा स्वगताश्च ये।**
तेषामानन्त्यमन्योन्यसम्बन्धपरिकल्पने।। ध्व. 2/12

अर्थ– उस (असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यरसध्वनि) के अंगों (अलंकारादि) के जो अनेक भेद हैं, और (स्वयं रसादि के) जो स्वगत भेद हैं उनका एक–दूसरे के साथ संबंध (संसृष्टि, संकरादि, प्रस्तारविधि से विस्तारादि) कल्पना करने पर उनकी गणना अनंत हो जाएगी।।

विवक्षितान्यपरवाच्यध्वनि के प्रथमतः दो भेद किए गए हैं। 1. असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य ध्वनि तथा 2 संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य ध्वनि। असंलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य ध्वनि का भेदगणना में एक ही भेद माना गया ह। क्योंकि इसके समस्त भेदों की गणना करना असंभव है। गणना करना इसलिए असंभव है क्योंकि प्रथमतः ध्वनि की आत्मा के रूप में प्रतिष्ठित रसादिरूप के अड्.गभूत अर्थ तथा शब्दों के आश्रित (उपमादि तथा अनुप्रासादि) अलंकारों के अपरिमित भेद होते हैं। प्रधान भूत रसादि के भी निःसीम भेद हैं। रसादि भेदों में रस, भाव, रसाभास, भावाभास, भावोदय, भावसन्धि, भावशबलता और भावप्रशम आदि भेद होते हैं। इन सब के पुनः आश्रय भेद (स्त्री–पुरुष आदि प्रकृति के भेद) से अवान्तर विशेष भेदोप–भेद होंगे। इन भेदों का एक–दूसरे के साथ संबंध (संसृष्टि, संकर या प्रस्तारादि) कल्पना करने पर, उनमें से किसी एक भी रस के भेदों की गणना कर सकना संभव नहीं है। फिर सब की तो बात ही क्या है। उदाहरणरूप से एक ही रस के भेदोपभेदों की कल्पना को इस प्रकार समझ सकते हैं।

प्रधानभूत शृङ्गार रस के, प्रारम्भ में दो भेद होते हैं, सम्भोग और विप्रलम्भशृङ्गार। उनमें से संभोग के परस्परप्रेमदर्शन, सुरत, उद्यान विहार आदि अनेक भेद हैं। विप्रलम्भ के भी अभिलाष, ईर्ष्या, विरह, प्रवास, शापादिनिमित्तक वियोगादि भेद होते हैं। उनमें से प्रत्येक भेद के विभाव, अनुभाव, व्यभिचारिभाव के अनेक भेद हैं और उन विभावादि के भी देश, काल, आश्रय, अवस्था आदि से अनेक भेद हो जाते हैं। इस प्रकार स्वगत भेदों के कारण उस एक शृड्.गार का परिमाण करना ही असंभव है फिर उनके अङ्गों के भेदोपभेदकल्पना की बात ही क्या है। वे अंगों (अलंकारादि) के प्रभेद प्रत्येक अङ्गी (रसादि) के प्रभेदों के साथ संबंध कल्पना करने पर अनन्त ही हो जाते हैं। इसीलिए भेद गणना में इसको एक ही गिना है।

(का) **दिङ्मात्रं तूच्यते येन व्युत्पन्नानां सचेतसाम्।**
बुद्धिरासादितालोका सर्वत्रैव भविष्यति।।ध्व. 2/13

अर्थः– "अत एव यहाँ पर दिग्दर्शन मात्र कराया जा रहा है जिससे व्युत्पन्न रसिकों की बुद्धि प्रकाश को प्राप्त कर प्रत्येक स्थान पर तत्त्व को समझ सकेगी।।"

पूर्व कारिका में कहा गया था कि अङ्गी रसादि के अवान्तर भेद करने एवं उनके संबंधों की कल्पना से असंख्य भेद हो जाते हैं। किन्तु यहाँ अग्रिम प्रकरण में शृङ्गार की अङ्गकल्पना का दिग्दर्शन मात्र कराया जाएगा। जिससे सहृदयों की बुद्धि को एक प्रकाश प्राप्त हो जाएगा और वे रस संबंधी दूसरे निगूढ तत्त्वों को भी समझ सकेंगे। सहृदय शब्द से यहाँ पर दोनों का ग्रहण होता है–जो महाकवित्व पद को प्राप्त करने क इच्छुक हैं तथा जो सहृदयत्व पद को प्राप्त करना चाहते हैं। "आसादितालोका" यहाँ बहुव्रीहिसमास है और यह पद बुद्धि का विशेषण है इसका विग्रह इस प्रकार होगा सब रसों में प्राप्त कर लिया गया है आलोक जिसके द्वारा –"सर्वेषु रसादिष्वासादित आलोकोऽवगमः सम्यग्व्युत्पत्तिर्ययेति।। आलोक का अर्थ है अवगम अर्थात् व्युत्पत्तिः। आशय यह है कि यदि थोड़ा सा संकेत कर दिया जाएगा तब सहृदयों को समझने की योग्यता उत्पन्न हो जाएगी और वे उसी आदर्श पर न बतलाई हुई बात को भी समझ सकेंगे।

तत्र

(का) **शृङ्गारस्याङ्गिनो यत्नादेकरूपानुबन्धवान्।**
सर्वेष्वेव प्रभेदेषु नानुप्रासः प्रकाशकः।।2/14

अर्थ– जहाँ शृङ्गार अङ्गी हो वहाँ पर उसके सभी भेदों में प्रयत्नपूर्वक लाने के कारण एकरूप अनुबंधवाला अनुप्रास उसका प्रकाशक नहीं होता।।

पूर्वकारिका में ध्वनिकार ने कहा था कि रसादि ध्वनि के साथ शब्दार्थ में चमत्कार उत्पन्न करने वाले अलंकार के संबंध को दिङ्मात्र जानने से सहृदयों की बुद्धि प्रशस्त होगी। इस संदर्भ में यहाँ शृङ्गार रस में अङ्गयोजना–अलंकार योजना का प्रकरण ले रहे है। कारिका में कहा गया है कि शृङ्गार रस जब अङ्गी हो तो यत्नात् (हेतु के अर्थ में पंचमी) यत्नपूर्वक निबद्ध अनुप्रास उसका प्रकाशक नहीं होता। क्योंकि यत्नपूर्वक उसका अनुबंधन किया जाता है। अतः प्रकाशक नहीं होता। जिस अनुप्रास का अनुबंधन एकरूप है वह प्रकाशक नहीं है यदि अनुप्रास का निबंधन विचित्र प्रकार का है तो दोष नहीं होता। एक प्रकार के अनुप्रास का निरन्तर अनुबंधन होगा तब काव्य में अनुप्रास ही प्रधान बन जाएगा और मुख्य वस्तु अथवा रस गौण हो जाएगा यही दोष है। अतः अङ्गी शृङ्गार के सभी भेदों में एकरूपानुबंध वाले अनुप्रास का निबंधन नहीं करना चाहिए। यदि शृङ्गार या इसके भेद अङ्गी न होकर अङ्गरूप में हों तब कवि अपनी इच्छानुसार एकरूपानुबंधवाले अनुप्रास का प्रयोग करे या न करे।

(का) **ध्वन्यात्मभूते शृड्.गारे यमकादिनिबन्धनम्।**
शक्तावपि प्रमादित्वं विप्रलम्भे विशेषतः।।5।।

अर्थः— ध्वनि की आत्मा के रूप में स्थित शृङ्गार रस की व्यञ्जना में यमक इत्यादि का निबंधन; कवि के शक्त होने पर भी प्रमाद हो कहा जाएगा और विप्रलम्भ में तो विशेष रूप में प्रमाद कहा जाएगा।

ध्वनिकार कहना चाहते हैं कि यमक एवं यमक सदृश दुष्कर सभङ्ग शब्दश्लेष, मुरजबन्ध आदि अलंकारों का निबंधन ध्वन्यात्मभूत शृङ्गार में विशेषतः विप्रलम्भ में नहीं करना चाहिए, चाहे कवि में यह करने का सामर्थ्य हो। यदि कवि ऐसा करता है तो यह उसका दोष ही माना जाएगा। सभङ्गश्लेष भी वहाँ पर दोष होता है जहाँ पर उसका प्रयोग क्लिष्ट हो। यदि प्रयोग सरल है तो दोष नहीं है जैसे "रक्तस्त्वं नवपल्लवैरहमपि...." इत्यादि में सभङ्गश्लेष होने पर भी दोष नहीं है। प्रयत्नपूर्वक सन्निविष्ट दुष्कर सभङ्गश्लेष आदि इसलिए दोष माने जाते हैं क्योंकि ये रसचर्वणा में बाधक होते हैं।

कदाचित् काकतालीयन्याय से यमकादि की रचना हो भी जावे तब भी उनका बाहुल्येन रसाङ्गरूप में निबंधन नहीं करना चाहिए। जो अलंकार क्लिष्ट न हों तथा अपने कथारस की अपेक्षा अधिक ऊँचा उठने की चेष्टा न कर रहे हों। अपितु रस चर्वणा में सुन्दर सुख को प्रकट करने वाले हैं। तब उन अनुप्रास आदि का त्याग करना उचित नहीं है।

अत्र युक्तिरभिधीयते—

(का) **रसाक्षिप्ततया यस्य बन्धः शक्यक्रियो भवेत्।**

अपृथग्यत्ननिर्वर्त्यः सोऽनुप्रासो ध्वनौ मतः।।16।।

अर्थ—इस विषय में युक्ति बतलाई जा रही है—

रस के द्वारा आक्षिप्त होने से ही जिस अलंकार का बंध (रचना) कर सकना शक्य हो और उसके लिए पृथक्यत्न न करना पड़े ध्वनि में वही अलंकार माना जाता है।

वृत्ति में ध्वनिकार लिखते हैंः—

निष्पत्ति में आश्चर्यजनक होते हुए भी रस के द्वारा आक्षिप्त होने से ही जिस अलंकार का बंधन करना संभव हो, वह इस असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य ध्वनि में अलंकार माना जाता है। उसी की रसाङ्गता मुख्य होती है।

ध्वनिकार का आशय यह है कि कवि रस सृष्टि के लिए उद्यत रहता है। उसका समस्त व्यापार विभावादिरूप के योजन म होता है। रसादि की अभिव्यंजना के लिए विभावादि के योजन के समय किसी अलंकार का प्रयोग स्वतः हो जावे, जिसे टालना असंभव हो, जो रसाभिव्यक्ति के लिए अनिवार्य हो जावे, रस ध्वनि में वही अलंकार मान्य है। जिस अलंकार के योजन के लिए रससृष्टि के साथ पृथक् प्रयत्न करना पड़े वह अलंकार ध्वनि में मान्य नहीं है चाहे वह अलंकार यमकादि के समान दुष्कर न हो। ध्वनिकार का अभिप्राय है कि अलंकारों का प्रयत्नपूर्वक अत्यधिक प्रयोग केवल शृङ्गार में ही नहीं अपितु किसी भी रसध्वनि में अङ्ग नहीं बन पाता। रसानुभूति कराने के लिए योजित विभावादि में आए हुए अलंकार को देखकर आश्चर्य हो जाता है कि बिना ही चेष्टा के यह कैसे हो गया, वही अलंकार रसादि ध्वनि का अङ्ग बन पाता है। ध्वनि में अपृथग्यत्ननिर्वर्त्य अलंकार का उदाहरणः—

कपोले पत्राली करतलनिरोधेन मृदिता

निपीतो निश्श्वासैरयममृतहृद्योऽधररसः।

मुहुःकण्ठे लग्नस्तरलयति वाष्पस्तनतटीं,

प्रियो मन्युर्जातस्तव निरनुरोधे न तु वयम्।।

अनु— (तुम्हारे) गाल पर बनी हुई पत्रावली को हाथ की रगड़ ने मल डाला, (तुम्हारे) अमृत के समान मधुर अधररस का पान (यह उष्ण) निःश्वास कर रहे हैं, ये अश्रुबिन्दु बार—बार तुम्हारे कण्ठ का आलिङ्गन कर स्तनों को हिला रहे हैं, अयिनिर्दये, यही क्रोध तुम्हें (इतना) प्रिय हो गया और हम (हमारी कहीं पूछ ही) नहीं।

नायिका को मनाने के अवसर पर नायक के यह शब्द है। चाटूक्तियों के द्वारा नायिका को प्रसन्न करने की चेष्टा ही यहाँ मुख्य विषय है। अतः यहाँ पर ईर्ष्या–विप्रलम्भ के अनुभावों की चर्वणा मुख्य व्यङ्ग्य है और वक्ता का ध्यान प्रधान रूप से उसी ओर है। संयोग वश 1. मन्यु पर प्रियतम के आरोप में रूपक, 2 अधररस शब्द के दो अर्थ हैं– अधरामृत और अधरों की आर्द्रता– इस प्रकार श्लेषालंकार, 3. मन्यु प्रिय है, मैं प्रिय नहीं हूँ, इस प्रकार व्यतिरेकालंकार इन तीनों अलंकारों की सृष्टि स्वाभाविक रूप से हो गई है। इसके लिए कवि ने अतिरिक्त प्रयत्न नहीं किया। बिना पृथक् प्रयत्न से निष्पन्न ये अलंकार रसचर्वणापरायण सहृदय के हृदय में रस–चर्वणा में व्याघात उत्पन्न नहीं करते।

वृत्तिकार का भी यही कहना है कि अलंकार के रस का अङ्ग बनने के लिए "अपृथग्यत्ननिर्वर्त्य; होना आवश्यक है। जो अलंकार, रसबंधन में तत्पर कवि की रसबंधना–ध्यवसाय रूप वासना का अतिक्रमण करके दूसरे प्रयत्न का आश्रय लेने पर ही बनता है। वह रस का अङ्ग नहीं बन पाता है। तथा जानबूझकर यमक के निरंतर प्रयोग में तो कवि को विशेष शब्दों की खोज के लिए अतिरिक्त प्रयत्न करना ही पड़ता है। यमक एवं यमक सदृश अलंकारों से भिन्न अलंकार रचना में कठिन दिखाई देने पर भी रससमाहित चित्त वाले प्रतिभाशाली कवि के सामने होड़ लगाकर स्वयं दौड़े आते हैं। जैसे कादम्बरी मे नायिका (कादम्बरी) के दर्शन के अवसर पर अलंकारों की झड़ी लग गई।

रसाभिव्यंजना में रूपक आदि अलंकारों की होड़ लगना स्वाभाविक है क्योंकि रसाभिव्यंजना वाच्य विशेष होती है और रूपक आदि अलंकार वाच्यविशेष ही है। इसलिए रस की अभिव्यक्ति में रूपक आदि अलंकार बहिरङ्ग नहीं है। यमक आदि तो पृथक्प्रयत्न से संपन्न होते हैं अतः बहिरङ्ग हैं।

यदि कहीं यमकादि अलंकार रसयुक्त दिखलाई देते हैं वहाँ यमकादि ही प्रधान है–रसादि उनके अंग है। यह रस ध्वनि का विषय नहीं है। रसाभास में यमकादि अलंकार अङ्ग बन सकते हैं किन्तु जहाँ रस प्रधानतया व्यङ्ग्य है। वहाँ तो पृथक् प्रयत्नसाध्य होने से (यमकादि) अङ्ग नहीं हो सकते।

इस विषय को और अधिक स्पष्ट करने के लिए ध्वनिकार ने संग्रह श्लोक लिखे हैः–

"रसवन्ति हि वस्तूनि सालङ्काराणि कानिचित्।
एकेनैव प्रयत्नेन निर्वर्त्यन्ते महाकवेः।।
यमकादिनिबंधे तु पृथग्यत्नोऽस्य जायते।
शक्तस्यापि रसेऽङ्गत्वं तस्मादेषां न विद्यते।।
रसाभासाङ्गभावस्तु यमकादेर्न वार्यते।
ध्वन्यात्मभूते शृङ्गारे त्वङ्गता नोपपद्यते।।16।।

अनु– कतिपय रसमय वस्तुएँ ऐसी होती है जिनमें अलंकारों का भी समावेश हो जाता है। यहाँ पर महाकवि के एक ही प्रयत्न क द्वारा रस और अलंकार दोनों की निष्पत्ति हो जाती है।

यमक आदि की रचना में कवि को पृथक् प्रयत्न करना पड़ता है। अतः समर्थ भी कवि की रसमय रचना में यमक इत्यादि अंग नहीं हो सकते।

यमक इत्यादि का रसाभास का अंग होना निषिद्ध नहीं है किन्तु ध्वनि की आत्मा के रूप में स्थित शृङ्गार में यमक इत्यादि किसी प्रकार भी अङ्ग नहीं हो सकते।"

वृत्ति–इदानीं ध्वन्यात्मभूतस्य शृङ्गारस्य व्यंजकोऽलंकार वर्ग आख्यायतेः–

(का) **ध्वन्यात्मभूते शृङ्गारे समीक्ष्य विनिवेशितः।**
रूपकादिरलङ्कारवर्ग एति यथार्थताम्।। ध्व. 2/17

(अनु) अब ध्वनि के आत्मभूत शृड्.गार के अभिव्यंजक अलङ्कारवर्ग का निरूपण करते हैं–

ध्वन्यात्मक शृङ्गार में (अग्रिम कारिकाओं में प्रतिपादित पद्धति से) सोच–समझकर (उचित रूप से) प्रयुक्त किया गया रूपक आदि अलंकारवर्ग वास्तविक अलङ्कारता को प्राप्त होता है।

जिस प्रकार लोक में कटक कुण्डल आदि अङ्गी की चारुता बढ़ाते हैं उसी प्रकार काव्य में रूपक आदि अलंकार भी अङ्गी रस की चारुता बढ़ाते हैं यदि वे समीक्षा पूर्वक सन्निविष्ट किए जाते हैं (स सर्वोऽपि यदि समीक्ष्य विनिवेश्यते तदलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यस्य ध्वनेरङ्गिनः सर्वस्यैव चारुत्वहेतुर्निष्पद्यते।"

एषा चास्य विनिवेशने समीक्षा

(का) **विवक्षा तत्परत्वेन नाङ्गित्वेन कदाचन।**

काले च ग्रहणत्यागौ नातिनिर्वहणैषिता।।18।।

निर्व्यूढावपि चाङ्गत्वे यत्नेन प्रत्यवेक्षणम्।

रूपकादिरलङ्कारवर्गस्याङ्गत्वसाधनम्।।19।।

अनु. – इस रूपक आदि अलंकार के काव्य में प्रयोग के लिए इन बातों का विचार करना आवश्यक है–

1. (रूपकादि की) विवक्षा (सदैव रस को प्रधान मानकर) रसपरत्वेन ही (वर्ण्य) हो, 2. किसी भी दशा में प्रधान रूप से नहीं, 3. (उचित) समय पर (उनका) ग्रहण और 4. त्याग होना चाहिए, 5. (आदि से अंत तक) अत्यन्त निर्वाह की इच्छा (यत्न) नहीं करना चाहिए।।18।।

6. (यदि कहीं अनायास आद्यन्त निर्वाह हो जाय तो) निर्वाह हो जाने पर भी (वह) अंगरूप में (ही) हो यह बात सावधानी से फिर देख लेनी चाहिए। यही (समीक्षा) रूपकादि अलङ्कारवर्ग के अङ्त्व का साधन है।

समीक्षा के छह प्रकार दिए हैं। उनमें से पहले प्रकार के विषय में कहते हैं:–

1. रसबन्धेष्वादृतमनाः कविर्यमलङ्कारं तदङ्गतया विवक्षति।

प्रथम प्रकार का तात्पर्य है कि रसबंध में आदर रखने वाला कवि जिस अलंकार को अंगरूप में रखना चाहता है वह अलंकार ही रस ध्वनि का अंग बनता है। यथा–(उदाहरण)

चलापाङ्गां दृष्टिं स्पृशसि बहुशो वेपथुमतीं

रहस्याख्यायीव स्वनसि मृदु कर्णान्तिकचरः।

करौ व्याधुन्वत्याः पिबसि रतिसर्वस्वमधरं,

वयं तत्त्वान्वेषान्मधुकर हतास्त्वं खलु कृती।।

अनु – (कालिदास के अभिज्ञान शाकुन्तल नाटक में दुष्यन्त छिपकर शकुन्तला की सारी चेष्टाओं को देख रहा है। उसी समय एक भ्रमर शकुन्तला के ऊपर दौड़ आता है, भ्रमर को देखकर दुष्यंत कहते हैं) हे मधुकर! तुम इस शकुन्तला की (भयपरिकम्पित) चंचल और तिरछी चितवन का स्पर्श कर रहे हो, एकान्त में या रहस्य निवेदन करने वाले के समान कान के समीप जाकर गुनगुनाते हो, (उड़ाने के लिए इधर उधर) हाथ झटकती हुई इस (तरुणी शकुन्तला) के रतिसर्वस्व अधर (अमृत) का पान कर रहे हो। हे मधुकर! हम तो तत्त्वान्वेषण (अर्थात् हमारे ग्रहण करने योग्य क्षत्रिया है या नहीं, इस खोज) में ही मारे गए और तुम कृतकृत्य हो गए।

यहाँ 'त्वं खलु कृती' इन शब्दों से व्यक्त होता है कि जीवन धारण करना तुम्हारा ही सफल हुआ है और वह भी बिना किसी प्रयत्न के। हमारी कामना है किसी न किसी प्रकार शकुन्तला के कटाक्षों का विषय बन सकें, किसी ना किसी उपाय से एकांत में यह हमारे अभिप्राय को सुने, हम बलात् इसके अधरों का पान करें, ये सब कामनाएँ हमारे मनोराज्य की पदवी पर ही अधिष्ठित हैं किन्तु तुम्हें बिना ही प्रयत्न के प्राप्त हो गई है। यहाँ पर भौरें की स्वभावोक्ति का उपादान जो अलंकार है वह दुष्यंत के पूर्वराग विप्रलम्भ के परिपोष के लिए है। यह स्वभावोक्ति रस के अनुकूल है तथा तत्परत्वेन निबद्ध है।

2. नाङ्गित्वेन कदाचनः— नाङ्गित्वेनेति न प्राधान्येन। कदाचिद्रसादितात्पर्येण विवक्षितोऽपि ह्यलंकारः कश्चिदङ्गित्वेन विवक्षितो दृश्यते।

अलङ्कार को अङ्गरूपता प्रदान करने वाला दूसरा तत्त्व है उसका अङ्गी के रूप में स्थिर न होना। इसका अर्थ है जब कभी किसी अलंकार का प्रयोग रस के परिपोष के लिए किया जावे तब रस की हो प्रतीति प्रधान रूप में होनी चाहिए। अलंकार को उसका परिपोष करने वाला ही होना चाहिए। किन्तु कहीं पर ऐसा भी हो जाता है कि रस के तात्पर्य से निबद्ध अलंकार ही प्रधान रूप में दिखाई देता है। जैसे–

चक्राभिघातप्रसभाज्ञयैव चकार यो राहुवधूजनस्य।

आलिङ्गनोद्दामविलासवन्ध्यं रतोत्सवं चुम्बनमात्रशेषम्।।

अनु – (जिन विष्णु भगवान् ने) चक्राभिघात रूपी अपनी सबल आज्ञा से राहु की धर्मपत्नियों के सुरतोत्सव को (आलिङ्गनोपयोगी हस्तादि न रहने से) आलिङ्गनप्रधान विलासों से विहीन, चुंबनमात्रावशेष कर दिया।

यहाँ कहना यह है कि विष्णु ने अपने चक्र से राहु का शिर काट दिया। किन्तु कहा गया यह है कि 'राहु की पत्नियों का सुरतोत्सव आलिङ्गन रहित चुम्बन मात्र रह गया है।' राहु के कण्ठच्छेदन का प्रकारान्तर से कथन होने से पर्यायोक्त अलंकार है। यहाँ कवि का अभिप्राय वासुदेव के प्रभावातिशय का वर्णन है। उसके परिपोष के लिए ही कवि ने अलंकार को ग्रहण किया है किन्तु अलंकार का चमत्कार प्रधान हो गया है। अङ्गी रस का अलंकार तिरस्कारक हो गया है। यहाँ पर भले ही दोष न हो किन्तु कभी–कभी ऐसी अवस्था दोषपूर्ण भी हो सकती है। कवि को इस स्थिति से बचना चाहिए।

उदा.– **काल च ग्रहणम्। अङ्गत्वेन विवक्षितमपि यमवसरे गृह्णाति नानवसरे।**

अलंकार का अङ्ग रूप में ग्रहण करने मात्र से वह रस का परिपोषक नहीं हो सकता। वही अलङ्कार रस का परिपोषक हो सकता है जो अङ्ग रूप में विवक्षित भी हो और उसका उपादान अवसर के प्रतिकूल न होकर अवसर के अनुकूल ही हो। अवसर के अनुकूल अलंकार प्रयोग का उदाहरण– (अवसरे गृहीतिर्यथा)

"उद्दामोत्कलिकां विपाण्डुररुचं प्रारब्धजृम्भां क्षणा –

दायासं श्वसनोद्गमैरविरलैरातन्वतीमात्मनः।

अद्योद्यानलतामिमां समदनां नारीमिवान्यां ध्रुवं,

पश्यन् कोपविपाटलद्युतिमुखं देव्याः करिष्याम्यहम्।।

यह उदाहरण रत्नावली से है। वत्सराज उदयन और वासवदत्ता ने अपनी–अपनी लताओं को दोहद के कृत्रिम उपायों द्वारा अकाल कुसुमित करने की चेष्टा की थी। संयोगवश राजा की लता कुसुमित हो गई और वासवदत्ता की लता कुसुमित नहीं हो पाई। राजा यह समाचार सुनकर उद्यानलता को देखने के लिए जाते हुए कह रहे हैं कि जब मैं प्रेमपूर्वक अपनी प्रफुल्लित लता को देखूँगा तो स्वभावतः अपनी असफलता के विचार से रानी को क्रोध आएगा। इसी प्रसंग में परस्त्री की भी उपमा दी गई है। जब कोई पुरुष किसी परस्त्री को प्रेमपूर्वक देखता है तब उसकी पत्नो को क्रोध आ जाना स्वाभाविक ही है। लता भी स्त्री (स्त्रीलिंग) है। अतः उसे प्रेमपूर्वक देखते हुए राजा को देखकर वासवदत्ता को क्रोध अवश्य आएगा। यहाँ पर लता के जितने भी विशेषण दिए गए हैं वे सब श्लेष के द्वारा लता और पर स्त्री दोनों पर घटते हैं।

अनु– आज मदनावेशयुक्त अन्य नारी के समान (लतापक्ष में मदन नामक वृक्षविशेष के साथ स्थित, उस पर चढ़ी हुई) प्रबल उत्कण्ठा से युक्त (लतापक्ष में प्रचुरमात्रा में कलियों से लदी हुई) (नारीपक्ष में उत्कण्ठातिशय के कारण), पाण्डुवर्ण (लतापक्ष में कलिकाओं के कारण श्वेत वर्ण) और उसी समय (नारीपक्ष में मदनावेश के प्रभाव से) जम्भाई लेती हुई (लतापक्ष में विकसित होती हुई) तथा (नारीपक्ष में) लंबी सांसों से अपने मदनावेश या हृदय के संताप को प्रकट करती हुई (लतापक्ष में वायु के निरंतर झोंकों से कंपित हुई) समदना (नारीपक्ष में

काम विकार युक्त और लतापक्ष में मदन फल के वृक्ष के साथ अर्थात् उस पर चढ़ी हुई) इस उद्यानलता को देखते हुए निश्चय ही आज मैं रानी के मुख को क्रोध से लाल कर दूंगा।

यहाँ उपमा और श्लेष का उपादान अवसर के अनुकूल ही हुआ है। क्योंकि अग्रिम प्रकरण में सागरिका के प्रति राजा के प्रेम को देखकर रानी (वासवदत्ता) के चित्त में ईर्ष्या–विप्रलम्भ का उदय होने वाला है। यह उपमा उसी ईर्ष्या विप्रलम्भ के मार्ग की शोधक है। यह सहृदयों के हृदय को रस की चर्वणा के अनुकूल बना देती है और रस के प्रमुख अवस्था को प्राप्त होने के ठीक पहले अवसर के अनुकूल ही इसका उपादान हुआ है। इस उपमा द्वारा सहृदयों के हृदय ईर्ष्या–विप्रलम्भ रूप रस के आस्वादन के अनुकूल बन जाते हैं। यही इस उपमा का रसप्रवणत्व है।

4. **(काले च त्यागः) गृहीतमपि यमवसरे त्यजति**
तद्रसानुगुणतयालङ्कारान्तरापेक्षया।

अवसर तथा आवश्यकता के अनुकूल किसी अलंकार का त्याग देना भी रस पोषक होता है। आशय यह है कि यदि रस–परिपोष के लिए एक अलंकार का ग्रहण किया गया हो और उसके (रसपरिपोष के) लिए उस अलंकार को छोड़कर दूसरे अलंकार को ग्रहण करने से काव्य की शोभा बढने की सम्भावना हो तो उसे छोड़ भी देना चाहिए। अवसर पर त्याग रूपी चतुर्थ समीक्षा का उदाहरण–

"रक्तस्त्वं नवपल्लवैरहमपि श्लाघ्यैः प्रियाया गुणै–
स्त्वामायान्ति शिलीमुखाः स्मरधनुर्मुक्ताः सखे मामपि।
कान्तापादतलाहतिस्तव मुदे तद्वन्ममाप्यावयोः
सर्वं तुल्यमशोक! केवलमहं धात्रा सशोकः कृतः।।

अनु. – हे अशोक! तुम नवीन पल्लवों से रक्त (लाल रंग से रंगे हुए) हो और मैं भी प्रियतमा के श्लाघ्यगुणों से रक्त (प्रवृद्ध अनुराग वाला) हूँ। स्मर और धनु नाम के वृक्षों से छूटे हुए शिली मुख (भ्रमर) तुम्हारे ऊपर आ रहे हैं और स्मरधनु (कामदेव के धनुष) से छूटे हुए शिलीमुख (बाण) मेरे ऊपर आ रहे है। कान्ता के चरण तल का प्रहार तुम्हें आनंद देने वाला अर्थात् पुष्पित कर देता है और उसी प्रकार कान्ता के चरण तल का प्रहार (एक प्रकार का सुरत बंध) मुझे भी आनंद देता है। मुझमें और तुम में सब बात तो समान है। भेद केवल इतना है कि तुम अशोक हो और मैं सशोक ह्।"

यहाँ पर रक्त, शिलीमुख, स्मर, धनु, अशोक इन शब्दों में श्लेष है जिससे अनुग्राहक के रूप में सहोक्ति, उपमा और हेतु इन तीन और अलंकारों की व्यंजना हो रही है। कवि ने इन प्रबंध प्रवृत्त अलंकारों को छोड़कर काव्य शोभा के लिए व्यतिरेक को ग्रहण कर लिया है। प्रबंध प्रवृत्त श्लेष व्यतिरेक को अनुग्रहीत करने के निमित्त परित्यक्त होकर विशेष रस को पुष्ट करता है। यहाँ विप्रलम्भ शृङ्गार है।

ध्वनिकार ने "रक्तस्त्वं नवपल्लवैः यह उदाहरण अवसर के अनुकूल एक अलंकार के लिए अन्य का परित्याग के रूप में दिया है। यहाँ श्लेष का परित्याग ही रमणीय है व्यतिरेक नही।

संसृष्टि और संकर विषयक विचार

यहाँ पर एक प्रश्न यह उपस्थित होता है कि श्लेष और व्यतिरेक इन दोनों की यहाँ पर संसृष्टि है या संकर? आनंदवर्धन ने "रक्तस्त्वं नवपल्ल्वैः" इस पद्य में संसृष्टि मानी है। संसृष्टि मानने से ही ध्वनिकार का मन्तव्य भी सिद्ध होता है क्योंकि संकर में सब अलंकार मिलकर एक हो जाते है। अतएव उसमें किसी एक अलंकार के ग्रहण और दूसरे के त्याग का प्रश्न ही नहीं उठता। जब दो या अधिक अलंकार एक दूसरे से मिलते हैं और उनकी पृथक् सत्ता प्रतीत होती रहती है तब उनकी संसृष्टि कही जाती है। संसृष्टि में ही एक का

ग्रहण और दूसरे का त्याग कहा जाता है। ध्वनिकार ने यहाँ संकर को पूर्वपक्ष में रखते हुए संसृष्टि की सिद्धान्तपक्षता का समर्थन किया गया है।

(प्रश्न) यहाँ पर दो अलंकारों का सम्मिलन नहीं है किन्तु एक दूसरा ही श्लेष–व्यतिरेक नामवाला अलंकार है। नृसिंह के समान दो अलंकारों का एकीकरण हो जाता है। यहाँ "रक्तस्त्वं में भी श्लेष व्यतिरेक का एकीकरण होने के कारण यह कहना संगत कैसे होगा कि एक अलंकार के लिए दूसरे अलंकार ने अवसर प्रदान कर दिया। इसका उत्तर देते हुए ध्वकिार लिखते हैं कि यहाँ दो अलंकारों का एकीकरण रूप सकर नहीं है अपितु तिल–तण्डुलन्याय से संसृष्टि है। संकर का विषय वहाँ होता है जहाँ एक ही विषय में दो अलंकारों की प्रतिभा का उल्लास हो। जहाँ दोनों अलंकार का क्षेत्र एक ही हो वहाँ संकर होता है। श्लेष और व्यतिरेक का संकर वहाँ पर होगा जहाँ जिस शब्द में श्लेष हो और उसी शब्द का दूसरा अर्थ लेने से व्यतिरेक की प्रतीति होने लगे। जैसे "स हरिर्नाम्ना देवः सहरिर्वरतुरगनिवहेन" (वे हरि नाम के ही हैं किन्तु देव सुंदर घोड़ों के समूह के कारण सहरि है।) इस वाक्य में 'सहरि' शब्द से ही श्लेष का ज्ञान होता है तथा व्यतिरेक का भी यहाँ श्लेष और व्यतिरेक का संकर है किन्तु 'रक्तस्त्वं' में श्लेष का विषय 'रक्त' इत्यादि है तथा व्यतिरेक का विषय 'अशोक' (सशोक) इत्यादि शब्द है। विषय भेद होने से यहाँ संसृष्टि है संकर नहीं।

संकरवादी का पुनः प्रश्न है कि भले ही यहाँ एक शब्द से दोनों अलंकारों की प्रतीति न होती हो परन्तु एक वाक्य से तो दोनों की प्रतीति होती है। अतः यहां संकर ही है।

इसका उत्तर देते हुए ध्वनिकार लिखते है कि यदि पूर्वपक्षी एकवाक्य के आधार पर दो अलंकार की एक विषयता मानेंगे तब संसृष्टि तो कहीं भी नहीं हो सकेगी। सर्वत्र संकर ही संसृष्टि के विषय को व्याप्त कर लेगा। अतएव एक वाक्य को लेकर अलंकारों की एक विषयता नहीं मानी जा सकती।

अतः प्रस्तुत प्रकरण में (रक्तस्त्वं में) दो अलंकारों की संसृष्टि है अतः एक की अपेक्षा दूसरे के त्याग में चमत्कार है इस समीक्षा का उदाहरण युक्ति संगत है।

5. "नातिनिर्वहणैषिता'। रसनिर्वहणैकतानहृदयो यञ्च नात्यन्तं निर्वोढुमिच्छति।

पाँचवाँ प्रकार यह है कि जिस अलंकार के निर्वहण के लिए कवि सचेष्ट नहीं होता। रसनिबंधन में तत्पर कवि जब संयोगवश आए हुए अलंकार की परिसमाप्ति के लिए अधिक प्रयत्न नहीं करता उस समय वह अलंकार रस का परिपोषक हो जाता है जैसे–

कोपात् कोमललोलबाहुलतिकापाशेन बद्ध्वा दृढं
नीत्वा वासनिकेतनं दयितया सायं सखीनां पुरः।
भूयो नैवमिति स्खलत्कलगिरा संसूच्य दुश्चेष्टितं
धन्यो हन्यत एव निह्नुतिपरः प्रेयान् रुदत्या हसन्।।

(कोई नायिका सखियों से अपने प्रियतम के अपराधों का वर्णन किया करती है। सखियाँ नायक का पक्ष लेती हैं। एक बार नायिका नायक को नखक्षत आदि से विभूषित देख लेती है और पकड़कर सखियों के सामने ले आती है। इस प्रकार अपने कथन को प्रमाणित करती है। यही वर्णन करते हुए कवि कह रहा है)

अनु– प्रियतमा सायंकाल में क्रोधावेश में भरकर अपनी कोमल और चंचल बाहुलता रूपी पाश में प्रियतम को दृढतापूर्वक बांधकर अपने निवास स्थान में सखियों के सामने ले आई अपनी कल मधुर वाणी में जो कि कोप के कारण स्खलित हो रही थी उसकी दुश्चेष्टाओं को संकेत से सूचित करते हुए अर्थात् उसके नखक्षत इत्यादि चिह्नों की ओर हाथ से संकेत करते हुए सखियों से कहा कि देखो अब कभी मत कहना कि यह अपराधी नहीं है। उस समय नायिका रो रही थी और प्रियतम हँसकर अपने अपराधों को छिपाने की चेष्टा कर रहा था। उस समय प्रियतमा उसे मारने लगी। सचमुच इस प्रकार का सौभाग्य जिसे प्राप्त हो वह धन्य ही है।

यहाँ "बाहुलतिकापाशेन" में रूपक अलंकार है। किन्तु कवि ने इसका निर्वाह नहीं किया। निर्वाह न करने के कारण ही रस का परिपोष भली भाँति हो जाता है। यदि रूपक का निर्वाह किया जाता तब नायिका को व्याधवधू कहना पड़ता और वासगृह को कारागारपंजर, जो कि रस की दृष्टि से अत्यंत अनुचित होता। (अत्र हि रूपकमाक्षिप्तमनिर्व्यूढं परं रसपुष्टये।)

6. निर्व्यूढावपि चाङ्गत्वे यत्नेन प्रत्यवेक्षणम्। निर्वोढुमिष्टमपि यं यत्नादड्.गत्वेन प्रत्यवेक्षते।

निर्वहण होते हुए भी प्रयत्नपूर्वक जिसकी अंग के रूप में अपेक्षा की जावे। जहाँ पर कवि ने किसी एक अलंकार का पूर्णरूप से निर्वाह कर दिया है किन्तु ऐसी कुशलता से उसका निर्वाह किया हो कि वह पूर्ण होते हुए भी रस का अंग बन जावे वहाँ पर रस उस से परिपुष्ट होता है। उदा–

श्यामास्वङ्गं चकितहरिणीप्रेक्षणे दृष्टिपातं, गण्डच्छायां शशिनि शिखिनां बर्हभारेषु केशान्।

उत्पश्यामि प्रतनुषु नदीवीचिषु भ्रूविलासान्, हन्तैकस्थं क्वचिदपि न ते भीरु सादृश्यमस्ति।।

अनु.– हे भीरु! मुझे तुम्हारे अंग (का सादृश्य) प्रियङ्गुलताओं में, तुम्हारा दृष्टिपात चकित हरिणियों की चंचल चितवन में, तुम्हारे कपोल की कान्ति चंद्रमा में, तुम्हारे केशपाश मयूरपिच्छ में और तुम्हारे भ्रूभंग नदी की पतली–पतली तरंगों में दिखलाई पड़ती हैं (इसलिए मैं इधर–उधर मारा मारा फिरता हूँ) परन्तु खेद है कि तुम्हारा सादृश्य कहीं इकट्ठा नहीं दिखलाई देता (नहीं तो मैं उसी एक से संतोष कर लेता।) तुम भीरु ही जो ठहरी इसलिए तुमने संभवतः अपनी सारी विभूति को एक जगह नहीं रखा।)

इस समीक्षा प्रकार के पश्चात् ध्वनिकार लिखते हैं कि "स एवमुपनिबध्यमानोऽलंकारो रसाभिव्यक्तिहेतुः कवेर्भवति, उक्तप्रकारातिक्रमे तु नियमेनैव रसभड्.गहेतुः सम्पद्यते।।

यदि कवि उक्त प्रकारों का आश्रय लेकर अलंकारों का काव्य में सन्निवेश करता है तब अलंकार रस की अभिव्यक्ति में कारण हो जाते हैं। इसके प्रतिकूल यदि उक्त प्रकारों का अतिक्रमण कर दिया जावे तो वह अलंकार नियमपूर्वक रसभङ्ग में कारण बन जाते हैं।

ध्वनिकार लिखते हैं कि यहाँ रूपक आदि अलंकार रस के विषय में किस प्रकार व्यंजक होते हैं इस बात का दिग्दर्शन मात्र कराया गया है। यदि कोई अच्छा कवि इस मार्ग का अनुसरण करेगा और स्वयं इसी प्रकार के लक्षणों की कल्पना कर लेगा तथा समीक्षा के दूसरे प्रकारों को निकालेगा और उसके आधार पर सावधानी के साथ पहले बताए गए असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य को निबद्ध करने की चेष्टा करेगा, उसे सुकवि का महत्त्वपूर्ण पद सरलता से मिल जाएगा।

15.4 कारिका संख्या 20 से 22 तक की व्याख्या

(का) **क्रमेण प्रतिभात्यात्मा योऽनुस्वानसन्निभः।**

शब्दार्थशक्तिमूलत्वात् सोऽपि द्वेधा व्यवस्थितः।।2/20

अनु.– इस विवक्षितान्यपरवाच्य की जिस आत्मा का अनुस्वान के समान क्रमपूर्वक प्रतिभास होता है वह भी दो रूपों में व्यवस्थित होती है। शब्दशक्तिमूलक और अर्थशक्तिमूलक"

पूर्ववर्ती कारिकाओं में विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि के प्रथम भेद असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य पर विचार किया जा चुका है अब द्वितीयभेद का विभाजन करने के लिए ध्वनिकार ने 20 वीं कारिका लिखी है। इसका आशय यह है कि विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि की आत्मा का प्रतिभास केवल असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य में ही नहीं होता अपितु संलक्ष्य रूप में क्रमबद्धता के साथ उसी प्रकार उसका प्रतिभास होता है जिस प्रकार अनुरणन की प्रतीति होती है। रसध्वनि (असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य) में हमें पद्य के श्रवण के समकाल ही आनन्दानुभूति होती जाती है ।

उसमें हमें यह ज्ञात नहीं होता कि हम पहले शब्द सुनते हैं फिर अर्थ समझते हैं और उसके बाद आनंद की उपलब्धि होती है। इसके प्रतिकूल संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य में हमें पौर्वापर्यक्रम की स्पष्ट प्रतीति होती है कि हम पहले शब्द सुनते हैं तब वाच्यार्थ बोध होता है तदनन्तर व्यङ्ग्यार्थबोध। यही संलक्ष्यक्रम और असंलक्ष्यक्रम की प्रक्रिया में अंतर है। सलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य के भी दो भेद होते हैं– शब्दशक्तिमूलक और अर्थशक्तिमूलक।

यहाँ पर एक प्रश्न उपस्थित होता है कि जहाँ पर शब्दशक्ति से दूसरे अर्थ की प्रतीति होती है उसका यदि ध्वनि में अंतर्भाव कर लिया जाएगा तब श्लेष के विषय का अपहरण हो जाएगा। श्लेष कहीं हो ही नहीं सकेगा। इसी प्रश्न का उत्तर देने के लिए अग्रिम कारिका लिखी हैः

(का) **आक्षिप्त एवालङ्कारः शब्दशक्त्या प्रकाशते।**

यस्मिन्ननुक्तः शब्देन शब्दशक्त्युद्भवो हि सः।।21।।

यस्मादलङ्कारो न वस्तुमात्रं यस्मिन् काव्ये शब्दशक्त्या प्रकाशते स शब्दशक्त्युद्भवो ध्वनिरित्यस्माकं विवक्षितम्। वस्तुद्वये च शब्दशक्त्या प्रकाशमाने श्लेषः।।

अनु (कारिका 21) जिसमें शब्द के द्वारा न कहा हुआ किन्तु शब्दशक्ति क द्वारा आक्षिप्त ही किया हआ अलङ्कार प्रकाशित होता है वह शब्दशक्त्युद्भव ध्वनि होती है।।।

अनु (वृत्ति) जिससे अलंकार ही, वस्तुमात्र नहीं, जिस काव्य में शब्दशक्ति से प्रकाशित होता है वह शबदशक्त्युद्भव ध्वनि होती है। यह हमारा कहने का मन्तव्य है–"जहाँ दोनों वस्तु शब्दशक्ति से प्रकाशित होती है। वहाँ श्लेष होता है।"

कारिका का आशय यह है कि जिस काव्य में किसी शब्द के बल पर केवल वस्तु की ही व्यंजना न हो किन्तु किसी अलंकार की भी व्यंजना हो उसे शब्दशक्त्युद्भवध्वनि कहते हैं। यदि शब्दशक्ति में दो वस्तु परक अर्थ प्रकाशित हो ता वहाँ पर श्लेष होता है।

कहने का तात्पर्य यह है कि शब्दशक्तिमूल ध्वनि में भी शब्द के बलपर भी दूसरे अर्थ की प्रतीती होती है और श्लेष में भी शब्द के बल पर ही द्वितीय अर्थ की प्रतीति होती है। अंतर केवल इतना है कि उनमें से एक अर्थ तो वस्तुपरक होता ही है। किन्तु दूसरा अर्थ भी यदि केवल वस्तु परक ही हो तो वह श्लेष का विषय है। और यदि दूसरा अर्थ अलंकार परक हो अथवा अलंकारमिश्रित वस्तुपरक हो तो उसे शब्दशक्तिमूलक ध्वनि कहते है।

(वस्तुद्वये च शब्दशक्त्या प्रकाशमाने श्लेषः)

श्लेष का उदाहरण–

येन ध्वस्तमनोभवेन बलिजित्कायः पुरास्त्रीकृतो
यश्चोद्वृत्तभुजङ्गहारवलयो गङ्गां च योऽधारयत्।
यस्याहुः शशिमच्छिरो हर इति स्तुत्यं च नामामराः,
पायात् स स्वयमन्धकक्षयकरस्त्वां सर्वदोमाधवः।।

शब्दशक्ति के आधार पर इस पद्य के दो अर्थ निकलते हैं एक विष्णुपरक और दूसरा शिवपरक।

विष्णुपरक अर्थः– (अभवेन येन) अजन्मा जिसने (अनः ध्वस्तम्) शकरट अर्थात् शकटासुर को नष्ट कर डाला, (पुरा) पहिले अमृत हरण के समय (बलिजित् कायः) बलि राजा को अथवा बलवान् दैत्यों को जीतने वाले शरीर को (स्त्रीकृत) मोहिनीरूप (स्त्री) बना डाला (यश्च) और जो (उद्वृत्तभुजङ्गहा) मर्यादा का अतिक्रमण करने वाले कालियनाग को मारने वाले है, (खलयः) जिनमें रव–वेद का लय होता है (अथवा रवे शब्दे लयो यस्य–अकारो विष्णुः–अकार रूप शब्द में जिसका लय होता है) (यः, अगं गां च अधारभूत्) जिसने गोवर्धन पर्वत और वराह अवतार में पृथिवी को धारण किया। (अमराः) देवता लोग (यस्य) जिसका (स्तुत्यं नाम) प्रशंसनीय नाम (शशिमच्छिरो हर इति आहुः) शशि–चन्द्रमा को मथ देने वाले राहु का शिर काटने वाला कहते है। (अंधकक्षयकरः) अंधक अर्थात् मौसलपर्व में यादवों का

नाश करने वाले और (सर्वदः) सब मनोकामनाओं को पूर्ण करने वाले (स माधवः) विष्णु (त्वां पायात्) तुम्हारी रक्षा करें।

शिवपरक अर्थः— (ध्वस्तमनोभवेन येन) कामदेव को नष्ट करने वाले जिन भगवान् शंकर ने (पुरा) त्रिपुरदाह के समय (बलिजित्कायः) बलि को जीतने वाले विष्णु के शरीर को (अस्त्रीकृतः) बाण बनाया, (यश्चोद्‌वृत्तभुजङ्गहारवलयः) जो महाभयानक भुजङ्गों—सर्पों को हार और वलय के रूप में धारण करते हैं, (गंगां च योऽधारयत्) जिसने गंगा को धारण किए हुए है, (शशिमच्छिरः) जिनका मस्तक शशिमत्—चंद्रमा से युक्त है (अमराः यस्य स्तुत्यं नाम हर इत्याहुः) देवता लोग जिनका प्रशंसनीय (हर'नाम देते हैं (अंधकक्षयकरः) अंधकासुर का विनाश करने वाले वे (उमाधवः) पार्वती के पति शंकर (सर्वदा) सदैव (त्वां पायात्) तुम्हारी रक्षा करें।।

यहाँ प्रतीतिगोचर होने वाला दूसरा अर्थ वस्तुमात्र है और अभिधाशक्ति से प्रकाशित हो रहा है अतः यहाँ श्लेष अलंकार है क्याकि दोनों अर्थ वस्तुरूप है। यहाँ शब्दशक्तिमूलक संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य विवक्षितान्य पर वाच्य का विषय नहीं है। जहाँ दूसरे अर्थ से अलंकार की प्रतीति हो वहाँ पर शब्दशक्तिमूलक ध्वनि होती है।

इस कारिका में आए हुए 'आक्षिप्त' पद से कौनसा तत्त्व ध्वनि के क्षेत्र से बाह्य हो जाता ह। यह समझाने के लिए ध्वनिकार पूर्वपक्ष उपस्थित करते हैं।

पूर्वपक्षी का मत है कि भट्टोद्‌भट्ट ने जहाँ दूसरा अर्थ अलंकार हो वहाँ भी श्लेष माना है न कि केवल पर वस्तुद्वय की प्रतीति में ही, फिर शब्दशक्तिमूलक ध्वनि के लिए अवसर ही कहाँ रह जाएगा। इसका उत्तर देत हुए ध्वनिकार कहते हैं कि कारिका में आए हुए 'आश्रित' पद पर ध्यान देने से इस प्रश्न का उत्तर स्वतः समझ में आ जाएगा। आक्षिप्त पद का आशय यह है कि जहाँ पर शब्दशक्ति से दूसरा अलंकार साक्षात् वाच्य होकर प्रकाशित हो रहा हो वह सब श्लेष का विषय होता है। इसके प्रतिकूल जहां पर शब्दशक्ति के सामर्थ्य से दूसरे अलंकार का आक्षेप कर लिया जावे और वह वाच्य न होकर व्यङ्ग्य ही हो वहाँ पर ध्वनि का विषय होता है।

शब्दशक्ति से साक्षात् (वाच्यरूप से भी) दूसरे अलंकार की प्रतीति का उदाहरणः—

तस्या विनापि हारेण निसर्गादेव हारिणौ।

जनयामासतुः कस्य विस्मयं न पयोधरौ।।

अनु— हार के बिना भी स्वभावतः ही (मनो) हारी उसके स्तन किस (के मन) में विस्मय उत्पन्न नहीं करते।

यहाँ अभिधाव्यापार से ही श्लेष और विरोधालंकार दोनों ही वाच्य हैं इसलिए यह संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य के शब्दशक्तिमूलक ध्वनि का विषय नहीं है। किन्तु वाच्य अलकार (श्लेष अथवा विरोध) से शृङ्गार रस का व्यभिचारी भाव विस्मय अभिव्यक्त हो रहा है अतः असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यध्वनि का तो यह विषय है।

इस प्रकार आक्षिप्त पद का स्वारस्य यह हुआ है कि जहाँ अलंकार वाच्य न होकर आक्षिप्त शब्दसामर्थ्य से व्यङ्ग्य हो वहाँ शब्दशक्तिमूलध्वनि का विषय है और जहाँ वस्तुद्वय या अलङ्कारान्तर वाच्य हो वहाँ श्लेष का विषय होता है।

कारिका में आए हुए 'एव' पद का स्वारस्य यह है कि वह आक्षिप्त अलंकार भी यदि शब्दांतर से अभिहितस्वरूप (अर्थात् वाच्य) हो जावे तब वह शब्दशक्त्युद्‌भव ध्वनि का विषय नहीं है। उसे आक्षिप्त ही रहना चाहिए कभी भी वाच्य न हो। यदि वह शब्दांतर से वाच्य हो गदा तब वक्रोक्ति आदि वाच्यालंकार का ही विषय बनेगा ध्वनि का नहीं। जैसे —

दृष्ट्या केशव गोपरागहृतया किञ्चिन्न दृष्टं मया

तेनैव स्खलितास्मि नाथ पतितां किन्नाम नालम्बसे।

एकस्त्वं विषमेषु खिन्नमनसां सर्वाबलानां गति—

गोप्यैवं गदितः सलेशमवताद् गोष्ठे हरिर्वश्चिरम् ।।

(अनु) हे केशव! गोधूलि से नष्ट की हुई दृष्टि से मैं कुछ नहीं देख पायी; इसीलिए मैं गिर गई हूँ, मुझ गिरी हुई को तुम सहारा क्यों नहीं देते? विषय स्थानों में खिन्नमनवाले समस्त निर्बलों की शरण तुम्हीं हो। इस प्रकार गोष्ठ में गोपी कि द्वारा विशेष अभिप्राय से कहे हुए भगवान् आप लोगों की बहुत समय तक रक्षा करें।

दूसरा अर्थ–(सलेश पद के सामर्थ्य से) हे केशव! हे गोप! प्रेम से आकृष्ट की हुई दृष्टि के कारण मुझे उचित अनुचित का कुछ ज्ञान नहीं रहा, इसीलिए मैं खण्डित चरित्रवाली बन गई हूँ। क्या कारण है कि तुम मेरे पतित्व का आश्रय नहीं लेते हो अर्थात् मेरे पति नहीं बन पाते हो ? एकमात्र तुम्हीं विषमबाण कामदेव के द्वारा खिन्न किए हुए मनवाली सब अबलाओं को शरण देते हो। इस प्रकार गोशाला में गोपी द्वारा लेशपूर्वक कहे गए कृष्ण तुम्हारी रक्षा करें।

यहाँ "केशवगोपरागहृतया" 'पतित' आदि पद अनेकार्थक हैं। प्रकरण द्वारा अभिधा की शक्ति एक अर्थ में नियंत्रित हो गई द्वितीय अर्थ की संगति प्रकरण न होने के कारण संगत नहीं हो रही है। इसके बाद जब 'सलेशम्' पद परविचार किया जाता है तब वह एकार्थ में नियंत्रित अभिधा की शक्ति को कुण्ठित कर देता है तथा अभिधा प्रतिसूत सी होकर दोनों अर्थों का बोध वाच्य रूप में करवा देती है। अतः यहाँ वाच्य श्लेष ही है शब्दशक्तिमूलक ध्वनि नहीं है। इस प्रकार यह सिद्ध हो गया कि व्यङ्ग्य अलंकार को कभी–कभी कोई एक शब्द ही वाच्य बना देता है जिससे उसमें ध्वनिकाव्यत्व की योग्यता जाती रहती है। इसलिए कारिका में 'एव' पद देकर ध्वनि कार ने जोर देकर कहा है कि 'अलङ्कार' आक्षिप्त ही होने पर ध्वनि का विषय बनता है।

"यत्र तु सामर्थ्याक्षिप्तं सदलङ्.कारान्तरं शब्दशक्त्या प्रकाशते स सर्व एव ध्वनेविषयः। यथा–

"अत्रान्तरे कुसुमसमययुगमुपसंहरन्नजृम्भत ग्रीष्माभिधानः फुल्लमल्लिका–धवलाट्टहासो महाकालः ।।

अनु जहाँ पर सामर्थ्य के द्वारा आक्षिप्त हुआ होकर दूसरा अलंकार शब्दशक्ति के द्वारा प्रकाशित हो रहा हो वह सब ध्वनि का ही विषय होता है जैसे

"इसी बीच कुसुम समय युग का उपसंहार करते हुए अट्टों को धवलित करने वाली फुल्लमल्लिकाओं के विकासवाला ग्रीष्मनाम का महाकाल प्रवृत्त हुआ।"

(यहाँ पर दूसरे अर्थ की व्यंजना होती है–सतयुग इत्यादि सुमनोहर समयका उपसंहार कर फुल्लमल्लिका के समान श्वेत अट्टहासवाले असुरों के लिए ग्रीष्म के समान प्रचण्ड महाकाल (भगवान्शिव) का प्रादुर्भव हुआ)।

श्लेष और शब्दशक्तिमूलध्वनि का अंतर

श्लेष की स्थिति

1. जहाँ शब्दाशक्ति (अभिधा) से वस्तुद्वय की प्रतीति होती है। वह श्लेष का विषय है–जैसे "येन ध्वस्तमनों भवेन" उदाहरण में।
2. जहाँ शब्द–शक्ति से साक्षात् वाच्यरूप से अलङ्कारान्तर की प्रतीति होती है वह भी श्लेष का विषय है–जैसे "तस्याविनापि हारेण उदाहरण में।
3. अनेकार्थक शब्दस्थल में जहाँ शब्द की शक्ति को एक अर्थ में नियंत्रित करने का कोई कारण स्थित न हो वहाँ भी श्लेष होता है। यथा–"येन ध्वस्त" उदाहरण में अभिधा की शक्ति नियंत्रित नहीं होती अतः दोनों अर्थ अभिधा से ही ज्ञात होते हैं।
4. जहाँ द्वितीय अर्थ का बोध अभिधा से ही कराने के लिए कोई साधन प्रमाण उपस्थित हो वहां भी श्लेष अलंकार ही होता है ध्वनि नहीं। जैसे–तस्या विनापि हारेण" इस उदाहरण में 'अपि' शब्द द्वितीय अर्थ को अभिधा से बतलाने में साधक प्रमाण है। यदि यहाँ 'अपि' शब्द नहीं होता तो यहां ध्वनि होती। यहाँ असंलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य ध्वनि है शब्द शक्त्युद्भव नहीं।

5. जहाँ वस्तु रूप अर्थ से भिन्न अलंकार आश्रित होकर भी यदि किसी शब्दान्तर से उक्त हो जाता है वह शब्दशक्त्युद्भव ध्वनि का विषय न हाकर वाच्यश्लेष का ही विषय होता है–जैसे "दृष्टया केशव गोपरागहृतया–इस उदाहरण में 'सलेश' पद से श्लेष वाच्य हो गया है।

6. जहाँ दोनों अर्थ प्रस्तुत हों, दोनों के अर्थ भिन्न–भिन्न हो, दोनों अर्थ समान कोटि के हों और उनमें संयोग इत्यादि द्वारा अभिधा का नियंत्रण न हो सके तो वहां पर श्लेष होता है।

शब्दशक्त्युद्भव ध्वनि की स्थिति

1. जहाँ सामर्थ्य से आश्रित होकर ही शब्दशक्ति से अलङ्कारान्तर की प्रतीति होती है वह सब ध्वनि का विषय है।

2. जहाँ प्रयुक्त शब्दों से प्राकरणिक अर्थ की पर्ति हो जावे, उस अर्थ को अपनी पूर्ति के लिए दूसरे अर्थ की अपेक्षा भी न हो, उस समय सहृदयों की जो दूसरे अर्थ की प्रतीति होने लगती है और वही अर्थ विशेष रूप से रमणीयता में हेतु होता है। उसे शब्दशक्तितूलक ध्वनि कहते हैं।

उदाहरण–"अत्रान्तरे कुसुमसमयुग..."

यहाँ प्रकरण के द्वारा ग्रीष्मकालीन वर्णन प्रकृत है। शब्द की अभिधा शक्ति इसी अर्थ में नियंत्रित हो गई। द्वितीय अर्थ की प्रतीति व्यंजना से हुई है (महाकाल शिव परक अर्थ)। द्वितीय अर्थ का बोध शब्दशक्ति से होता है इसलिए इसे शब्दशक्तिमूलक कहते हैं। इसके द्वारा ही प्रथम एवं द्वितीय अर्थ में उपमानोपमेय भाव रुप उपमा का उत्थान होता है। इसीलिए इसे अलंकार ध्वनि कहते हैं।

शब्दशक्तिमूलक संलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य ध्वनि में उपमा से अतिरिक्त विरोध, व्यतिरेक आदि अलंकार भी हो सकते हैं। ध्वनिकार लिखते हैं–

"एवमन्येऽपि शब्दशक्तिमूलानुस्वानरूपव्यङ्ग्यध्वनिप्रकाराः सन्ति ते सहृदयैः स्वयमनुसर्तव्याः। इह तु ग्रन्थविस्तरभयान्न तत्प्रपंचः कृतः।।21।।

(का) **अर्थशक्त्युद्भवस्त्वन्यो यत्रार्थः स प्रकाशते।**

यस्तात्पर्येण वस्त्वन्यद् व्यनक्त्युक्तिं विना स्वतः।।22।।

वृत्ति–यत्रार्थः स्वसामर्थ्यदर्थान्तरमभिव्यनक्ति शब्दव्यापारं विनैव सोऽर्थशक्त्युद्भवो नामानुस्वानोपमव्यङ्ग्यो ध्वनिः।।

अनु– अर्थशक्त्युद्भव (एक) अन्य प्रकार है जिसमें वह अर्थ प्रकाशित होता है जो स्वतः तात्पर्य से बिना ही उक्ति के दूसरी वस्तु को व्यक्त कर देता है।।22।।

(वृत्ति) जहाँ अर्थ अपने सामर्थ्य से ही शब्द व्यापार के बिना ही अर्थान्तर को अभिव्यक्त कर देते हैं वह अर्थशक्त्युद्भव नामक अनुरणनोपम व्यङ्ग्य ध्वनि होती है, जैसे–

एवंवादिनि देवर्षौ पार्श्वे पितुरधोमुखी।

लीलाकमलपत्राणि गणयामास पार्वती।।

अनु.– जिस समय देवर्षि नारद इस प्रकार (पार्वती के विवाह के विषय में) बातचीत कर रहे थे, उस समय पिता के पास बैठी हुई नीचे को मुख किए हुए पार्वती लीला–कमलपत्रों को गिन रही थी।"

यहाँ पर लीला–कमलपत्रों की गणना गौण होकर बिना ही शब्दव्यवहार के पार्वती के लज्जारूप एक दूसरे अर्थ की अभिव्यक्ति करता है। यह लज्जा एक व्यभिचारी भाव है। साहित्यदर्पणकार ने यहां 'अवहित्था' नामक व्यभिचार भाव को व्यङ्ग्य माना है।

यहाँ एक प्रश्न उपस्थित होता है कि व्यभिचारिभाव की प्रतीति असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य ध्वनि का विषय है।

यहाँ संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यध्वनि में उसका उदाहरण देना कहां तक समीचीन होगा ? इसका उत्तर देते हुए ध्वनिकार लिखते हैं कि–

"यतो यत्र साक्षाच्छब्दनिवेदितेभ्यो विभवानुभावव्यभिचारिभ्यो रसादीनां प्रतीतिः स तस्य केवलस्य मार्गः।।

अर्थात् असंलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्यध्वनि वहाँ होती है जहाँ पर साक्षात् शब्द के द्वारा निवेदन किए हुए विभाव अनुभाव और संचारी भावों के बल पर रस इत्यादि की प्रतीति होती है। जैसे–'कुमारसंभव' के वंसत वर्णन प्रसंग में वासन्ती पुष्पों के आभूषणों से अलङ्कृत देवी पार्वती (आलम्बनविभाव) के आगमन से लेकर कामदेव के शरसन्धान पर्यन्त (अनुभव वर्णन) और धैर्यच्युत शिव की चेष्टाविशेषवर्णनादि (व्यभिचारिभाव) साक्षात् शब्द निवेदित है।

"एवंवादिनि देवर्षो" इत्यादि पद्य में तो (लीलाकमल के पत्रों की गणना द्वारा) सामर्थ्य से आक्षिप्त (लज्जारूप) व्यभिचारिभाव द्वारा रस की प्रतीति होती है साक्षात् शब्दनिवेदन के द्वारा नहीं। इसलिए रसध्वनि से भिन्न संलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य रूप ध्वनि का दूसरा ही प्रकार है।

जहाँ शब्द व्यापार की सहायता से अर्थ दूसरे अर्थ को अभिव्यक्त करता है। वह इस अर्थशक्त्युद्भव संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यध्वनि का विषय नहीं होता (वहां गुणीभूत व्यङ्ग्य होता है)।

जैसेः– **संकेतकालमनसं विटं ज्ञात्वा विदग्धया।**

हसन्नेत्रार्पिताकूतं लीलापद्मं निमीलितम्।।

अनु–विट को संकेत–काल जानने की इच्छा करते हुए जानकर चतुर नायिका ने हंसते हुए नेत्रों से अभिप्राय सूचक संकेत देते हुए लीला कमल को सिकोड़ दिया।

यहाँ लीलाकमलनिमीलन (द्वारा संकेतकाल) की व्यंजकता (नेत्रार्पिताकूतं पद ने) शब्द द्वारा ही सूचित कर दी। अतः यहाँ अर्थशक्त्युद्भव ध्वनि का विषय नहीं है, अपितु गुणीभूतव्यङ्ग्य का उदहारण है।

15.5 पारिभाषिक शब्दावली

विवक्षितान्यपरवाच्यध्वनि – के प्रथमतः दो भेद किए गए हैं। 1. असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य ध्वनि तथा 2 संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य ध्वनि।

रसादि भेद – रसादि भेदों में रस, भाव, रसाभास, भावाभास, भावोदय, भावसन्धि, भावशबलता और भावप्रशम आदि भेद होते हैं।

"आसादितालोका" यहाँ बहुव्रीहिसमास है और यह पद बुद्धि का विशेषण है इसका विग्रह इस प्रकार होगा सब रसों में प्राप्त कर लिया गया है आलोक जिसके द्वारा –"सर्वेषु रसादिष्वासादित आलोकोऽवगमः सम्यग्व्युत्पत्तिर्ययेति।।

आलोक का अर्थ है अवगम अर्थात् व्युत्पत्तिः। आशय यह है कि यदि थोड़ा सा संकेत कर दिया जाएगा तब सहृदयों को समझने की योग्यता उत्पन्न हो जाएगी और वे उसी आदर्श पर न बतलाई हुई बात को भी समझ सकेंगे।

समीक्षा – समीक्षा रूपकादि अलङ्कारवर्ग के अङ्त्व का साधन है।

15.6 अभ्यासार्थ प्रश्न

न 1 असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य के भेदों की अनन्तता को समझाइए।

उत्तर कारिका से 2/12 की व्याख्या देखें।

प्रश्न 2 ध्वन्यात्मभूत शृङ्गार में किस प्रकार के अलंकारों का सन्निवेश नहीं करना चाहिए? विस्तार से लिखें।

उत्तर कारिका सं. 2/14, एवं 15 की व्याख्या देखें।

प्रश्प 3 रसादिध्वनि से अलंकारों के सन्निवेश की कसौटी एवं समीक्षा के प्रकारों का उदाहरणपूर्वक उल्लेख करें।

उत्तर कारिका सं. 2/16 से लेकर कारिका संख्या 2/19 तक की व्याख्या देखें।

प्रश्न 4 संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य के भेदों का सामान्य उल्लेख करते हुए शब्दशक्त्युद्भवध्वनि एवं श्लेष के विषय की भिन्नता स्पष्ट करें।

उत्तर कारिका संख्या 2/20 एवं 21 की व्याख्या देखें।

15.7 सारांश

इस इकाई में हमने ध्वन्यालोक के द्वितीय उद्द्योत की कारिका संख्या 12 से 22 तक की व्याख्या एवं उनमें आने वाले उद्धरणों की समीक्षा की ।ध्वन्यालोक ध्वनि सिद्धांत का महनीय ग्रंथ है। इसके द्वितीय उद्द्योत में ध्वनि भेदों की विस्तार से चर्चा की गई है। प्रस्तुत इकाई में असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य का एक भेद मानने के पीछे क्या युक्ति है इस तथ्य का ज्ञान प्राप्त किया । इसके विवेचन के साथ रसादिध्वनि में अलंकारों के सन्निवेश की क्या युक्ति एवं प्रकार है–इसका विस्तार से विवेचन किया तथा संलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य के भेदों की ।

15.8 संदर्भ ग्रंथ सूची

1. ध्वन्यालोक (लोचन सहित), टीकाकार डॉ. रामसागर त्रिपाठी, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली–पटना–वाराणसो, 1989.
2. ध्वन्यालोक, व्या. आचार्य विश्वेश्वर सिद्धान्तशिरोमणी, ज्ञानमण्डल लिमिटेड, वाराणसी, 2009.
3. आनन्दवर्धन ,डॉ. रेवाप्रसाद द्विवेदी, मध्य प्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, भोपाल प्र.सं., 1972.

इकाई 16

ध्वन्यालोक (द्वितीय उद्योत)

(कारिका संख्या 23 से 33)

इकाई की रूपरेखा

16.0 उद्देश्य
16.1 प्रस्तावना
16.2 कारिका संख्या 2/23 से 26 तक की व्याख्या
16.3 कारिका संख्या 2/27 से 30 तक की व्याख्या
16.4 कारिका संख्या 2/31 से 33 तक की व्याख्या
16.5 पारिभाषिक शब्दावली
16.6 अभ्यासार्थ प्रश्न
16.7 सारांश
16.8 संदर्भ ग्रंथ सूची

16.0 उद्देश्य

इस इकाई के माध्यम से यह जाना जा सकेगा कि ध्वन्यालोक द्वितीय उद्द्योत की कारिका संख्या 23 से 33 तक क्या विषय वस्तु है? कारिकाओं एवं उनमें आए हुए उद्धरणों की व्याख्या से विषय वस्तु का मर्म समझा जा सकेगा।

16.1 प्रस्तावना

आनन्दवर्धन ने ध्वन्यालोक के द्वितीय उद्द्योत में मुख्य रूप से ध्वनि भेदों का विस्तार से विवेचन किया है। अभिधामूल ध्वनि एवं लक्षणामूल ध्वनि ये दो भेद ध्वनि के मुख्य हैं। लक्षणामूल ध्वनि के अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य और अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य ये दो भेद किए गए हैं। लक्षणामूल ध्वनि को ही अविवक्षितवाच्य ध्वनि कहा जाता है। अभिधामूल ध्वनि जिसका अपर नाम विवक्षितान्यपरवाच्यध्वनि है– के मुख्यतः पहले दो भेद किए गए हैं। 1. असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य तथा 2. संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य। असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य को ही रसादिध्वनि कहा जाता है इसके अंतर्गत रस, भाव, रसाभास, भावाभास, भावोदय, भावसंधि, भावशबलता और भावशांति का ग्रहण होता है– रस्यते इति रसः" इस व्युत्पत्ति के अनुसार ये सभी रस कहे जाते हैं। यदि इन सबके भेदों की गणना की जावे तो अनंत होगी इसलिए ध्वनिकार ने भेद गणना में असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य का एक ही भेद गिना है। सलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य के भी प्रारंभ में दो भेद किए गए हैं एक शब्दशक्त्युद्भव और दूसरा अर्थशक्त्युद्भव है। प्रायः परवर्ती आचार्यों ने इन दोनों भेदों के अतिरिक्त उभयशक्त्युत्थ नाम से संलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य का तीसरा भेद भी स्वीकार किया है। ध्वनिकार ने द्वितीय उद्द्योत की 23वों कारिका में संकेत रूप में यही कहा है। वृत्ति में इस भेद को पूर्णतः स्वीकार भी कर लिया है। (23वीं कारिका की व्याख्या से यह ज्ञात हो जाएगा)। शब्दशक्त्युद्भव में वस्तु ध्वनि और अलंकार ध्वनि दो भेद, अर्थशक्त्युद्भव के 12 भेद और उभयशक्त्युद्भव का एक भेद इस प्रकार संलक्ष्यक्रम के कुल 15 भेद और एक असंलक्ष्यक्रम मिलकर 16 भेद, विवक्षितान्यपरवाच्य (अभिधामूलध्वनि) और अविवक्षितवाच्य (लक्षणामूलध्वनि) के दो भेद इस प्रकार 18 भेद होते हैं। प्रस्तुत प्रकरण में अर्थशक्त्युद्भव ध्वनि के भेदों के विषय में विस्तार से विवेचन किया जा रहा है।

16.2 कारिका संख्या 2/23 से 26 तक की व्याख्या

तथा च–

(का) **शब्दार्थशक्त्याक्षिप्तोऽपि व्यङ्ग्योऽर्थः कविना पुनः।**
यत्राविष्क्रियते स्वोक्त्या सान्यैवालङ्कृतिर्ध्वनेः।।2/23

वृत्ति—शब्दशक्त्या, अर्थशक्त्या, शब्दार्थशक्त्या वाक्षिप्तोऽपि व्यङ्ग्योऽर्थः कविना पुनर्यत्र स्वोक्त्या प्रकाशीक्रियते सोऽस्मादनुस्वानोपमव्यङ्ग्याद् ध्वनेरन्य एवालङ्कारः।

अलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यस्य वा ध्वनेः सति सम्भवे स तादृगन्योऽलङ्कारः।

अनु.— और इसी से शब्दार्थशक्ति से आक्षिप्त भी व्यङग्य अर्थ कवि के द्वारा जहां पुनः अपनी उक्ति के द्वारा ही आविष्कृत कर दिया जाता है। वह ध्वनि से भिन्न अन्य ही (वस्तु) अलङ्कार होता है।।23।।

शब्दशक्ति के द्वारा, अर्थशक्ति के द्वारा अथवा शब्दार्थशक्ति के द्वारा आक्षिप्त भी व्यङ्ग्य अर्थ कवि के द्वारा जहाँ फिर से अपनी उक्ति से प्रकट कर दिया जाता है। वह इस अनुस्वानोपम व्यङ्ग्य ध्वनि से और ही (श्लेष आदि) अलंकार होता है। यदि संभव हो तो अलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य ध्वनि का वह वैसा (विशेष चमत्कारजनक) अलंकार होता है।

इस कारिका में पूर्व संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य ध्वनि के दो भेद किए गए थे (1) शब्दशक्त्युत्थ और (2) अर्थशक्त्युत्थ इस कारिका में इस प्रकरण का उपसंहार भी किया गया है तथा और नए प्रकार (शब्दार्थशक्तिमूलक) की सूचना भी दी गई है। इस प्रकार एक ही यत्न से तीनों कार्य हो जाएंगे इसी लिए वृत्तिकार ने कारिका के पहले 'तथा च' पद का उपक्षेप किया है। 'तथा च' का अर्थ है 'पिछली बातें तथा कुछ और'। इस का आशय है कि उक्ति दोनों प्रकारों के द्वारा इस तृतीय प्रकार को भी समझ लेना चाहिए। कारिका में आए हुए 'शब्दार्थ' शब्द में एकशेष द्वन्द्व है इसका विग्रह इस प्रकार होगा—शब्दश्च अर्थश्च—इति शब्दार्थौ इतने विग्रह से शब्दशक्त्युत्थ तथा अर्थशक्त्युत्थ और फिर "शब्दार्थौ च शब्दार्थौ चेत्यैकशेषः" इस प्रकार 'शब्दार्थौ', पद से उभयशक्त्युत्थरूप तृतीय भेद का प्रतिपादन किया है।

कारिका में आए हुए "सान्यैवालङ्कृतिर्ध्वनेः" की व्याख्या वृत्तिकार ने दो प्रकार से की है। एक ध्वनेः इस पद को पंचम्यन्त मानकर दूसरी "ध्वनेः" को षष्ठ्यन्त मानकर। यदि यहाँ पंचम्यन्त मानने पर इस का अर्थ होगा—वह ध्वनि से भिन्न अन्य ही अलंकार होता है" वह ध्वनि नहीं होती अपितु श्लेष इत्यदि अलंकार होता है। यहाँ ध्वनि को संलक्ष्यक्रम का बोधक मानकर अर्थ किया है—सोऽस्मादनुस्वानोपमव्यङ्ग्याद् ध्वनेरन्य एवालङ्कारः।

दूसरी व्याख्या में ध्वनि कोषष्ठ्यन्त और असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य का बोधक मानकर अर्थ किया है—अलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्स्य वा ध्वनेः सति सम्भवे स तादृगन्योऽलङ्कारः "अर्थात् वहाँ पर अलक्ष्यक्रम रसादिध्वनि अलङ्कार्य के रूप में स्थित होती है और उसका अलंकार वह द्वयर्थक शब्दों के बल पर आने वाला व्यङ्ग्यार्थ होता है। वह व्यङ्ग्यार्थ यद्यपि अलंकार होता है तथापि वह वाच्यालंकारों की अपेक्षा भिन्न ही होता है क्योंकि उसमें लोकोत्तर चमत्कार का आधिक्य होता है।

1. शब्दशक्ति से आक्षिप्त (शब्दशक्त्युद्भव व्यङ्ग्य) स्वशब्द से कथित होने से गुणीभूत व्यङ्ग्य और श्लेषालङ्कार प्रधानता का उदाहरणः—

वत्से मा गा विषादं श्वसनमुरुजवं सन्त्यजोर्ध्वप्रवृत्तं

कम्पः को वा गुरुस्ते भवतु बलभिदा जृम्भितेनात्र याहि।

प्रत्याख्यानं सुराणामिति भयशमनछद्मना कारयित्वा

यस्मै लक्ष्मीमदाद् वः स दहतु दुरितं मन्थमूढां पयोधिः।।

(समुद्रमंथन के अवसर पर जब लक्ष्मी जी प्रकट हुई तब वे अत्यंत भयभीत थी और यह निश्चय नहीं कर पा रही थी कि किधर जावें किधर न जावें। उस समय समुद्र ने इन शब्दों के द्वारा लक्ष्मी को विष्णु की ओर प्रेरित कर दिया। प्रकट रूप में तो मानों समुद्र लक्ष्मी के त्रास को दूर कर रहा था किन्तु अप्रकट रूप में उसका अर्थ देवताओं की ओर से लक्ष्मी के मन को पृथक् करना था)

(अनु) समुद्र ने कहा—हे बेटी तुम विषाद को मत प्राप्त होओ (द्वितीय अर्थ विषपान करने वाले शंकर जी का वरण मत करो) तुम तीव्रगति से चलने वाली लंबी उसासों को बंद करे (द्वितीय **अर्थ**—तीव्र गति वाले भयंकर वायु और ऊर्ध्वज्वलनस्वभाववाले

भयङ्कर अग्निदेवता की बात छोड़ दो), यह इतना काँप क्यों रही हो और शक्ति को नष्ट करने वाली इन जँभाइयों को जरा बंद करो (द्विअर्थ वरूण और ब्रह्मा तो तुम्हारे गुरु–पितृ सदृश हैं और इन्द्र को भी छोड दो) इस प्रकार भय के प्रशमन के बहाने देवताओं का प्रत्याख्यान करवाकर समुद्र ने मंथन के कारण मूढ़ लक्ष्मी जिन भगवान् को प्रदान कर दी वे भगवान् तुम्हारे पापों को दूर करें।

यहाँ देवताओं का प्रत्याख्यान का बोधक अर्थ (जो यहाँ द्वितीय अर्थ के रूप में दिया गया है) व्यङ्ग्य होता किन्तु "भय शमनछद्मना" में छद्म शब्द द्वारा कवि ने उसकी व्यङ्ग्यता को वाच्य बना दिया। शब्दशक्ति के बल पर आई हुई व्यञ्जना को कवि ने स्वयं अभिहित कर दिया। अतः यहां संलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य ध्वनि न होकर वाच्य अलंकार श्लेष ही है।

2. अर्थशक्ति के बल पर अधिगत व्यङ्ग्य के शब्द से कथित होने पर गुणीभूत और श्लेषालङ्.कार प्रधानता का उदाहरण –

अम्बा शेतेऽत्र वृद्धा परिणतवयसामग्रणीरत्र तातो

निःशेषागारकर्मश्रमशिथिलतनुः कुम्भदासी तथात्र।

अस्मिन् पापाहमेका कतिपयदिवसप्रोषितप्राणनाथा,

पान्थायेत्थं तरुण्या कथितमवसरव्याहृतिव्याजपूर्वम्।।

(कोई पथिक रात्रि में निवास–स्थान प्राप्त करने की इच्छा प्रकट कर रहा है। इसका उत्तर देते हुए स्वयंदूतिका नायिका कह रही है)–

अनु.– यहाँ पर मेरी मां सोती है जो कि बिल्कुल वृद्धा है, यहाँ वृद्धों में अग्रगण्य मेरे पिताजी सोते हैं। यहाँ मेरी दासी सोती है जो घर का समस्त कार्य करते–करते थक जाती है और जिसका शरीर पूर्णतया शिथिल पड़ जाता है। इस (कमरे) में पापिनी मैं अकेली ही सोती हूँ क्योंकि मेरे प्राणनाथ कुछ ही दिन से परदेश गए हुए हैं। इस प्रकार तरुणी ने अवसर की उक्ति के बहाने से अपना अभिप्राय प्रकट कर दिया।"

यहाँ तरुणी की सम्भोगेच्छा और अनिर्बन्ध यथेष्ट सम्भोग के अवसर का सूचनरूप व्यङ्ग्य है। प्रत्येक पद से ज्ञात अर्थ व्यञ्जक है। यहाँ ऐसा कोई शब्द नहीं है जिसके परिवर्तन से व्यञ्जना जाती रहे अतः यहाँ अर्थशक्ति से व्यङ्ग्य का बोध हो रहा है। किन्तु कवि ने "अवसरव्याहृतिव्याजपूर्वम्" पद से उसे वाच्य बना दिया। अतःयह संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य अथवा असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य ध्वनि का उदाहरण नहीं रहा अपितु व्यङ्ग्य के गुणीभूत और अलंकार के प्रधान होने से श्लेष का उदाहरण बन गया है।

3. उभयशक्ति से आक्षिप्त (उभयशक्त्युत्थ) व्यङ्ग्य जहाँ शब्द से कथित होने से गुणीभूत और श्लेषालंकार प्रधानता का उदाहरणः–

"दृष्टया केशवगोपरागहृतया... (कारिकासंख्या 2/21 में उद्धृत है अर्थ वहाँ देखें)

यहाँ पर 'केशव गोप राग' इत्यादि शब्दों का शब्दश्लेष इसे शब्दशक्तिमूलक बना देता है तथा अर्थशक्तिमूलकता प्रकरण वश आ जाती है। क्योंकि जब तक राधारमण भगवान कृष्ण का अखिल तरुणीजन विषयक प्रच्छन्न अनुराग का गौरवास्पद होना विदित न हो तब तक अर्थान्तर की प्रतीति हो ही नहीं सकती। यहाँ पर व्यङ्ग्यार्थ को कवि ने 'सलेशम्; यह क्रियाविशेषण देकर वाच्यकल्प बना दिया है।

अब तक सलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य के शब्दशक्त्युत्थ, अर्थशक्त्युत्थ एवं उभयशक्त्युत्थ ये तीन भेद किए। उनमें शब्दशक्त्युत्थ का विस्तार पूर्वक विवेचन हो चुका। अग्रिम कारिका में अर्थशक्त्युत्थ के स्वतः संभवी और (कविप्रौढोक्तिसिद्ध तथा कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्ध दोनों मिलाकर) प्रौढोक्तिसिद्ध ये दो भेद कहते हैं।

(का) **प्रौढोक्तिमात्रनिष्पन्नशरीरः सम्भवी स्वतः।**

अर्थोऽपि द्विविधो ज्ञेयो वस्तुनोऽन्यस्य दीपकः।।2/24

वृत्ति– अर्थशक्त्युद्भवानुरणनरूपव्यङ्ग्ये ध्वनौ यो व्यञ्जकोऽर्थ उक्तस्तस्यापि द्वौ प्रकारौ–कवेः, कविनिबद्धस्य वा वक्तुः–प्रौढोक्तिमात्रनिष्पन्नशरीर एक, स्वतः सम्भवी च द्वितीयः।।"

अनु. – अन्य वस्तु का व्यञ्जक अर्थ भी दो प्रकार का समझा जाना चाहिए–जिसका कलेवर केवल कविप्रौढोक्ति से ही निष्पन्न हुआ हो दूसरे जो स्वतः संभव हो।।

(वृत्ति) अर्थशक्तिमूलानुरणनरूप व्यङ्ग्य ध्वनि में जो व्यञ्जक अर्थ कहा गया है उसके भी दो प्रकार होते हैं–एक तो कवि या कवि निबद्ध वक्ता की प्रौढोक्ति के द्वारा ही जिसके कलेवर की रचना हुई हो और दूसरा जो स्वतः संभव हो।

अर्थशक्त्युद्भव ध्वनि के भेद

द्वितीय उद्योत की 22वीं कारिका में अर्थशक्त्युद्भव ध्वनि का सामान्य लक्षण किया गया है। तदनन्तर श्लेष आदि अलंकारों से उसके भेद का प्रतिपादन 23वीं कारिका में किया गया है। प्रस्तुत कारिका में व्यंजक अर्थ के आधार पर अर्थशक्त्युद्भव ध्वनि के भेद किए जा रहे हैं।

कारिका में 'अर्थोऽपि' में अपि शब्द का प्रयोग किया गया है। इसका आशय है कि अर्थान्तर का व्यञ्जक अर्थ भी दो प्रकार का होता है केवल अनुस्वानोपम व्यङ्ग्य ही दो प्रकार का नहीं होता उसका जो अवान्तर अर्थशक्तिमूलक नामवाला दूसरा भेद है वह भी व्यञ्जक अर्थ भी द्विविधता के आधार पर दो प्रकार का होता है। इनमें से एक तो वह होता है जो प्रौढोक्ति सिद्ध हो दूसरा वह जो स्वतः संभव हो। प्रौढोक्ति सिद्ध के भी अवान्तर दो भेद होते हैं एक कवि प्रौढ़ोक्तिसिद्ध और दूसरा कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्ति सिद्ध। इस प्रकार इस व्यंजक अर्थ के तीन भेद हो जाते हैं (1) कवि प्रौढोक्तिसिद्ध (2) कवि निबद्धवक्तृप्रौढोक्ति सिद्ध और (3) स्वतः संभवी। प्रौढोक्ति का अर्थ है ऐसो उक्ति जो कि प्रतिपादनीय वस्तु के समर्पण में उचित हो।

व्यञ्जक अर्थ के इन भेदों में आचार्यों में पर्याप्त मत भेद है। प्रथम तो ध्वनिकार ने कारिका में "द्विविधः" पद दिया है तात्पर्य उनको दो ही भेद स्वीकार्य है एक प्रौढोक्ति सिद्ध और दूसरा स्वतः संभवी।

वृत्ति में अर्थ करते हुए लिखा गया कि व्यञ्जक अर्थ के दो भेद हैं जिसमें पहला भेद कवि अथवा कविनिबद्धवक्ता की प्रौढोक्ति द्वारा सिद्ध एक भेद है और दूसरा स्वतः संभवी आनन्दवर्धन ने कविप्रौढोक्तिसिद्ध और कविनिबद्धवक्तृ प्रौढोक्ति सिद्ध के भिन्न–भिन्न उदाहरण दिए हैं किन्तु दोनों को मिलाकर वे इसे एक ही भेद मानते हैं। इसके विपरीत लोचनकार अभिनव गुप्त ने इनके तीन भेद ही माने हैं (1) कविप्रौढोक्तिसिद्ध (2) कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्ध (3) स्वतः संभवी। हेमचन्द्र और माणिक्य चन्द्र इससे सहमत नहीं है। इनके मत में कवि प्रोढोक्तिसिद्ध में ही सभी का समाहार हो जाएगा। रसगंगाधरकार भी ध्वनिकार के समान दो ही भेद मानते हैं। आचार्य अभिनवगुप्त का अनुसरण करते हुए ध्वनिप्रस्थापन प्रतिष्ठापक परमाचार्य मम्मट ने भी तीन भेद स्वीकार किए हैं। यह भेद कल्पना ही समीचीन प्रतीत होती है।

1. **कविप्रौढोक्तिमात्रनिष्पन्नशरीर का उदाहरण–**

सज्जयति सुरभिमासो न तावदर्पयति युवतिजनलक्ष्यमुखान्।

अभिनवसहकारमुखान् नवपल्लवपत्रलाननङ्गस्य शरान्।।

(अनु) (कामदेव का सखा) वसन्तमास युवतिजनों को लक्ष्य बनाने (विद्ध करने) वाले मुखों (अग्रभाग–फलभाग) से युक्त नवपल्लवों से पत्र (बाण के पिछले भाग में लगे

पंखों से) युक्त, सहकार प्रभृति कामदेव के बाणों का निर्माण करता है (परन्तु) अभी प्रहारार्थ (उसे) देता नहीं है।

यहाँ पर कवि कल्पना के द्वारा अचेतन वसंत को चेतन माना गया है, उसे कामदेव का मित्र कहा गया है, वह बाण बनाने वाला है, किन्तु प्रहार के लिए कामदेव को प्रदान नही करता। कामदेव धनुष चलाने वाला योद्धा है, उसका लक्ष्य युवतियाँ हैं। ये सभी अर्थ कवि कल्पना से प्रसूत हैं। लोक में इस प्रकार न कोई धनुर्धर है न कोई उसके बाण हैं। इसी कविप्रौढोक्तिमात्रसिद्ध वस्तु से यह व्यंजना निकलती है कि अभी काम उन्मथन प्रारम्भ हुआ है आगे यह और प्रवृद्ध होगा।

कविविजृम्भणरूप वस्तु व्यङ्ग्य है। इस प्रकार यह कविप्रौढोक्तिसिद्ध वस्तु से वस्तुव्यङ्ग्य का उदाहरण है। कविप्रौढोक्ति ही यहाँ व्यञ्जक है।

2. **कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्ध शरीर का उदारहण–**

शिखरिणि क्व नु नाम कियच्चिरं किमभिधानमसावकरोत्तपः।

सुमुखि येन तवाधरपाटलं दशति बिम्बफलं शुकशावकः।।

अनु– हे सुमुखि! इस शुकशावक ने किस पर्वत पर, कितने दिनों तक, कौन सा तप किया है, जिसके कारण तुम्हारे अधर के समान रक्तवर्ण बिम्बफल को काट रहा है।

यहाँ कामुक की संभोगेच्छा व्यङ्ग्य हो रही है। यहाँ लोकसंभव अर्थ केवल इतना ही है कि शुक लाल बिम्बफल का दशन कर रहा है। शुक की पूर्वजन्म की तपस्या, उसका फल, तपस्या का स्थान इत्यादि की कल्पना प्रौढोक्तिमात्र है। यह प्रौढोक्ति कविनिबद्धवक्ता की है। यदि यहाँ कविप्रौढोक्ति को व्यञ्जक माना जाये और कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्ति को नहीं, तब संभोगेच्छा प्रकाशन रूप व्यङ्ग्यार्थ कभी न निकलेगा। उसकी विश्रान्ति तो कवि कल्पना में ही हो जाएगी। जब कविनिबद्ध साभिलाष तरुण वक्ता की यह प्रौढोक्ति मानी जाती है तब ही वह संभोगेच्छा की व्यंजिका होती है।

कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्ध का एक और उदाहरण–

सादरवितीर्णयौवनहस्तावलम्बं समुन्नमद्भ्याम्।

अभ्युत्थानमिव मन्मथस्य दत्तं तव स्तनाभ्याम्।।

(अनु) यौवन ने आदरपूर्वक हाथ का सहारा देकर तुम्हारे स्तनों को उठाया और उठकर तुम्हारे स्तनों ने मानों कामदेव का अभ्युत्थानपूर्वक स्वागत किया।

यहाँ पर कामदेव का आगमन हुआ है। नायिका के स्तन अभ्युत्थान के द्वारा उसका स्वागत करना चाहते हैं और यौवन उन्हें उठ खड़े होने में सहायता देता है। यह समस्त अर्थ प्रौढोक्ति सिद्ध है। यह प्रौढोक्ति कविनिबद्ध किसी रसिक जन की है और उससे व्यञ्जना निकलती है कि "तुम्हारे स्तनों को देखकर किसका कामदेव अत्यंत मात्रा में बढ़ नहीं जाता है? मैं भी अत्यंत कामपीड़ित हो गया हूँ और मैं तुम्हारा सहवास चाहता हूँ। इस अभिप्राय की व्यञ्जना चमत्कारपर्यवसायी होने के कारण ध्वनिरूपता को प्राप्त हो गई है। यदि यहाँ पर केवल लोकसम्भव वस्तु कही जाती कि जवानी से तुम्हारे स्तन बढ़ गए हैं तो व्यञ्जना होती ही क्या?

3. **स्वतः सम्भवी**

स्वतः संभवी य औचित्येन बहिरपि सम्भाव्यमानसद्भावो न केवलं भणितिवशेनै–वाभिनिष्पन्नशरीरः।

स्वतः संभवी का अर्थ है कि जिसकी सत्ता की संभावना बाहर भी अर्थात् लोक में भी की जा सके और जिसका शरीर केवल उक्ति के कारण ही अभिनिष्पन्न न हुआ हो। उक्ति वैचित्र्य तो सर्वत्र उपयोगी होता ही है। जहाँ वस्तु लोकसंभव भी हो

वहाँ पर जो व्यंजना होती है उसका व्यंजक लोकसंभव वस्तु को ही माना जाता है। उदा.–

"एवंवादिनि देवर्षौ पार्श्वे पितुरधोमुखी।

लीलाकमलपत्राणि गणयामास पार्वती।। (अर्थ पूर्व में 22वीं कारिका में दिया हुआ है) यहाँ लीलाकमलपत्रों की गणना रूप वस्तु लोक सिद्ध है वही व्यंजक है और यहां लज्जा रूप व्यभिचारी भाव की अभिव्यक्ति होती है।

अन्य उदाहरण–

शिखिपिच्छकर्णपूरा जाया व्याधस्य गर्विणी भ्रमति।

मुक्ताफलरचितप्रसाधनानां मध्ये सपत्नीनाम्।।

(अनु.) व्याध की बहू केवल मयूरपिच्छ को ही कर्णपूर के रूप में धारण किए हुए है। किन्तु उसकी सपत्नियाँ गजमुक्ताओं से अपने शरीर को भलीभाँति सजाए हुए हैं। तथापि व्याधवधू अपनी सपत्नियों के बीच में गर्व के साथ घूम रही है।।

यहाँ मूयरपिच्छ धारण कर सपत्नियों के मध्य भ्रमणरूप वस्तु लोकसिद्ध है। व्याधवधू के पास से व्याध को शिकार के लिए अवसर ही नहीं मिलता। व्याधवधू का यह सौभाग्यातिशय ही व्यङ्ग्य है।

अब तक दिए गए उदाहरणों में वस्तु व्यञ्जक है चाहे वह कवि प्रौढोक्ति सिद्ध हो, चाहे कविनिबद्धवक्तृ प्रौढोक्ति सिद्ध हो, चाहे स्वतः संभवी हो। सर्वत्र व्यङ्ग्य भी वस्तु ही है। इस प्रकार वस्तु से वस्तु व्यङ्ग्य के ये उदाहरण हैं।

(का) **अर्थशक्तेरलङ्कारो यत्राप्यन्यः प्रतीयते।**

अनुस्वानोपमव्यङ्ग्यः स प्रकारोऽपरो ध्वनेः।।2/25

वृत्ति– वाच्यालङ्कारव्यतिरिक्तो यत्रान्योऽलङ्कारोऽर्थसामर्थ्यात् प्रतीयमानोऽवभासते सोऽर्थशक्त्युद्भवो नामानुस्वानरूपव्यङ्ग्योऽन्यो ध्वनिः।।25।।

(अनु) जहाँ पर अर्थशक्ति से (वाच्यालङ्कार से भिन्न) दूसरा अलंकार भी प्रतीत होता है वह ध्वनि का अनुरणन रूप व्यङ्ग्य का दूसरा (अलंकार से अलङ्कारव्यङ्ग्य) प्रकार होता है।

(वृत्ति अनु) वाच्य अलंकार से भिन्न जहाँ दूसरा अलंकार अर्थसामर्थ्य से प्रतीत होता है वह अर्थशक्त्युद्भव नामक अनुरणन रूप व्यङ्ग्य दूसरी ध्वनि होती है।

प्रस्तुत कारिका मे ध्वनिकार प्रतिपादित करते हैं कि अर्थशक्ति मूलकध्वनि में वस्तु ही व्यङ्ग्य नहीं होती अपितु अलङ्कार भी व्यङ्ग्य होता है। ऐसी दशा में उसे अलंकार ध्वनि कहते हैं। कारिका में 'यत्राप्यन्यः" में आए हुए अपि शब्द की योजना 'अर्थशक्तेः' तथा 'अलङ्कार' के साथ भिन्न क्रम से की जाती है।

'अर्थशक्तेः' के साथ अपि शब्द के रखने का आशय यह है कि केवल शब्दशक्ति से ही पहले बतलाए रूप में अलङ्कार की प्रतीति नही होती अतिपु अर्थशक्ति से भी अलङ्कार की प्रतीति होती है। अथवा 'अपि' शब्द को 'अलंकारः' के साथ भी रखा जा सकता है। तब उसका अर्थ होगा–अर्थशक्ति से केवल वस्तु ही प्रतीति नहीं होती किन्तु अलङ्कार भी प्रतीत होता है। कारिका में अन्यः' शब्द का प्रयोग किया गया है। इसी का अर्थ बतलाने के लिए वृत्तिकार ने लिखा है–जहाँ अर्थसामर्थ्य से वाच्यालङ्कार से अतिरिक्त एक दूसरा अलंकार अवभासित होता है, वह अर्थशक्तत्युद्भव अनुरणन रूप व्यङ्ग्य ध्वनि का दूसरा प्रकार है।

अर्थशक्तिमूलकध्वनि के भेदोपभेदों की कल्पना

इस ध्वनि के भेदोपभेदों की कल्पना के दो आधार हो सकते हैं–एक व्यञ्जक दूसरा व्यङ्ग्य। व्यंजक के भी दो प्रकार हैं एक वस्तु और दूसरा अलंकार (अर्थात् कभी वस्तुव्यञ्जक बनती है, कभी अलंकार)। व्यङ्ग्य के भी प्रकार हैं–वस्तु और

अलंकार (कभी वस्तु व्यङ्ग्य होती है। कभी अलङ्कार व्यङ्ग्य होता है।) इस प्रकार अर्थशक्तिमूलक ध्वनि के चार भेद हो गए। इन में प्रत्येक के तीन–तीन भेद होते हैं–स्वतः संभव व्यञ्जक, कवि कल्पित व्यञ्जक और कविनिबद्धवक्तृकल्पित व्यञ्जक। इस प्रकार अर्थशक्ति मूलक ध्वनि के 12 भेद हो गए–

1. स्वतः सम्भव वस्तु से वस्तुध्वनि
2. स्वतः सम्भव वस्तु से अलंकारध्वनि
3. स्वतः सम्भव अलंकार से वस्तुध्वनि
4. स्वतः सम्भव अलंकार से अलंकार ध्वनि
5. कविकल्पित वस्तु से वस्तुध्वनि
6. कविकल्पित वस्तु से अलंकारध्वनि
7. कविकल्पित अलंकार से वस्तुध्वनि
8. कविकल्पित अलंकार से अलंकारध्वनि
9. कविनिबद्धवक्तृकल्पित वस्तु से वस्तुध्वनि
10. कविनिबद्धवक्तृकल्पित वस्तु से अलंकरध्वनि
11. कविनिबद्धवक्तृकल्पित अलंकार से वस्तुध्वनि
12. कविनिबद्धवक्तृकल्पित अलंकार से अलंकारध्वनि।

इस प्रकार वस्तुध्वनि और अलंकारध्वनि के छह–छह भेद मिलकर 12 भेद होते है।

तस्य प्रविरलविषयत्वमाशङ्क्येदमुच्यते–

(का) **रूपकादि रलंकारवर्गो यो वाच्यतां श्रितः।**
स सर्वो गम्यमानत्वं बिभ्रद्भूम्ना प्रदर्शितः।।2/26

(अनु.) उसके विषय के अत्यंत विरल होने की आशंका कर यह कहा जा रहा है–

(का) रूपक इत्यादि जो अलंकार वर्ग वाच्यता के आश्रित होता है। वह समस्त (अलंकार वर्ग) प्रतीयमानत्व को धारण करते हुए पर्याप्त मात्रा में दिखलाया गया है।।26।।

यहाँ यह शंका उत्पन्न होती है कि शब्दशक्ति के बल पर श्लेष इत्यादि अलंकारों की ध्वनि हो यह संभावना तो है किन्तु अर्थशक्ति से भी अलङ्कारों की ध्वनि हो सकती है। यह किस प्रकार संभव है और यह हो ही कैसे सकता है? और यदि हुआ भी तो इसका विषय बहुत ही अल्प होगा। इसी प्रश्न के उत्तर में यह कारिका कही गई है। रूपक आदि अलंकार वाच्य तो होते ही हैं इसके अतिरिक्त व्यङ्ग्य भी हो सकते हैं। भट्टोद्भट्ट इत्यादि आचार्यों ने इनको एक स्थान पर वाच्य कहा है तो दूसरे स्थान पर इनको व्यङ्ग्य के रूप में भी प्रदर्शित किया है। एक अलंकार में दूसरा अलंकार प्रायः व्यङ्ग्य ही होता है। उदारहण के लिए सादृश्यमूलक समस्त अलंकारों में उपमा व्यङ्ग्य होती है। भामह ने वक्रोक्ति को समस्त अलंकारों का बीज मानकर सभी अलंकारों में वक्रोक्ति की व्यङ्ग्यता स्वीकार की है। दण्डी ने सभी अलंकारों में अतिशयोक्ति को व्यङ्ग्य माना है।

यहाँ यह बात ध्यान देने योग्य है कि अलंकारव्यञ्जना दो रूपों में होती है–वस्तु से अलंकार व्यञ्जना और अलंकार से अलंकार व्यञ्जना। जब एक अलंकार दूसरे अलंकार को व्यक्त कर सकता है तब वस्तु से अलंकार ध्वनि को कोई भी असंभव नहीं मान सकता। यह प्रकरण अलंकार के व्यङ्ग्य होने का ही है व्यञ्जक होने का नहीं। ग्रन्थकार का यहाँ यह कहना अभीष्ट है कि वस्तु के समान अलंकार भी व्यङ्ग्य हो जाते हैं।

16.3 कारिका संख्या 2/27 से 30 तक की व्याख्या

इयत्पुनरुच्यत एव–(इतना तो मुझे कहना है–)

(का) **अलङ्कारान्तरस्यापि प्रतीतौ यत्र भासते।**
तत्परत्वं न वाच्यस्य नासौ मार्गो ध्वनेर्मतः।। 2/27

वृत्ति. अलङ्कारान्तरेषु त्वनुरणनरूपालङ्कारप्रतीतौ सत्यामपि यत्र वाच्यस्य व्यङ्ग्यप्रतिपादनौन्मुख्येन चारुत्वं न प्रकाशते नासौ ध्वनेर्मार्गः। तथा च दीपकालङ्कारे उपमाया गम्यमानत्वेऽपि तत्परत्वेन चारुत्वस्याव्यवस्थानान्न ध्वनिव्यपदेशः।

अनु.– अलङ्कारान्तर की प्रतीति में भी जहाँ पर वाच्यार्थ उस व्यङ्ग्य अलंकारपरक अवभासित नहीं होता वह ध्वनि का मार्ग नहीं माना जाता।।27।।

(वृत्ति का अनुवाद) यदि दूसरे अलंकारों में अनुरणनरूप अलंकार की प्रतीति हो भी रही हो फिर भी जहाँ वाच्यार्थ व्यङ्ग्य प्रतिपादन को ओर उन्मुख होकर चारुता को प्रकाशित न करे वह ध्वनि का मार्ग नहीं होता। जैसा कि दीपक इत्यादि अलंकारों में उपमा के प्रतीयमान होते हुए भी चारुता की व्यवस्था उपमा परक नहीं होती अतः उसे ध्वनि नहीं कहते ।

ध्वनिकार ने अर्थशक्त्युद्भव ध्वनि के भेदों में वस्तु और अलंकार व्यङ्ग्य होते हैं यह प्रतिपादित किया। ये दोनों व्यञ्जक भी होते हैं और व्यङ्ग्य भी। अलङ्कार वाच्य अलंकारों से ही व्यङ्ग्य हो यह आवश्यक नहीं है अपितु वह वस्तु से व्यङ्ग्य हो जाता है। पूर्ववर्ती आचार्यों ने भी अलंकारों को व्यङ्ग्य माना है तब प्रश्न उपस्थित होता है कि ध्वनिकार यह कौनसी नई बात कह रहे हैं, यह पिष्टपेषण क्यों किया जा रहा है, इस विषय में ध्वनिकार का कहना यह है कि चाहे पूर्ववर्ती आचार्यों ने अलंकार को व्यङ्ग्य माना है। परतु व्यङ्ग्य मानने, या व्यङ्ग्यरूप में अलंकार की प्रतीति होने मात्र से अलंकार ध्वनि नहीं होगी अपितु जब वाच्य रूप में प्रतीत होने वाला अलंकार या वस्तु व्यङ्ग्यरूप में प्रतीयमान अलंकार की चारुता के लिए समर्पित न हो तब तक ध्वनि नहीं है। ध्वनि व्यङ्ग्य की चारुता के लिए तत्पर हो। वह ध्वनि का मार्ग नहीं हो सकता जहाँ पर दूसरे अलंकारों के होने पर किसी एक अलंकार की अनुरणनात्मक व्यञ्जना तो हो किन्तु वाच्यालंकार की सुंदरता व्यङ्ग्य का प्रतिपादन करने के ही कारण न प्रतीत हो रही हो। उदाहरण के लिए दीपक आदि अलंकारों में उपमा की व्यञ्जना तो अवश्य होती है किन्तु काव्य सौन्दर्य की व्यवस्था उस उपमा के ही कारण नहीं है। इसलिए वहाँ उपमा की प्रतीति को ध्वनि नहीं कहा जा सकता। वहाँ दीपक अलंकार ही सौन्दर्य जनक होता है जो वाच्य रूप में होने से ध्वनि नहीं हो सकता।

व्यङ्ग्य की चारुता के लिए जहाँ वाच्यार्थ तत्पर होगा वहीं ध्वनि होगी। ऐसा न होने पर ध्वनि नहीं होगी जैसे–

चन्द्रमयूखैर्निशा नलिनी कमलः कुसुमगुच्छैर्लता।
हंसैश्शारदशोभा काव्यकथा सज्जनैः क्रियते गुर्वी।।

अनु– चन्द्रकिरणों से निशा, कमलों से नलिनी, पुष्प गुच्छों से लता, हंसों से शरत्काल की शोभा और सज्जनों से काव्यकथा गुरु बनाई जाती है।

यहाँ पर कर्ता के रूप में चन्द्रमयूख इत्यादि अप्रस्तुतों और प्रस्तुत सज्जनों तथा कर्म के रूप में अप्रस्तुत निशा इत्यादि को और प्रस्तुत काव्यकथा का 'गौरवशाली बनना' रूप एक धर्म में अभिसंबंध होने के कारण दीपक अलंकार वाच्य है और उससे "सज्जन चन्द्रमयूख इत्यादि के समान हैं और काव्यकथा निशा इत्यादि के समान है। इस उपमा को व्यंजना होती है। किन्तु यहां काव्य सौन्दर्य दीपक अलंकार में है उपमा में नहीं। अतः यहाँ दीपक अलंकार है उपमा ध्वनि नहीं।

कारिका का निचोड़ यह है कि जहाँ व्यङ्ग्यालंकार की प्रधानता न हो तो वह ध्वनि काव्य नही। जहाँ वाच्यालंकार यदि है तो वह व्यङ्ग्यालंकार के अधीन हा वहाँ पर ध्वनि काव्य होता है। व्यङ्ग्यालंकार की प्रधानता होने पर वाच्यालंकार की स्थिति के विषय में तीन विकल्प हो सकते है– 1. वाच्यालंकार के द्वारा कभी–कभी दूसरा व्यङ्ग्य अलंकार प्रतीति गोचर होता है 2. अथवा वाच्यालंकार की केवल सत्ता तो होती है किन्तु वह अभिव्यंजना

की क्रिया में सहायक नहीं होता अथवा 3. वहाँ पर वाच्यालंकार होता ही नहीं। इन विकल्पों को यथास्थान अग्रिम उदाहरणों में देखा जा सकता है।

वृत्ति– यत्र तु व्यङ्ग्यपरत्वेनैव वाच्यस्य व्यवस्थानं तत्र व्यङ्ग्यमुखेनैव व्यपदेशोयुक्तः। यथा–

अनु– किन्तु जहाँ पर वाच्य की अवस्थिति व्यङ्ग्यपरक के रूप में ही होती है, वहाँ पर व्यङ्ग्य के द्वारा ही नामकरण उचित है–जैसे रूपक ध्वनि को ही लीजिए–

प्राप्तश्रीरेष कस्मात् पुनरपि मयि तं मन्थखेदं विदध्या–
न्निद्रामप्यस्य पूर्वानमलसमनसो नैव सम्भावयामि।
सेतुं बध्नाति भूयः किमिति च सकलद्वीपनाथानुयात–
स्त्वय्यायाते वितर्कानिति दधत इवाभाति कम्पः पयोधेः।।

अनु.– इसको (तो पहले ही) लक्ष्मी प्राप्त है फिर यह मुझे वह पूर्वानुभूत मंथन (जन्य) दुःख क्यों देगा। (इस समय) आलस्य रहित मन के कारण इसकी पहिले जैसी (दीर्घकालीन) निद्रा की भी कोई संभावना नहीं जान पड़ती। सारे द्वीपों के राजा (तो) इसके अनुचर हो रहे हैं फिर यह दुबारा सेतुबंधन क्यों करेगा। हे राजन्! तुम्हारे (समुद्रतट पर) आने से मानो इस प्रकार के संदेहों के धारण करने से ही समुद्र काँप रहा है।

यहाँ समुद्र के स्वाभाविक या चन्द्रोदय के कारण होने वाले ज्वार–भाटे में विशाल सेना समेत समुद्रतट पर आए हुए राजा को देखकर मन्थन या सेतुबंधादि संदेहनिमित्तक कंपन की उत्प्रेक्षा की गई है। यहाँ संदेह और उत्प्रेक्षा का अङ्गाङ्गिभावसङ्करालंकार (कविप्रौढोक्तिसिद्ध) वाच्यालंकार है, उससे राजा की वासुदेवरूपता अर्थात् राजा में वासुदेव का आरोपमूलक रूपक अलंकार व्यङ्ग्य है। इस प्रकार यह कवि प्रौढोक्तिसिद्ध अलंकार से अलंकार व्यङ्ग्य रूपकध्वनि का उदाहरण है।

वस्तु से अलंकार ध्वनि का उदाहरण

रम्या इति प्राप्तवतीः पताका रागं विविक्ता इति वर्धयन्तीः।
यस्यामसेवन्त नमद्वलीकाः समं वधूभिर्वलभीर्युवानः।।

अनु– (जिस द्वारका पुरी में) रमणीयता के कारण पताका को प्राप्त करने वाली, एकांत के कारण राग को बढाने वाली, झुकी हुई वलीका (छादनाधार) वाली वलभियों का सेवन युवक लोग अपनी वधुओं के साथ करते थे।'

यहाँ पर 'वधुओं के साथ वलभियों का सेवन करते थे' इस वाक्यार्थ की प्रतीति के बाद' वधुएँ वलभियों के समान थी' यह श्लेष की प्रतीति बिना ही शब्द के अर्थसामर्थ्य से मुख्य रूप में वर्तमान है। अतः यहाँ स्वतः संभवी वस्तु से अलंकार व्यङ्ग्य रूप श्लेष ध्वनि है।

इस प्रकार अलंकार ध्वनि के रूप में रूपक, उपमा, आक्षेप, अर्थान्तरन्यास, व्यतिरेक, उत्प्रेक्षा, श्लेष आर यथासंख्य के उदाहरण देकर ध्वनिकार ने कहा है कि इस प्रकार अन्य भी ध्वनिरूप अलंकारों को यथोचित रूप से समझ लेने चाहिए। प्रतिपादन का सार यह है कि अलंकारध्वनि में व्यङ्ग्यालंकार प्रधान होता है उसके व्यंजकरूप में वस्तु अथवा अलंकार हो सकते हैं। ये व्यंजक रूप में निबद्ध वस्तु या अलंकार भी कवि प्रौढोक्ति सिद्ध, कवि निबद्ध प्रौढोक्तिसिद्ध तथा स्वतः संभवी रूप में तीन प्रकार के हो सकते हैं।

इस प्रकार अलंकार ध्वनि के मार्ग का विस्तारपूर्वक प्रतिपादन करके इस व्युत्पत्ति की सार्थकता सिद्ध करने के लिए अग्रिम कारिका कहते हैं।

(का) **शरीरीकरणं येषां वाच्यत्वे न व्यवस्थितम्।**
तेऽलंकाराः परां छायां यान्ति ध्वन्यङ्गतां गताः।।2/28

अनु– वाच्यत्व की दशा में जिन अलंकारों का शरीरीकरण व्यवस्थित नहीं हैं वे अलङ्कार ध्वनि का अङ्ग बनकर बहुत बड़ी छाया को प्राप्त करते हैं।

इस कारिका की दो प्रकार की योजना की जा सकती है– एक तो "वाच्येन" को एक तृतीयान्त पद मानकर और दूसरे 'वाच्यत्वे+न' इस प्रकार एक सप्तम्यन्त शब्द से न को पृथक् मानकर शरीरीकरण शब्द में च्विप्रत्यय है जिसका अर्थ होता है जो शरीर नहीं है उसको शरीर बना दिया जावे।

प्रस्तुत अर्थ काव्य का शरीर–स्थानीय होता है (शब्दार्थशरीरं तावत् काव्यम्)। अलंकार उससे भिन्न एक दूसरा ही अर्थ होते है। वे काव्य के शरीर नहीं बन पाते जैसे कटक–कुण्डल शरीर नहीं बन पाते हैं। अच्छे कवि उन अलंकारों को बिना प्रयत्न के काव्य का शरीर बना देते हैं। इसकी योजना के अनुसार अर्थ होगा कि जो अलंकार वाच्य हाने पर काव्य के शरीर भी बन जाते हैं वे ही अलंकार ध्वनि के अंग बनकर बहुत बड़ी दुर्लभ छाया कान्ति को प्राप्त हो जाते हैं।

व्यङ्ग्य होने पर ही अलंकार उत्कर्षाधायक होते हैं। अलंकार व्यंजक और व्यङ्ग्य बनकर ध्वनि के अंग बन जाते हैं। इस प्रकरण में अलंकार के व्यङ्ग्य हाने पर उन्हें ध्वनि का अंग कहा है। व्यङ्ग्य होने पर भी चारुता का उत्कर्ष यदि व्यङ्ग्य अलंकार में है तभी उसका अंतर्भाव अलंकार ध्वनि में होता है। यदि अलंकार व्यङ्ग्य भी हों किन्तु वे चमत्कार न होने पर प्रधान न बन पावे तब वे गुणीभूत व्यङ्ग्य के अंतर्गत आऐंगे, उन्हें ध्वनि नहीं कहा जाएगा (व्यङ्ग्यत्वेऽप्यलङ्.काराणां प्राधान्यविवक्षायामेव सत्यां ध्वनावन्तःपातः। इतरथा तु गुणीभूतव्यङ्ग्य त्वंम्" वृत्ति 2/28)

वृत्ति– अङ्गित्वेन व्यङ्ग्यतायामपि अलंकाराणां द्वयी गतिः।

कदाचिद् वस्तुमात्रेण व्यज्यन्ते कदाचिदलङ्कारेण। तत्र–

(का) **व्यज्यन्ते वस्तुमात्रेण यदालङ्कृतयस्तदा।**

ध्रुवं ध्वन्यङ्गता तासाम्,

अत्र हेतुः–

काव्यवृत्तेस्तदाश्रयात्।।2/29

(अनु) (वृत्ति) अङ्गी के रूप में व्यङ्ग्य होने पर भी अलंकारों की गति दो प्रकार की होती है–कभी (वे अलंकार) वस्तुमात्र से व्यक्त होते हैं कभी अलङ्कार से उनमें–

अनु. (का) जब वस्तुमात्र स अलंकार व्यक्त होता है तब वे निस्संदेह ध्वनि का अङ्ग बन जाते हैं।

इसमें कारण यह है–

काव्यवृत्ति उन्हीं के अधीन रहती है। ।।29।।

व्यङ्ग्य अलंकारों की दो प्रकार की गति होती है या तो वे वस्तुमात्र से व्यंजित होते हैं या अलंकार से। ध्वनिकार का मत है कि वस्तु से जब अलंकार व्यंजित होता है तब निश्चित रूप से वह ध्वनि का अंग बन जाता है क्योंकि काव्य की वृत्ति उस अलंकार के आधीन होती है।

साधारण वस्तु की अपेक्षा अलंकार सर्वदा अधिक महत्त्वपूर्ण होते हैं। क्योंकि कविवृत्ति सर्वदा अलंकार प्रवण होती है। वस्तु से व्यञ्जित अलंकार जब प्रधानता को प्राप्त नहीं होता तब वहाँ गुणीभूतव्यङ्ग्य भी नहीं होता वह एक साधारण वाक्यमात्र रह जाता है। अलंकार का व्यङ्ग्य होना ही एक ऐसा तत्त्व है जो अप्रधान होते हुए भी केवल वाच्य अलंकारों की अपेक्षा अलंकारों को उत्कर्ष प्रदान कर देता है। अभिनव गुप्त ने लिखा है कि रसध्वनि ही काव्य की आत्मा है। किन्तु जिस प्रकार बच्चे खेल में किसी एक बच्चे को राजा बना दिया करते हैं वह बच्चा यद्यपि राजा होता नहीं फिर भी अन्य बच्चों की अपेक्षा उसे कुछ अधिक महत्त्व मिल जाता है वैसे ही अलंकार जब व्यङ्ग्य होते हैं तब यद्यपि वे रसध्वनि के समान काव्य की प्रधानीभूत आत्मा तो नहीं बन जाते तथापि उन्हें अन्य वाच्यालंकारों की अपेक्षा कुछ अधिक महत्त्व मिल जाता है।

वृत्ति – तासामेवालङ्कृतीनां (उन्हीं अलंकारों के)

(का) **अलङ्कारान्तरव्यङ्ग्यभावे,**

पुनः–

ध्वन्यङ्गता भवेत्।

चारुत्वोत्कर्षतो व्यङ्ग्यप्रधान्यं यदि लक्ष्यते।।2/30

(अनु) दूसरे अलंकारों द्वारा व्यङ्ग्य होने पर फिर –

व्यङ्ग्य अलंकार ध्वनि के अङ्ग बन जाते हैं। यदि चारुत्व के उत्कर्ष से व्यङ्ग्य का प्राधान्य प्रतीत होता है।30।।

किसी काव्य में वाच्य का प्राधान्य है या व्यङ्ग्य का इसके लिए ध्वनिकार ने लिखा है कि जिसमें भी चमत्कार होता है उसी का प्राधान्य माना जाएगा।
जहाँ वस्तु अथवा अलंकार से अलङ्कार व्यङ्ग्य हो तथा चारुता के आधार पर उस (व्यङ्ग्य अलंकार) का प्राधान्य भी हो वहाँ अर्थ शक्त्युद्भव अलंकार ध्वनि समझनी चाहिए– "तदेवमर्थमात्रेणालङ्कार विशेष रूपेण वार्थेन, अर्थान्तरस्यालङ्कारस्य वा प्रकाशने चारुत्वोत्कर्ष– निबन्धने सति प्राधान्येऽर्थशक्त्युद्भवानुरणनरूपव्यङ्ग्यो ध्वनिरवगन्तव्यः।।"

16.4 कारिका संख्या 2/31 से 33 तक की व्याख्या

अभिधामूल ध्वनि का गुणीभूत व्यङ्ग्यत्व

वृत्ति–एवं ध्वनेः प्रभेदान् प्रतिपाद्य तदाभासविवेकं कर्तुमुच्यते–

अनु– इस प्रकार ध्वनि के प्रभेदों का प्रतिपादन करके उस (ध्वनि) के आभास (ध्वन्याभास गुणीभूतव्यङ्ग्य) को समझाने के लिए कहते हैं –

(का) **यत्र प्रतीयमानोऽर्थः प्रम्लिष्टत्वेन भासते।**
वाच्यस्याङ्गतया वापि नास्यासौ गोचरो ध्वनेः।।2/31

अनु.– जहाँ प्रतीयमान अर्थ मलिनता के साथ भासित हो अथवा वाच्य के अङ्ग के रूप में भासित हो वह इस ध्वनि का गोचर (विषय) नहीं होता।31।।

वृत्ति में लिखा गया है कि प्रतीयमान दो प्रकार का होता है। एक स्फुट और दूसरा अस्फुट। जो प्रतीयमान स्फुट हो चाहे वह शब्दशक्ति अथवा अर्थशक्ति से प्रकाशित हुआ हो वही ध्वनि का विषय है। उससे भिन्न नहीं अर्थात् जिस प्रतीयमान की प्रतीति स्फुट नहीं है, दबी हुई है वह तो ध्वनि का विषय बनता ही नहीं है। स्फुट प्रतीयमान भी यदि चारुता न होने के कारण वाच्यार्थ का अङ्ग होकर ही प्रकाशित हो रहा है। तब वह भी ध्वनि का विषय नहीं है। वह ध्वनि का आभास मात्र है जैसे –

"कमलाकरा न मलिना हंसा उड्डायिता न च पितृष्वसः।
केनापि ग्रामतडागेऽभ्रमुत्तानितं क्षिप्तम्"।।

अनु.– अरी बुआजी (पितृष्वसः)! (देखो तो) किसी ने आकाश को निपुणता के साथ उठाकर गाँव के तालाब में एकदम डाल दिया। आश्चर्य है कि फिर भी न तो कमलों का समूह ही मलिन पड़ा और न सहसा हंस उड़े।"

यहाँ व्यङ्ग्यार्थ यह है कि किसी मुग्धवधू ने गाँव के तालाब में आकाश का प्रतिबिम्ब देखकर ये शब्द कहे हैं। यहाँ पर चमत्कार वाच्यार्थ के द्वारा ही होता है क्योंकि वाच्यार्थ ही विस्मय का विभाव है और उसी के द्वारा मुग्धता की अधिकता प्रतीत होती है।

वृत्ति– एवंविधे विषयेऽन्यत्रापि यत्र व्यङ्ग्यापेक्षया वाच्यस्य चारुत्वोत्कर्षप्रतीतया प्राधान्यमवसीयते, तत्र व्यङ्ग्यस्याङ्गत्वेन प्रतीतेर्ध्वनेरविषयत्वम्।

अनु – इस प्रकार के विषय में अन्यत्र भी जहाँ पर व्यङ्ग्य की अपेक्षा वाच्य की चारुत्वोकर्ष प्रतीति से प्रधानता का निश्चय किया जाता है, वहाँ पर व्यङ्ग्य की अङ्ग के रूप में प्रतीति के कारण ध्वनि की विषयता नहीं होती। जैसे –

वानीरकुञ्जोड्डीनशकुनीकोलाहलं शृण्वन्त्याः।
गृहकर्मव्यापृताया वध्वाःसीदन्त्यङ्गानि।।

अनु – वेतसकुञ्ज से उड़ने वाले पक्षियों के कोलाहल को सुनते हुए घर के काम में लगी हुई बहू के अङ्ग शिथिल हुए जाते हैं।

किसी नायक और नायिका ने वेतस–लतागृह में एकान्तस्थान पर मिलने का संकेत किया है। नायिका घर के काम में लगी होने के कारण नियत समय पर संकेत स्थान पर नहीं जा सकी। नायक नियत पर वहाँ पहुँच गया है। नायक के पहुँचने पर पक्षी उड़ने लगे और कोलाहल करने लगे इसे सुनकर घर के काम में लगी हुई नायिका को अत्यन्त कष्ट का अनुभव हुआ। यहाँ प्रतीयमान है संकेत का देना और चौर्य–कामुकरत के योग्य स्थान को प्राप्त करना। यह प्रतीयमान अर्थ "वध्वाः सीदन्त्यङ्गानि" इस वाच्यार्थ की पूर्ति के लिए ही आया है। वाच्यार्थ व्यङ्ग्यार्थ की अपेक्षा अधिक सुन्दर है। अतः गुणीभूतव्यङ्ग्य है।

वृत्ति – यत्र तु प्रकरणादिप्रतिपत्त्या निर्धारित विशेषो वाच्योऽर्थः पुनः प्रतीयमानाङ्ग्त्वे– नैवाभासते–सोऽस्यैवानुरणनरूप व्यङ्ग्यस्य ध्वनेर्मार्गः।

अनु– जहाँ पर तो प्रकरण आदि की प्रतिपत्ति से विशेषता को निर्धारित किया हुआ वाच्यार्थ पुनः प्रतीयमान के अङ्ग के रूप में ही अवभासित होता है वह इसी अनुरणनरूपव्यङ्ग्यध्वनि का मार्ग है। जैसे –

"उच्चिनु पतितं कुसुमं मा धुनीहि शेफालिकां हालिकस्नुषे।
एष ते विषमविरावः श्वशुरेण श्रुतो वलय शब्दः।।

हे हालिक (हल जोतने वाले) की पुत्रवधू! नीचे गिरे हुए फूलों को बीन लो, शेफालिका (हरसिङ्गार की डाल) को मत हिला। तुम्हारे ससुर ने तुम्हारे इस वलय शब्द को सुन लिया है जिसका परिणाम बहुत बुरा हो सकता है।

कोई नायिका शेफालिका–कुञ्ज में अपने अविनीत प्रियतम (जार) के साथ रमण कर रही ह जिससे उसके वलय का कलकल शब्द बाहर से सुनाई पड़ रहा है। सखी उस शब्द को सुनकर उपर्युक्त शब्दों में नायिका को सजग कर रही है।

यहाँ परिणाम के बुरे होने का कारण यही समझना चाहिए कि नायिका का ससुर प्रयत्नपूर्वक शेफालिका–लता की रक्षा करता है और उसके हिलाने इत्यादि से रुष्ट हो जाता है इस पद्य में अनेक व्यङ्ग्यार्थ हैं जिस प्रकार 'कस्य वा न भवति रोषो' इस पद्य में है यहाँ व्यङ्ग्यार्थ के दो भाग हैं – एक तो इस प्रकरण का ज्ञान होगा कि नायिका उपपति से कुञ्ज में विहार कर रही है और उसके वलयों का कलकल शब्द बाहर आ रहा है। वाच्यार्थ की प्रतिपत्ति के लिए इस व्यङ्ग्य की अपेक्षा है। अतः प्रकरणादि का ज्ञान, जो व्यङ्ग्यार्थ से ही अधिगत होता है, वाच्यार्थ की पूर्ति के लिए आवश्यक है। दूसरा व्यङ्ग्यार्थ यह निकलता है कि उपपत्ति के अविनय को छिपाने के लिए ही सखी ने ये वचन कहे हैं। तब वह वाच्याथ इस व्यङ्ग्यार्थ का अङ्ग बन जाता है। अतः इसका अनुरणन रूप व्यङ्ग्यध्वनि में अन्तर्भाव होगा।

लक्षणामूल ध्वनि का गुणीभूतव्यङ्ग्यत्व

वृत्ति – **एवं विवक्षितवाच्यस्य ध्वनेस्तदाभासविवेके प्रस्तुते सत्यविवक्षितवाच्यस्यापि तं कर्तुमाह**–

(का) **अव्युत्पत्तेरशक्तेर्वा निबन्धो यः स्खलद्गतेः।**
शब्दस्य स च न ज्ञेयः सूरिभिर्विषयो ध्वनेः।।2/32।

वृत्ति–स्खलद्गतेरुपचरितस्य शब्दस्य अव्युत्पत्तेरशक्तेर्वा निबन्धो यः स च न ध्वनेर्विषयः।

(अनु.) इस प्रकार विवक्षितवाच्य (अभिधामूल) ध्वनि के ध्वन्याभास (गुणीभूतत्व) विवेक के प्रसङ्ग में अविवक्षितवाच्य (लक्षणामूल) ध्वनि की भी आभासता विवेचन करने के लिए कहते हैं –

(का) बाधित अर्थ वाले शब्द का निबन्धन जो कि अव्युत्पत्ति या अशक्ति से किया जाता है उसे विद्वान् लोग ध्वनि का विषय न समझें।

(अनु.) स्खलद्गति अर्थात् गौण शब्द का प्रतिभा या शक्ति के अभाव में जो प्रयोग है वह भी ध्वनि का विषय नहीं होता।

विवक्षितवाच्य ध्वनि के आभास का विवेचन चल रहा है अतः अविवक्षितवाच्यध्वनि के आभास का भी विवेचन किया जा रहा है।

कारिका के "स्खलद्गतेः" शब्द का अर्थ है – जहाँ शब्द वाच्यार्थ के प्रत्यायन में कुण्ठित हो गया हो। अभिधावृत्ति को छोड़कर लक्षणा को अवकाश देने के लिए बाधित शब्द का प्रयोग इसलिए किया जाता है कि उससे कोई न कोई प्रयोजन सिद्ध हो सके। जब अभिधा अभीष्टार्थ के प्रत्यायन में कुण्ठित हो जाती है तब बाधित शब्द का प्रयोग किया जाता है जिससे लक्ष्यार्थ के साथ प्रयोजन रूप व्यङ्ग्यार्थ का भी बोध हो जाता है। ऐसे ही स्थान पर अविवक्षितवाच्य ध्वनि होती है। यहाँ पर 'स्खलद्गतेः' शब्द से गौणी का भी बोध होता है और लक्षणा का भी। इसके प्रतिकूल जहाँ कवि अपनी अव्युत्पत्ति या अशक्ति के कारण बाधित शब्दों का प्रयोग करता है वह ध्वनि का विषय नहीं होता। अव्युत्पत्ति का अर्थ यह है कि जहाँ पर लाक्षणिक शब्द का प्रयोग केवल अनुप्रास के निबन्धन के लिए किया गया हो अथवा जिसका प्रयोजन छन्द की पूर्ति मात्र हो। प्रथम उद्योत में भी प्रतिपादित किया था

कि जहाँ पर व्यङ्ग्य के कारण बहुत अधिक सौन्दर्य नहीं भी होता वहाँ पर भी कवि लोग प्रसिद्धि के अनुरोध से लाक्षणिक शब्दों का प्रयोग कर देते हैं। जैसे "वदति बिसिनीपत्रशयनम्" में वदति का प्रयोग (इसी प्रकार लावण्य, मण्डप आदि शब्दों को भी समझना चाहिए)

यद्यपि ध्वनि का स्वरूप पूर्व में प्रतिपादित किया जा चुका है किन्तु ध्वन्याभास को पहचानने के लिए ध्वनि का स्वरूप आवश्यक है इसीलिए अग्रिमकारिका लिखी जा रही है–

(का) **सर्वेष्वेव प्रभेदेषु स्फुटत्वेनावभासनम्।**
यद् व्यङ्ग्यस्याङ्गिभूतस्य तत् पूर्णं ध्वनिलक्षणम्।।2/33

(अनु.) (ध्वनि के) सभी भेदों में प्रधानभूत व्यङ्ग्य हो जो स्फुट रूप में अवभासित होना है वह ध्वनि का पूर्ण लक्षण है।

ध्वनि में तीन बातें अनिवार्य रूप से होती है (1) व्यङ्ग्य होना, (2) अङ्गी होना और (3) स्फुट रूप में अवभासित होना। यदि इन तीनों में से एक की भो न्यूनता होती है तो उसे ध्वनि न कहकर ध्वन्याभास कहते हैं और प्रथम के न होने पर तो ध्वन्याभास भी नहीं हो सकता।

16.5 पारिभाषिक शब्दावली

असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य – को ही रसादिध्वनि कहा जाता है इसके अंतर्गत रस, भाव, रसाभास, भावाभास, भावोदय, भावसंधि, भावशबलता और भावशांति का ग्रहण होता है

संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य – के भी प्रारंभ में दो भेद किए गए हैं एक शब्दशक्त्युद्भव और दूसरा अर्थशक्त्युद्भव है। प्रायः परवर्ती आचार्यों ने इन दोनों भेदों के अतिरिक्त उभयशक्त्युत्थ नाम से संलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य का तीसरा भेद भी स्वीकार किया है।

उभयशक्त्युत्थ – शब्दश्च अर्थश्च–इति शब्दार्थौ इतने विग्रह से शब्दशक्त्युत्थ तथा अर्थशक्त्युत्थ और फिर "शब्दार्थौ च शब्दार्थौ चेत्यैकशेषः" इस प्रकार 'शब्दार्थौ', पद से उभयशक्त्युत्थरूप तृतीय भेद का प्रतिपादन किया है।

प्रौढोक्ति – प्रौढोक्ति सिद्ध के भी अवान्तर दो भेद होते हैं एक कवि प्रौढ़ोक्तिसिद्ध और दूसरा कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्ति सिद्ध। इस प्रकार इस व्यंजक अर्थ के तीन भेद हो जाते हैं (1) कवि प्रौढोक्तिसिद्ध (2) कवि निबद्धवक्तृप्रौढोक्ति सिद्ध और (3) स्वतः संभवी। प्रौढोक्ति का अर्थ है ऐसी उक्ति जो कि प्रतिपादनीय वस्तु के समर्पण में उचित हो।

स्खलद्गतेः– कारिका के "स्खलद्गतेः" शब्द का अर्थ है – जहाँ शब्द वाच्यार्थ के प्रत्यायन में कुण्ठित हो गया हो। अभिधावृत्ति को छोड़कर लक्षणा को अवकाश देने के लिए बाधित शब्द का प्रयोग इसलिए किया जाता है

16.6 अभ्यासार्थ प्रश्न

बोध प्रश्न एवं उत्तर

प्रश्न 1 अर्थशक्त्युद्भध्वनि का उदाहरणपूर्वक विवेचन की कीजिए।
उत्तर कारिका संख्या 2/23 से 25 तक की व्याख्या देखें।
प्रश्न 2 अर्थशक्त्युद्भवध्वनि में अलंकार ध्वनि के स्वरूप को समझाइए।
उत्तर कारिका संख्या 2/25, 26 एवं 27 की व्याख्या देखें।
प्रश्न 3 अलंकारध्वनि का क्या प्रयोजन है? समझाइए।
उत्तर कारिका संख्या 2/28, 29 की व्याख्या देखें।
प्रश्न 4 ध्वन्याभास का विवेचन करें।
उत्तर कारिका संख्या 2/31 एवं 32 की व्याख्या देखें।
प्रश्न 5 "सर्वेष्वेषप्रभेदेषु .... ध्वनिलक्षणम्। 2/33 की व्याख्या लिखें।
उत्तर कारिका संख्या 2/33 की व्याख्या देखें।

16.7 सारांश

इस इकाई में हमने यह जाना जा कि ध्वन्यालोक द्वितीय उद्योत की कारिका संख्या 23 से 33 तक क्या विषय वस्तु है? कारिकाओं एवं उनमें आए हुए उद्धरणों की व्याख्या से विषय वस्तु का मर्म समझा ।आनन्दवर्धन ने ध्वन्यालोक के द्वितीय उद्योत में मुख्य रूप से ध्वनि

भेदों का विस्तार से विवेचन किया है। अभिधामूल ध्वनि एवं लक्षणामूल ध्वनि ये दो भेद ध्वनि के मुख्य हैं। लक्षणामूल ध्वनि के अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य और अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य ये दो भेद किए गए हैं। लक्षणामूल ध्वनि को ही अविवक्षितवाच्य ध्वनि कहा जाता है। अभिधामूल ध्वनि जिसका अपर नाम विवक्षितान्यपरवाच्यध्वनि है– के मुख्यतः पहले दो भेद किए गए हैं। 1. असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य तथा 2. संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य। असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य को ही रसादिध्वनि कहा जाता है इसके अंतर्गत रस, भाव, रसाभास, भावाभास, भावोदय, भावसंधि, भावशबलता और भावशांति का ग्रहण होता है– रस्यते इति रसः" इस व्युत्पत्ति के अनुसार ये सभी रस कहे जाते हैं। यदि इन सबके भेदों की गणना की जावे तो अनंत होगी इसलिए ध्वनिकार ने भेद गणना में असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य का एक ही भेद गिना है। संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य के भी प्रारंभ में दो भेद किए गए हैं एक शब्दशक्त्युद्भव और दूसरा अर्थशक्त्युद्भव है। शब्दशक्त्युद्भव में वस्तु ध्वनि और अलंकार ध्वनि दो भेद, अर्थशक्त्युद्भव के 12 भेद और उभयशक्त्युद्भव का एक भेद इस प्रकार संलक्ष्यक्रम के कुल 15 भेद और एक असंलक्ष्यक्रम मिलकर 16 भेद, विवक्षितान्यपरवाच्य (अभिधामूलध्वनि) और अविवक्षितवाच्य (लक्षणामूलध्वनि) के दो भेद इस प्रकार 18 भेद होते हैं।

16.8 संदर्भ ग्रंथ सूची

1. ध्वन्यालोक (लोचन सहित), टीकाकार डॉ. रामसागर त्रिपाठी, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली–पटना–वाराणसी, 1989.
2. ध्वन्यालोक, व्या. आचार्य विश्वेश्वर सिद्धान्तशिरोमणी, ज्ञानमण्डल लिमिटेड, वाराणसी, 2009.
3. आनन्दवर्धन ,डॉ. रेवाप्रसाद द्विवेदी, मध्य प्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, भोपाल प्र.सं., 1972.

इकाई 17

आचार्य राजशेखर – एक सामान्य परिचय

इकाई की रूपरेखा

17.0 उद्देश्य
17.1 प्रस्तावना
17.2 आचार्य राजशेखर का जीवन-वृत
17.3 राजशेखर द्वारा वर्णित अन्य देश
17.4 राजशेखर का कृतित्व
17.5 राजशेखर प्रोक्त साहित्याचार्य
17.6 राजशेखर का काव्यशास्त्रीय महत्त्व
17.7 राजशेखर की प्रशस्तियाँ
17.8 काव्य-मीमांसा: विषय-सार
17.9 पारिभाषिक शब्दावली
17.10 अभ्यासार्थ प्रश्न
17.11 सारांश
17.12 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

17.0 उद्देश्य

एम० ए० उत्तरार्द्ध के पाठ्यक्रम कोड **MASA-07** की इकाई **17** आचार्य राजशेखर – एक सामान्य परिचय के अन्तर्गत हम काव्यमीमांसा नामक ग्रन्थ के प्रणेता आचार्य राजशेखर के विषय में सामान्य ज्ञान प्राप्त करने जा रहे है जिसके निम्नलिखित उद्देश्य हैं –

- आचार्य राजशेखर के जीवन के सन्दर्भ में यथा देश एवं काल सम्बन्धी जानकारी का ज्ञान कराना।
- आचार्य राजशेखर का संस्कृत काव्यशास्त्र में क्या योगदान इस तथ्य का ज्ञान कराना।
- आचार्य राजशेखर के सम्बन्ध में संस्कृत वाङ्मय में विद्यमान प्रशस्तियों का ज्ञान।
- आचार्य राजशेखर कृत काव्यमीमांसा (जिसका विस्तृत अध्ययन अग्रिम इकाई में करेंगें) के विषय सार का सामान्य अध्ययन।

17.1 प्रस्तावना

काव्यशास्त्र काव्य और साहित्य का दर्शन तथा विज्ञान है। यह काव्यकृतियों के विश्लेषण के आधार पर समय-समय पर उद्भावित सिद्धांतों की ज्ञानराशि है।युगानुरूप परिस्थितियों के अनुसार काव्य और साहित्य का कथ्य और शिल्प बदलता रहता है; फलत: काव्यशास्त्रीय सिद्धांतों में भी निरंतर परिवर्तन होता रहा है। इस क्रम में नाम आता है आचार्य राजशेखर का ।राजशेखर महाराष्ट्र देशवासी थे और यायावर वंश (क्षत्रिय) में उत्पन्न हुए थे। इनकी माता का नाम शिलावती तथा पिता का नाम दुहिक या दुर्दुक था और वे महामंत्री थे। इनके प्रपितामह अकालजलद का विरद 'महाराष्ट्रचूड़ामणि' था। राजशेखर की पत्नी चौहान कुल की क्षत्राणी विदुषी महिला थी जिसका नाम अवंतिसुंदरी था।

महेंद्रपाल के उपाध्याय होने के साथ ये उसके पुत्र महीपाल के भी कृपापात्र बने रहे। इन दोनों नरेशों के शिलालेख दसवीं शताब्दी के प्रथम चरण (९०० ई. और ९१७ ई.) के प्राप्त होते हैं अत: राजशेखर का समय ८८०-९२० ई. के लगभग मान्य है। राजशेखर की काव्यमीमांसा रीति-रस-अलंकार आदि किसी एक विषय को लेकर लिखी रचना नहीं है, किंतु अपनी नवीन प्रतिभाजन्य शैली द्वारा काव्य एवं कवि के समग्र प्रयोजनीय विषयों का एक महत्वपूर्ण एवं उपयोगी संकलन है। इस ग्रंथ का प्रथम अधिकरण ही उपलब्ध है जिसमें १८ अध्याय हैं। इसका नाम 'कवि रहस्य' है जो वस्तुत: कवि के रहस्य को प्रकट करता है। इसमें कवियों का श्रेणी निर्धारण कवियों के बैठने का क्रम, वेशभूषा आदि कर वर्णन है अत: इसमें प्रधान विषय कविशिक्षा का ही है। एक रोचक कथा को आधार बनाकर प्रवृत्ति, वृत्ति और रीति के संबंध में राजशेखर का कथन है कि काव्यपुरुष के अन्वेषण के समय उनकी प्रिया साहित्यवधू देश के विभिन्न अंचलों में विलक्षण वेशभूषा, विचित्र विलास और नवीन नवीन वचनविन्यास को धारण करती जाती थी। इस प्रकार प्रवृत्ति अर्थात् वेशविन्यासक्रम; वृत्ति अर्थात् विलासविन्यासक्रम और रीति अर्थात् वचनविन्यासक्रम के आधार को लेकर भारत के विभिन्न अंचलों की साहित्यिक संपदा एवं काव्यगत सौंदर्य की समीक्षा के विवेक पर राजशेखर ने विभिन्न प्रदेशों के नाम से विभिन्न काव्यशैलियों का तथ्यमूलक नामाकरण किया है।राजशेखर ने अपने को कविराज कहा है और कवियों की दस श्रेणियों में महाकवि के ऊपर उसको स्थान दिया है। राजशेखर ने अपने को वाल्मीकि, भर्तृमेष्ट और भवभूति की परंपरा का व्यक्त किया है। प्रदेश विशेष के आधार पपर चार प्रवृत्तियाँ मानते हुए भी राजशेखर ने वैदर्भी, गौड़ी और पांचाली, ये तीन ही रीतियाँ मानी हैं। काव्यमीमांसा से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि राजशेखर के विचार में सूक्ष्मतापूर्वक प्रकृतिनिरीक्षण न करना कवि का महान दोष है। काव्यमीमांसा में देशकालविभाग का सुंदर ढंग से निरूपण काव्य में इसी प्रवृत्ति की अवतारणा की दृष्टि से किया गया प्रतीत होता है। 'कविसमय' शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग भी राजशेखर ने ही किया है और इसकी परिभाषा में इसका संकेत भी कर दिया है। परवर्ती अनेक आलंकारिकों ने कविराज राजशेखर का अनुकरण किया है जिनमें क्षेमेंद्र, भोजराज, हेमचंद्र, वाग्भट्ट, केशव मिश्र, अजिसेन, देवेश्वरआदि उल्लेख्य हैं। क्षेमेंद्र ने अपने सुवृत्ततिलक में राजशेखर के शार्दूलविक्रीडित छंद की प्रशंसा की है और औचित्यविचारचर्चा में भी इनका उल्लेख किया है।'बालभारत' या 'प्रचंडपांडव' और 'बालरामायण' क्रमश: रामायण और महाभारत की कथा के आधार पर निर्मित नाटक हैं। ये नाटक संभवत: 'बालानां सुखबोधाय' न होकर राजेश्वर की प्रारंभिक कृतियाँ रही हैं। 'कर्पूरमंजरी' सट्टक में प्रेमकथा निबद्ध है। 'विद्धशालभंजिका' भी एक प्रेमाख्यान है। कर्पूरमंजरी और काव्यमीमांसा प्रौढ़ काल की रचनाएँ हैं। इस इकाई मेंआचार्य राजशेखर के सम्बन्ध में विशद अध्ययन करने जा रहे हैं।

आदिकवि वाल्मीकि, भर्तृमेष्ठ और भवभूति के अनंतर अपनी पीढ़ी की सत्ता को स्वीकार करते हुए कवि सगर्व कहता है-

बभूव वाल्मीकिभवः कविः पुरा, ततः प्रपेदे भुवि भर्तृमेण्ठताम्।
स्थितः पुनर्यो भवभूतिरेखया , स वर्तते सम्प्रति राजशेखरः।।४।।

17.2 आचार्य राजशेखर का जीवन-वृत

राजशेखर महाराष्ट्र देश के निवासी प्रतीत होते हैं।[१] बालरामायण में वे अपने को अकालजलद का प्रपौत्र एवं दुर्दक तथा शीलावती का पुत्र बताते हैं-

तदामुष्यायणस्य महाराष्ट्रचूडामणेरकालजलदस्य चतुर्थो दौर्दुकिः शीलवतीसूनुहपाध्यायश्रीराजशेखर इत्यप्रयाप्तं नहुमानेन।

बालरामायण 1

तथा-तदाकालजलदप्रणप्तुस्तस्य गुणगणः किमिति न वर्न्यते।

-विद्धशालमभंजिका।

इन्होंने अवन्तिसुन्दरी नामकी चौहानबंशी स्त्री से विवाह किया था-
चाहुमानकुलमौलिमालिका राजशेखरकवीन्द्रगेहिनी।
भतुँ कृतिमवन्तिसुन्दरी सा प्रयोक्तुमेवेच्छति॥

-कर्पूरमंजरी १।११

बालरामायण की प्रस्तावना में उन्होंने अपने को 'मंत्रिसुत' कहा है। अतः अनुमान होता है कि इनके पिता किसी राज्य के अमात्य रहे होंगे।[२]

राजशेखर का जन्म-यायावर कुल में हुआ था। यह यायावर वंश कौन था तथा इसका नाम यायावर क्यों पड़ा यह पता नहीं। अनुमान यही होता है कि कभी राजशेखर के पूर्वपुरूष घूमा करते रहे होंगे और उसी आधार पर यह नामकरण हुआ होगा। इसके विपरीत यह भी कहा जा सकता है कि यायावर किसी व्यक्तिविशेष का नाम रहा होगा जिसके आधार पर इस वंश को यायावर कुल कहा जाता था। राजशेखर बहुत बार अपने को यायावरीय कहा है।

यायावर-कुल अपनी विद्वत्ता के लिये विश्रुत था। अकालजलद, सुरानन्द, तरल, कविराज आदि कवियों ने इस वंश को अलंकृत किया। अकालजलद की प्रशस्ति सूक्तिमुक्तावली में दर्शनीय है। अकालजलद को राजशेखर ने महाराष्ट्र-चूड़ामणि कहा है। राजशेखर महाराष्ट्र तथा उसके समीपवर्ती प्रदेशों से पर्याप्त परिचित थे। उनके विषय में क्षेमेन्द्र ने अपने 'औचित्य-विचार-चर्चा' नामक ग्रन्थ में एक मनोरंजक श्लोक उद्धृत किया है:-

कार्णाटीदशनाङिक्तः शित-महाराष्ट्रो-कटाक्ष-क्षतः,
प्रौढान्ध्री-स्तन-पीडितः, प्रणयिनी-भ्रू-भंग-वित्रासितः।
लाटीबाहु-विचेष्टितश्च, मलय-स्त्री-तर्जनी-तर्जितः
सोऽयं सम्प्रति राजशेखरकविर्वाराणसीं वांछति।।

१. काणे, हि० आ० सं० पो०, पृ० ७५।
२. सूक्तिमिंद तेनैव मंत्रिसुतेन॥ -बालरामायण।
३ का० मी० भू०

'कर्णाट-देश की महिलाओं के दाँतों से चिह्नित, महाराष्ट्रियों के तीव्र कटाक्षों से आहत, आन्ध्रदेश की प्रौढ रमणियों के स्तनों से पीड़ित, प्रणयिनियों के कटाक्ष से भयभीत, लाटदेशीय रमणियों के भुजपाशों से अलिङिग्त और मलय-निवासिनी नारियों के तर्जनियों से हटके गये राजशेखर कवि अब वृद्धावस्था में वाराणसी का सेवन करना चाहते हैं।'

इस पद्य से अन्य तथ्यों के अलावा राजशेखर के सार्वदशिक ज्ञान का भी पता लगता है।

किंतु महाराष्ट्र तथा उसके प्रदेशों से घनिष्ठ सम्बन्ध होने पर भी यह प्रतीत होता है कि राजशेखर या उनके परिवार के कन्जौज में अपना निवास बनाया। उन्होंने कन्नौज के प्रतिहार-वंशी राजा महेन्द्रपाल तथा महीपाल को अपना शिष्य बताया है-

आपन्नार्तिहरः पराक्रमधनः सौजन्यवारां निधि-
स्त्यागी सत्यसुधाप्रवाहशशभृत्कान्तः कवीनां गुरुः।

वर्ण्य वा गुणरत्नरोहणगिरैः किं तस्य साक्षादसौ
देवो यस्य महेन्द्रपालनृपतिः शिष्यो रघुप्रामणीः।।

- बालरामायण १।१८

इस आधार पर यह निश्चित प्रतीत होता है कि राजशेखर कन्नौज में आकर बस गये थे। इस प्रकट निर्देश के अतिरिक्त राजशेखर ने जिस पक्षपात के साथ कन्नौज और पांचाल का वर्णन किया है उसके आधार पर यह सुतरां सत्य प्रतीत होता है कि राजशेखर ने अपना स्थायी निवास-स्थान कन्नौज में बनाया था। उदाहरणार्थ इस देश की प्रशंसा करते हुए कहते हैं-

इदं पुनस्ततोऽपिमन्दाकिनीपरिक्षिप्तं महोदयं नाम नगरं दृश्यते।
इदं द्वयं सर्वमहापवित्रं परस्परालङ्करणैकहेतुः।
पुरं च हे जानकि कान्यकुब्जं सरिच्च गौरीपतिमौलिमाला।।

अपि च-

यो मार्गः परिधानकर्मणि गिरां या सूक्तिमुद्राकमे
भङ्गी या कबरीचयेष रचनं यद् भूषणालीषु च।
दृष्टं सुन्दरि कान्यकुब्जललनालोकैरिहान्यच्च य-
च्छिक्षन्ते सकलासु दिक्षु तरसा तत्कौतुकिन्यः स्त्रियः।।

-बालरामायण १०.८9-9०

पांचालों को अन्तर्वेदी का भूषण बताते हुए कह रहे हैं-

इमे अन्तर्वेदीभूषणं पांचालाः
यत्रार्ये ! न तथानुरज्यति कविग्रामीणगीर्गुम्फने
शास्त्रीयासु च लौकिकेषु च यया भव्यासु नव्योक्तिषु।
पांचालास्तव पश्चिमेन त इमे वामा गिरां भाजनाः
त्वद्दृष्टेरतिथीमवन्तु यमुनां त्रिस्त्रोतसं चान्तरा ।।

-वही १०.८६

इसी प्रकार पांचालों के काव्य-पाठ की भी हमारे चरितनायक ने प्रशंसा की है-

मार्गानुगेन निनदेन निधिर्गुणानां सम्पूर्णवर्णरचनो यतिभिर्विभक्तः।
पांचालमण्डलभुवां सुभगः कवीनः श्रोत्रे मधु क्षरति किंचन काव्यपाठः।।

-काव्यमीमांसा अ ० ७

इन वर्णनों के आधार पर राजशेखर का कन्नौज में रहना सिद्ध होता है।

राजशेखर और गुजरात- राजशेखर का गुजरात (लाटदेश) से विशेष प्रेम दिखाई पड़ता है। जहां कहीं भी अनुकूल अवसर मिलता है, महाकवि राजशेखर की उन्मुक्त लेखनी लाटदेश का गुण गाने लगती है। डा० भट्टाचार्य का अनुमान है कि लाटदेश के कवि की घनिष्ठता उसके संरक्षक राजाओं के माध्यम से बढ़ी (काव्यमीमांसा का उपोद्घात पृ० ३४) राजशेखर की कृति कर्पूरमंजरी लाटदेश की है। विद्धशालभंजिका तद्देशीय राजा से ही सम्बद्ध है। बालरामायण में कवि ने इसे पृथ्वी का ललाट माना है-

अयमसावितो विश्वम्भराशिरःशेखर इव लाटदेशः ।। अंक १०

काव्यमीमांसा में लाटवासियों के पाठ-प्रकार का निर्देश है-

पठन्ति लटनं लाटाः प्राकृतं संस्कृतद्विषः।

जिह्वया ललितोल्लापलब्धसौन्दर्यमुद्रया।।

-काव्यमीमांसा

इसी प्रकार बालरामायण में भी वहाँ की स्त्रियों तथा भाषा की प्रशंसा है:-

यद्योनिः किल संस्कृतस्य सुदृशां जिह्वासु यन्मोदते
यत्र श्रोत्रपथावतारिणि कटुर्भाषाक्षराणां रसः।
गद्यं चूर्णपदं पदं रतिपतेस्तत्प्राकृतं यद्वच
स्तांल्लाटांल्ललिताङ्गि पश्य नुदती दृष्टेर्निमेषव्रतम्।।

और-

लक्ष्मीकर्तुं प्रवतोऽपि लाटीलडहवीक्षितैः।
लक्ष्मीभवति कन्दर्पः स्वेषामेवात्र पत्रिणाम्।।

-बालरामायण, अंक १०, ४८-४9

इन उदाहरणों से राजशेखर का लाट-प्रेम सुतरां स्पष्ट है।

राजशेखर की पत्नी- जैसा पहले निर्देश किया जा चुका है राजशेखर की पत्नी चौहानवंशीय कन्या अवन्तिसुन्दरी थीं । अवन्तिसुन्दरी अत्यन्त विदुषी महिला थीं और गम्भीर साहित्यिक विवेचनों से सम्बद्ध थीं । राजशेखर ने इनके मत को तीन बार काव्यमींमासा में उद्धृत किया है। इससे अनुमान होता है कि अवन्तिसुन्दरी ने किसी ग्रन्थ की रचना की थी जो काल की कराल दाढ़ में दब गया। अवन्तिसुन्दरी नाम से यह भी अनुमान हो सकता है कि वे अवन्ति देश की रही हों। अवन्ति देश की रमणियों के विषय में राजशेखर ने उनकी काम-विदग्धता का परिचय दिया है।

'विनावन्तीर्न निपुणाः सुदृशो रतिकर्मणि' **-बालरामायण, अंक १०,**

'कर्पूरमंजरी' सट्टक का प्रथम अभिनय इन्हीं की इच्छा से हुआ था। अवन्तिसुन्दरी संस्कृत के अतिरिक्त प्राकृत भाषा की भी विदुषी थी। हेमचन्द्र ने 'देशीनाममाला' में अवन्तिसुन्दरी के देशी-शब्दकोष का उल्लेख किया है तथा उनके द्वारा जो कई शब्दों के नये अर्थ किये गये हैं उनको भी दिया है। इससे इनके प्राकृतप्रेम का परिचय प्राप्त होता है।

17.3 राजशेखर द्वारा वर्णित अन्य देश

राजशेखर भारत के विभिन्न प्रदेशों से खूब परिचित प्रतीत होते हैं। उन्होंने बालरामायण में अयोध्या तथा लंका के बीच में अवस्थित देशों का वर्णन किया है। काव्यमींमासा के अध्याय १७ में भी देश के विभिन्न भागों का वर्णन मिलता है। इन्हीं का अनुकरण हेमचन्द्र तथा वाग्मट ने किया है। राजशेखर ने आर्यावर्त को पांच भागों में बांटा है: १. पूर्वदेश, २. दक्षिणापथ, ३. पश्चाद्देश, ४. उत्तरापथ, ५. मध्यदेश।

17.4 राजशेखर का कृतित्व

यह प्रश्न भी विवादास्पद ही है कि राजशेखर ने कितने ग्रन्थों का निर्माण किया। स्वयं राजशेखर के अनुसार उन्होंने छह ग्रन्थों की निर्मिति की- विद्धि नः षट् प्रबन्धान्- (बालरामायण १।१२)। पर दैवदुर्विपाक से आज पांच ही उपलब्ध है:- १. बालरामायण; २. बालभारत; ३. विद्धशालभंजिका; ४. कर्पूरमंजरी; ५. काव्यमींमासा। छठा ग्रन्थ 'हरिविलास' था जिसका हेमचन्द्र ने अपने 'काव्यानुशासन-विवेक' में उद्धरण दिया है। अब इन ग्रन्थों का संक्षिप्त परिचय दिया जाता है।

1. बालरामायण- यह दश अंकों का विपुलकाय नाटक है। पूरा नाटक साहित्यिक श्लोकों से भरा है। कवि ने नाटकीयता के साथ ही साथ अपनी उदात्त काव्य-शक्ति का भी परिचय दिया है। इस नाटक

की सबसे प्रशस्त विशेषता एक नाटक में सम्पूर्ण राम चरित को ग्रंथित करने की है। नाटक में कथांश में पर्याप्त नवीनता लाने का प्रयास किया गया है। इसमें दश लम्बे-लम्बे अंक है। कुल ग्रन्थ में ७४१ पद्य है जिनमें ८६ पद्य स्रग्धरा वृत्त में तथा २०० शार्दूलविकीडित में निबद्ध हैं। राजशेखर के शार्दूलविक्रीडित की प्रशंसा तो प्रसिद्ध ही है -

शार्दूलकीडितैरेव प्रख्यातो राजशेखरः।
शिखरीव परं वकैः सोल्लेखैरुच्चशेखरः।।

-सुवृत्ततिलक

बालरामायण में नाटकीयता की अपेक्षा काव्य-गुण का ही मनोरम परिपाक हुआ है। स्वयं कवि ने अपने 'भणिति-गुण' की प्रशंसा की है। इसकी नाटकीयता में जिसे सन्देह हो उसका समाधान स्वयं नाटककार ने पहले ही कर दिया है-

"व्रते यः कोऽपि दोषं महदिति सुमतिबलिरामायणेऽस्मिन्,
प्रष्टव्योऽसौ पटीयानिह भणितिगुणो विद्यते वा न वेति।
यद्यस्ति स्वस्ति तुभ्यं भव पठनरुचि।"

-बालरामायण १।१२

2. बालभारत- इसका दूसरा नाम प्रचण्डपाण्डव भी है। इसमें महाभारत की कथा का नाटकीयरूप प्रस्तुत किया गया है। पर दुर्भाग्यवश इसके आदिम दो अंक ही उपलब्ध हुये हैं। यह भी आशंका की जाती है कि कदाचित् इसके अगले अंकों का निर्माण राजशेखर न कर सके हों। पर इसकी संभावना बहुत ही कम है। यह हो सकता है कि जिस प्रकार काव्यमींमासा के १७ अधिकरण लुप्त हो गये उसी भांति बालभारत के भी अगले अंक कालकोड में समा गये हों।

3. विद्धशालमंजिका- यह राजशेखर विरचित मनोरम नाटिका है और 'स्त्रीप्राया चतुरंकिका' के सिद्धान्तानुसार चार अंकों में विभक्त है। इसमें विद्याधर मल्ल नामक राजकुमार और मृगांकावली तथा कुवलयमाला नाम की दो राजकुमारियों की प्रणयकथा है।

4. कर्पूरमंजरी- यह चार जवनिकान्तरों में विभक्त सट्टक है। इस सट्टक में चण्डपाल राजा तथा कुन्तलदेश की राजकुमारी कर्पूरमंजरी की शादी को बड़ी ही युक्तिमत्ता से दिखाया गया है। यह सट्टक प्राकृतभाषा में निबद्ध है। यह इसकी बड़ी भारी विशेषता है, क्योंकि सट्टक का लक्षण 'प्राकृतभाषा में निबद्ध होना तथा विष्कम्भ प्रवेशक तथा अंक का अभाव होना है।' सट्टकों के विकास में कर्पूरमंजरी ने बहुत ही योगदान किया है और परवर्ती सट्टकों के रूप, कथानक तथा वर्णनपद्धति पर इसका व्यापक प्रभाव पड़ा है।

5. हरविलास- हेमचन्द्र ने अपने काव्यानुशासन-विवेक में राजशेखर के एक पद्य का उदाहरण दिया है जो राजशेखर के नाम से युक्त है-'स्वनामांकता यथा राजशेखरस्य हरविलासे।' उन्हीं ने पुनः हरविलास से दो पद्यों को उद्धृत किया है-

(१) आशीर्यथा हरविलासे-

ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म श्रुतीनां मुखमक्षरम्।
प्रसीवतु सतां स्वान्तेष्वेकं त्रिपुरुषीमयम्।।

(२) सुजन-दुर्जनस्वरूपं यथा हरविलासे-

इतस्ततो भषन्भूरि न पतेत् पिशुनः शुनः।
अवदाततया किंच न भेदो हंसतः सतः।।

इसके अतिरिक्त उणादिसूत्रों पर वृति की रचना करने वाले उज्जवलदत्त ने भी हरविलास का उद्धरण दिया हैः-

'दशाननक्षिप्तखुरप्रखण्डितः क्वचिद् गतार्थो हरिदीधितिर्यया।'

-इति हरविलासे २,२८

भुवनकोश- हरविलास के अतिरिक्त एक 'भुवनकोश' नामक ग्रन्थ का कर्तृत्व भी राजशेखर के मत्थे पड़ता है। इस ग्रन्थ के कर्तृत्व के विषय में स्वयं राजशेखर काव्यमींमासा के १७ वें अध्याय में कहते हैं कि 'यहां मैंने देश विभाग संकेतमात्र से सूचित कर दिया है, जिसको अधिक जानना हो वह मद्विरचित 'भुवनकोश' को देखे-

इत्थं देशविभागो मुद्रामात्रेण सूत्रितः सुधियाम्।
यस्तु जिगीषत्यधिकं पश्यतु मद्भुवनकोशमसौ।।

६. काव्यमीमांसा- जैसा कि पहले दिखाई गई अलंकारशास्त्र की परम्परा से सुस्पष्ट है कि राजशेखर की काव्यमीमांसा सुदूरपूर्व से आती हुई एक परम्परा की कड़ी है। राजशेखर ने काव्यमीमांसा अठारह अधिकरणों में लिखी थी-

इत्यलंकारश्च प्रकीर्णत्वात् सा किंचितदुच्छिदे। इतीयं प्रयोजकांगवती संक्षिप्य सर्वमर्थमल्पग्रन्थेन अष्टादशाधिकरणी प्रणीता।

पर इस अठारह अधिकरणात्मक काव्यमीमांसा का केवल प्रथम अधिकरण ही उपलब्ध है जो अठारह अध्यायों में विभक्त है। अन्य अधिकरण समय की गति से नष्ट हो गये कुछ लोगों ने यह भी संभावना प्रकट की है कि संभवतः राजशेखर सभी अधिकरणों को पूरा न कर सके हों। राजशेखर ने 'रीतयस्तु तिस्रस्तास्तु पुरस्तात्' (१.५), 'तमौपनिषदिके वक्ष्यामः' (१-१०) इत्यादि जो वचन कहे हैं, उनका तो स्पष्ट तात्पर्य यही है कि उन्होंने अवश्य शेष अधिकरणों को पूरा किया होगा। पर दुर्भाग्यवश यह विपुलकाय-ग्रन्थ समग्र रूप में उपलब्ध न हो सका।

17.5 राजशेखर प्रोक्त साहित्याचार्य

राजशेखर ने अपनी काव्यमीमांसा में बहुत से अलंकारिकों के नामों का भी उल्लेख किया है- सुरानन्द, श्यामदेव, वामन, उद्भट, आपराजिति, द्रौहिणि, रुद्रट, वाक्पतिराज, अवन्तिसुन्दरी, आनन्द। इन उल्लेखों से इन आचार्यों के मतों के उस समय प्रचलित होने का पता लगता है। इनमें बहुतों के तो अब नाम-मात्र ही अवशिष्ट रहे हैं।

17.6 राजशेखर का काव्यशास्त्रीय महत्त्व

यहां एक महत्वपूर्ण प्रश्न है कि राजशेखर का साहित्यमीमांसक के रूप में क्या स्थान है? यह निर्विवाद है कि राजशेखर ने कवि तथा नाटककार के रूप में पर्याप्त सफलता तथा ख्याति अर्जित की है। पर यह भी सुतरां सत्य है कि साहित्यमीमांसक के रूप में भी राजशेखर का स्थान नितान्त उन्नत स्पृहणीय है। महामहोपाध्याय डा॰ कणि के अनुसार काव्यमीमांसा अनेकों विषयों का आकार है। प्राचीन काल से चली आ रही अविच्छिन्त्र साहित्यधारा को राजशेखर ने एक बार पुनः गति प्रदान की।

जैसा कि काव्यमीमांसा के प्रथत अध्याय से स्पष्ट है कि उपलब्ध प्रथम अधिकरण अष्टादश अधिकरणात्मिका काव्यमीमांसा का एक अंश मात्र है। राजशेखर द्वारा बतायी सूची के अनुसार काव्यमीमांसा साहित्य के सम्पूर्ण अंगों को व्यापृत किये थी। इस व्यापकता की दृष्टि से राजशेखर सभी आलंकारिकों में मूर्धय हैं और यदि काव्य-मीमांसा अपने पूर्ण रूप में उपलब्ध होती तो अलंकारशास्त्र का इतिहास और समृद्ध तथा व्यापक होता।

राजशेखर के महत्व का इससे भी अनुमान किया जा सकता है कि परवर्ती आचार्यों ने उनको अनेकशः उद्धृत किया है। जिन आचार्यों ने काव्यमीमांसा का उपयोग किया है उनमें क्षेमेन्द्र, भोज, हेमचन्द्र तथा परवर्ती वाग्भट प्रमुख है। अलंकारशेखर एकादश मरीचि के अन्त में राजशेखर का एक श्लोक उद्धृत करता है जो वर्तमान काव्यमीमांसा में अनुलब्ध है। वह श्लोक इस प्रकार है -

अलंकारशिरोरत्नं सर्वस्वं काव्यसम्पदाम्।
उपमा कविवंशस्य मातैवेति मतिर्मम।।

हेमचन्द्र ने ८, 9 एवं १३-१८ अध्यायों की नकल प्रस्तुत की है। इन उल्लेखों के आधार पर राजशेखर का व्यापक प्रचार तथा महत्व दर्शित होता है।

काव्यमीमांसा में काव्यपुरुष की कल्पना राजशेखर की एक अनोखी देन है। प्रतीत यह होता है कि राजशेखर ने यह भावना वेद-पुरुष के आधार पर ग्रहण की है। इसके अनुसार ''वाणी की अधिष्ठात्री सरस्वती देवी हिमवान् पर्वत पर पुत्र-प्राप्ति की इच्छा से तपस्या कर रही थीं। उनकी तपस्या से सन्तुष्ट प्रजापति ब्रह्मा ने उन्हें एक पुत्र-रत्न दिया जो बाद में काव्य-पुरुष के नाम से विख्यात हुये। उन्हीं ने सर्वप्रथम छन्दोमयी वाणी आविर्भूत हुई। इस काव्य-पुरुष के शरीर की निर्मिति शब्दार्थ से हुई है। विभिन्न भाषायें उनके अंग हुई। एक समय जब सरस्वती देवी ब्रह्मा द्वारा श्रुतिविषयक ऋषियों के विवाद में निर्णायिका बनाई गयीं तो उनके ब्रह्मलोक में जाते समय उन काव्यपुरुष ने भी उनका अनुधावन किया। सरस्वती ने उन काव्यपुरुष को मना किया पर जब वे नहीं माने तो उन्हें रोकने के लिए साहित्यविद्यावधू का निर्माण किया। उस साहित्यविद्यावधू ने काव्यपुरुष को आकर्षित करने के लिए नाना वस्त्राभरणों को धारण किया। यात्रान्त होते-होते काव्यपुरुष को मुग्ध कर लिया। फिर वत्सुगुल्म में दोनों का गान्धर्वरीति से विवाह हो गया। जिन-जिन प्रदेशों में साहित्य-विद्यावधू ने जो आभरण तथा सज्जा सज्जित की वहां के लोग उसमें अभ्यस्त हुये।'' इस आख्यान में राजशेखर ने एक नवीन घटना की सृष्टि की है। यद्यपि वस्तुतः यह देवशास्त्रात्मक (मिथिकल) ही है, पर एक नवीन कल्पना की सृष्टि में यह एक अनोखी वस्तु है।

राजशेखर का महत्व अलंकार-शास्त्र का क्रमबद्ध इतिहास-निर्माण करने की दृष्टि से भी है। उन्होंने अनेकों पूर्व आचार्यों का नामकः उल्लेख किया है, जिससे उन आचार्यों की पूर्वभाविता तथा प्रचार का पता लगता है।

प्राचीन भारतीय भूगोल की जानकारी के लिए भी काव्यमीमांसा सुतरां उपादेय है। विभिन्न देशों की स्थिति का उन्होंने निर्देश किया है। इसके अतिरिक्त प्राचीन भारत में किस देश के लोग किस भाषा में विदग्ध तथा किसमें असमर्थ होते थे इसका पता देना राजशेखर की अपनी विशेषता है। किस प्रकार लोग भाषा का उच्चारण करते हैं इसका भी हमें पता लगता है।

संक्षेप में राजशेखर का स्थान संस्कृतसाहित्यशास्त्र में ऊंचा है तथा एक सीमित क्षेत्र में उन्होंने परवर्ती साहित्यशास्त्र पर खास प्रभाव डाला है

17.7 राजशेखर की प्रशस्तियाँ

यायावरः प्राज्ञवरो गुणज्ञैराशंसितः सूरिसमाजवर्यैः।
नृत्यत्युदारं भणितेर्गुणस्था नटीव यस्योढरसा पदश्रीः।। १।।

-सोड्ढलः उदयसुन्दरी, उच्छवास ८

समाधिगुणशालिन्यः प्रसन्नपरिपवित्रमाः।
यायावरकवेर्वाचो मुनीनमिव वृत्तयः।। २।।

-धनपाल, तिलकमंजरी ३३

पातुं कर्णरसायनं रचयितुं वाचं सतां संमतां
व्युत्वत्ति परमामवाप्तुमवधिं लब्धुं रसस्त्रोतसः।
भोक्तुं स्वादुकलं च जीविततरोर्यद्यस्ति ते कौतुकं
तद् भ्रातः श्रृणु राजशेखरकवेः सूक्तीः सुधास्यन्दिनीः।। ३।।

- शंकरवर्मा

बभूव वल्मीकिभवः कविः पुरा
ततः प्रपेदे भुवि भर्तृमेण्ठताम्।
स्थितः पुनर्यो भवभूतिरेखया
स वर्तते सम्प्रति राजशेखरः।।४।।

- राजशेखरः बालभारत

सौन्दर्याङ्कुरकन्दसुन्दरकथासर्वस्वसीमन्तिनी-
चित्ताकर्षणमन्त्रसन्मथसरित्कल्लोलवाग्वल्लभ।
सौभाग्यैकनिवेश पेशलगिरामाधार धैर्याम्बुधे
धर्मादिद्रुम राजशेखरसखे दुष्टोऽसि यामो वयम्।।५।।

- अभिनन्द

बालकविः कविराजो निर्भयराजस्य तथोपाध्यायः।
इत्येतस्य परम्परया आत्मा माहात्म्यमारूढः।।६।।

- आपराजिति (कर्पूरमंजरी १।9)

कर्णाटीदशनांकितः शिवमहाराष्ट्रीकटाक्षाहतः
प्रौढान्ध्रीस्तनपीडितः प्रणयिनीभ्रूभङ्गवित्रासितः।
लाटीबाहुविवेष्टितश्च मलयस्त्रीतर्जनीतर्जितः
सोऽयं सम्प्रति राजशेखरकविः वाराणसीं वांछति।।७।।

- राजशेखर

17.8 काव्य-मीमांसा: विषय-सार

प्रथम अध्याय

इस अध्याय में राजशेखर ने बताया है कि श्रीकण्ठ ने परमेष्ठी, वैकुण्ठ आदि चैंसठ शिष्यों को काव्य-शास्त्र का उपदेश दिया। परमेष्ठी ब्रह्मा ने अपने शिष्य अयोनिज ऋषियों का इसका उपदेश किया। इसमें काव्यपुरुष सर्वश्रेष्ठ थे। प्रजापति ने प्रजाओं की हितकामना से भविष्यदर्थ के ज्ञाता तथा त्रिकालज्ञ उन काव्यपुरुष को काव्यविद्या के प्रचार के लिए नियुक्त किया। काव्यपुरुष ने अष्टादश अधिकरणों वाली काव्यविद्या को विस्तार के साथ शिष्यों को उपदिष्ट किया। इन अठारह अधिकरणों में विद्या के विस्तार के साथ शिष्यों ने विशेष विषयों पर अपने-अपने ग्रन्थ रचे। सहस्त्राक्ष ने कविरहस्य पर, उक्तिगर्भ ने उक्ति पर, सुवर्णनाम ने रीति-निर्णय पर, यम ने यमक पर, प्रचेता ने अनुप्रास पर, चित्रांगद ने चित्रकाव्य पर, शेष ने शब्दलेष पर, पुलस्त्य ने स्वभावोक्ति पर, औपकायन ने उपमा पर, पराशर न अतिशयोक्ति पर, उतथ्य ने अर्थश्लेष पर, कुबेर ने उभयालंकार पर, कामदेव ने हास्य पर, भरत ने रूपक पर, नन्दिकेश्वर ने रस पर, धिषण ने दोष पर, उपमन्यु ने गुण पर और कुचमार ने औपनिषदिक विषयों पर ग्रंथ लिखा।

द्वितीय अध्याय

इस अध्याय में शास्त्र का निर्देश किया गया है। वाङ्मय दो प्रकार का हैं- १. काव्य और २. शास्त्र। शास्त्र का अध्ययन कर ही काव्य में प्रवेश करना चाहिये। काव्यज्ञान के लिये शास्त्र की उपयोगिता दीपकवत् हैं। शास्त्र दो प्रकार का है- पौरुषेय और अपौरुषेय। अपौरुषेय में मंत्र-ब्राह्मणमयी युति है। क्रिया-तन्त्र के प्रकाशक मन्त्र हैं। मंत्रों की स्तुति-निन्दा के विनियोगात्मक ब्राह्मण हैं। ऋग्, यजुः, साम-इन्हें त्रयी कहा जाता है। अथर्वन् चैथा वेद है। अर्थानुसार छन्दोबद्ध भाग ऋचा कहे जाते है। वे ही गीति-युक्त होने पर साम होते हैं। अछन्दोमय तथा अगीतिमय यजुष् हैं। ऋक्, यजुः और साममय अथर्ववेद है- ये ही चार वेद हैं। इतिहास-वेद, धनुर्वेद, गांधर्व-वेद और आयुर्वेद-ये चार उपवेद हैं। शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष ये छह वेदांग है। उपकारक होने से सातवां अंग अलंकार है।

तृतीय अध्याय

एक बार शिष्यों ने बृहस्पति से पूछा- 'प्रभो! यह सरस्वतीपुत्र काव्यपुरुष कौन है?' 'ब्रहस्पति ने शिष्यों को बताया कि एक बार पुत्र की इच्छा से सरस्वती ने हिमालय पर तपस्या की। प्रसन्न होकर ब्रह्मा ने कहा कि मैं तुम्हारे लिये पुत्र की रचना करता हूं। सरस्वती ने काव्यपुरुष को उत्पन्न किया, जिसने जन्म लेते ही छन्दोमयी वाणी में सरस्वती की वन्दना की। सरस्वती ने प्रसन्न होकर कहा- 'पुत्र! तू तो मुझसे भी बढ़ गया। तुमसे पूर्ववर्ती लोगों ने गद्य ही देखा था पद्य नहीं। सारी भाषायें एवं काव्यांग तेरे शरीर तथा अवयव हैं। अब तू बच्चे जैसी चेष्टा कर।'

चतुर्थ अध्याय

इस अध्याय में पदवाक्य का विवेक वर्णित है। कवि दो प्रकार के होते हैं- बुद्धिमान और आहार्यबुद्धि। जिसकी बुद्धि स्वभावतः शास्त्र का अनुधावन करती है वह बुद्धिमान है और जिसकी बुद्धि शास्त्राभ्यास से संस्कृत होती है वह आहार्यबुद्धि है। बुद्धि भी तीन प्रकार की है- स्मृति, मति और प्रज्ञा। वर्तमान विषयों का मनन करने वाली बुद्धि मति है। बीते हुये अर्थ का स्मरण करने वाली स्मृति है। बुद्धिमान व्यक्ति सुनने की इच्छा करता है, सुनता है, ग्रहण करता है, धारण करता है, जानता है, कल्पना करता है और तत्त्व को प्राप्त करता है। आहार्यबुद्धि के भी वे ही गुण हैं, यद्यपि उसे पथ-प्रदर्शक की आवश्यकता होती है।

पंचम अध्याय

आचार्यों की धारणा है कि बहुज्ञता ही व्युत्पत्ति है, क्योंकि कवि की वाणी चतुर्दिक् प्रसृत होती है। राजशेखर की राय में उचित-अनुचित-विवेक ही व्युत्पति है। आनन्दवर्धन के अनुसार प्रतिभा और व्युत्पति में प्रतिभा ही श्रेष्ठ है, क्योंकि वह कवि के अव्युत्पतिजन्य दोष को ढंक लेती है। पर अशक्तिजन्य दोष नहीं छिपता। शक्ति शब्द का लाक्षणिक अर्थ प्रतिभा है। पर आनन्दवर्धन के विरूद्ध मंगल आचार्य कहते हैं कि व्युत्पति ही वरीयसी है, वह कवि के अशक्तिजन्य दोष को आच्छादित कर देती है। राजशेखर समन्वय करते हुये कहते है कि प्रतिभा और व्युत्पति दोनों एक साथ ही श्रेष्ठ है। जैसे लावण्य के बिना सौन्दर्य तथा सौन्दर्य के बिना लावण्य फीका है, वैसे ही इन दोनों की स्थिति है। प्रतिभा और व्युत्पति से युक्त कवि ही कहा जाता है।कवि तीन प्रकार के होते हैं- १. शास्त्रकवि, २. काव्यकवि, ३. उभयकवि। श्यामदेव नामक आचार्य के अनुसार इन तीनों में उत्तरोत्तर श्रेष्ठ हैं। पर राजशेखर कहते हैं कि नहीं। अपने-अपने विषय में सभी श्रेष्ठ हैं। शास्त्र और काव्य का परस्पर उपकारक-उपकार्य सम्बन्ध है। शास्त्रसंस्कार काव्य का उपकारक है पर शास्त्रैकप्रवणता अनुपकारक।

षष्ठ अध्याय

इस अध्याय में सर्वप्रथम पद की व्याख्या की गई है और उसकी सुप्, समास, तद्धित, कृत् और तिङ्, ये पांच वृत्तियाँ बतायी गई हैं। पदजात अनन्त कहे गये हैं। तदनन्तर वाक्य की व्याख्या है। इसके तीन अभिधा व्यापार कहे गये हैं- १. वैभक्त, २. शाक्त और ३. शाक्तवैभक्त। इन तीनों की उदारणमुखेन व्याख्या प्रस्तुत की गई हैं।

सप्तम अध्याय

पुराणादि के मतानुसार निर्मातृ-भेद से वाक्य तीन प्रकार के हैं- १. ब्राह्म, २. शैव, तथा ३. वैष्णव। ब्राह्मवचन के पांच भेद बताये गये हैं- १. स्वायम्भुव, २. ऐश्वर, ३. आर्ष, ४. आर्षीक और ५. आर्षिकपुत्रक। स्वयम्भू ब्रह्मा को कहते हैं और उनका वचन स्वायम्भुव हुआ। ब्रह्मा के भृग्वंगिरा आदि मानसपुत्र ईश्वर नाम से अभिहित किये जाते हैं, अतः इनके वचन ऐश्वर हैं। भृग्वंगिरा आदि के पुत्र ऋषि कहे जाते हैं अतः उनके वचन आर्ष हुये।इन ऋषियों के पुत्रों की संज्ञा ऋषिक है और उनके वचन आर्षीक हुये। ऋषीक-पुत्रों के वचन आर्षिकपुत्रक हैं।

अष्टम अध्याय

इस अध्याय में काव्ययोनि अर्थात् काव्य के स्त्रोत कौन हैं, इसका वर्णन किया गया है। काव्यार्थ की सोलह योनियां बतायी गयी हैं - श्रुति, स्मृति, इतिहास, पुराण, प्रमाणविद्या, समयविद्या, राजसिद्धान्तत्रयी, लोक, विरचना, प्रकीर्णक उचितसंयोग, योक्तृसंयोग, उत्पाद्यसंयोग, और संयोगविकार।

नवमं अध्याय

इस अध्याय के अर्थ के सात प्रकार बताये गये हैं- १. पातालीय, २. मत्र्य-पातालीय, ३. दिव्य-पातालीय, ४. दिव्यमत्र्य-पातालीय, ५. दिव्य, ६. दिव्यमानुष और ७. मानुष। इनमें दिव्यमानुष चार तरह के होते हैं- १. दिव्य का मत्र्यागमन और मत्र्य का दिव्यागमन, २. दिव्य के मत्र्य होने और मत्र्य के दिव्य होने, ३. दिव्य इतिवृति की परिकल्पना और ४. प्रभाबाविर्भूतदिव्यता। इन वाक्यों की सोदाहरण व्याख्या है। तदनन्तर विषयों की असीमता तथा अर्थों की अनन्तता बताई है। अर्थो को दो भागों में बांटा गया है-१. विचारित सुस्थ तथा २. अविचारित रमणीय। पहला शास्त्रों का विषय है, दूसरा काव्य का।

दशम अध्याय

काव्यमीमांसा के दशवें अध्याय का एक विशेष महत्त्व है। वस्तुतः यह कवियों का आचार-कोश है। प्रारम्भ में नाम-धातु-पारायण आदि काव्यविद्याओं तथा काव्यमातृकाओं की गणना है। तदनन्तर कवि के घर, परिचारक, मित्र, लेखक तथा उसके घर की भाषा की व्यवस्था है। इसमें बताया गया है कि कवि का प्रसाधन कैसा हो।

एकादश अध्याय

एकादश अध्याय में हरण का विषय प्रारम्भ किया है। शब्दार्थ हरण में शब्द-हरण पांच प्रकार का है। १. पद की दृष्टि से, २. पाद की दृष्टि से, ३. आधे पद्य की दृष्टि से, ४. वृत की दृष्टि से और ५. प्रबन्ध की दृष्टि से। इन पांचों भेदों का सोदाहरण वर्णन किया गया है। प्राचीन आचार्यों की दृष्टि में एक दो पद का हरण वस्तुतः हटता नहीं है, पर राजशेखर की राय में ऐसी बात नहीं। उनके अनुसार केवल श्लिष्ट पद का हरण ही अदोशकर है। राजशेखर ने बताया है कि उद्धरण के रूप में किसी प्राचीन कवि के पद या पाद का हरण नहीं, अपितु स्वीकरण है।

द्वादश अध्याय

इस अध्याय में अर्थ हरण का विवेचन है। प्राचीन आचार्यों की सम्मति में प्राचीन कवियों की विपुल रचनाओं के कारण नवीन कल्पनाओं का अभाव हो गया है, अतः नवीन कवियों को उसी को मांजना चाहिये। पर वाक्पतिराज नामक आचार्य की राय उन से भिन्न हैं। वे कहते हैं कि 'वाणी के समुद्र से यद्यपि कल्प के आरम्भ से ही कविगण रत्न लेते रहे, पर आज भी वह सागर रिक्त नहीं है और उसमें पर्याप्त नये विषय हैं।' यही मत राजशेखर का भी है। सारस्वत दृष्टि दृष्टादृष्ट सभी क्षेत्रों में विचरण करती है।' जहां तक कवि देखते हैं वहां देवताओं का भी प्रवेश नहीं।

त्रयोदश अध्याय

इस अध्याय में आलेख्य-प्रख्य, तुल्यदेहितुल्य, तथा परपुर-प्रवेश सदृश-अर्थ के इन तीन प्रकारों में प्रत्येक के आठ-आठ भेद बताये गये हैं। आलेख्य-प्रख्य के आठ भेद हैं- १. समक्रम, २. विभूषणमोष, ३. व्युत्क्रम, ४. विशेषोक्ति, ५. उत्तंस, ६. नटनेपथ्य, ७. एकपरिकार्य, और ८. प्रत्यापति।

चतुर्दश अध्याय

इस अध्याय से कवि-समय का विवेचन प्रारम्भ किया गया है। अशास्त्रीय, अलौकिक परम्पराप्राप्त अर्थ का अनुबन्धन ही कविसमय है। वैसे तो अशास्त्रीय और अलौकिक अर्थ का निबन्धन दोष है, पर राजशेखर का अभिमत है कि प्राचीन विद्वानों ने वेदों एवं शास्त्रों का अध्ययन कर और देशान्तरों का परिभ्रमण कर जिन अर्थों को उपनिबद्ध किया उनका देशकालादि भेद से परिवर्तन हो जाने पर भी उसी रूप में वर्णन करना चाहिए-यही कवि-समय है।

पंचदश अध्याय

इस अध्याय में गुणगत कविसमय की स्थापना की गई है। इस अध्याय में यह दर्शाया गया है कि कविसमय के अनुसार हास्य का रंग शुक्ल, पाप का कृष्ण, क्रोध-अनुराग आदि का रक्त है। इनकी सोदाहरण व्याख्या की गई है।

षोडश अध्याय

इस अध्याय में स्वग्र्य तथा पातालीय कवि-समय का विवेचन है। भौम कवि-समय के समान ही स्वग्र्य कविसमय भी है, चन्द्रस्थ कलंक में शशक और हरिण का ऐक्य।

सप्तदश अध्याय

यह भूगोल से सम्बद्ध अध्याय है। इसमें देश-विभाग का वर्णन है। कुछ लोगों की राय है कि जगत् एक ही है तो कुछ लोग कहते हैं कि द्यावा-पृथिवी-भेद से दो लोक है। कुछ लोगों के अनुसार- स्वर्ग, भूमि और पाताल तीन लोक हैं। इन तीन लोकों का नाम कुछ लोग भूः, भुवः और स्वर्ग भी देते हैं। अन्य लोग इन तीनों लोकों में महा, जनः, तपस् और सत्य इन चार लोकों को मिला कर सात लोक मानते हैं। ये ही सात लोक सात वायु-स्कन्धों के साथ मिलकर चौदह हो जाते हैं। इनमें सात पातालों को जोड़कर इनकी संख्या इक्कीस होती है- ऐसा भी कुछ लोग मानते हैं। इन लोकों में भूलोक तो पृथ्वी है जिससे जम्बू, प्लक्ष, शाल्मल, कुश, क्रोंच, शक और पुष्कर ये सात द्वीप हैं। ये सातों द्वीप क्रमशः लवण, रस, सुरा, घृत, दधि, दूध और मधुर जल से घिरे हैं। इसके विपरीत कुछ लोग तीन तथा कुछ लोग चार समुद्रों की स्थिति मानते हैं।

अष्टादश अध्याय

इस अध्याय में काल का स्वरूप दर्शाया गया है। पन्द्रह निमेषों की एक काष्ठा, तीस काष्ठाओं की एक कला, तीस कलाओं की एक मुहूर्त और तीस मुहूर्तों का एक रात-दिन (अहोरात्र) होता है। चैत्र के बाद तीन महीनों में प्रतिदिन दिन की वृद्धि और रात्रि की हानि होती है। इसके बाद रात्रि बढ़ती है और आश्विन में दोनों समान होते हैं। इसके बाद तीस मास तक रात्रि बढ़ती है और दिन घटता है। सूर्य का एक राशि से दूसरी राशि में संक्रमण मास कहा जाता है। एक वर्ष में दो अयन होते हैं-वर्षा आदि तीन ऋतुएं दक्षिणायन की हैं और शिशिरादि तीन उत्तरायण की। पन्द्रह दिनों का एक पक्ष होता है। जिसमें चन्द्रमा बढ़े वह शुक्लपक्ष तथा जिसमें क्षीण हो वह क कृष्णपक्ष है। यह पित्र्य मासमान हैं। इसके उल्टा चान्द्र मास होता है अर्थात् पहले कृष्ण फिर शुक्ल पक्ष इसमें होता है। दो महीने की एक ऋतु होती है। ज्योतिषियों के अनुसार चैत्र से वर्ष प्रारम्भ होता है और गृहस्थों के लिये श्रावण से। वर्षा ऋतु में पूर्वीय वायु, शरद् में अनिश्चित वायु, हेमन्त में पश्चिमी वायु, शिशिर में उतरीय या पश्चिमी और ग्रीष्म में अनिश्चित वायु बहती हैं। इसके अनन्तर किस ऋतु में कवि को किन-किन पदार्थों का उपन्यास करना चाहिये यह दर्शाया गया है।

17.9 पारिभाषिक शब्दावली

यायावरीय - राजशेखर के पूर्वपुरूष घूमा करते रहे होंगे और उसी आधार पर यह नामकरण हुआ होगा। इसके विपरीत यह भी कहा जा सकता है कि यायावर किसी व्यक्तिविशेष का नाम रहा होगा जिसके आधार पर इस वंश को यायावर कुल कहा जाता था। राजशेखर बहुत बार अपने को यायावरीय कहा है।

आर्यावर्त – आर्यो ने जिसे आवृत्त कर रखा है । राजशेखर ने आर्यावर्त को पांच भागों में बांटा हैः १. पूर्वदेश, २. दक्षिणापथ, ३. पश्चाद्देश, ४. उत्तरापथ, ५. मध्यदेश।

वाङ्मय दो प्रकार का हैं- १. काव्य और २. शास्त्र। शास्त्र का अध्ययन कर ही काव्य में प्रवेश करना चाहिये। काव्यज्ञान के लिये शास्त्र की उपयोगिता दीपकवत् हैं।

शास्त्र - शास्त्र दो प्रकार का है- पौरुषेय और अपौरुषेय। अपौरुषेय में मंत्र-ब्राह्मणमयी युति है।

त्रयी - ऋग्, यजुः, साम-इन्हें त्रयी कहा जाता है। अथर्वन् चैथा वेद है।

ऋचा - अर्थानुसार छन्दोबद्ध भाग ऋचा कहे जाते है।

साम - अर्थानुसार छन्दोबद्ध भाग गीति-युक्त होने पर साम होते हैं।

यजुष् -अछन्दोमय तथा अगीतिमय यजुष् हैं।

उपवेद - इतिहास-वेद, धनुर्वेद, गांधर्व-वेद और आयुर्वेद-ये चार उपवेद हैं।

वेदांग - शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष ये छह वेदांग है।

बुद्धिमान - जिसकी बुद्धि स्वभावतः शास्त्र का अनुधावन करती है वह बुद्धिमान है।

आहार्यबुद्धि - जिसकी बुद्धि शास्त्राभ्यास से संस्कृत होती है वह आहार्यबुद्धि है।

बुद्धि - बुद्धि भी तीन प्रकार की है- स्मृति, मति और प्रज्ञा।

मति - वर्तमान विषयों का मनन करने वाली बुद्धि मति है। बीते हुये अर्थ का स्मरण करने वाली स्मृति है।

स्मृति - बीते हुये अर्थ का स्मरण करने वाली स्मृति है।

17.10 अभ्यासार्थ प्रश्न

1. आचार्य राजशेखर कृत किन्ही दो ग्रन्थों के नाम लिखिए ?
2. सर्वसम्मतरूप में आचार्य राजशेखर का कालसमय कितना माना गया ?
3. काव्यमीमांसा के काव्यशास्त्रीय महत्त्व को संक्षेप में प्रतिपादित किजिए?
4. आचार्य राजशेखर किन किन साहित्यकारों का उल्लेख किया है ? संक्षेप में समझाइये ?
5. भारतीय अलंकार शास्त्र के राजशेखर चूडामणि है ? इसे संक्षेप में समझाइये ?
6. राजशेखर के व्यक्तित्व एवं कृतित्व पर एक निबन्ध लेख लिखिए ?

17.11 सारांश

राजशेखर महाराष्ट्र देशवासी थे और यायावर वंश (क्षत्रिय) में उत्पन्न हुए थे । इनकी माता का नाम शिलावती तथा पिता का नाम दुहिक या दुर्दुक था और वे महामंत्री थे। इनके प्रपितामह अकालजलद का विरद 'महाराष्ट्रचूड़ामणि' था। राजशेखर की पत्नी चौहान कुल की क्षत्राणी विदुषी महिला थी जिसका नाम अवंतिसुंदरी था। राजशेखर की काव्यमीमांसा रीति-रस-अलंकार आदि किसी एक विषय को लेकर लिखी रचना नहीं है, किंतु अपनी नवीन प्रतिभाजन्य शैली द्वारा काव्य एवं कवि के समग्र प्रयोजनीय विषयों का एक महत्वपूर्ण एवं उपयोगी संकलन है। राजशेखर का समय ८८०-९२० ई. के लगभग मान्य है । इस प्रकार इस इकाई में हमने आचार्य राजशेखर के कृतित्व एवं व्यक्तित्व के बारे में विशद ज्ञान प्राप्त किया ।

17.12 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. राय, गंगासागर, काव्यमीमांसा, चौखम्भा विद्याभवन वाराणसी, 2007.
2. त्रिपाठी, श्री कृष्णमणि, काव्यमीमांसा, चौखम्भा सुरभारती वाराणसी, 2014.
3. शुक्ल, पं० वेदव्यास, काव्यमीमांसा, चौखम्भा सुरभारती वाराणसी, 2011.
4. Vijayan, V.K., Creative Writings in Sanskrit (Studies in Rajshekhars Kavyamimasa),University of Calicut, 2012.

इकाई -18

राजशेखर कृत काव्यमीमांसा ग्रन्थ के प्रमुख प्रतिपाद्य

इकाई की रूपरेखा

18.0 उद्देश्य
18.1 प्रस्तावना
18.2 शास्त्र –
18.2.1 शास्त्रसङ्ग्रहः - प्रथम अध्याय
18.2.1.1 काव्यविवेचन
18.2.2.2 अष्टादश प्रकरणी (काव्यमीमांसा ग्रन्थ) का परिचय
18.2.2 शास्त्रनिर्देशः द्वितीय अध्याय
18.2.2.1 वाङ्मय विभाजन
18.2.2.2 विद्यास्थान
18.2.2.3 सूत्रावृतिभाष्यादि अन्य पारिभाषिक पदों का अन्वाख्यान
18.3 काव्यपुरूषोत्पत्तिः - तृतीय अध्याय
18.3.2 काव्य पुरुष का भ्रमण
18.3.1 काव्यपुरुष की उत्त्पति
18.3.3 रीति- वृत्ति- प्रवृत्ति
18.4 शिष्यप्रतिभे – चतुर्थ अध्याय
18.4.1 शिष्य-भेद –
18.4.2 बुद्धि भेद
18.4.3 प्रतिभा –
18.5 व्युत्पत्तिविपाकाः – पञ्चम अध्याय
18.5.1 व्युत्पत्ति विवेचन
18.5.2 कवि-भेद
18.5.3 शास्त्र एवं काव्य कवि के अवान्तर भेद
18.5.4 विपाक
18.6 पदवाक्यविवेकः
18.6.1 पद विवेक
18.6.1 वाक्य विवेक
18.7 वाक्यविधि – सप्तम अध्याय
18.7.1 वाक्यविधि
18.7.2 काकुप्रकार
18.7.3 पाठप्रतिष्ठा
18.8 वाक्यार्थयोनि- अष्टम अध्याय
18.9 अर्थानुशासन- अष्टम अध्याय
18.9.1 अर्थ के मूल प्रकार

18.9.2 अर्थ के अवान्तर प्रकार

18.10 कविचर्या एवं राजचर्या - नवम अध्याय

18.10.1 कविचर्या

18.10.2 राजचर्या

18. 11 शब्दार्थहरणः – एकादश अध्याय

18. 12 अर्थहरणोपायाः – द्वादश अध्याय

18. 13 अर्थहरणेष्वालेख्यप्रख्यादिभेदाः – त्रयोदश अध्याय

18. 14 कविसमयः चतुर्दश अध्याय

18. 15 गुणगतसमयस्थापना – पञ्चदश अध्याय

18. 16 स्वर्ग्यपातालीयरहस्यस्थापना – षोडश अध्याय

18. 16.1 स्वर्ग्य कविसमय

18. 16.2 पातालीय कविसमय

18. 17 देशकालविभागः – सप्तदश अध्याय

18. 17.1 जगत् या लोक

18. 17.2 महाद्वीप एवं समुद्र

18. 17.3 पर्वत

18. 17. 4 भारतवर्ष

18.18 भुवनकोषः- अष्टादश अध्याय

18.18.1अहोरात्र (दिन तथा रात)-

18.18.2 संवत्सर

18.18.3 मास

18.18.4 ऋतु

18.19 पारिभाषिक शब्दावली

18.20 अभ्यासार्थ प्रश्न

18.21 सारांश

18.22 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

18.0 उद्देश्य

एम० ए० उत्तरार्द्ध के पाठ्यक्रम कोड MASA-07 की इकाई 18 (राजशेखर कृत काव्यमीमांसा ग्रन्थ के प्रमुख प्रतिपाद्य) के अन्तर्गत हम काव्यमीमांसा नामक ग्रन्थ के १८ अध्यायों में प्रतिपादित विषयों का ज्ञान प्राप्त करने जा रहे है जिसके निम्नलिखित उद्देश्य हैं –

1. काव्यशास्त्र का उद्गम एवं विकास, काव्यमीमांसा के कलेवर, राजशेखर के अनुसार संस्कृत वाङ्मयके विभाजन का ज्ञान।
2. काव्यपुरुष की उत्पत्ति की कल्पना, तदनुसार रीति-वृत्ति-प्रवृति का विकास, शिष्य, प्रतिभा, व्युत्पत्ति, पद, वाक्य एवं अर्थ इत्यादि के विभिन्न भेदों का ज्ञान।
3. कवि तथा राजा का आचरण , शब्द तथा अर्थ के हरण की विधि एवं भेदों का ज्ञान।
4. कविसमय एवं कविसमय के विविध भेदों का ज्ञान।
5. देश तथा काल के विभाजन का विशद ज्ञान।

18.1 प्रस्तावना

काव्यमीमांसा कविराज राजशेखर कृत संस्कृत काव्यशास्त्र का मुख्य ग्रंथ है। अधुना काव्यमीमांसा मात्र १८ अध्याय ही मिलते हैं। १९वाँ अध्याय 'भुवनकोश' अप्राप्त है। काव्यमीमांसा के प्रथम अध्याय के अनुसार अट्ठारह अधिकरणों में अतिसंक्षेप में लघुग्रन्थ के रूप में सामान्यजन सुबोधगम्य बनाने का राजशेखर ने अपने ग्रन्थ काव्यमीमांसा में श्लाघनीय प्रयास किया है। काव्यमीमांसा के अष्टादश प्रकरण निम्नलिखित है -1. शास्त्रसंग्रह 2. शास्त्रनिर्देश 3. काव्यपुरुषोत्पत्ति 4. शिष्यप्रतिभा 5. व्युत्पत्तिकविपाक 6. पदवाक्यविवेक 7. वाक्यविधि 8. काकुप्रकार 9. पाठप्रतिष्ठा 10. वाक्यार्थयोनि 11. अर्थानुशासन 12. कविचर्या 13. राजचर्या 14. शब्दार्थ हरणोपाय 15. कविविशेष 16. कवि समय 17. देशकाल विभाग 18. भुवनकोष। प्रथम अध्याय में राजशेखर ने काव्यशास्त्र के मूल स्रोत पर प्रकाश डालने के अतिरिक्त इसके अंतर्गत परिगणित होनेवाले विषयों की लंबी सूची भी दी है। दूसरे अध्याय में वैदिक वांमय और उत्तरवदिक साहित्य के सन्दर्भ में काव्यशास्त्र का स्थान निश्चित करने के उपरांत, इसको सातवाँ वेदांग (वेदांग छह हैं) तथा १५वीं विद्या (विद्याएँ १४ हैं) कहा गया है। तीसरे अध्याय में ब्रह्मा एवं सरस्वती से काव्यपुरुष की उत्पत्ति, वाल्मीकि एवं व्यास से उसका संबंध, काव्यपुरुष का साहित्यविद्या से विवाह, पति पत्नी का भारत भर में भ्रमण और उनसे विभिन्न स्थानों पर वृत्तियों, प्रवृत्तियों तथा रीतियों का जन्म तथा अंत में काव्यपुरुष एवं साहित्यविद्या द्वारा कविमानस में स्थायी निवास का संकल्प वर्णित है। चौथे से नवें अध्याय तक पदवाक्यविवेक, काव्यपाककल्प, पाठप्रतिष्ठा, काव्यार्थयोनियाँ तथा अर्थव्याप्ति इत्यादि विषयों पर विचार किया गया है। १०वें अध्याय में कविचर्या तथा राजचर्या का सम्यक् उल्लेख है। ११वें से १८वें अध्याय तक शब्दहरण, काव्यहरण, कविसमय, भारत तथा संसार के भूगोल, घटनाओं, स्थानों एवं व्यक्तियों के वर्णन की प्राचीन पद्धतियों, कालगणना तथा ऋतुपरिवर्तनों का परिचय है। इस इकाई में हम काव्यमीमांसा नामक ग्रन्थ के १८ अध्यायों में प्रतिपादित विषयों का अध्ययन विस्तृत रूप में करने जा रहे है।

18.2 शास्त्र

काव्यमीमांसा के प्रथम एवं द्वितीय अध्याय क्रमशः शास्त्रसंग्रह एवं शास्त्रनिर्देश शास्त्र के सम्बन्ध में व्याख्या करते है अतः इस उप इकाई का नाम शास्त्र रखा गया है -

18.2.1 **शास्त्रसङ्ग्रहः - प्रथम अध्याय**

18.2.1.1 **काव्यविवेचन**

सर्वप्रथम राजशेखर ने काव्य की उद्भव एवं विकास की विवेचना की है। राजशेखर के अनुसार काव्यविद्या के आद्य आचार्य भगवान् शिव हैं जिनके द्वारा इस विद्या का उपदेश ब्रह्मा, विष्णु आदि चौंसठ शिष्यों को दिया –

अथातः काव्यं मीमांसिष्यामहे यथोपदिदेश श्रीकण्ठः परमेष्ठिवैकुण्ठादिभ्यश्तुःषष्टयोः । सोऽपि भगवान्स्वयम्भूरिच्छाजन्मभ्यः स्वान्तेवासिभ्यः । तेषु सागस्वतेयो वृन्दीयसामपि वन्द्यः काव्यपुरुष आसीत्।

ब्रह्मा ने अपने उन शिष्यों में से काव्यपुरुष (भूत, भविष्य एवं वर्तमान को साक्षात् करने वाला काव्यपुरुष) को भूः, भुवः, स्वः लोक में निवास करने वाली काव्यविद्या के उपदेश हेतु नियुक्त किया काव्यपुरुष ने अठारह अधिकरणों वाली इस काव्य विद्या का उपदेश दिव्य स्नातकों को दिया -

तं च सर्वसमयविदं दिव्येन चक्षुषा भविष्यदर्थदशिनं भूर्भुवःस्वस्त्रितयवर्त्तिनीषु प्रजासु हतिकाम्यया प्रजापतिः काव्यविद्याप्रवर्त्तनायै प्रायुङ्क्त।

सो ऽष्टादशाधिकरणीं दिव्येभ्यः काव्यविद्यास्नातकेभ्यः सप्रपञ्चं प्रोवाच।

इस उपेदश से प्रेरित होकर विभिन्न ऋषियों एवं आचार्यों ने अपने अपने शास्त्रों की रचना की-

तत्र कविरहस्यं सहस्राक्षः समाम्नासीत्, औक्तिकमुक्तिगर्भः, रीतिनिर्णयं सुवर्णनाभः, आनुप्रासिकं प्रचेता, यमकं यमः, चित्रं चित्राङ्गदः, शब्दश्लेषं शेषः, वास्तुवं पुलस्त्यः, औपभ्यमौपकायनः, अतिशयं पराशरः, अर्थश्लेषम्रुतथ्यः, उभयालङ्कारिकं कुबेरः, वैनोदिकं कामदेवः, रुपकनिरुपणीयं भरतः, रसाधिकारिकं नन्दिकेश्वरः, दोषाधिकरणं धिषणः, गुणोपादानिकमुपमन्युः, औपनिषदिकं कुचुचारः, इति।

इस अष्ठादशाधिकरणी का परिचय इस प्रकार है -

1. इन्द्र- कविरहस्य 2. सुवर्णनाभ- रीतिनिर्णय 3. यम-यमक पर ग्रन्थ 4. पाराशर- अतिशयोक्ति 5. पुलस्त्य- स्वभावोक्ति 6. उतथ्य- अर्थश्लेष 7. कामदेव -हास्य व विनोद 8. नन्दिकेश्वर- रस 9. उपमन्यु -गुण प्रतिपादन 10. उक्तिगर्भ- औक्तिक 11. प्रचेता- अनुप्रासभाग 12. चित्राङ्गद – उपमा 13. शेष- शब्दश्लेष 14. औपकायन -उपमा 15. कुबेर - उभयालङ्कारों पर16. भरत- नाट्यशास्त्र 17. धिषण -दोषविवेचन 18. कुचुमार-औपनिषदिक काव्यांश

18.2.2.2 अष्टादश प्रकरणी (काव्यमीमांसा ग्रन्थ) का परिचय

उपर्युक्त अष्ठादशाधिकरणी विशालकाय अठारह ग्रन्थ विपुल होने के कारण सामान्यजन की पहँच से परे हो गए। इसी विशाल ग्रन्थराशि को सूत्रबद्धरूप में अट्ठारह अधिकरणों में अतिसंक्षेप में लघुग्रन्थ के रूप में सामान्यजन सुबोधगम्य बनाने का राजशेखर ने अपने ग्रन्थ काव्यमीमांसा में श्लाघनीय प्रयास किया है-

“ततस्ते पृथक् पृथक् स्वशास्त्राणि विरचयाञ्चक्रुः । इत्थङ्कारञ्च प्रकीर्णत्वात्वात् सा किञ्चिदुच्चिचच्छिदे।

इतीयं प्रयोजकाङ्गवती सङ्क्षिप्य सर्वमर्थमल्पग्रन्थेन अष्टादशप्रकरणी प्रणीता|

तस्या अयं प्रकरणाधिकरणसमुद्देशः -

१ शास्त्रसंग्रहः, २ शास्त्रनिर्देशः, ३ काव्यपुरुषोत्पत्तिः, ४ शिष्यप्रतिभे, ५ व्युत्पत्ति-विपाकाः, ६ पदवाक्यविवेकः, ७ वाक्यविधयः, ८ काकुप्रकाराः, ९ पाठप्रतिष्ठा, १० काव्यार्थयोनयः, ११ अर्थानुशासनं, १२ कविचर्याः, १३ राजचर्या, १४ शब्दार्थहरणोपायाः, १५ कवि विशेषः, १६ कविसमयः, १७ देशकालविभागः, १८ भ्रुवनकोशः, इति कविरहस्यं प्रथममधिकरणमित्यादि।

काव्यमीमांसा के अष्टादश प्रकरण निम्नलिखित है -

1. शास्त्रसंग्रह 2. शास्त्रनिर्देश 3. काव्यपुरुषोत्पत्ति 4. शिष्यप्रतिभा 5. व्युत्पत्तिकविपाक 6. पदवाक्यविवेक 7. वाक्यविधि 8. काकुप्रकार 9. पाठप्रतिष्ठा 10. वाक्यार्थयोनि 11. अर्थानुशासन 12. कविचर्या 13. राजचर्या 14. शब्दार्थ हरणोपाय 15. कविविशेष 16. कवि समय 17. देशकाल विभाग 18. भुवनकोष।

इस काव्यमीमांसा के विषय में राजशेखर लिखते है कि -यह काव्यमीमांसा है यहाँ वाग्लव –वाणी के अंश अर्थात् शब्दार्थ की विवेचना की जाती है। जो इसे नहीं जानता वह वाग्लव (शब्दार्थ की विवेचना) को नहीं जानता- इयं “सा काव्यमीमांसा मीमांसा यत्र वाग्लवः।

वाग्लवं न स जानाति न विजानाति यस्त्विमाम्॥“

18.2.2 शास्त्रनिर्देशः द्वितीय अध्याय

18.2.2.1 वाङ्मय विभाजन

राजशेखर ने द्वितीय अध्याय मे वाङ्मय का विभाजन किया है। राजशेखर के अनुसार वाङ्मय दो प्रकार का है। 1. काव्य और 2. शास्त्र। काव्य के लिए शास्त्र का ज्ञान आवश्यक है शास्त्र का ज्ञान होने के बाद यदि काव्य में प्रवेश किया जाए तो काव्य का अधिगम जल्दी होता है। जैसे कोई व्यक्ति अन्धेरे कमरे में बिना प्रकाश के वस्तुओं का नहीं देख पाता है वैसे ही शास्त्र में निपुण हुए बिना काव्यसम्बन्धी ज्ञान को प्राप्त नहीं किया जा सकता –

इह हि वाङ्मयमुभयथा शास्त्रं काव्यं च । शास्त्रपूर्वकत्वात् काव्यानां पूर्व शास्त्रेष्वभिनिविशेत ।नह्यप्रवर्तितप्रदीपास्तमसि तत्त्वार्थसार्थमध्यक्षयन्ति ।

शास्त्र को दो प्रकार का कहा है-

1. अपौरुषेय 2. पौरुषेय।

1. **अपौरुषेय –** चारों वेद (ऋक्,यजुष्,सामन्,अर्थव), चार उपवेद (इतिहास, धनुर्वेद, गान्धर्व, आयुर्वेद) पंचमवेद-नाट्यशास्त्र, षड्वेदांग (शिक्षा, कल्प, व्याकरण निरुक्त छन्द, ज्योतिष) इन छः अंगों में सातवाँ अंग अलंकार है इत्यादि ये अपौरुषेय है –

   तच्च द्विधा अपौरुषेयं पौरुषेयं च ।

   अपौरुषेय श्रुतिः । सा च मन्त्रब्राह्मणो । विवृतक्रियातन्त्रा मन्त्राः । मन्त्राणां स्तुतिनिन्दाव्याख्यानविनियोगादिग्रन्थो ब्राह्मणम् । ऋग्यजुःसामवेदस्त्रयी । अथर्व तुरीयम् । तत्रार्थव्यवस्थितपादा ऋचः ।

   ताः सगीतयः सामानि । अच्छन्दांस्यगीतानि यजूंषि । ऋचो यजूंषि सामानि चार्थर्वाणि त इमे चत्वारोवेदाः । इतिहासवेदधनुर्वेदौ गान्धर्वायुर्वेदावपि चोपवेदाः । अवेदोपवेदात्मा सार्ववर्णिकः पञ्चमो नाट्यवेदःऽ इति द्रौहिणिः । शिक्षा, कल्पो, व्याकरणं, निरुक्तं, छन्दोविचितिः, ज्यौतिषं च षडङ्गानिऽ इत्याचार्याः । पकारकत्वादलङ्कारः सत्पममङ्गम् ऽमिति यायावरीयः । ऋते च तत्सरुपपरिज्ञानाद्वेदार्थानवगतिः।

2. **पौरुषेय-** पौरुषेय शास्त्रों में राजशेखर पुराण, आन्वीक्षिकी, मीमांसा तथा स्मृतियों का परिगणन करते हैं। इन पौरूषेय एवं अपौरूषेय शास्त्रों को मिलाकर चतुर्दशविद्याऐं कही गई हैं। चारों वेद, छः वेदाङ्ग, पुराण, आन्वीक्षिकी, मीमांसा एवं स्मृति। राजशेखर काव्यविद्या को पन्द्रहवीं विद्या मानते है –

   "पौरुषेयं तु पुराणम्, आन्वीक्षिकी, मीमांसा, स्मृतितन्त्रमिति चत्वारि शास्त्राणि । तानीमानि चतुर्दश विद्यास्थानानि, यदुत वेदाश्रत्वारः, षडङ्गानि, चत्वारि शास्त्राणिऽ इत्याचार्याः । पञ्चमी साहित्यविद्याऽ इति यायावरीयः ।"

18.2.2.3 सूत्रावृतिभाष्यादि अन्य पारिभाषिक पदों का अन्वाख्यान

प्रकान्तर से राजशेखर के अनुसार शास्त्र के 10 अन्य भेद होते है । इस प्रक्रम में राजशेखर ने सूत्रावृतिभाष्यादि अन्य भेदों का अन्वाख्यान किया है –

सूत्रादिभिश्चैषां प्रणयनम्।

तत्र सूत्रणात् सूत्रम्।

यदाहुः- अल्पाक्षरमसन्दिग्धं सारवद्विश्वतोमुखम्।

अस्तोभमनवद्यञ्च सूत्रं सूत्रकृतो विदुःऽ।।

सूत्राणां सकलसारविवरणं वृत्तिः । सूत्रवृत्तिविवेचनं पद्धतिः । आक्षिप्य भाषणाद्भाष्यम् । अन्तर्भाष्यं समीक्षा । अवान्तरार्थविच्छेदश्च सा । यथासम्भवमर्थस्य टीकनं टीका । विषमपदभञ्जिका पञ्जिका । अर्थप्रदर्शकारिका कारिका । उक्तानुक्तदुरुक्तचिन्ता वार्त्तिकमिति शास्त्रभेदाः । शास्त्रैकदेशस्य प्रक्रिया प्रकरणम् ।

1. सूत्र– शास्त्रों का प्रणयन सूत्रों से होता है ।विस्तृत अर्थ को छोटे वाक्य में पिरोना सूत्र कहलाता है ।
2. वृत्ति- सूत्रों के सारतत्त्व का प्रकाशन करने वाली व्याख्या।
3. पद्धति- वृत्ति पर किया गया विवेचन।
4. भाष्य- शङ्का उठाना एवं उसके खण्डनपूर्वक स्वमत स्थापना।
5. समीक्षा- भाष्यगत कठिन विषयों का विभागपूर्वक विवेचन।
6. टीका- विषय का सरलतम अर्थों में प्रतिपादन।
7. पञ्जिका- जो विषमपदों को तोडक़र अलग कर दे।
8. कारिका- किसी विषय का सरलतम रूप प्रस्तुत करना।
9. वार्तिक- उक्त अनुक्त एवं दुरुक्त विषयों का प्रतिपादन करना।
10. प्रकरण - शास्त्र के एकभाग का व्याख्यान प्रकरण कहलाता है ।

18.3 काव्यपुरूषोत्पत्तिः - तृतीय अध्याय

18.3.1 काव्यपुरुष की उत्त्पति

काव्यपुरुष का उद्भव संस्कृत साहित्य शास्त्र में राजशेखर का अमूल्य योगदान है । इस परिकल्पना के अनुसार प्राचीन काल में देवी सरस्वती ने पुत्रप्राप्ति की इच्छा से तपस्या की। सरस्वती की तपस्या से प्रसन्न होकर ब्रह्मा ने उसे पुत्र प्राप्ति का वरदान दिया। तब देवी सरस्वती ने काव्यपुरुष को जन्म दिया। जन्म लेते ही उस काव्यपुरुष ने छन्दोबद्ध वाणी में सरस्वती की वन्दना की -

पुरा पुत्रीयन्ती सरस्वती तुषारगिरौ तपस्यामास । प्रीतेन मनसा तां विरिञ्चः प्रोवाच पुत्रं ते सृजामि। अथैषा काव्यपुरुषं सुषुवे । सो ऽभ्युत्थाय सपा दोपग्रहं छन्दस्वर्ती वाचमुदचीचरत्-

यदेतद्वाङ्मयं विश्वमर्थमूर्त्या विवर्त्तते ।
सो ऽस्मि काव्यपुमानम्ब पादौ वन्देय तावकौ ।।

पहले छन्दोबद्ध वाणी वेद में ही पाई जाती थी। अत: अपने पुत्र के मुख से मात्र दृष्टसूत्रों वाली संस्कृतभाषा का प्रयोग सुनकर सरस्वती अतीव प्रसन्न हुई। गद्यविधा तो लोक में प्रचलित थी किन्तु पद्यबद्ध रचना सुनकर सरस्वती ने अपने आपको अपने पुत्र से परास्त सा महसूस किया और इस पराजय से द्वितीय पुत्र प्राप्ति के समान सुख का अनुभव किया। अपने पुत्र पर प्रसन्न होकर सरस्वती काव्यपुरुष के शरीरावयवों को काव्यशास्त्रीय तत्व के रूप में विभाजित करते हुए बोली- "शब्द और अर्थ तुम्हारे शरीर हैं, संस्कृत तुम्हारा मुख है, प्राकृत तुम्हारी भुजा है, अपभ्रंश भाषा जघन प्रदेश है, पैशाची भाषा दोनों पैर है तथा मिश्र भाषाऐं तुम्हारी छाती हैं। समता, प्रसन्नता, माधुर्य, औदार्य तेज तुम्हारे गुण हैं। तुम्हारी वाणी वक्रोक्तियुक्त है , रस तुम्हारी आत्मा है, छन्द तुम्हारे रोम हैं, प्रश्नोत्तर व प्रहेलिका तुम्हारे विनोद हैं, अनुप्रास, उपमादि तुम्हारे आभूषण हैं" -

शब्दार्थौ ते शरीरं, संस्कृतं मुखं प्राकृतं बाहुः, जघनमपभ्रंशः, पैशाचं पादौ, उरो मिश्रम्।

समः प्रसन्नो मधुर उदार ओजस्वी चासि । उक्तिचणं ते वचो, रस आत्मा, रोमाणि छन्दांसि, प्रश्नोत्तरप्रवह्लिकादिकं च वाक्केलिः, अनुप्रासोपमादयश्च त्वामलङ्कुर्वन्ति ।

18.3.2 काव्य पुरुष का भ्रमण

एक बार ब्रह्मऋषियों और देवताओं में वेदविषयक विवाद होने पर विदग्ध भगवान ब्रह्मा ने देवी सरस्वती इस विवाद की निर्णायिका बनाया। जब सारस्वतेय काव्यपुरुष को इसका ज्ञान हुआ तो वे भी पीछे पीछे चल दिये ।जब पार्वती द्वारा काव्यपुरुष को ब्रह्मलोक गमन से रोका गया तब काव्यपुरुष क्रोधित होकर अपने स्थान से जाने लगा। उसे जाते देखकर कार्तिकेय रोने लगा। पार्वती ने कार्तिकेय को चुप कराने के लिये उसे रोकने का प्रयास किया। काव्यपुरुष के न रुकने पर पार्वती ने सोचा कि मैं इसे रोकने हेतु किसी स्त्री की रचना करती हूँ। ऐसा विचार कर पार्वती ने साहित्यविद्यावधू को उत्पन्न किया और उसे आदेश दिया कि ये तुम्हारा धर्मपति रुष्ट होकर जा रहा है उसे मनाकर लाओ। इस प्रकार काव्यपुरुष ने जिस जिस देश का भ्रमण किया । सबसे पहले काव्यपुरुष पूर्व देश की ओर गया जहाँ साहित्यविद्यावधू ने काव्यपुरुष को अनुरक्त करने हेतु क्रमशः औड्रमागधी प्र वृत्ति, भारती वृत्ति,तथा गौडी रीति का प्रतिपादन किया –

"तत्राभियुज्जाना तमौमेयी यं वेषं यथेष्टम्सेविष्ट, स तत्रत्याभिः स्त्रीभिरन्वक्रियत । सा प्रवृत्ती रौद्रमागधी । यदपरं नृत्तवाद्यादिकमेषा चक्रे सा भारत्ती वृत्तिः । तथाविधाकल्पयापि तया यदवशंवदीकृतः समासवदनुप्रासवद्योगवृत्तिपरम्परातद्गर्भं (वाक्यं) जगाद सा गौडीया रीतिः ।"

तदनन्तर वह पाञ्चाल देश की ओर चला जहाँ साहित्यविद्यावधू ने काव्यपुरुष को अनुरक्त करने हेतु क्रमशः पाञ्चालमध्यमा प्रवृत्ति, सात्वती वृत्ति यही वृत्ति थोडी कुटिल होने आरभटी कहलाती है तथा पाञ्चाली रीति का प्रतिपादन किया –

तत्राभियुञ्जाना तमौमेयीति समानं पूर्वेण । सा पाञ्चालमध्यमाप्रवृत्तिः
यदीषन्नृत्तगीतवाद्यविलासादिकमेषा दर्शयां बभूव सा सात्वती वृत्तिः । आविद्धगतिमत्त्वात्सा चारभटी । तथाविधाकल्पयापि तया यदीषदूशंवदीकृत ईषदसमासमीषदनुप्रासमु पचारगर्भञ्च (वाक्यं) जगाद सा पाञ्चाली रीतिः ।

तदनन्तर वह अवन्ति देश की ओर चला जहाँ साहित्यविद्यावधू ने काव्यपुरुष को अनुरक्त करने हेतु क्रमशः आवन्ती प्रवृत्ति, सात्वती एवं कैशिकी वृत्ति तथा पाञ्चाली रीति का प्रतिपादन किया-
तत्राभियुञ्जना तमौमेयीति समानं पूर्वेण । सा प्रवृत्तिरावन्ती ।
पाञ्चालमध्यमादाक्षिणात्ययोरन्तरचारिणी हि सा ।अत एव सात्वतीकैशिक्यौ तत्र वृत्ती ।

फिर वह दक्षिण देश की ओर चला जहाँ साहित्यविद्यावधू ने काव्यपुरुष को अनुरक्त करने हेतु क्रमशः दक्षिणात्या प्रवृत्ति, कैशिकी वृत्ति तथा वैदर्भी रीति का प्रतिपादन किया –
तत्राभियुञ्जाना तमौमेयीति, समानं पूर्वेण । सा दाक्षिणात्या प्रवृत्तिः।
यद्विचित्रनृत्तगीतवाद्यविलासादिकमेषाविर्भावयामास सा कैशिकी वृत्तिः । यदत्यर्थं च स तया वशंवदीकृतः स्थानानुप्रासवदसमासं योगवृत्तिगर्भं च (वाक्यं)जगाद सा वैदर्भी रीतिः ।

18.3.3 रीति- वृत्ति- प्रवृत्ति

राजशेखर ने अन्त में रीति-वृत्ति एवं प्रवृत्ति की परिभाष को स्पष्ट किया है–

प्रवृत्ति- वेषविन्यासक्रमः प्रवृत्तिः । वेषभूषा रहन सहन आदि का विन्यासक्रम प्रवृत्ति कहलाता है।

वृत्ति – विलासविन्यासक्रमो वृत्तिः । हावभाव आदि का विन्यासक्रम प्रवृत्ति कहलाता है।

रीति – वचनविन्यासक्रमः रीतिः - वाणी का विन्यास क्रम रीति कहलाता है।

18.4 शिष्यप्रतिभे – चतुर्थ अध्याय

18.4.1शिष्य-भेद –

राजशेखर ने शिष्य के यद्यपि बुद्धिमान एवं आहार्यबुद्धि दो प्रकार बताये है तथापि अन्त में दोनो शिष्यों से भिन्न दुर्बुद्धि नामक अन्य शिष्य का उल्लेख किया है –

"द्विविधं शिष्यमाचक्षते यदुत बुद्धिमानाहार्यबुद्धिश्च ।
यस्य निसर्गतः शास्त्रमनुधावति बुद्धिः स बुद्धिमान् ।
यस्य च शास्त्राभ्यासः संस्कुरुते बुद्धिमसावाहार्यबुद्धिः ।"

1. **बुद्धिमान -** जिसकी बुद्धि स्वभावत: शास्त्र का गमन करती है।
2. **आहार्य बुद्धि -** जिसकी बुद्धि शास्त्रों के अभ्यास से परिष्कृत होती है।
3. **दुर्बुद्धि शिष्य -** जिन्हें गुरु द्वारा समझाने पर भी समझ ना आए।

18.4.2 बुद्धि भेद

ये बुद्धि तीन प्रकार की होती है—

"त्रिधा च सा, स्मृतिर्मतिः प्रज्ञेति । अतिक्रान्तस्यार्थस्य स्मर्त्रीस्मृतिः । वर्त्तमानस्य मन्त्री मतिः । अनागतस्य प्रज्ञात्री प्रज्ञेति ।"

1. स्मृति 2. मति 3. प्रज्ञा।

1. स्मृति - पहले ग्रहण किये अर्थ का स्मरण कराने वाली बुद्धि स्मृति कहलाती है।
2. मति - वर्तमान का मनन कराने वाली बुद्धि मति कहलाती है।
3. प्रज्ञा - भावी विषयों की कल्पना में समर्थ बुद्धि प्रज्ञा कहलाती है।

18.4.3 प्रतिभा –

"या शब्दग्राममर्थसार्थमलङ्कारतन्त्रमुक्तिमार्गमन्यदपि तथाविधमधिहृदयं प्रतिभासयति सा प्रतिभा ।" जो शब्दालङ्कार आदि को हृदय में हृदयङ्गम कराए वही प्रतिभा है। प्रतिभावान् कवि लोग देशान्तर, द्वीपान्तर आदि के भी व्यवहारों का वर्णन करते हैं।

सा च द्विधा कारयित्री भावयित्री च ।

प्रतिभा के राजशेखर ने दो भेद बताए हैं।

1. कारयित्री 2. भावयित्री

1. कारयित्री –

कवेरुपकुर्वाणा कारयित्री । सापि त्रिविधा सहजाऽहार्यौपदेशिकी च । जन्मान्तरसंस्कारापेक्षिणी सहजा । इह जन्मसंस्कारयोनिराहार्या । मन्त्रतन्त्राद्युपदेशप्रभवा औपदेशिकी ।

वह प्रतिभा जो कवि की उपकारक हो वह कारयित्री कहलाती है । इसके तीन भेद है –

१. सहजा - जन्मान्तर संस्कारोत्पन्न ।

२. आहार्या – इस जन्म के संस्कारों से उत्पन्न ।

३. उपदेशिकी - मन्त्र-तन्त्र व उपदेश से उत्पन्न

इस आधार पर कवि भी तीन प्रकार के होते है सारस्वत, आभ्यासिक तथा औपदेशिक है-

त इमे त्रयो ऽपि कवयः सारस्वतः, आभ्यासिकः, औपदेशिकश्च । जन्मान्तरसंस्कारप्रवृत्तसरस्वतीको बुद्धिमान्सारस्वतः । इह जन्माभ्यासोद्भासितभारतीक आहार्यबुद्धिराभ्यासिकः । उपदेशितदर्शितवाग्विभवा दुर्बुद्धिरौपदेशिकः ।

2. भावयित्री

भावक या आलोचक की उपकारिका प्रतिभा को भावयित्री कहते है। वह भावयित्री प्रतिभा कवि के परिश्रम तथा अभिप्राय का मूल्यांकन करती है।उसी के आश्रय से कवि का काव्यव्यापाररूपी वृक्ष फलता है। इसके बिना काव्य वृक्ष वन्ध्य हो जाता है –

भावकस्योपकुर्वाणा भावयित्री। सा हि कवेः श्रममभिप्रायं च भावयति। तया खलु फलितः कवेर्व्यापारतरुः।

भावयित्री प्रतिभा काव्य के गुण-दोषों का विवेचन करती है। कुछ लोग दोनों प्रतिभाओं को एक ही मानते है किन्तु राजशेखर समालोचक को कवि से भिन्न मानते हैं। वे कहते हैं कि सोने उत्पन्न करने वाला पत्थर, उसकी परीक्षा करने वाले कसौटी-पत्थर से भिन्न होता है। यद्यपि दोनों पत्थर ही है। काव्य रचना में राजशेखर समालोचक एवं कवि-संयोग से रचित काव्य को ही श्रेष्ठ कहते हैं। उनका कहना है कि वास्तव में वह ही काव्य है जो आलोचकों के ह्रदय पटल पर अङ्कित हो। जो कवि अपनी और पराई कविता के पदों के तारतम्य को भली-भाँति समझता है वही आदरणीय है।

यदान्तरं वेत्ति सुधी: स्ववाक्यपरी वाक्य:।
तदा स सिद्धो मन्तव्य: कुकवि: कविरेव वा।।

18.5 व्युत्पत्तिविपाकाः – पञ्चम अध्याय

18.5.1 व्युत्पत्ति विवेचन

आचार्य मम्मट जिसे निपुणता कहते है उसी को राजशेखर ने व्युत्पत्ति कहा है। वस्तुतः अनेक शास्त्रों की बहुज्ञता को मम्मट निपुणता कहते है परन्तु राजशेखर के अनुसार 'उचित एवं अनुचित का विवेक' ही व्युत्पत्ति है। ''उचितानुचित विवेका व्युत्पत्ति: इति यायावरीय:।''

आचार्य आनन्दवर्धन प्रतिभा और व्युत्पत्ति में से प्रतिभा की श्रेष्ठता सिद्ध करते हुए कहते हैं कि व्युत्पत्ति के अभाव में हुए दोष को शक्ति या प्रतिभा आवृत्त कर लेती है किन्तु अप्रतिभाशाली कवि द्वारा किया गया दोष तुरन्त अवभासित हो जाता है।

आचार्य मंगल का मत है- प्रतिभा और व्युत्पत्ति में व्युत्पत्ति श्रेयस्कर है क्योंकि वह कवि के अशक्तिजन्य दोष को आच्छादित करती है।

आचार्य राजशेखर के अनुसार प्रतिभा और व्युत्पत्ति दोनों से युक्त कवि ही वस्तुत: कवि कहलाता है। राजशेखर कहते हैं जैसे लावण्य के बिना रूपसम्पति तथा रूपसम्पत्ति के बिना लावण्य शोभाकारी नहीं होते, वैसे ही काव्य में प्रतिभा और व्युत्पत्ति भी युगल हैं। ये दोनों भी एक-दूसरे के बिना शोभाकारी नहीं होते –

"प्रतिभाव्युत्पत्ती मिथः समवेते श्रेयस्यौ इति यायावरीयः।
न खलु लावण्यलाभादृते रुपसम्पदृते रुपसम्पदो वा लावण्यलब्धिर्महते सौन्दर्याय।

18.5.2 कवि-भेद

प्रतिभाव्युत्पत्तिमांश्च कविः कविरित्युच्यते।
स च त्रिधा।
शास्त्रकविः काव्यकविरुभयकविश्च।
राजशेखर के मत में अपने-अपने विषय में तीनों ही श्रेष्ठ हैं।

1. **शास्त्रकवि** - यच्छास्त्रकविः काव्ये रससम्पदं विच्छिनत्ति। जो काव्य में रस सम्पत्ति का विच्छेद कर देता है।

2. **काव्यकवि-** यत्काव्यकविःशास्त्रे तर्ककर्कशमप्यर्थमुक्तिवैचित्र्येण श्लथयति । जो शास्त्रीय तर्क-कर्कशता को भी मनोरम एंव सुगम्य तरीके से शिथिल कर देता है।

3. **उभयकवि-** उभयकविस्तूभयोरपि वरीयान्यद्युभयत्र परं प्रवीणः स्यात्।

स्मात्तुल्यप्रभावावेव शास्त्रकाव्यकवी। जिसमें शास्त्रकवि एवं काव्यकवि दोनों के गुण समान रूप से विद्यमान होते हैं।राजशेखर के अनुसार उभयकवि दोनों से श्रेष्ठ है क्योंकि वह दोनों विषय में प्रवीण होता है।

18.5.3 शास्त्र एवं काव्य कवि के अवान्तर भेद-

राजशेखर के अनुसार शास्त्र कवि के तीन भेद होते है –

1. शास्त्रनिर्माता 2. शास्त्र में काव्य निवेष्टा 3. काव्य में शास्त्र निवेष्टा

राजशेखर के अनुसार काव्य कवि के आठ भेद होते है –

1. रचना कवि 2. शब्द कवि 3. अर्थ कवि 4.अलङ्कार कवि 5. उक्ति कवि 6. रस कवि
7. मार्ग कवि 8. शास्त्रार्थ कवि

उपर्युक्त गुणों में से दो-तीन गुणयुक्त कवि कनिष्ठ, पाँच छः गुणयुक्त मध्यम एवं समस्त गुणों से युक्त कवि उत्तम कोटि का या महाकवि होता है - एषां द्वित्रैर्गुणैः कनीयान्, पञ्चकैर्मध्यमः, सर्वगुणयोगी महाकविः।

18.5.4 विपाक-

निरन्तर अभ्यास से कवियों के वाक्यों में परिपक्वता आती है वह पाक है। आचार्य मंगल के अनुसार परिणाम ही पाक है। सुबन्त तथा तिङ्न्त शब्दों की श्रौत मधुरा व्युतपत्ति ही परिणाम है।यही सौशब्द्य है। आचार्यों के अनुसार पदगुम्फन में निष्कम्पता ही पाक है। आचार्य वामन के अनुसार आग्रहवशात् भी पदों में स्थिरता आती है।अतः पदों की परिवृत्ति से विमुखता ही पाक है ऐसे वामनाचार्य की धारणा है –

"सततमभ्यासवशतः सुकवेः वाक्यं पाकमायाति। कः पुनरयं पाकः? इत्याचार्याः।
परिणामः इति मङ्गलः। कः पुनरयं परिणामः? इत्याचार्याः। सुपां तिङ्गां च श्रवः सैषा व्युत्पत्तिरिति मङ्गलः।
सौशब्द्यमेतत्।पदनिवेशनिष्कम्पता पाकःइत्याचार्याः।आग्रहपरिग्रहादपि
पदस्थैर्यपर्यवसायस्तस्मात्पदानां परिवृत्तिवैमुख्यं पाकमिति वामनीयाः।"

शब्द पाक –

जो पद परिवृत्ति सहिष्णुता को छोड देते है ऐसे पाक को शब्दन्यास में निपुण लोग शब्दपाक कहते है –

यत्पदानि त्यजन्त्येव परिवृत्तिसहिष्णुताम्।
तं शब्दन्यासनिष्णाताः शब्दपाकं प्रचक्षते॥

वाक्य पाक –

जिस पाक के द्वारा गुण अलंकार रीति युक्ति एवं शब्दार्थ का गुम्फन रसज्ञों को आनन्द दे वह मेरी समझ से वाक्यपाकहै-

गुणालङ्काररीत्युक्तिशब्दार्थग्रथनक्रमः।
स्वदते सुधियां येन वाक्यपाकः स मां प्रति॥

यह पाक नौ प्रकार का होता है –

स च कविग्रामस्यकाव्यमभ्यस्यते नवधा भवति ।

तत्राद्यन्तयोरस्वादु पिचुमन्दपाकम्, आदावस्वादु परिणामे मध्यमं बदरपाकम्, आदावस्वादु परिणामे स्वादु मृद्वीकापाकम्, आदौ मध्यममन्ते चास्वादु वार्त्ताकपाकम्, आद्यन्तयोर्मध्यमं तिन्तिडीकपाकम्, आदौ मध्यममन्ते स्वादु सहकारपाकम्, आदावुत्तममन्ते चास्वादु क्रमुकपाकम्, आदावुत्तममन्ते मध्यमं त्रपुसपाक म्, आद्यन्तयोः स्वादु नालिकेरपाकमिति ।

1. पिचुमन्दपाक - (नीमपाक) जो काव्य आदि व अन्त दोनों में अस्वादु हो।
2. बदरपाक - जो आदि में अस्वादु, अन्त में मध्यम कोटि का हो।
3. मृद्विपाक - जो आदि में अस्वादु व अन्त में स्वादु हो।
4. वार्ताकपाक - पहले मध्यम व अन्त में अस्वादु हो।
5. तिन्तिडी पाक - आदि व अन्त में मध्यम हो।
6. सहकार पाक - आदि में मध्य व अन्त में स्वादु हो।
7. क्रमुकपाक - आदि में उत्तम व अन्त में अस्वादु हो।
8. त्रपुसपाक - आदि में उत्तम व अन्त में मध्यम हो।
9. नारिकेल पाक - आदि से अन्त तक स्वादु हो।

ये तीन-तीन के तीन वर्ग राजशेखर ने बताए हैं एंव इनमें से प्रथम तीन त्याज्य हैं। राजशेखर के अनुसार अकवि होना श्रेष्ठ है कुकवि होने से- तेषां त्रिष्वपि त्रिकेषु पाकाः प्रथमे त्याज्याः । वरमकविर्न पुनः कुकविः स्यात् ।

18.6 पदवाक्यविवेकः

18.6.1 पद विवेक

शब्द वह है जो व्याकरण के द्वारा निर्णीत हो 'सुप्तिगन्तं पदम्' तथा उस शब्द का अभिधेय अर्थ वह होता है जिसे निरुक्त, निघण्टु आदि के द्वारा वह शब्द सूचित करता है। ये दोनों (शब्द और अभिधेयार्थ) मिलकर पद कहे जाते हैं अर्थात् अर्थवान् शब्द पद है-

व्याकरणस्मृतिनिर्णीतः शब्दो निरुक्तनिघण्ट्वादिभिर्निर्दिष्टस्तदभिधेयो ऽर्थस्तौ पदम् । तस्य पञ्च वृत्तयः सुब्वृत्तिः, समासवृत्तिः, तद्धितवृत्तिः, कृद्वृत्तिः, तिङ्वृत्तिश्च ।

पद की पाँच वृत्तियाँ- पद की पाँच वृत्तियाँ होती है। 1. सुब्वृत्ति 2. समासवृत्ति 3. तद्धितवृत्ति 4. कृद्वृति 5. तिङ् वृत्ति।

1. सुब्वृत्ति- ये वृत्ति जातिवाची, द्रव्यवाची, गुणवाची, क्रियावाची एवं अव्ययवाची भेद से पञ्चधा होती है। ये अन्य सभी की मूल है। सम्पूर्ण वाङ्मय की जननी है।
2. समासवृत्ति - संक्षिप्तिकरण और विस्तार ही समासवृत्ति है।
3. तद्धितवृत्ति - तद्धितवृत्ति प्रातिपदिकान्त होकर अनन्त है।
4. कृद्वृति - ये धातुविषयिका होती है । कृत् प्रत्यय धातुओं से निष्पन्न होते हैं। यथा कृ से कर्ता , हृ से हर्ता ।
5. तिङ् वृत्ति - तिङन्त शब्द तिप् धातु तथा सुप् धातु के भेद से द्विधा होते हैं।

18.6.1 वाक्य विवेक

पदानामभिधित्सितार्थग्रन्थनाकरः सन्दर्भो वाक्यम् । तत्र वाक्यं दशधा ।

एकाख्यातम्, अनेकाख्यातम्, आवृत्ताख्यातम्, एकाभिधेयाख्यातं, परिणताख्यातम्, अनुवृत्ताख्यातं, समुचुताख्यातम्, अध्याहृताख्यातं, कृदभिहिताख्यातम्, अनपेक्षिताख्यातमिति ॥

अभीष्ट अर्थ अर्थात् कथनीय अर्थ को प्रकट करने वाले पदों के संग्रथित समूह का नाम वाक्य है अर्थात् वक्ता जो कहना चाहता है उन्हें जिन शब्दों में पिरोता है वह वाक्य है। वाक्य दस प्रकार के होते हैं।

1. एकाख्यात - जिसमें एक ही क्रियापद हो।
   यथा - विभिन्न विशेषण + जयति।
2. अनेकाख्यात - जिसमें अनेक क्रियापद हों। चाहे विभक्ति आदि पदों के व्यवधान से हो चाहे निरन्तर हो।
3. आवृत्ताख्यात - जिसमें क्रियापद की आवृत्ति बार-बार होती है।
4. एकाभिधेयाख्यात - एक ही क्रिया विभिन्न रूपों में प्रयुक्त हो।
5. परिणताख्यात - एक ही क्रिया का दूसरे कत्र्ता के साथ भी अन्वय होना।
6. अनुवृत्ताख्यात- (आख्यात) क्रिया का दो चरणों में आना (दो बार आना)
7. समुचिताख्यात - प्रस्तुत दो क्रियाओं में समन्वय हो।
8. अध्याह्वताख्यात - जिसमें क्रिया को यथावत बाहर से लाकर अन्वय किया जाऐ।
9. कृदभिह्वताख्यात - जिसमें तिङन्तके स्थान पर कृदन्त का प्रयोग हो।
10. अनपेक्षिताख्यात - अनपेक्षित होने पर जहाँ क्रिया का अभाव हो।

18.7 वाक्यविधि – सप्तम अध्याय

18.7.1 वाक्यविधि

वाक्यं वचनमिति व्यवहरन्ति। तच्च त्रिधा प्रणेतृभेदेन ब्राह्मं, शैवं, वैष्णवमिति।

वाक्य को वचन नाम से भी जाना जाता है। निर्माता के भेद से वाक्य तीन प्रकार का होता है-

1. ब्राह्म 2. शैव 3. वैष्णव

वायुपुराण के अनुसार बाह्य वचन (वाक्य) 5 प्रकार के होते है –

1. स्वायंभुव –

"सर्वभूतात्मकं भूतं परिवादं च यद्भवेत्।
क्वचिन्निरुक्तमोक्षार्थं वाक्यं स्वायम्भुवं हि तत्"।।

जो वाक्य सर्वप्राणिमय, भूत(सत्य),परिवाद(आज्ञार्थक)तथा कहीं मोक्ष का उपदेशक हो वह वाक्य स्वाम्भुव कहलाता है।

2. ऐश्वर-

"व्यक्तक्रममसंक्षित्पं दीत्पगम्भीरमर्थवत्।
प्रत्यक्षं च परोक्षं च लक्ष्यतामैश्वरं वचः"।।

स्पष्टक्रम वाला, विशद, उदात्त, तथा गम्भीर अर्थ वाला एवं जो प्रत्यक्ष एवं परोक्ष दोनो को सूचित करे वह वचन ऐश्वर कहलाता है

3. आर्ष -

"यत्किञ्चिन्मन्त्रसंयुक्तं युक्तं नामविभक्तिभिः।
प्रत्यक्षाभिहितार्थं च तदृषोणां वचः स्मृतम्"।।

जो वचन कुछ मन्त्रों से सयुंक्त तथा नाम (संज्ञा) विभक्तियों से युक्त हो एवं प्रत्यक्षार्थ का अवबोधक हौ उसे आर्ष वचन कहते है।

4. आर्षीक

"नैगमैर्विविधैः शब्दैर्निपातबहुलं च यत् ।
न चापि सुमहद्वाक्यमृषीकाणां वचस्तु तत्" ।।
जिसमें निगम (वैदिक) शब्दों का बाहुल्य हो तथा निपातों (उपसर्गों) का भी प्राचुर्य हो एवं जो आकार में ऐसा वचन आर्षीक का होता है।

5. अर्षिपुत्रकम्

"अविस्पष्टपदप्रायं यच्च स्याद्बहुसंशयम्।
ऋषिपुत्रवचस्तत्स्यात् ससर्वपरिदेवनम्" ।।
जिसमें पद प्रायशः अस्पष्ट हो तथा जिसमें संशय बाहुल्य हो अथवा जो सबको कष्टदायी हो ऐसे आर्षीकपुत्रक के वचन होतें हैं।

18.7.2 काकु प्रकार

रुद्रट ने काकु को शब्दालङ्कार माना किन्तु राजशेखर का मत है कि काकु अलङ्कार नहीं धर्म मात्र है। इनके अनुसार ध्वनि विकार से वक्ता केवल अपने आशय में परिवर्तन कर सकता है परन्तु वाक्य की शोभा पर तो उसका कोई प्रभाव नहीं पडता अतः काकु अर्थ वाले पाठ का धर्ममात्र है –
"अभिप्रायावान्पाठधर्मः काकुः, स कथमलङ्कारी स्यात्?" इति यायावरीयः । सा च द्विधा साकाङ्क्षा निराकाङ्क्षा च । वाक्यान्तराकाङ्क्षिणी साकाङ्क्षा, वाक्योत्तरभाविनी निराकाङ्क्षा । आक्षेपगर्भा, प्रश्नगर्भा, वितर्कगर्भा चेति साकाङ्क्षा। विधिरुपा, उत्तररुपा, निर्णयरुपेति निराकाङ्क्षा।
काकु ध्वनि दो प्रकार की होती है-
1. साकांक्षा 2. निराकांक्षा

1. **साकांक्षा काकु -** जो काकु (अर्थस्पष्टता व आकांक्षा पूर्ति हेतु) वाक्यान्तर की अपेक्षा रखती है उसे साकांक्षा काकु कहते हैं। यह तीन प्रकार की होती है–
   1. आक्षेपगर्भा 2. प्रश्नगर्भा 3. वितर्कगर्भा
2. **निराकांक्षा काकु -** जो काकु वाक्योच्चारण के अनन्तर हो उसे निराकांक्षा काकु कहते हैं। यह भी तीन प्रकार का होता है – 1. विधिरूपा 2. उत्तररूपा 3. निर्णयरूपा

18.7.3 पाठप्रतिष्ठा

जिसका वाणी पर अधिकार हो वही काव्य का पाठ कर सकता है अन्यथा काव्य रचना तो कवि कर लेता है किन्तु पाठ में उसे काठिन्य अनुभूत होता था। आचार्य राजशेखर ने काव्यपाठ को काव्यरचना से भी दुष्कर बताया है-
करोति काव्यं प्रायेण संस्कृतात्मा यथा तथा।
पठितुं वेत्ति स परं यस्य सिद्धा सरस्वती ।।
संस्कृत तथा अपभ्रंश को लालित्य के साथ और प्राकृत तथा भूतभाषा को उत्तरोत्तर सौन्दर्य के साथ पढना चाहिए-
ससंस्कृतमपभ्रंशं लालित्यालिङ्गितं पठेत् ।
प्राकृतं भूतभाषां चसौष्ठवोत्तरमुद्गिरेत् ।।
पाठ प्रणाली बताते हुए आचार्य राजशेखर कहते हैं कि प्रसाद-गुण के प्रसङ्ग पर वाणी को गम्भीर बनाना चाहिये और उसके विरोधी गुण अर्थात् ओजस के योग में उच्च बनना चाहिये। भय के योग में आवश्यकतानुसार वाणी को ऊँचा-नीचा करना चाहिये –
प्रसन्ने मन्द्रयोद्वाचं तारयेत्तद्विरोधिनि।

मन्द्रतारौ च रचयेन्निर्वाहिणि यथोत्तरम्।।

पाठ भेद

पाठ को प्रशस्त एवं निन्द्य के भेद से द्विधा कहा गया है।

1. प्रशस्त पाठ - सुन्दर, काकुयुक्त, उज्ज्वल, अर्थानुकूल विभक्त पाठ की कवि लोग प्रशंसा करते हैं-

   ललितं काकुसमन्वितमुज्ज्वलमर्थवशकृतपरिच्छेदम्।
   श्रुतिसुखविविक्तवर्णं कवयः पाठं प्रशंसन्ति।।

2. निन्द्य पाठ - अत्यन्त शीघ्रता वाले, ऊँची आवाज वाले, देर से बोले जाने वाले, ध्वनिहीन, पदच्छेदरहित पाठ की कवि लोग निन्दा करते हैं-

   अतितूर्णमतिविलम्बितमुल्बणनादंच नादहीनं च।
   अपदच्छिन्नमनावृतमतिमृदु परुषं च निन्दन्ति।।

उत्तम पाठ

राजशेखर उत्तम पाठ को स्पष्ट करते हुए लिखते है कि गम्भीरता - विषयानुकूल गम्भीरता हो तथा ऊँचे-नीचे स्वर का निर्वाह- रसानुगुण स्वर का उच्चारण किया जाए। संयुक्त वर्णों के पढने में विशेष सुन्दरता - वक्ता संयुक्त वर्णों को पढ़ते समय यति, गति, लय, छन्दादि का ध्यान रखते हुए पढ़े-

गम्भीरत्वमनैश्चर्यं निर्व्यूढिस्तारमन्द्रयोः।
संयुक्तवर्णलावण्यमिति पाठगुणाः स्मृताः।।
विभक्तयः स्फुटा यत्र समासश्चाकदर्थितः।
अम्लानः पदसन्धिश्च तत्र पाठः प्रतिष्ठितः।।

18.8 वाक्यार्थयोनि- अष्टम अध्याय

"श्रुतिः, स्मृतिः, इतिहासः, पुराणं, प्रमाणविद्या, राजसिद्धान्तत्रयी, लोको, विरचना, प्रकीर्णकं च काव्यार्थानां द्वादश योनयः" इति आचार्याः । "उचितसंयोगेन, योक्तृसंयोगेन, उत्पाद्यसंयोगेन, संयोगविकारेण च सह षोडश" इति यायावरीयः।"

काव्य के स्रोत के विषय में प्राचीन आचार्य भामह आदि आचार्यों के मत में वेद, स्मृति, इतिहास, पुराण, प्रमाण-विद्या (मीमांसा एवं षड्विधतर्क), राजसिद्धान्तत्रयी (अर्थशास्त्र, नाट्यशास्त्र, कामशास्त्र), लोकवृत्त, विरचना (महाकाव्यादि अन्य कवियों की रचनाऐं), प्रकीर्णक (कहे हुए अन्य अश्वविद्या, गजविद्या आदि) ये बारह काव्य में वण्र्य अर्थों के कारण होते हैं। ये समस्त बारह स्त्रोत तो राजशेखर को ज्यों के त्यों स्वीकार्य हैं, किन्तु इनके अतिरिक्त उचितसंयोग, योक्तृसंयोग, उत्पाद्यसंयोग तथा संयोगविकार को मिलाकर राजशेखर ने इनकी संख्या सोलह मानी है।

1. उचित संयोग - काव्य में वर्णनीय पदार्थों में संयोग होना। यथा इन्दुमती स्वयंवर के अवसर पर पाण्ड्य राजा को हिमालय सदृश बताते हुए विस्तृत वर्णन।
2. योक्तृ संयोग - अर्थात् उत्तरोत्तर सम्बन्ध करवाने वाला संयोग। यथा-स्वर्ग ललनाओं का राजा की यात्रा से अन्यमनस्कता दिखाने का कारण धूल उडऩा, स्वर्ग-गंगा में गिरना, नहाते समय पङ्क लगना आदि विभिन्न कार्य परस्पर सम्बन्धित हैं।
3. उत्पाद्यसंयोग - जहाँ उपमान और उपमेय भाव सम्बन्ध सम्भावित होता (यथा-उपमा अलंकार) है।

4. संयोग-विकार- जहाँ दो वस्तुओं या विषयों के संयोग से विकार उत्पन्न होता है। श्वेत और लाल रंग मिलकर अर्धकुंकुम रंग के हो गए। अर्थात् न श्वेत न लाल।

18.9 अर्थानुशासन- अष्ठम अध्याय

18.9.1 अर्थ के मूल प्रकार

राजशेखर ने पूर्व आचार्यों के मत को समाहित करते हुए अर्थ के सात मुख्य प्रकार के बताए हैं-

स त्रिधा" इति द्रौहिणिःदिव्यो, दिव्यमानुशषो, मानुषश्च ।

"सप्तधा"इति यायावरीयः पातालीयो,मर्त्यपातालीयो, दिव्यपातालीयो, दिव्यमर्त्त्यपातालीयश्च ।

1. **दिव्य अर्थ** - जो दिव्य पात्रों या कथाओं पर आर्धारित हो।
2. **दिव्य मानुष अर्थ -** जो अर्थ दिव्य अर्थ व सामान्य अर्थ दोनों को जोड़ता हुआ हो। यह पुनः चार प्रकार का होता है – 1. दिव्य पुरुष के मर्त्यलोक में आने तथा मर्त्य से स्वर्गलोक में जाने पर । 2. देवता के मनुष्य तथा मनुष्य के देवता हो जाने पर 3. अदिव्य (मनुष्य) की दिव्य सम्बन्धी कथा की कल्पना पर 4. मनुष्य का अपने तेज के माहात्म्य से दिव्यत्व प्रकट करने पर –दिव्यमानुषस्ति चतुर्द्धा । दिव्यस्य मर्त्यागमने, मर्त्यस्य च स्वर्गगमन इत्येको भेदः । दिव्यस्य मर्त्यभावे, मर्त्यस्य च दिव्यभाव इति द्वितीयः । दिव्येतिवृत्तपरिकल्पनया तृतीयः । प्रभावाविर्भूतदिव्यरुपतया चतुर्थः ।
3. मानुष अर्थ- जो मृत्युलोक पर आधारित हो।
4. पातालीय अर्थ - जहाँ पाताललोकवासियों का वर्णन हो।
5. मर्त्यपातालीय अर्थ - जहाँ पातालीय लोकवासियों के साथ किसी मत्र्य विषय की चर्चा हो।
6. दिव्य पातालीय अर्थ - जहाँ ईश्वरादि दिव्य विषयों के साथ सर्पादि पातालीय विषयों की चर्चा हो।
7. दिव्यमर्त्य पातालीय अर्थ - जहाँ देवलोक, मृत्युलोक व पाताललोक तीनों लोकों का विषय सम्मिलित हो।

18.9.2 अर्थ के अवान्तर प्रकार

राजशेखर ने अर्थ के अन्य अवान्तर भेद किए हैं –

स पुनर्द्विधा । मुक्तकप्रबन्धविषयत्वेन ।तावपि प्रत्येकं पञ्चधा ।

शुद्धः, चित्रः, कथोत्थः, संविधानकभूः, आख्यानकवांश्च । तत्र मुक्तेतिवृत्तः शुद्धः । स एव सप्रपञ्चश्चित्रः । वृत्तेतिवृत्तः कथोत्थः । सम्भावितेतिवृत्तः संविधानकभूः । परिकल्पितेतिवृत्तः आख्यानकवान् ।

वह अर्थ पुनः दो प्रकार का होता है -1. मुक्तक 2. प्रबन्धक । ये दोनो पाँच प्रकार के होते हैं –

1. **शुद्ध –** जिसमें इतिवृत्त ना हो ।
2. **चित्र -** शुद्ध अर्थ की विस्तृत होने पर चित्र होता है ।
3. **कथोत्थ –** जिसमें इतिवृत्त हो ।
4. **संविधानकभू -** जिसमें सम्भावित इतिवृत्त हो ।
5. **आख्यानकवान् –** जिसमें इतिवृत्त कल्पित हो ।

18.10 कविचर्या एवं राजचर्या - नवम अध्याय

18.10.1 कविचर्या

राजशेखर ने सर्वप्रथम यह बताया है कि कवियों का आचरण किस प्रकार होना चाहिए । इसे राजशेखर ने कविचर्या नाम दिया है।

1. गृहीतविद्योपविद्यः काव्यक्रियायै प्रयतेत । नामधातुपारायणे, अभिधानकोशः, छन्दोविचितः, अलङ्कारतन्त्रं च काव्यविद्याः ।
(कवि काव्यविधाओं तथा उपविधाओं का भली भाँति अध्ययन कर काव्यक्रिया में प्रयत्नशील हो। व्याकरण,कोष,छन्द, अलंकार शास्त्र ये काव्यविद्यायें है)
2. स्वास्थ्य, प्रतिभा, अभ्यास, भक्ति, विद्वत्कथा, बहुश्रुतता, स्मृति की दृढ़ता और उत्साह ये आठ कवित्व की माताऐं हैं-
स्वास्थ्यं प्रतिभाभ्यासो भक्तिर्विद्वत्कथा बहुश्रुतता ।
स्मृतिदार्ढ्यमनिर्वेदश्च मातरो ऽष्टौ कवित्वस्य ।।
3. अपि च नित्यं शुचिः स्यात् । त्रिधा च शौचं वाक्शौचं, मनः-शौचं, कायशौचं च ।
कवि सदा पवित्र रहें। वाणी, मन तथा शरीर का शौच। इस भेद से शौच तीन प्रकार का होता है।
4. पवित्र चरित्र एवं स्वभाव ही सरस्वती का वशीकरण है अतः कवि को प्रसन्नचित्त होना चाहिये - शुचिशीलनं हि सरस्वत्याः संवननमामनन्ति ।
5. कवि का भवन किस प्रकार का होना चाहिए इस विषय में राजशेखर ने लिखा है –
तस्य भवनं सुसंमृष्टं ऋतुषट्कोचितविविधस्थानम्, अनेकतरुमूलकल्पितापाश्रयवृक्षवाटिकं, सक्रीडापर्वतकं, सदीर्धिकापुष्करिणीकं, ससरित्समुद्रावर्त्तकं, सकुल्याप्रवाहं, सविर्हिणहरिणहारितं, ससारसचक्रवाक्रहंसं, सचकोरक्रौञ्चकुररशुकसारिकं, धर्मक्लान्तिचौरं, सभू(ति)मिधारागृहयन्त्रलतामण्डपकं,, सदोलाप्रेङ्खं च स्यात् ।
6. कवि के परिचारक, परिचारिका,अन्तःपुर की रानियाँ, कवि के मित्र, लिपिक कैसे हों – अपभ्रंशभाषणप्रवणः परिचारकवर्गः, समागधभाषाभिनिवेशिन्यः परिचारिकाः । प्राकृतसंस्कृतभाषाविद आन्तःपुरिका, मित्राणि चास्य सर्वभाषाविन्दि भवेयुः । सदःसंस्कारविशुद्ध्यर्थं सर्वभाषाकुशलः, शीघ्रवाक्, चार्वक्षरः, इङ्गिताकारवेदी, नानालिपिज्ञः, कविः, लाक्षणिकश्च लेखकः स्यात् ।
7. कवि के पास ये पदार्थ सद्वैव समीप रहने चाहिए –
तस्य सम्पुटिका सफलकखटिका, समुद्गकः, सलेखनीकमषीभाजनानि ताडिपत्राणि भूर्जत्वचो वा, सलोहकण्टकानि तालदलानि सुसभ्मृष्टा भित्तयः, सततसन्निहिताः स्युः ।

18.10.2 राजचर्या

राजशेखर ने कविचर्या के पश्चात यह बताया है कि राजाओं का आचरण किस प्रकार होना चाहिए । इसे राजशेखर ने राजचर्या नाम दिया है-

1. “राजा कविः कविसमाजं विदधीत । राजनि कवौ सर्वो लोकः कविः स्यात्” ।
राजा को कवि होना चाहिये तथा कवि समाज बनाना चाहिये। राजा के कवि होने पर सम्पूर्ण समाज कवि होता है ।

2. "स काव्यपरीक्षायै सभां कारयेत् । सा षोडशभिः स्तम्भैश्चतुर्भिद्वारैरष्टभिर्मत्तवारणीभिरुपेता स्यात् । तस्यां राजासनम् । तस्य चोत्तरतः संस्कृताः कवयो निविशेरन् । बहुभाषाकवित्वे यो यत्राधिकं प्रवीणः स तेन व्यपदिश्यते । यस्त्वनेकत्र प्रवीणः स सङ्क्रम्य तत्र तत्रोपविशेत् । ततः परं वेदविद्याविदः प्रामाणिकाः पौराणिकाः स्मार्त्ता भिषजो मौहूर्त्तका अन्ये ऽपि तथाविधाः" ।
काव्यपरीक्षा के लिये ब्रह्मसभा करनी चाहिये ।सभा-कक्ष यथानियम निर्मित होना चाहिये तथा उसके बीच चार स्तम्भों के मध्य हाथभर ऊँची मणियुक्त वेदिका होनी चाहिये। उस पर राजा का आसन होना चाहिये। उपर्युक्तानुसार सभा में बैठने वाले समस्त विद्वानों के स्थान भी नियत होने चाहिये।
3. "तुष्टपुष्टाश्चास्य सभ्या भवेयुः स्थाने च पारितोषिकं लभेरन्" । समस्त सभासद तुष्ट-पुष्ट हों और पारितोषिक पावें।
4. "लोकोत्तरस्य काव्यस्य च यथार्हा पूजा कवर्वा" । लोकोत्तर काव्य एवं कवि की पूजा की जानी चाहिये।
5. "काव्यशास्त्रविरतौ विज्ञानिष्वभिरमेत्" काव्यसभा के अतिरिक्ति राजा वैज्ञानिकों में भी समय बिताए।
जो राजा इस प्रकार सभाध्यक्ष बनकर काव्य की परीक्षा करता है उसका यश समस्त संसार में व्याप्त हो जाता है तथा वह सर्वत्र सुखी होता है-
इत्थं सभापतिर्भूत्वा यः काव्यानि परीक्षते ।
वशस्तस्य जगद्व्यापि स सुखी तत्र तत्र च ।।

18.11 शब्दार्थहरणः – एकादश अध्याय

परप्रयुक्तयोः शब्दार्थयोरुपनिबन्धो हरणम् । तद्द्विधा परित्याज्यमनुग्राह्यं च । तयोः शब्दहरणमेव तावत्पञ्चधा पदतः, पादतः, अर्द्धतः, वृत्ततः, प्रबन्धतश्च । "तत्रैकपदरणं न दोषाय" इति आचार्याः । "अन्यत्र द्व्यर्थपदात्" इति यायावरीयः ।
किसी अन्य के द्वारा प्रयोग किये गए शब्द तथा अर्थ का काव्य में प्रयोग ही शब्दार्थहरण कहा जाता है। यह शब्दहरण दो प्रकार का होता है। 1. परित्याज्य 2. ग्राह्य। शब्दहरण पाँच प्रकार का होता है। 1. पद 2. पाद 3. अर्थ 4. वृत्त 5. प्रबन्ध। विभिन्न आचार्यों का मत है कि एक पद का हरण दोषकारक नहीं है पर यायावरीय राजशेखर का कथन है कि वह पद यदि अन्यत्र द्व्यर्थी है तो दोष नहीं है अन्यथा दोष है। राजशेखर का मत है कि प्राचीन कवियों की उक्तियाँ यदि अर्थान्तर में प्रयोग में लायी जाऐं तो पहचानी तो नहीं ही जाती, साथ ही साथ स्वादजनक भी होती हैं किन्तु उक्तियों का हरण तो सर्वथा अनुचित ही है । कवि चौर नहीं होता ऐसा नहीं है ना ही ऐसा है कि वणिक चौर होता है अर्थात् दोनो ही चौर होते है । परन्तु श्रेष्ठ वही होता है जिसे छिपाना आता है –
"नास्त्यचौरः कविजनो नास्त्यचौरो वणिग्जनः ।
स नन्दति विना वाच्यं यो जानाति निगूहितुम् ।।

18. 12 अर्थहरणोपायाः – द्वादश अध्याय

आचार्य राजशेखर ने पूर्व अध्याय में शब्द हरण का निर्देश किया है । इस अध्याय में अर्थ हरण की समीक्षा की है। प्राचीन आचार्यों का मत है कि काव्य मार्ग का प्राचीन कवियों ने सम्यक् अभ्यास किया है, उनसे अछूती वस्तु कठिनता से ही मिल सकती है अत: कवियों का कर्तव्य है कि वे

अभ्यस्त वस्तु का ही संस्कार करें किन्तु वाक्पतिराज इसके विरोधी है वे कहते है कि वाग्देवी का स्रोत असीमित है –

"पुराणकविक्षुण्णे वर्त्मनि दुरापमस्पृष्टं वस्तु , ततश्च तदेव संस्कृर्तुं प्रयतेत" इति आचार्याः । "न" इति वाक्पतिराजः ।

"आसंसारमुदारैः कविभिः प्रतिदिनगृहीतसारो ऽपि ।
अद्याप्यभिन्नमुद्रो विभाति वाचां परिस्यन्दः" ।।

उसकी प्राप्ति के लिये दूसरे के प्रबन्ध का अध्यय करने से एक ही अर्थ पृथक्-पृथक् रूप से ख्यात होते हैं। परन्तु राजशेखर के अनुसार सारस्वत दृष्टि मन-वाणी से अगोचर ध्यान के द्वारा दृष्ट-अदृष्ट सभी पदार्थों का विभाग कर देती है –

"न" इति यायावरीयः । सारस्वतं चक्षुरवाङ्मनसगोचरेण प्रणिधानेन दृष्टमदृष्टं चार्थजातं स्वयं विभजति । यह अर्थ तीन प्रकार का होता है –

यदुतान्ययोनिर्निह्नुतयोनिरयोनिश्च । तत्रान्ययोनिद्विधा प्रतिबिम्बकल्पः, आलेख्ययप्रख्यश्च । निह्नुतयोनिरपि द्विधा तुल्यदेहितुल्यः परपुरप्रवेशसदृश्च । अयोनिः पुनरेकादृश एव ।

1. **अन्ययोनि-** वह अर्थ जो दूसरे के द्वारा निकाला जाए। यह दो प्रकार का होता है – प्रतिबिम्बकल्प एवं आलेखप्रख्य
2. **निह्नुतयोनि-** वह अर्थ जिसको उत्पत्ति का ज्ञान न हो। अकस्मात ही अथवा तात्पर्यार्थ से पाठक के मन में आया हो। यह भी दो प्रकार का होता है – तुल्यदेही तथा परपुरप्रवेशसदृश
3. **अयोनि-** जिसे स्वयं कवि ने उद्धावित किया है।

प्रतिबिम्बकल्प – अन्ययोनि नामक इस अर्थ के भेद का इस अध्याय में विशद विवेचन हुआ है । जहाँ प्राचीन कवि का समस्त अर्थ ले लिया गया हो और भेद केवल वाक्य विन्यास में हो उसे प्रतिबिम्बकल्प कहते है -

अर्थः स एव सर्वो वाक्यान्तरविरचनापरं यत्र ।
तदपरमार्थविभेदं काव्यं प्रतिबिम्बिकल्पं स्यात् ।।

18. 13 अर्थहरणेष्वालेख्यप्रख्यादिभेदाः – त्रयोदश अध्याय

अन्ययोनि नामक अर्थ के दो भेद होते है – १ प्रतिबिम्बकल्प २. आलेखप्रख्य पूर्व अध्याय में प्रतिबिम्बकल्प की व्याख्या की जा चुकी है । इस अध्याय में आलेखप्रख्य का का वर्णन किया जा रहा है ।आलेख्यप्रख्य आठ प्रकार का कहा गया है। 1. समक्रम 2. विभूषणमोष 3. व्युत्क्रम 4. विशेषोक्ति 5. उत्तंस 6. नट-नेपथ्य 7. एक-परिकार्य 8. प्रत्यापत्ति।

1. **समक्रम -** सदृशञ्चारणं समक्रमः । सदृशसञ्चार अर्थात् एक समान अर्थ का बोधन करवाना।
2. **विभूषणमोष -** अलङ्कृतमनलङ्कृत्याभिधीयत इति विभूषणमोषः । अलंकारयुक्त अर्थ को अंनलङ्कृतरूप में उपन्यस्त करना विभूषण मोष कहलाता है।
3. **व्युत्क्रम-** क्रमेणाभिहितस्यार्थस्य विपरीताभिधानं व्युत्क्रमः । किसी एक निश्चित क्रम में कहे गए अर्थ का उसके विपरीत क्रम से कथन व्युत्क्रम कहलाता है।
4. **विशेषोक्ति -** सामान्यनिबन्धे विशेषाभिधानं विशेषोक्तिः । जहाँ सामान्य अर्थ का विशेष रूप से उल्लेख हो वहाँ विशेषोक्ति होती है।

5. **उत्तंस -** उपसर्जनस्यार्थस्य प्रधानतायामुत्तंसः । जहाँ गौण अर्थ को मुख्य रूप दिया जाए वह उत्तंस कहलाता है।
6. **नट-नेपथ्य -** तदेव वस्तूक्तिवशादन्यथा क्रियत इति नटनेपथ्यम् । जहाँ तक हो अर्थ कथन परीपाटी से अन्यथा अर्थात् भिन्न रूप में कर दिया जाए वह नट-नैपथ्य होता है।
7. **एक-परिकार्य -** परिकरसाम्ये सत्यपि परिकार्यस्यान्यथात्वादेकपरिकार्यः" । अलंकार के रहने पर भी अलंकार्य में भेद होने पर एक परिकार्य नामक भेद होता है।
8. **प्रत्यापत्ति -** विकृतेः प्रकृतिप्रापणं प्रत्यापत्तिः । जहाँ विकृत अर्थ को स्वाभाविक स्थिति में प्राप्त करा दिया जाए वहाँ प्रत्यापत्ति नामक भेद होता है।

18. 14 कविसमयः चतुर्दश अध्याय

अशास्त्रीय, अलौकिक तथा केवल परम्परा में प्रचलित जिस अर्थ का कवि लोग वर्णन करते हैं वह कवि समय है। इस पर कुछ आचार्य कहते हैं कि अशास्त्रीय तथा अलौकिक अर्थ का उपनिबन्धन तो दोष है फिर वह काव्य में प्रयोग करने योग्य कैसे है?

अशास्त्रीयमलौकिकं च परम्परायातं यमर्थमुपनिबध्नन्ति कवयः स कविसमयः । "नन्वेष दोषः । कथङ्कारं पुनरुपनिबन्धनार्हः?"इति आचार्याः ।

इसका उत्तर देते हुए राजशेखर कहते हैं।प्राचीन काल में विद्वानों ने सहस्र शाखावाले वेदों का अङ्गों सहित अध्ययन कर शास्त्रों का ज्ञान प्राप्त कर तथा देशान्तर-द्वीपान्तर परिभ्रमण कर जिन अर्थों को जानकर रचनाऐं की उन अर्थों का देश-काल के अन्तरवशात् भिन्न हो जाने पर उसी रूप में वर्णन करना कवि समय है। यह कविसमय शब्दमूल को न जानने वाले तथा केवल प्रयोग को देखने वालों के द्वारा प्रयुक्त हुआ और बाद में रूढ़ हो गया इनमें से कोई अर्थ तो कविसमय के रूप में प्रसिद्ध रहा तथा बाद में धूर्तों द्वारा परस्पर उपक्रमार्थवश (प्रतिस्पर्धा या प्रसिद्धि के लिए) गढा गया –

"कविमार्गानुग्राही कथमेष दोषः?" इति यायावरीयः । "निमित्तं तर्हि वाच्यम्" इति आचार्याः ।।

"इदमभिधीयते" इति यायावरीयः । पूर्वे हि विद्वांसः सहस्रशाखं साङ्गं च वेदमवगाह्य, शास्त्राणि चावबुध्य, देशान्तेराणि द्वीपान्तराणि च परिभ्रम्य, यानर्थानुपलभ्य प्रणीतवन्तस्तेषां देशकालान्तरवशेन अन्यथात्वे ऽपि तथात्वेनोपनिबन्धो यः स कविसमयः । कविसमयशब्दश्चायं मूलमपश्यद्भिः प्रयोगमात्रदशिभिः प्रयुक्तो रूढश्च ।

तत्र कश्चिदाद्यत्वेन व्यवस्थितः कविसमयेनार्थः, कश्चित्परस्यरोपक्रमार्थं स्वार्थाय धूर्तैः प्रवर्त्तितः ।

कविसमय तीन प्रकार का है - 1. स्वर्ग्य 2. भौम (पार्थिव) और 3. पातालीय।

स्वर्ग्य और पातालीय की अपेक्षा भौम प्रधान है। वह व्यापक विषय वाला है। वह 1. जाति, 2. गुण, 3. द्रव्य और 4. क्रियारूप अर्थवशात् चार प्रकार का है। इसमें प्रत्येक 1. असत् के उल्लेख, 2. सत् के अनुल्लेख तथा 3. नियम के द्वारा तीन प्रकार का है –

स च त्रिधा स्वर्ग्यो भौमः पातालीयश्च । स्वर्ग्यपातालीययोर्भौमः प्रधानः । स हि महाविषयकः । स च चतुर्द्धा जातिद्रव्यगुणक्रियारुपार्थतया । ते ऽपि प्रत्यक्षं त्रिधा असतो निबन्धनात्, सतोप्यनिबन्धनात्, नियमतश्च ।

18. 15 गुणगतसमयस्थापना - पञ्चदश अध्याय

गुणों का वर्णन भी कवि समय है यथा यश, हास्य आदि की शुक्लता। अयस-पापादि की कृष्णता, क्रोध व अनुराग आदि की लालिमा –

गुणसमयस्थापना असतोगुणस्य निबन्धनम्। यथा-यशोहासप्रभृतेः शौक्ल्यम्, अयशसः पापप्रभृतेश्च कार्ष्ण्यं, क्रोधानुरागप्रभृतेश्च रक्तत्वम्।
हास्य की शुक्लता का उदाहरण-
"अट्टहासच्छलेनास्याद्यस्य फेनौघपाण्डुराः।
जगत्क्षय इवापीताः क्षरन्ति क्षीरसागराः।।"
(जिस शंकर जी के मुख से जगत् के प्रलय काल में विषपान किये हुये की तरह अट्टहास के बहाने फेन समूह के समान श्वेत क्षीर सागर बहते हैं। भाव यह है कि अट्टहास नहीं अपितु जगत् के विनाश के अवसर पर मानों पान किये क्षीरसागर हों।)

18.16 स्वर्ग्यपातालीयरहस्यस्थापना – षोडश अध्याय

कविसमय तीन प्रकार का है - 1. स्वर्ग्य 2. भौम (पार्थिव) और 3. पातालीय। चतुर्दश अध्याय में भौम कविसमय का वर्णन किया जा चुका है।इस अध्याय में स्वर्ग्य तथा पातालीय कवि-समय का विवेचन है।

18.16.1 स्वर्ग्य कविसमय –

भौम कवि-समय के समान ही स्वर्ग्य कविसमय भी है, चन्द्रस्थ कलंक में शशक और हरिण का ऐक्य। इसी प्रकार कामदेव की ध्वजा में मकर ओर मत्स्य की एकता का भी वर्णन किया जाता है। चन्द्रोत्पत्ति का समुद्र या अत्रिनेत्र से वर्णन शिव के भालस्थ चन्द्र का सदैव बालत्व भी इसी कोटि में है।
उदाहरण के लिए चन्द्रस्थ कलंक में शशक और हरिण का ऐक्य –
"मा भैः शशाङ्क? मम सीधुनि नास्ति राहुः खे रोहिणी वसति कातर किं बिभेषि।
प्रायो विदग्धवनितानवसङ्गमेषु पुंसां मनः प्रचलतीति किमत्र चित्रम्" ।।

18. 16.2 पातालीय कविसमय –

पातालीय कविसमय भी भौम तथा स्वर्ग्य के समान है। जैसे भेद होते हुये भी नाग और सर्पो का ऐक्य-वर्णन, दैत्य-दानव तथा असुरों में एकत्व का प्रतिपादन आदि-
भौमस्वर्ग्यवत्पातालीयो ऽपि कविसमयः।
तत्र नागसर्पयोरैक्यम् –
"हे नागराज बहुमस्य नितम्बभागं भोगेन गाढमभिवेष्टय मन्दराद्रेः।
सोढाविषह्यवृषवाहनयोगलीला-पर्यङ्कबन्धनविधेस्तव को ऽतिभारः" ।।

18.17 देशकालविभागः – सप्तदश अध्याय

राजशेखर के अनुसार कवि को देश और काल भी ज्ञान होना आवश्यक है। इस हेतु राजशेखर के उक्त अध्याय की महत्ता है। इसी के साथ भारत के भौगोलिक परिवेश की दृष्टि से भी यह अध्याय अपनी उपादेयता रखता है। राजशेखर के अनुसार देश और काल का विभाग करने वाला कवि अर्थप्रदर्शन की दिशा में दरिद्र नहीं होता कथन का अभिप्राय यह है कि जिसे देश और काल का ज्ञान है उसके पास वर्ण्य विषय की कमी नहीं होती और वह अनुपयुक्त वर्णन भी नहीं करता –
देशं कालं च विभजमानः कविर्नार्थदर्शनदिशि दरिद्राति।

18. 17.1 जगत् या लोक –

कुछ लोगों की राय है कि जगत् एक ही है तो कुछ लोग कहते है कि द्यावा-पृथिवी-भेद से दो लोक हैं। कुछ लोगों के अनुसार-स्वर्ग, भूमि और पाताल तीन लोक हैं। इन तीन लोकों का नाम कुछ लोग

भूः, भुवः और स्वर्ग भी देते है। अन्य लोग इन तीनों लोकों में मह, जनः, तपस् और सत्य इन चार लोकों को मिलाकर सात लोक मानते हैं। ये ही सात लोक सात वायु-स्कन्धों के साथ मिलकर चौदह हो जाते हैं। इनमें सात पातालों (अतल वितल सुतल रसातल तलातल महातल पाताल) को जोडकर इनकी संख्या इक्कीस होती है- ऐसा भी कुछ लोग मानते हैं-

जगज्जगदेकदेशाश्च देशः । "द्यावापृथिव्यात्मकमेकं जगत्" इत्येके । "दिवस्पृथिव्यौ द्वे जगती" इत्यपरे । "स्वर्गमर्त्यपातालभेदात्त्रीणि जगन्ति" इत्येके । "तान्येव भूर्भुवःस्वः"इत्यन्ये । "महर्जनस्तपःसत्यमित्येतैः सह सप्त" इत्यपरे । "तानि सप्तभिर्वायुस्कन्धैः सह चतुर्दश" इति केचित् । "तानि सप्तभिः पातालैः सहैकविंशतिः" इति केचित् ।-

18.17.2 महाद्वीप एवं समुद्र–

इनमें भू लोक पृथ्वी है । उनमें सात महाद्वीप हैं - १.जम्बू, २.प्लक्ष, ३. शाल्मल,४. कुश, ५.कौञ्च,६.शाक और ७. पुष्कर तथा सात समुद्र है – १. लवणमय,२.रसमय, ३. सुरामय, ४. घृतमय, ५. दधिमय, ६. दुधमय, ७.सुस्वादु जलवाला

तेषु भूर्लोकः पृथिवी । तत्र सत्प महाद्वीपाः ।

"जम्बूद्वीपः सर्वमध्ये ततश्च प्लक्षो नाम्ना शाल्मलो ऽतः कुशो ऽतः ।

क्रौञ्चः शाकः पुष्करश्चेत्यथैषां बाह्या बाह्या संस्थितिर्मण्डलीभिः" ।।

"लावणो रसमयः सुरोदकः सार्पिषो दधिजलः पयः पयाः ।

स्वादु वारिरुदधिश्च सत्पमस्तान्परीत्य त इमे व्यवस्थिताः" ।।

18. 17.3 पर्वत –

भगवान मेरु आद्य पर्वत वर्ष है । इसके चारों ओर इलावृत्त नामक वर्ष है । इसके उत्तर में तीन पर्वत है – नील श्वेत और शृंगवान । इनके क्रमशः रम्यक हिरण्यमय तथा उत्तरकुरु ये तीन वर्ष है । मेरु के दक्षिण में भी तीन पर्वत है – निषध हेमकूट एवं हेमवान।

18.17.4 भारतवर्ष –

हरिवर्ष, किंपुरुष और भारत ये तीन देश है। इनमें भारतवर्ष जिसके नवभेद हैं – इन्द्रद्वीप, कसेरुमान्, ताम्रपर्ण,गमसिमान्, नागद्वीप,सौम्य, गन्धर्व, वरूण और कुमारीद्वीप । भारतवर्ष में पाँच सौ भाग जल तथा पाँच सौ भाग स्थल है –

स भगवान्मेरुराद्यो वर्षपर्वतः । तस्य चतुर्दिशमिलावृतं वर्षम् । तस्योत्तरेण त्रयो वर्षगिरयः, नीलः श्वेतः शृङ्गवांश्च । रम्यकं, हिरण्ययम्, उत्तराः कुरव इति च क्रमेण त्रीणि तेषां वर्षाणि । दक्षिणेनापि त्रय एव निषधो हेमकूटो हिमवांश्च । हरिवर्षं, किंपुरुषं, भारतमिति च त्रीणि वर्षाणि । तत्रेदं भारतं वर्षमस्य च नव भेदाः । इन्द्रद्वीपः, कसेरुमान्, ताम्रपर्णो, गभस्तिमान्, नागद्वीपः, सौम्यो, गन्धर्वो, वरुणः, कुमारीद्वीपश्चायं नवमः । पञ्चशतानि जलं, पञ्च स्थलमिति विभागेन प्रत्येकं योजनसहस्रावधयो दक्षिणात्समुद्रादद्रिराजं हिमवन्तं यावत्परस्परमगम्यास्ते ।

18.18 भुवनकोषः- अष्टादश अध्याय

राजशेखर ने काल के स्वरूप का इस अध्याय में विवेचन किया है –

18.18. 1अहोरात्र (दिन तथा रात) -

पन्द्रह निमेषों की एक काष्ठा, तीस काष्ठाओं की एक कला, तीस कलाओं का एक मुहूर्त और तीस मुहूर्तों का एक रात-दिन अहोरात्र होता है-

काष्ठा निमेषा दश पञ्च त्रिंशच्च काष्ठाः कथिताः कलेति ।

त्रिंशत्कलश्चैव भवेन्मुहूर्त्तस्त्रिंशता रात्र्यहनी समेते ।।

चैत्र के बाद तीन महीनों में प्रतिदिन दिन की वृद्धि और रात्रि की हानि होती है। इसके बाद रात्रि बढ़ती है और आश्विन में दोनों समान होते हैं। इसके बाद तीन मास तक रात्रि बढ़ती है और दिन घटता है –

ते च चैत्रघाश्वयुजमासयोर्भवतः । चैत्रात्परं प्रतिमासं मौहूर्त्तिकी दिवसवृद्धिः निशाहानिश्च त्रिमास्याः, ततः परं मौहूर्त्तिकी निशावृद्धिः दिवसहानिश्च । आश्वयुजीत्परतः पुनरेतदेव विपरीतम् ।

18.18.2 संवत्सर

सूर्य का एक राशि से दूसरी राशि में जाना संक्रमण मास कहा जाता है। एक वर्ष में दो अयन होते हैं - वर्षा आदि तीन ऋतुएँ दक्षिणायन की हैं और शिशिरादि तीन उत्तरायण की हैं । दोनो अयन मिलकर संवत्सर कहलाता है -

राशैतो राश्यन्तरसङ्क्रमणमुष्णभासो मासः, वर्षादि दक्षिणायनं, शिशिराद्युत्तरायणं, द्वयनः संवत्सर इति सौरं मानम्।

18.18.3 मास

पन्द्रह दिनों का एक पक्ष होता है। जिसमें चन्द्रमा बढ़े वह शुक्लपक्ष तथा जिसमें क्षीण हो वह कृष्ण पक्ष है। यह पित्र्यमास मान है। इसके उल्टा चान्द्र मास होता है। अर्थात् पहले कृष्ण फिर शुक्ल पक्ष इसमें होता है-

पञ्चदशाहोरात्रः पक्षः । वर्द्धमानसोमः शुक्लो, वर्ध्दमानकृष्णिमा कृष्णा इति पित्र्यं मासमानम् । अमुना च वेदोदितः कृत्स्नो ऽपि क्रियाकल्पः । पित्र्यमेव व्यत्ययितपक्षं चान्द्रमसम् । इदमार्यावर्त्तवासिनश्च कवयश्च मानमाश्रिताः । एवं च द्वौ पक्षौ मासः ।

18.18.4 ऋतु

दो मास की एक ऋतु होती है । षड् ऋतुओं का परिवर्तन संवत्सर है ।संवत्सर का प्रारम्भ ज्योतिषि लोग चैत्र से मानते हैं । लौकिक व्यवहार वाले इसे श्रावण से मानते हैं । इसमें श्रावण-भाद्रपद में वर्षा ऋतु होती है ।आश्विन-कार्तिक की शरद ऋतु होती है । मार्गशीर्ष –पौष का हेमन्त होता है, माघ-फाल्गुन मे शिशिर ऋतु होती है । चैत्र वैशाख का वसन्त, ज्येष्ठ और आषाढ में ग्रीष्मऋतु होती है –

“द्वौ मासावृतुः । षण्णामृतूनां परवर्त्तः संवत्सरः । स च चैत्रादिरिति दैवज्ञाः, श्रावणादिरिति लोकयात्राविदः ।

तत्र नभा नभस्यश्च वर्षाः, ईष ऊर्जश्च शरत्, सहः सहस्यश्च हेमन्तः, तपस्तस्यश्च शिशिरः, मधुर्माधवश्च वसन्तः, शुक्रःशुचिश्च ग्रीष्मः” ।

18.19 पारिभाषिक शब्दावली

अपौरुषेय –चारों वेद (ऋक्,यजुष्,सामन्,अर्थव), चार उपवेद(इतिहास,धनुर्वेद,गान्धर्व,आयुर्वेद) पंचमवेद-नाट्यशास्त्र, षड्वेदांग (शिक्षा,कल्प,व्याकरण निरुक्त छन्द,ज्योतिष) इन छःअंगों में सातवाँ अंग अलंकार है इत्यादि ये अपौरुषेय है|

पौरुषेय- पौरुषेय शास्त्रों में राजशेखर पुराण, आन्वीक्षिकी, मीमांसा तथा स्मृतियों का परिगणन करते हैं। इन पौरूषेय एवं अपौरूषेय शास्त्रों को मिलाकर चतुर्दशविद्याऐं कही गई हैं। चारों वेद, छः वेदाङ्ग, पुराण, आन्वीक्षिकी, मीमांसा एवं स्मृति।राजशेखर काव्यविद्या को पन्द्रहवीं विद्या मानते है|

सूत्र – शास्त्रों का प्रणयन सूत्रों से होता है ।विस्तृत अर्थ को छोटे वाक्य में पिरोना सूत्र कहलाता है ।

वृत्ति- सूत्रों के सारतत्त्व का प्रकाशन करने वाली व्याख्या।

पद्धति- वृत्ति पर किया गया विवेचन।

भाष्य- शङ्का उठाना एवं उसके खण्डनपूर्वक स्वमत स्थापना।

प्रवृत्ति- वेषविन्यासक्रमः प्रवृत्तिः । वेषभूषा रहन सहन आदि का विन्यासक्रम प्रवृत्ति कहलाता है ।

वृत्ति –विलासविन्यासक्रमो वृत्तिः । हावभाव आदि का विन्यासक्रम प्रवृत्ति कहलाता है ।

रीति –वचनविन्यासक्रमः रीतिः - वाणी का विन्यास क्रम रीति कहलाता है ।

स्मृति - पहले ग्रहण किये अर्थ का स्मरण कराने वाली बुद्धि स्मृति कहलाती है।

मति - वर्तमान का मनन कराने वाली बुद्धि मति कहलाती है।

प्रज्ञा - भावी विषयों की कल्पना में समर्थ बुद्धि प्रज्ञा कहलाती है।

18.20 अभ्यासार्थ प्रश्न

1. काव्यमीमांसा में कुल कितने अधिकरण है?
2. काव्यमीमांसा के अनुसार काव्यशास्त्र के प्रथम उपदेष्टा कौन हैं?
3. कवि के कितने प्रकार होते है? संक्षेप में बताइये?
4. काव्यमीमांसा के भौगोलिक महत्त्व पर एक लेख लिखिए?
5. विपाक किसे कहते है? शब्द एवं वाक्य पाक का वर्णन किजिए?

18.21 सारांश

इस प्रकार कहा जा सकता है कि काव्यमीमांसा भारतीय काव्य शास्त्र का एक मानक ग्रन्थ है। काव्यमीमांसा में काव्यशास्त्र के उद्धव संस्कृत वाङ्मय के वैज्ञानिक विभाजन एवं संस्कृत काव्यशास्त्र के प्रमुख सिद्धान्तों का प्राचीन एवं तत्कालीन समयनुरूप विशद वर्णन किया है । एक कवि बनने के लिए जिन उपादानों की आवश्यता है उन सभी का सम्यक् परिचय उक्त ग्रन्थ में देखने को मिलता है । काव्यमीमांसा का महत्त्व न केवल साहित्यिक अपितु राजनैतिक भौगौलिक एवं जलवायु विज्ञान की दृष्टि से भी है ।

18.22 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. राय, गंगासागर, काव्यमीमांसा, चौखम्भा विद्याभवन वाराणसी, 2007.
2. त्रिपाठी, श्री कृष्णमणि, काव्यमीमांसा, चौखम्भा सुरभारती वाराणसी, 2014.
3. शुक्ल, पं० वेदव्यास, काव्यमीमांसा, चौखम्भा सुरभारती वाराणसी, 2011.
4. Vijayan, V.K., Creative Writings in Sanskrit (Studies in Rajshekhars Kavyamimasa),University of Calicut, 2012.

इकाई 19

वक्रोक्ति सिद्धान्त : उद्भव, विकास एवं समीक्षा

इकाई की रूपरेखा

19.0 उद्देश्य
19.1 प्रस्तावना
19.2 वक्रोक्ति सिद्धान्त का उद्भव
19.3 वक्रोक्ति सिद्धान्त का विकास
19.4 वक्रोक्ति का काव्य के अन्य तत्त्वों के साथ सम्बन्ध
19.4.1वक्रोक्ति एवं स्वभावोक्ति
19.4.2 वक्रोक्ति एवं रस
19.4.3 वक्रोक्ति एवं अलंकार
19.4.4 वक्रोक्ति एवं रीति
19.4.5 वक्रोक्ति एवं औचित्य
19.4.6 वक्रोक्ति एवं ध्वनि
19.5 वक्रोक्ति के काव्य आत्मत्व की समीक्षा
19.6 पारिभाषिक शब्दावली
19.7 अभ्यासार्थ प्रश्न
19.8 सारांश
19.9 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

19.0 उद्देश्य

हम एम० ए०उत्तरार्द्ध के पाठ्यक्रम कोड MASA-07 (साहित्यशास्त्र) के अन्तर्गत वक्रोक्ति सिद्धान्त : उद्भव, विकास एवं समीक्षा नामक इकाई का अध्ययन करने जा रहे हैं। इस इकाई का अध्ययन करने के बाद हम निम्नलिखित तथ्यों का ज्ञान कर पायेंगें –

1. वक्रोक्ति सिद्धान्त का उद्भव किस प्रकार हुआ है ?
2. वक्रोक्ति सिद्धान्त का विकास किन किन सोपानों में हुआ है ?
3. वक्रोक्ति का स्वभावोक्ति, रस, अलंकार, रीति, औचित्य, ध्वनि इत्यादि काव्य के तत्त्वों से क्या सम्बन्ध है ?
4. वक्रोक्ति को काव्य की आत्मा कहने के आधार की परीक्षा का ज्ञान
5. वक्रोक्ति की भिन्न भिन्न आचार्यों के द्वारा की गई व्याख्या का ज्ञान।

19.1 प्रस्तावना

वक्रोक्ति दो शब्दों 'वक्र' और 'उक्ति' की सन्धि से निर्मित शब्द है। इसका शाब्दिक अर्थ है- ऐसी उक्ति जो सामान्य से अलग हो। भामह ने वक्रोक्ति को एक अलंकार माना था। उनके परवर्ती कुंतक ने वक्रोक्ति को एक संपूर्ण सिद्धान्त के रूप में विकसित कर काव्य के समस्त अंगों को इसमें समाविष्ट कर लिया। इसलिए कुंतक को वक्रोक्ति संप्रदाय का प्रवर्तक आचार्य माना जाता है। वक्रोक्ति सिद्धान्त की प्रतिष्ठा तथा प्रतिपादन का श्रेय कुन्तक को है परन्तु इसकी परम्परा प्राचीन है। भामह के पूर्ववर्ती

कवियों बाण, सुबंधु आदि में इसके संदर्भ प्राप्त होते हैं। वक्रोक्ति संप्रदाय अलंकारवादी साहित्यिकों में वक्रोक्ति अर्थात् चातुर्य पूर्ण रीति से कथन (वैदग्ध्यभंगी– भणितिः) को ही काव्य की आत्मा मानने वाला एक सम्प्रदाय कुन्तक द्वारा प्रचलित हुआ। अपने वक्रोक्तिजीवितम् नामक ग्रन्थ द्वारा कुन्तक ने इस सिद्धान्त की स्थापना की। भामह ने अतिशययोक्ति को काव्य की आत्मा कहते हुए (अतिशयोक्तिरेव प्राणत्वेन अवतिष्ठते) उसे "वक्रोक्ति" संज्ञा दी है। दण्डी ने :-(१) स्वभावोक्तिमूलक और (२) वक्रोक्तिमूलक दो प्रकार का वाङ्मय माना है। उन्होंने वक्रोक्ति में श्लेष द्वारा सौन्दर्य की निष्पत्ति मानी है। उन्होने वक्रोक्ति सिद्धान्त को व्यवस्थित स्वरूप देते हुए उसे काव्य का जीवित कहा है। वक्रोक्ति सिद्धान्त के अनुसार पांच प्रकार माने जाते है।(१) वर्णवक्रता(२) पदवक्रता(३) वाक्यवक्रता(४)अर्थवक्रता और (५) प्रबन्धवक्रता। इसके अतिरिक्त उपचारवक्रता भी मानी गयी है जिसमें ध्वनि के अनेक भेदों का अन्तर्भाव किया गया है। किं बहुना ध्वनि के सभी प्रकारों का समावेश कुन्तक ने वक्रोक्ति में ही किया है। कुन्तक के बाद वक्रोक्तिजीवित का सिद्धान्त का विकास नहीं हो पाया । उत्तरकालीन प्रायः सभी आलंकारिकों ने वक्रोक्ति को एक अलंकार मात्र माना है। यहाँ हम वक्रोक्ति सिद्धान्त के उद्भव एवं विकास पर चर्चा करने जा रहे है।

19.2 वक्रोक्ति सिद्धान्त का उद्भव

वक्रोक्ति को काव्य की आत्मा के रूप में प्रतिपादित करने वाले आचार्य कुन्तक ने काव्य की समालोचना के मार्ग में एक नवीन मार्ग का प्रवर्तन किया था। प्राचीन आचार्यों के मार्ग से कुछ भिन्न मार्ग का अवलम्ब करते हुए उन्होंने वक्रोक्ति को काव्य का प्राणभूत तत्त्व प्रतिपादित किया।

आचार्य कुन्तक का कथन था कि साहित्य की रचना के दो प्रकार के मार्ग होते हैं। एक मार्ग तो शास्त्र आदि की रचना का है, जिसमें लेखक प्रसिद्ध शब्दों को सामान्य व्यवहार के अर्थों में प्रयुक्त करता हैं। दूसरा मार्ग काव्य की रचना का है। इसमें कवि सामान्य व्यवहार में प्रचलित शब्द अर्थ प्रयोग से भिन्न मार्ग का अवलम्बन करता है। शास्त्र एवं लोकव्यवहार में प्रयुक्त होने वाले शब्द अर्थ की रचना से भिन्न मार्ग का अवलम्बन ही कार्य में विचित्रता उत्पन्न करके सौंदर्य का आधान करता है। यह विचित्रता वक्रोक्ति कहलती है। यह वक्रोक्ति ही काव्य का प्राण है, क्योंकि इसके बिना काव्य में काव्यात्व नहीं हो सकता।

19.3 वक्रोक्ति सिद्धान्त का विकास

काव्य साहित्य में वक्रोक्ति शब्द का प्रयोग अति प्राचीन काल से चला आ रहा है। वक्रोक्ति शब्द की रचना दो पदों "वक्र + उक्ति" से होती है। इसका अभिप्राय है कि सामान्य लोकव्यवहार की अपेक्षा शब्द के अर्थ को कुछ टेढ़े रूप में, भिन्न रूप में कहना। प्राचीन कवियों ने इस शब्द का प्रयोग वाक्छल, परिहासकथन, वचन विदग्धता, क्रीडालाप आदि अर्थों में किया था। कालिदास, बाणभट्ट, अमरुक आदि के काव्यों में वक्रोक्ति शब्द का प्रयोग इन अर्थों में दृष्टिगोचर होता है।

वक्रोक्ति शब्द का काव्यशास्त्रीय प्रयोग सबसे पहले भामह ने किया था। भामह का कथन था कि सौंदर्य आधायक तत्त्व अलंकार है और किसी भी अलंकार का अस्तित्व वक्रोक्ति के बिना नहीं हो सकता। वक्रोक्ति से रहित वाक्य में काव्यत्व नहीं होता, यह वार्तामात्र होता है। हेतु, सूक्ष्म और लेश को भामह ने इसीलिये अलंकार नहीं माना, क्योंकि इसमें वक्रोक्ति नहीं है। भामह ने वक्रोक्ति का स्पष्ट लक्षण नहीं किया था। भामह के विवेचन से वक्रोक्ति और अतिशयोक्ति पद पर्यायवाची प्रतीत होते हैं तथा अतिशयोक्ति का उन्होंने लक्षण दिया है–"लोकातिक्रांतगोचरं वचनम्"। अर्थात् सामान्य लोक के कथन का अतिक्रमण करने वाला वचन अतिशयोक्ति या वक्रोक्ति है। लोचंकार ने इसी

अतिशयोक्ति को अलंकारों के जीवित रूप में कहा था। इस प्रकार भामह की दृष्टि में काव्य में वक्रोक्ति का आधिपत्य रहता है तथा उसकी अभीव्यक्ति तीन रूपों में होती है–स्वभावोक्ति, उपमा आदि अलंकार और रसोक्ति।

दण्डी ने भी वक्रोक्ति को सभी अलंकारों का मूल माना था, परंतु उनका वक्रोक्ति का प्रतिपादन भामह से कुछ भिन्न है। दण्डी ने समस्त वड्•मय को दो भागों में विभक्त किया–स्वभावोक्ति और वक्रोक्ति। पदार्थों के अनेक अवस्था वाले रूप को स्वाभाविक रूप से कथन करने को दण्डी ने स्वभावोक्ति या जाति अलंकार माना था तथा उसको प्रथम अलंकार कहा। वक्रोक्ति को उन्होंने किसी अलंकारविशेष का नाम नहीं दिया, अपितु उपमा आदि सभी अलंकारों को

वक्रोक्ति के रूप में प्रतिपादित किया। इस वक्रोक्ति की शोभा श्लेष से बढ़ती है। दण्डी ने भी वक्रोक्ति और अतिशयोक्ति को पर्यायवाची मानकर अतिशयोक्ति को सभी अलंकारों का मूल कहा था।

भामह और दण्डी ने वक्रोक्ति को अलंकारसामान्य के रूप में अति व्यपाक स्वीकार किया था। परंतु उत्तरवर्ती आचार्यों ने वक्रोक्ति के क्षेत्र को अत्यंत सीमित कर दिया। इन्होंने वक्रोक्ति को एक अलंकारविशेष ही माना। वामन के अनुसार वक्रोक्ति एक अर्थलंकार है, जिसका लक्षण है–'सादृश्य के आधार पर होने वाली लक्षणा वक्रोक्ति है। वामन का वक्रोक्ति का यह लक्षण प्राचीन परम्परा से भिन्न है तथा दण्डी के समाधि नामक गुण में अंतर्भूत होता है।

वामन ने वक्रोक्ति को अर्थलंकार प्रतिपादित किया था, परंतु उत्तरवर्ती आचार्यों ने इसकी गणना शब्दालंकारों के अंतर्गत की। रुद्रट के अनुसार वक्रोक्ति शब्दालंकार है, जो वाक्छल पर आश्रित है। श्लेष और काकु के अनुसार इसके दो भेद होते हैं। 'अग्निपुराण' में भी वक्रोक्ति को काकु तथा भंगश्लेष के भेद से दो प्रकार का अलंकार माना गया है।

इन अलंकारवादी आचार्यों के अनन्तर ध्वनिवादी आचार्यों ने वक्रोक्ति को कुछ अधिक व्यापक रूप दिया था। आनंदवर्धन ने अतिश्योक्ति और वक्रोक्ति को एक मानते हुए इनको काव्य सौंदर्य का अभिव्यंजक माना था। उंनके अनुसार सभी अलंकार अतिश्योक्तिगर्भित होते है। महाकवियों द्वारा विरचित यह अतिश्योक्ति काव्य में अनिर्वचनीय शोभा का पोषण करती है। इस कथन के अनंतर आनंदवर्धन ने भामह के "सैषा सर्वैव वक्रोक्तिः" पद्य को प्रमाण के रूप में प्रस्तुत किया। अभिनवगुप्त ने भी लोचन टीका में आनंदवर्धन के दृष्टिकोण का समर्थन किया और वक्रोक्ति, अतिशयोक्ति को सभी अलंकरों में सामान्य बताया।

वक्रोक्ति के सम्बंध में मम्मट का दृष्टिकोण भी आनंदवर्धन के ही समान था। यद्यपि उन्होंने वक्रोक्ति को शब्दलंकार मानकर उसके श्लेष तथा काकु विशेषता से दो भेद किये थे तथापि विशेष नामक अलंकार के विवेचन में उन्होंने वक्रोक्ति रूप अतिशयोक्ति को सब अलंकरों का प्राण प्रतिपादित किया १ तथा उसके पश्चात् भामह के "सैषा सर्वत्र वक्रोक्तिः" पद्य को प्रमाण के रूप में प्रस्तुत किया।

अन्य अलंकारिकों की तुलना में भोज ने वक्रोक्ति को और अधिक व्यापक रूप प्रदान किया था। उन्होंने साहित्य को दो भागों में विभक्त किया वचन और काव्य। शास्त्र तथा लोक में जो अवक्र वचन हैं, वह वचन है। अर्थवाद आदि में जो वक्रता है वह काव्य है२। भोज के अनुसार अतिशयवक्रता से युक्त काव्य वचन में जो अभिप्रायः होता है, उसी को ध्वनि कहते हैं। अलंकारों में वक्रोक्तिमूलता का अनुसरण करना चाहिये, क्योंकि सभी अलंकार वक्रोक्ति शब्दवाच्य होते हैं।

वक्रोक्ति के व्यापक रूप को प्रतिपादित करते हुए भी भोज ने भामह और दण्डी की तुलना में इसको कम व्यापक बताया है। भामह ने स्वभावोक्ति एवं रसवदादि अलंकारों सहित सभी अलंकारों का समावेश अतिशयोक्ति में कर दिया था, तथापि रसवदादि अलंकार इसमे सम्मिलित रहे थे। परंतु भोज ने रसादि को भी वक्रोक्ति से पृथक करके काव्य वाङ्•मय को तीन वर्गों में विभक्त किया–स्वभावोक्ति, वक्रोक्ति और रसोक्ति।३ इस प्रकार भोज की वक्रोक्ति में स्वभावोक्ति और रसोक्ति से भिन्न सभी अलंकारों का ग्रहण हो जाता है।

कुन्तक और भोज लगभग समकालीन थे, परंतु काव्य का समीक्षण इन दोनों ने स्वतन्त्र रूप से ही किया था। भोज ने अपनी रचनाओं में वक्रोक्ति की व्याख्या बहुत विस्तार से की थी तथा इसको काव्य में प्रचुर महत्त्व दिया था। परंतु क्योंकि इनकी रचनाओं में अन्य विषयों का प्रतिपादन इतना अधिक था कि उनसे वक्रोक्ति का विचार कुछ दब सा गया। कुन्तक ने वक्रोक्ति पर विशद रूप से विचार किया और वक्रोक्ति का प्रतिपादन करने के लिये 'वक्रोक्तिजीवित' ग्रंथ की रचना की। इनके ग्रंथ का मुख्य विषय वक्रोक्ति ही है, अतः वक्रोकि के निरूपण के सम्बंध में कुन्तक को ही सबके अधिक महत्त्व प्राप्त हुआ है। वक्रोक्ति की विशद समीक्षा करके कुन्तक ने इसको काव्य के प्राण के रूप में प्रतिपादित किया था।

कुन्तक के उत्तरवर्ती आचार्यों ने काव्य में वक्रोक्ति को अधिक महत्त्व नहीं दिया और इसका कव्यशस्त्र में समावेश एक शब्दालंकार के रूप में रूप में होने लगा। विशेष अलंकार का विवेचन करते हुये यद्यपि मम्मट ने अतिशयोक्ति रूप वक्रोक्ति को सभी अलंकारों का प्राण कहा था, तथापि 'काव्यप्रकाश' के नवें उल्लास में इसका वर्णन एक शब्दालंकार के रूप में ही किया गया है। मम्मट के पश्चात् प्रायः सभी आचार्य हेमचंद्र, जयदेव, विद्याधर, विद्यानाथ, वाग्भट, विश्वनाथ, केशवमिश्र आदि वक्रोक्ति को शब्दलंकार के रूप में ही मानते रहे। रुय्यक, अमृतानंद योगीआदि ने वक्रोक्ति की गणना अर्थालंकारों में की थी।

वक्रोक्ति को काव्य के प्राण के रूप में प्रतिपादित करके कुन्तक ने काव्य की समालोचना के क्षेत्र में वक्रोक्ति सम्प्रदाय प्रवर्तित किया था। उनहोंने काव्य के सौन्दर्य के आधायक सभी तत्त्वों को वक्रोक्ति में समाविष्ट कर लिया। परन्तु कुन्तक का यह अभिमत इनके पश्चात् अधिक प्रतिष्ठा प्राप्त नहीं कर सका। काव्यशास्त्र के इतिहास में केवल वे ही एक ऐसे आचार्य हुये, जिन्होंने वक्रोक्ति को काव्य की आत्मा के रूप में मान्यता दी है।

19.4 वक्रोक्ति का काव्य के अन्य तत्त्वों के साथ सम्बन्ध

19.4.1 वक्रोक्ति एवं स्वभावोक्ति

अलंकार ग्रन्थों में स्वभावोक्ति अलंकार के स्वरूप का भी वर्णन किया गया है। वैदग्ध्यभङ्गिभणितिरूप वक्रोक्ति में स्वभावोक्ति अलंकार का समावेश हो सकता है या नहीं, यह विवाद का विषय है। वर्ण्य वस्तु के स्वभाव, रूप आदि का यथावत् वर्णन करना स्वभावोक्ति है। परन्तु सामान्य मार्ग से विलक्षणता के साथ कथन करना वक्रोक्ति है। स्वभावोक्ति अलंकार का सबसे पहले उल्लेख भामह के 'काव्यालंकार' में मिलता है। परन्तु भामह ने स्वभावोक्ति को स्पष्ट शब्दों में अलंकार स्वीकार नहीं किया। इस सम्बन्ध में उन्होंने अन्य आचार्यों के मतों का उल्लेख किया है कि कुछ आचार्य स्वभावोक्ति को अलंकार मानते है। वस्तु के यथावत् स्वभाव का वर्णन कर देना स्वभावोक्ति है।१ वक्रोक्ति में भामह ने लोकातिक्रान्तगोचरता मानकर इसको अलंकारों का मूल माना था। स्वभावोक्ति का जो उदाहरण भामह ने दिया, उनके ही अनुसार वह वार्ता मात्र है।

दण्डी ने स्वभावोक्ति को स्पष्ट रूप से अलंकार स्वीकार करके उसको आद्य अलंकार कहा । उनके अनुसार विविध पदार्थों के यथावत् रूप को प्रकट करना स्वभावोक्ति या जाति अलंकार है। परन्तु दण्डी ने स्वभावोक्ति को वक्रोक्ति के अन्तर्गत नहीं माना है। उन्होंने समस्त वाङ्मय को स्वभावोक्ति एवं वक्रोक्ति इन दो वर्गों में विभक्त करके स्वभावोक्ति को वक्रोक्ति से पृथक् रखा था।

उद्भट ने लीला विशेष वर्णन को स्वभावोक्ति मानकर इसमें पदार्थ के यथावत् वर्णन को स्वीकार किया था। 'काव्यालंकारसारसंग्रह' की टीका में प्रतिहारन्दुराज का कथन है कि स्वभावोक्ति में पदार्थ के असाधारण रूप का ध्वनन होने से इसमें अलंकारत्व होता है।

वामन ने स्वभावोक्ति को अलंकार नहीं माना। उनके अनुसार वस्तु के यथावत् वर्णन का, उसकी स्पष्टता के कथन का अन्तर्भाव अर्थव्यक्ति नामक गुण में हो जाता है। भोज ने स्वभावोक्ति को अलंकार मानते हुये भी उसका अन्तर्भाव वक्रोक्ति को नहीं किया था। भोज के अनुसार काव्य के तीन मार्ग हैं- स्वभावोक्ति, वक्रोति और रसोक्ति।

रुद्रट ने 'काव्यालंकार' में वास्वत वर्ग के २३ अलंकारों में जाति (स्वभावोक्ति) की गणना की है। पदार्थ का जैसा संस्थान, अवस्थान, क्रिया आदि होते हैं, उनका उसी प्रकार वर्णन करना जाति अलंकार है।६ इसकी टीका करते हुये नमिसाधु का कथन है कि जाति में एक ऐसा सजीव वर्णन रहता है कि वह पाठक या श्रोता के हृदय में विशेष अनुभूति के अनुभव को उत्पन्न करती है।

वक्रोक्ति और स्वभावोक्ति के सम्बन्ध पर कुन्तक ने विशेष विचार किया था। कुन्तक स्वभावोक्ति को अलंकार नहीं मानते। स्वभावोक्ति को अलंकार मानने वालों के मत का उन्होंने खण्डन किया है। कुन्तक का मत है कि स्वभाव का वर्णन होने से ही स्वभावोक्ति कही जा सकती है और यह तो काव्य का शरीर है जो कि अलंकार्य है। यदि स्वभावोक्ति को ही अलंकार मान लिया जावेगा, तो उस स्वभाव वर्णन से अतिरिक्त काव्य की शरीर स्थानीय अन्य कौन सी वस्तु होगी, जिसको अलंकार्यतया विभूषित किया जा सकेगा। अतः स्वभावोक्ति को अलंकार मानना असंगत ही है।

परन्तु महिभट्ट ने कुन्तक के मत का प्रबल शब्दों में खण्डन किया और स्वभावोक्ति के अलंकारत्व का प्रतिपादन किया। महिमभट्ट के अनुसार वस्तु का कथन दो प्रकार से होता है-सामान्य और विशिष्ट। पहला कथन जनसाधारण का और दूसरा कथन प्रतिभासम्पन्न कवियों का है। वस्तु का जो विशिष्ट रूप है, कवि प्रतिभा के द्वारा प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर होने लगता है और वह अलंकार बन जाता है। अतः स्वभावोक्ति में लोकोत्तरता होने से वह अलंकार के रूप में स्वीकार कर लिया।

ऊपर के विवेचन से यह स्पष्ट है कि स्वभावोक्ति में लोकोत्तरता तथा सहृदयहृदयाह्लादकता निहित होने से अधिकांश आचार्यों ने इसको अलंकार के रूप में स्वीकार किया था, परन्तु कुन्तक इसको अलंकार न मानकर अलंकार्य ही मान्ते हैं।

19.4.2 वक्रोक्ति एवं रस

कुन्तक यद्यपि चमत्कारवादी आचार्य हैं और विचित्र अभिधारूप वक्रोक्ति को काव्य का जीवित मानते हैं, तथापि उन्होंने काव्य में रस को बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान दिया था। काव्य के प्रयोजन, लक्षण, गुण आदि में उन्होंने रस का प्रतिपादन किया था।

कुन्तक का कथन है कि काव्य के मर्म को जानने वाले सहृदयों के अन्तःकरण में धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष को तिरस्कृत करने वाला काव्यामृत रस चमत्कार का विस्तार करता है। काव्य का सुकुमार मार्ग रस आदि के परम तत्त्व को जानने वाले सहृदय के मन के अनुकूल होने से सुन्दर होता है।

काव्य के विभिन्न अंगों के प्रतिपादन तथा वक्रताओं के स्वरूप के निरूपण में कुन्तक ने रस को महत्त्व दिया है। प्रबन्धवक्रता के प्रकरण में उनका कहना है कि कवि की वाणी निरन्तर रसों को प्रवाहित करने वाले सन्दर्भों पर अवलम्बित रहती है, न कि कथामात्र पर।

काव्य की वस्तु के विवेचन में भी कुन्तक ने रस को महत्त्व दिया है। वर्ण्यमान वस्तु दो प्रकार की होती है-स्वभावप्रधान और रसप्रधान। इनमें रसप्रधान वस्तु उत्कृष्ट है। काव्य में चेतन और अचेतन वस्तुओं के वर्णन में चेतन ही प्रधान है, क्योंकि इसी में रति आदि भाव अक्लिष्ट रूप में पुष्ट होकर रसता को प्राप्त होते हैं।

अलंकार सम्प्रदाय के आचार्यों ने काव्य में रस की उपस्थिति को रसवद् अलंकार मानकर इसको गौण स्थान दिया था। परन्तु कुन्तक ने ध्वनिवादी आचार्यों के समान रस को अलंकार्य माना। रस को अलंकार इसलिये नहीं माना जा सकता, क्योंकि वहाँ रस से भिन्न किसी वस्तु की अलंकार के रूप में प्रतीति नहीं होती। परन्तु रस तत्व के विधान से कोई भी अलंकार यदि रस के समान ही सहृदयों को आनन्दित करे तो वहाँ रसवद् अलंकार माना जा सकता है और यह सभी अलंकारों का जीवित एवं काव्य का एकमात्र सार है।

ध्वनिवादियों के समान कुन्तक भी रस को व्यंग्य ही मानते हैं। उद्भट के अनुसार रस वाच्य ही होता है। यह कहीं स्वशब्द से, कहीं श्रृंगार-हास्य आदि शब्दों से, कहीं स्थायी भाव से, कहीं संचारी भाव से, कहीं विभावों से और कहीं अभिनय से वाच्य होता है। परन्तु कुन्तक ने रस को प्रतीयमान ही माना। इस सम्बन्ध में उनका कथन था कि यदि शृंगार आदि पदों से ही रस का उद्रेक हो सकता है, तो घृत, अपूप आदि शब्दों के उच्चारण से ही श्रोताओं को उनके आस्वादन का अनुभव हो जायेगा।

काव्य में रस को सबसे अधिक महत्त्व देकर भी और इसको परम तत्त्व मानकर भी कुन्तक ने वक्रोक्ति को ही काव्य का जीवित क्यों माना, रस को क्यों नहीं माना, यह प्रश्न उपस्थित हो सकता है। इसका उत्तर यही दिया जा सकता है कि काव्य में रस की निष्पत्ति वक्रता के बिना नहीं रह सकती, परन्तु रस के बिना काव्य में वक्रता रह सकती है। अतः रस के वक्रोक्ति के अधीन होने के कारण कुन्तक ने वक्रोक्ति को ही काव्य का जीवित कहा था।

19.4.3 वक्रोक्ति एवं अलंकार

सामान्य रूप से वक्रोक्ति और अलंकार एक ही प्रतीत होते हैं तथा वक्रोक्ति सिद्धान्त को अलंकार सिद्धान्त का ही रूपान्तर समझा जा सकता है। वक्रोक्ति का लक्षण करते हुये कुन्तक ने शब्द-अर्थ को अलंकार्य मानकर वैदग्ध्यभंगीभणिति रूप वक्रोक्ति को उनका अलंकार रूप माना। वक्रोक्ति और अलंकार में अनेक समानतायें हैं। दोनों में काव्यसौन्दर्य वस्तुगत है जो कि कवि के कौशल पर आश्रित हैं। यह सौन्दर्य चमत्कार के आश्रय में रहता है। अलंकार सम्प्रदाय में अलंकार का चमत्कार है, तथा वक्रोक्ति सम्प्रदाय में वक्रता का। दोनों ही उक्तिवैचित्र्य है। दोनों अभिधाप्रधान है तथा इनमें रस आदि को कथन का ही एक प्रकार समझा गया है।

अलंकार सिद्धान्त और वक्रोक्ति सिद्धान्त में इतनी समानता होने पर भी दोनों को एक नहीं कहा जा सकता। वक्रोक्ति का क्षेत्र अलंकार से कहीं अधिक व्यापक है। वक्रता के अनेक रूप यदि अलंकार रूप हैं, तो अनेक रूप अलंकार के विषय नहीं हैं। वक्रोक्ति सिद्धान्त में रस को परम तत्त्व मानकर रसवत् को अलंकार्य कहा गया है, जबकि अलंकार सिद्धान्त में रसवत् एक सामान्य अलंकार ही है। अलंकार सिद्धान्त में स्वभावोक्ति एक सामान्य अलंकार है जबकि वक्रोक्ति में यह उत्कृष्ट अलंकार्य रूप है। अलंकार का चमत्कार काव्य के बाह्य सौन्दर्य को प्रतिभासित करता है, परन्तु वक्रोक्ति काव्य

के सूक्ष्म तत्त्वों का उन्मीलन करती है। इस प्रकार वक्रोक्ति का सिद्धान्त अलंकार के सिद्धान्त की अपेक्षा अधिक व्यापक और पूर्ण है।

19.4.4 वक्रोक्ति एवं रीति

वक्रोक्तिकार कुन्तक ने रीति के विषय पर भी सूक्ष्म विचार किया था। वामन ने रीति को काव्य की आत्मा माना परन्तु कुन्तक ने कहा कि रीति भी वक्रता का ही एक भेद है। रीति के लिये कुन्तक ने मार्ग पद का प्रयोग किया था। उसने वैदर्भी रीति को सुकुमार मार्ग, गौडी रीति को विचित्र मार्ग और पांचाली रीति को मध्यम मार्ग नाम दिया। कुन्तक से पूर्व रीति का आधार प्रायः भौगोलिक समझा जाता था, परन्तु कुन्तक ने इस आधार को नितान्त अवैज्ञानिक कह कर तीनों मार्गों का आधार कवि स्वभाव को प्रतिपादित किया। कवि स्वभावों के अनन्त होने पर भी उन्होंने इनको तीन वर्गों में विभाजित किया।

वामन ने रीतियों का आधार गुणों को बताया था। उनके अनुसार गुणों की संख्या २० है, जिनके आधार पर विभिन्न रीतियों का सम्पादन होता है। कुन्तक ने भी कवि स्वभाव को मार्ग (रीति) का आधार प्रतिपादित करके उनके साथ गुणों के सम्बन्ध की विवेचना की थी। कुन्तक ने कहा कि गुण दो प्रकार के होते हैं- सामान्य और विशेष।

सामान्य गुण दो हैं-(१) औचित्य और सौभाग्य।

विशेष गुण चार हैं-(१) माधुर्य, (२) प्रसाद, (३) लावण्य और (४) आभिजात्य।

सामान्य गुणों का सम्बन्ध प्रत्येक मार्ग से रहता है, जबकि विशेष गुण प्रत्येक मार्ग में भिन्न-भिन्न होते हैं।

वामन ने रीतियों का तारतम्य प्रतिपादित किया था। उनके अनुसार समग्र गुणों से युक्त वैदर्भी रीति श्रेष्ठ है एवं गौडी रीति निकृष्ट है। परन्तु कुन्तक रीतियों या मार्गों की परस्पर श्रेष्ठता को स्वीकार नहीं करते। उनके अनुसार सभी मार्ग समान रूप से ग्राह्य होते हैं।

वक्रोक्ति का क्षेत्र रीति की अपेक्षा अधिक व्यापक है। रीति का क्षेत्र केवल पदों की संघटना तक है, जो कि वक्रोक्ति के वर्णवक्रता, प्रकृतिवक्रता, प्रत्ययवक्रता तथा वाक्यवक्रता तक पूरा हो जाता है। वक्रोक्ति का क्षेत्र इससे अधिक व्यापक है। इसमें प्रकरणवक्रता और प्रबन्धवक्रता रसनिष्पत्ति का संकेत करते हैं इस प्रकार वक्रोक्ति सिद्धान्त रीति सिद्धान्त की अपेक्षा रस के अधिक समीप है।

19.4.5 वक्रोक्ति एवं औचित्य

आचार्य कुन्तक ने काव्य में औचित्य को भी बहुत अधिक महत्त्व प्रदान किया था। काव्य के लक्षण से लेकर प्रबन्धवक्रता तक उन्होंने औचित्य को वक्रता का प्राण माना है। उनकी वक्रता कहीं-कहीं तो औचित्य रूप ही हो गई है। सौभाग्य के साथ औचित्य को उन्होंने सर्वसाधारण गुण प्रतिपादित किया था। यह काव्य के सभी मार्गों में अनिवार्य रूप से रहता है। औचित्य का किंचित् मात्र भी अभाव होने पर सहृदय के आह्लाद में विघ्न उत्पन्न होता है। कुन्तक का मत है कि जिस प्रकार काव्य के प्रत्येक अंग में पद, वाक्य, प्रबन्ध, गुण, अलंकार, क्रिया, कारक, लिंग, वचन आदि में वक्रता निहित रहती है, उसी प्रकार औचित्य को भी विद्यमान रहना चाहिये। इससे स्पष्ट है कि वक्रोक्ति को जहां कुन्तक काव्य का जीवित्त मानते हैं, औचित्य को भी काव्य के प्राणतत्त्व के रूप में स्वीकार करते हैं।

औचित्य को इतना अधिक महत्त्व देने पर भी कुन्तक ने वक्रोक्ति को ही काव्य का जीवित क्यों कहा? यह तो स्पष्ट है कि वक्रोक्ति का मूल आधार औचित्य को मानकर भी कुन्तक औचित्य और वक्रोक्ति

को एक नहीं मानते। इनको वे भिन्न तत्त्व प्रतिपादित करते हैं। इसके साथ ही यह भी निश्चित है कि कुन्तक की वक्रोक्ति तथा क्षेमेन्द्र का औचित्य एक ही तत्त्व नहीं हैं। औचित्य को वक्रोक्ति का अनिवार्य तत्त्व मानकर कुन्तक ने यह प्रतिपादित किया था कि वक्रोक्ति वस्तुनिष्ठ है तथा यह काव्य के अंगों से अधिक सम्बद्ध है, परन्तु औचित्य का सम्बन्ध कवि के विवके से अधिक है तथा रस के साथ भी इसका अधिक सम्बन्ध है।

19.4.6 वक्रोक्ति एवं ध्वनि

वक्रोक्ति सिद्धान्त का प्रतिपादन करने वाले आचार्य कुन्तक, आनन्दवर्धन के ध्वनि सिद्धान्त से निश्चित रूप से परिचित थे। उन्होंने अपने ग्रन्थ में ध्वनिकार के नाम तथा उनके सिद्धान्तों का उल्लेख किया है। कुन्तक की ध्वनिकार के प्रति श्रद्धा थी तथा उन्होंने ध्वनिकार के स्वचरित पद्यों को उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया है। ध्वनिकार के मंगलश्लोक ''स्वेच्छाकेसरिणः'' को कुन्तक ने क्रियावैचित्र्यवक्रता के उदाहरण के रूप में दिया है।

कुन्तक की वक्रोक्ति और ध्वनिकार की ध्वनि में एक और जहां कुछ समानता परिलक्षित होती है, वहां विषमता भी प्रचुर है। दोनों में ही लोक में प्रसिद्ध शब्द-अर्थ का अतिक्रमण होता है, वैचित्र्य अभिप्रेत है तथा वैचित्र्य के प्रतिपादन के लिये कवि की अलौकिक प्रतिभा अनिवार्य हेतु मानी गई है। परन्तु कुन्तक वक्रोक्ति को अभिधा व्यापार मानते हैं, जो कि विचित्र अभिधा रूप वृति से वाच्य ही होती है।ध्वनिकार ने वाचक शब्द और वाच्य अर्थ से भिन्न व्यंग्य-व्यंजक भाव को काव्य में रमणीयत्व का प्रतिपादक माना था। इसके अनुसार ध्वनिकाव्य वहां होता है, जहां वाच्य अर्थ अपने को तथा शब्द स्वयं को और अपने अर्थ को गौण बनाकर वाच्यार्थ से भिन्न प्रतीयमान अर्थ को अभिव्यक्त करते हैं।

परन्तु कुन्तक के वाचक शब्द ने व्यंजक शब्द को और व्यंग्य अर्थ को भी अपने अन्तर्गत कर लिया है। कुन्तक का कथन है कि द्योत्य और व्यंग्य दोनों अर्थो के प्रत्यय होने से उपचार से वे भी वाच्य हैं तथा द्योतक और व्यंजक शब्द भी वाचक हैं। इस प्रकार कुन्तक ध्वनिकार के व्यंग्य-व्यंजक का समावेश वाच्य वाचक के अन्तर्गत कर लेते हैं।

कुन्तक और ध्वनिकार के काव्य-सौन्दर्य के विवेचन के अनेक स्थलो में समानता परिलक्षित होती है। जिस प्रकार ध्वनिकार ने सुप्, तिङ्, वचन, कारक, कृत्, तद्धित, समास, उपसर्ग, निपात, काल आदि को ध्वनि का अभिव्यंजक माना है, इसी प्रकार कुन्तक ने वर्णवक्रता से लेकर प्रबन्धवक्रता तक सभी में वक्रता सम्पादित की है।कुन्तक ने ध्वनि के अनेक विशिष्ट भेदों को वक्रोक्ति के विशिष्ट प्रकारों के अन्तर्गत समेट लिया था। पदपूर्वार्द्धवक्रता के रुढिवैचित्र्यवक्रता के अन्तर्गत लक्षणामूल अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य ध्वनि समाविष्ट की गई है। पर्यायवक्रता में पदध्वनि का समावेश है। इस तथ्य को स्वयं कुन्तक ने स्वीकार किया है।

उपचारवक्रता के अन्दर ध्वनिकार की अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य ध्वनि का समावेश हुआ है। इसका कुन्तक ने वही उदाहरण दिया है, जो ध्वनिकार ने दिया था। उत्तरवर्ती रुय्यक आदि आचार्यों ने भी उपचारवक्रता आदि में ध्वनि के सभी भेदों का समावेश स्वीकार किया था। इसी प्रकार कुन्तक की वस्तुवक्रता में वस्तुध्वनि का, वाच्यवक्रता में अलंकार ध्वनि का और प्रबन्धवक्रता में प्रबन्धध्वनि का समावेश हो जाता है।

कुन्तक ने प्रतीयमान अर्थ के अस्तित्व को स्पष्ट शब्दों में स्वीकार किया है। उनका कथन है कि काव्य के विचित्र मार्ग में वाच्य-वाचक वृति से अतिरिक्त वाक्यार्थ की प्रतीयमानता भी विद्यमान रहती है।

अंलकारों में भी कुन्तक ने प्रतीयमान अर्थ को स्वीकार किया था। कुन्तक के अनुसार अलंकारों के दो रूप हैं-वाच्य तथा प्रतीयमान। प्रतीयमान अलंकार वाच्य न होकर व्यंग्य द्वारा प्रस्तुत होते हैं। रूपक, व्यतिरेक, निदर्शना, दीपक, उपमा आदि अलंकार वाच्य होने के साथ-साथ प्रतीयमान भी होते हैं।

ध्वनि और वक्रोक्ति सिद्धान्तों में इतना साम्य होने पर भी कुन्तक को ध्वनिविरोधी आचार्यों में गिना जाता है। इसका मुख्य कारण यही है कि ध्वनिकार ने जिस ध्वनि तत्त्व को व्यंजना वृति से प्रतिपादित करके प्रतीयमान माना था, कुन्तक ने उसको विचित्र अभिघा वृति से अभिधीयमान प्रतिपादित किया।

19.5 वक्रोक्ति के काव्य आत्मत्व की समीक्षा

वक्रोक्ति के सिद्धान्त की स्थापना करके कुन्तक ने काव्य की समालोचना का एक नवीन मार्ग प्रदर्शित किया था। कुन्तक के समय तक भारतीय समालोचना शास्त्र के प्रवाह में रस सम्प्रदाय, अलंकार सम्प्रदाय, रीति सम्प्रदाय और ध्वनि सम्प्रदाय का क्रमशः प्रतिपादन हो चुका था। आनन्दवर्धन ने अपने से पूर्व तक के सभी सिद्धान्तों का सम्यक्तया अध्ययन करके ध्वनि के साम्राज्य की स्थापना की थी। उन्होंने ध्वनि पर होने वाले सभी आक्षेपों का उत्तर देकर ध्वनि को काव्य की आत्मा प्रतिपादित किया था। कुन्तक ने आनन्दवर्धन के तर्कों तथा प्रमाणों का और उनसे भी पूर्ववर्ती आचार्यों के सिद्धान्तों का सङ्गोपाङ्ग अध्ययन करके प्राचीन साहित्य से वक्रोक्ति को खोज निकाला और इसको काव्य की आत्मा के पद पर प्रतिष्ठित किया।

कुन्तक ने सबसे पहले अलंकारवादियों के मत का खण्डन किया। उन्होंने कहा कि शब्द और अर्थ में अलंकार के योग से काव्यत्व नहीं होता, अपितु अलंकृत शब्द और अर्थ ही काव्य होते हैं। इस प्रकार काव्य में अलंकारों का पृथक विवेचन काल्पनिक है। रसवत् अलंकार को अलंकार न मानकर कुन्तक ने अलंकारवादियों पर दूसरा प्रहार किया। कुन्तक के अनुसार सभी अलंकारों का समावेश वक्रोक्ति में ही हो जाता है।

कुन्तक ने रस सिद्धान्त पर भी आक्षेप किया और रस को काव्य की आत्मा नहीं माना। यद्यपि उन्होंने काव्य में रस की अनिवार्यता को प्रतिपादित किया था और रस को अलंकार्य कहा था, तथापि रस को वक्रोक्ति द्वारा सम्पादित माना और इस प्रकार रस को वक्रोक्ति के अधीन कर दिया।

कुन्तक ने रीतियों का समावेश भी वक्रोक्ति के अन्दर कर लिया था। वामन की वैदर्भी, गौडी और पांचाली रीतियों को उन्होंने सुकुमार, विचित्र एवं मध्यम मार्ग नाम दिया तथा इनका सम्बन्ध कवि के स्वभाव से स्थापित किया। उन्होंने यह भी स्वीकार किया कि काव्य में सभी मार्गों का महत्त्व समान है तथा इनमें परस्पर श्रेष्ठता का प्रतिपादन करना उचित नहीं है। इस प्रकार आचार्यों की रीतियों का समावेश कुन्तक के वक्रोक्ति सिद्धान्त में हो गया।

कुन्तक का सबसे महान प्रयास यह था कि उन्होंने ध्वनि का समावेश भी वक्रोक्ति के अन्दर करने का साहस किया था। वक्रोक्ति के विभिन्न भेदों में ध्वनि के विभिन्न भेदों का समावेश हो जाता है, यह कुन्तक की मान्यता थी। अतः जबकि ध्वनि की अपेक्षा वक्रोक्ति का क्षेत्र अधिक व्यापक है, तो वक्रोक्ति को काव्य की आत्मा मानना उन्होंने अधिक उपयुक्त समझा।

वक्रोक्ति को काव्य का जीवित प्रतिपादित करके श्री कुन्तक की दृष्टि रस, ध्वनि और औचित्य की ओर से पराङ्मुख नहीं थी। इन तीनों तत्त्वों को उन्होंने काव्य का अन्तरंग माना। औचित्य की आवश्यकता, रस की आहाल्कता तथा ध्वनि की महनीयता का उन्होने स्थान-स्थान पर प्रतिपादन किया है। इस रस और औचित्य को तो उन्होंने वक्रोक्ति का भी प्राण माना है।

रस, ध्वनि और औचित्य को इतना अधिक महत्त्व देते हुये भी कुन्तक ने वक्रोक्ति को काव्य की आत्मा क्यों माना, यह प्रश्न विचारणीय है। कुन्तक की दृष्टि में इन तीनों की अपेक्षा वक्रोक्ति तत्त्व का क्षेत्र अधिक विस्तृत था। वैदग्ध्यभंगीभणिति रूप वक्रोक्ति इन तीनों को आत्मसात् कर लेती है एवं काव्य में इनका प्रतिपादन वक्रोक्ति के द्वारा ही हो सकता है। रस, ध्वनि और औचित्य ये तीनों वक्रोक्ति के आवश्यक अंग तो हैं, परन्तु अनिवार्य नहीं हैं। यह वक्रोक्ति के सौन्दर्य की वृद्धि अवश्य करते हैं, परन्तु इसके बिना भी काव्य में काव्यत्व रह सकता है। परन्तु वक्रोक्ति रहित काव्य में काव्यत्व न होकर वह केवल वार्ता मात्र होता है। इसीलियें कुन्तक ने वक्रोक्ति को काव्य की आत्मा प्रतिपादित किया।

काव्यों की समालोचना करने वाले आचार्यों को मुख्य रूप से दो वर्गों में विभक्त किया जा सकता है। इनमें प्रथम वे हैं, जो काव्य के शरीर को अधिक महत्त्व देते हैं तथा शब्द-अर्थ के सौन्दर्य में ही काव्य का काव्यत्व मानते हैं। अलंकारवादियों और रीतिवादियों को इसी वर्ग में रखा जा सकता है। इनको अभिधावादी भी कहा जा सकता है। दूसरे आचार्य वे हैं, जो काव्य के बाह्य स्वरूप को अधिक महत्त्व न देकर अन्तरंग पक्ष को अधिक महत्त्व देते हैं। रस और ध्वनि सिद्धान्त इसके प्रतिपादक हैं। ये व्यंजनवादी आचार्य हैं। आनन्दवर्धन ने अपने से पूर्ववर्ती अलंकारवादी और रीतिवादी आचार्यों के पक्ष का खण्डन करके व्यंजना को अधिक महत्त्व दिया था तथ्ज्ञा काव्य में व्यंग्य अर्थ की श्रेष्ठता का सम्पादन किया था। उन्होंने सिद्ध किया कि काव्य में प्रतीयमान अर्थ की रमणीयता होने पर ही वह काव्य श्रेष्ठ हो सकता है और वही ध्वनि है।

कुन्तक अभिधावादी आचार्य थे। उनका अभिमत था कि आनन्दवर्धन जिस प्रतीयमान अर्थ के प्रतिपादन के लिये व्यंजना वृति को अनिवार्य मानते हैं, उसकी प्रतीति अभिधा द्वारा ही हो सकती है। परन्तु यह अभिधा वह नहीं, जिसका प्रचलन लोक व्यवहार में होता है। यह लोक व्यवहार की भिन्न विचित्र अभिधा है। वक्रोक्ति के सम्बन्ध में डा० नगेन्द्र का विचार यह है-

'' वक्रोक्ति सम्प्रदाय का जन्म प्रत्युत्तर के रूप में हुआ था। काव्यात्मवाद के विरुद्ध देहवादियों का वह अन्तिम विफल विद्रोह था। काव्य के जिन सौन्दर्य-भेदों की आनन्दवर्धन ने ध्वनि के द्वारा आम्तपरक व्याख्या की थी, उन सभी की कुन्तक ने अपनी अपूर्व मेधा के बल पर वक्रोक्ति के द्वारा वस्तुपरख विवेचना प्रस्तुत करने की चेष्टा की। इस प्रकार वक्रोक्ति प्रायः ध्वनि की वस्तुगत परिकल्पना सी प्रतीत होती है''।१

वक्रोक्ति का सांगोपांग विवेचन करने के उपरान्त भी कुन्तक का यह सिद्धान्त अधिक समय तक जीवित नही रह सका। कुन्तक द्वारा ही इसका जन्म हुआ और कुन्तक के साथ ही यह समाप्त हो गया। कुन्तक के पश्चात् प्रसिद्ध ध्वनिवादी समालोचकों ने वक्रोक्ति को एक शब्दालंकार विशेष के रूप में प्रतिपादित करके इसकी महनीयता समाप्त कर दी। इसके पश्चात् वक्रोक्ति को काव्यशास्त्र के ग्रन्थों में एक शब्दालंकार के रूप में तुच्छ सा स्थान प्राप्त होता रहा।

कुन्तक ने उत्तरवर्ती ध्वनिवादी आचार्यों की दृष्टि में वक्रोक्ति तो कथन का एक प्रकार मात्र है, यद्यपि यह लोक्तोत्तर और विलक्षण है। इसका सम्बन्ध केवल काव्य के बाह्य शरीर शब्द और अर्थ से है। इसलिये वक्रोक्ति की पहुंच काव्य के शरीर तक ही है, आत्मा तक नहीं। कुन्तक ने वक्रताओं के जो भेद-प्रभेद किये हैं, उनमें ध्वनि तत्व ही प्रकाशित हो रहा है। यदि कुन्तक की वक्रता ध्वनि का नामान्तर ही है, तो इसको भिन्न रूप से प्रतिपादित करने की आवश्यकता ही क्या है?

ध्वनिवादी आचार्यों द्वारा वक्रोक्ति सिद्धान्त को अमान्य कर देने पर भी काव्य की समालोचना के इतिहास में कुन्तक का महत्त्व कम नहीं हो जाता। कुन्तक ने काव्य के शरीर और आत्मा को अलग-अलग न मान कर उनको वक्रता के अन्तर्गत समेट लिया तथा वर्ण से प्रबन्ध तक की रचना वक्रता के अन्दर समाविष्ट हो गई। कुन्तक के विवेचन में विलक्षण वैज्ञानिकता है, जिससे कि वे महामान्य समालोचकों की श्रेणी में रखे जा सकते हैं। कुन्तक यद्यपि अभिधावादी आचार्य हैं, तथापि उनकी यह अभिधा सामान्य कोटि की नहीं है। यह अभिधा विचित्र रूप होकर लक्षणा और व्यंजना को भी अन्दर समेटे हुये है। अतः कुन्तक को केवल देहवादी आचार्य मान लेना समुचित नहीं है। कुन्तक के इस महत्त्व को न समझ कर ही उत्तरवर्ती आचार्य उनके प्रतिपादन का मूल्यांकन नहीं कर सके। 'वक्रोक्तिजीवित' में कुन्तक ने वक्रोक्ति तत्व का जिस प्रकार प्रतिपादन किया है, वह वस्तुतः महनीय है, स्तुत्य है और विचारणीय है।

19.6 पारिभाषिक शब्दावली

अलंकार - काव्यशोभाकरान् धर्मानलंकारान् प्रचक्षते । अर्थात् काव्य के शोभाधायक धर्मों को अलंकार कहते है।

रस - रस्यते आस्वाद्यते इति रसः । जिसका आस्वादन सहृदयों द्वारा किया जाता है उसे रस कहते है ।

वक्रोक्ति - वक्रोक्ति शब्द की रचना दो पदों "वक्र + उक्ति" से होती है । इसका अभिप्राय है कि सामान्य लोकव्यवहार की अपेक्षा शब्द के अर्थ को कुछ टेढ़े रूप में, भिन्न रूप में कहना ।

जाति - पदार्थों के अनेक अवस्था वाले रूप को स्वाभाविक रूप से कथन करने को दण्डी ने स्वभावोक्ति या जातिअलंकार माना था तथा उसको प्रथम अलंकार कहा ।

काव्य मार्ग – काव्य के रचना की विधि काव्य मार्ग कहलाती है । भोज के अनुसार काव्य के तीन मार्ग है- स्वभावोक्ति, वक्रोति और रसोक्ति।

वस्तु कथन - महिमभट्ट के अनुसार वस्तु का कथन दो प्रकार से होता है-सामान्य और विशिष्ट। पहला कथन जनसाधारण का और दूसरा कथन प्रतिभासम्पन्न कवियों का है। वस्तु का जो विशिष्ट रूप है, कवि प्रतिभा के द्वारा प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर होने लगता है और वह अलंकार बन जाता है।

वर्ण्यमान वस्तु - वर्ण्यमान वस्तु दो प्रकार की होती है-स्वभावप्रधान और रसप्रधान। इनमें रसप्रधान वस्तु उत्कृष्ट है।

19.7 अभ्यासार्थ प्रश्न

1. वक्रोक्ति किसे कहते है ?
2. आचार्य कुन्तक कृत प्रसिद्ध ग्रन्थ का क्या नाम है ?
3. वक्रोक्ति को काव्य की आत्मा स्थापित करने वाले आधारभूत तर्कों को संक्षेप में बताइये ?
4. वक्रोक्ति एवं स्वभावोक्ति में क्या सम्बन्ध है ?
5. वक्रोक्ति सिद्धान्त के उद्भव एवं विकास पर लेख लिखिए ?

19.8 सारांश

वक्रोक्ति - वक्रोक्ति शब्द की रचना दो पदों "वक्र + उक्ति" से होती है । इसका अभिप्राय है कि सामान्य लोकव्यवहार की अपेक्षा शब्द के अर्थ को कुछ टेढ़े रूप में, भिन्न रूप में कहना ।भामह ने वक्रोक्ति को एक अलंकार माना था। उनके परवर्ती कुंतक ने वक्रोक्ति को एक संपूर्ण सिद्धान्त के रूप में विकसित कर काव्य के समस्त अंगों को इसमें समाविष्ट कर लिया। इसलिए कुंतक को वक्रोक्ति संप्रदाय का प्रवर्तक आचार्य माना जाता है। वक्रोक्ति सिद्धान्त की प्रतिष्ठा तथा प्रतिपादन का श्रेय कुन्तक को है परन्तु इसकी परम्परा प्राचीन है। वक्रोक्ति को काव्य की आत्मा के रूप में प्रतिपादित करने वाले आचार्य कुन्तक ने काव्य की समालोचना के मार्ग में एक नवीन मार्ग का प्रवर्तन किया था । प्राचीन आचार्यों के मार्ग से कुछ भिन्न मार्ग का अवलम्ब करते हुए उन्होंने वक्रोक्ति को काव्य का प्राणभूत तत्त्व प्रतिपादित किया ।भामह की दृष्टि में काव्य में वक्रोक्ति का आधिपत्य रहता है तथा उसकी अभीव्यक्ति तीन रूपों में होती है–स्वभावोक्ति, उपमा आदि अलंकार और रसोक्ति । दण्डी ने भी वक्रोक्ति को सभी अलंकारों का मूल माना था, परंतु उनका वक्रोक्ति का प्रतिपादन भामह से कुछ भिन्न है । दण्डी ने समस्त वड्•मय को दो भागों में विभक्त किया–स्वभावोक्ति और वक्रोक्ति । कुन्तक के उत्तरवर्ती आचार्यो ने काव्य में वक्रोक्ति को अधिक महत्त्व नहीं दिया और इसका कव्यशस्त्र में समावेश एक शब्दालंकार के रूप में रूप में होने लगा । विशेष अलंकार काविवेचन करते हुये यद्यपि मम्मट ने अतिशयोक्ति रूप वक्रोक्ति को सभी अलंकारों का प्राण कहा था, तथापि 'काव्यप्रकाश' के नवें उल्लास में इसका वर्णन एक शब्दालंकार के रूप में ही किया गया है । मम्मट के पश्चात् प्रायः सभी आचार्य हेमचंद्र, जयदेव, विद्याधर, विद्यानाथ, वाग्भट, विश्वनाथ, केशवमिश्र आदि वक्रोक्ति को शब्दलंकार के रूप में ही मानते रहे । वक्रोक्ति को काव्य के प्राण के रूप में प्रतिपादित करके कुन्तक ने काव्य की समालोचना के क्षेत्र में वक्रोक्ति सम्प्रदाय प्रवर्तित किया था । उनहोंने काव्य के सौंदर्य के आधायक सभी तत्त्वों को वक्रोक्ति में समाविष्ट कर लिया । परंतु कुन्तक का यह अभिमत इनके पश्चात् अधिक प्रतिष्ठा प्राप्त नहीं कर सका । इस प्रकार इस इकाई में हमने वक्रोक्ति सिद्धान्त का सांगोपांग अध्ययन किया ।

19.9 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. मिश्र, राधेश्याम, वक्रोक्तिजीवितम्, चौखम्भा प्रकाशन, नई दिल्ली, 2012.
2. पाण्डेय, परमेश्वरदीन, वक्रोक्तिजीवितम्, चौखम्भा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी, 2013.
3. Hegde, Suryanarayan, Concept of Vakrokti in Sanskrit Literature, Readworthy Publication, Delhi, 2009.
4. झा, नरेश, वक्रोक्तिजीवितदीपिका, चौखम्भा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी, 1998.

इकाई - 20

वक्रोक्तिजीवितम् ग्रन्थ के प्रमुख प्रतिपाद्य

इकाई की रूपरेखा

20.0 उद्देश्य
20.1 प्रस्तावना
20.2 वक्रोक्तिजीवितम् ग्रन्थ :सामान्य परिचय
20.3 काव्य प्रयोजन
20.4 काव्य लक्षण
20.5 वक्रोक्ति का लक्षण एवं स्वरूप
20.6 वक्रोक्ति के षड्विध भेद
20.7 काव्य रचना के मार्ग त्रय
20.8 पारिभाषिक शब्दावली
20.9 अभ्यासार्थ प्रश्न
20.10 सारांश
20.11 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

20.0 उद्देश्य

हम एम०ए० उत्तरार्द्ध के पाठ्यक्रम कोड MASA-07 के अन्तर्गत इकाई सं 20 (वक्रोक्तिजीवितम् गन्थ के प्रमुख प्रतिपाद्य) नामक इकाई का अध्ययन करने जा रहे हैं। इस इकाई के निम्नलिखित उद्देश्य है -

- वक्रोक्तिजीवितम् ग्रन्थ का कलेवर किस प्रकार का है ?
- काव्य किस उद्देश्य से रचा जाना चाहिए ? इस सन्दर्भ में आचार्य कुन्तक की दृष्टि का ज्ञान
- आचार्य कुन्तक ने काव्य वक्रोक्ति की व्याख्या के क्रम में किस प्रकार परिभाषित किया है ? इस तथ्य का ज्ञान
- वक्रोक्ति के स्वरूप तथा प्रकारों का विशद ज्ञान
- कवि किन तीन प्रधान मार्गों में काव्य की रचना करता है। इन तीनों मार्गों का ज्ञान

20.1 प्रस्तावना

संस्कृत काव्यशास्त्रियों ने इस प्रश्न पर विचार किया है कि काव्य में मुख्य तत्त्व या आत्मा के रूप में किस उपादान को रखा जाए। वस्तुतः इसी प्रश्न काव्यशास्त्र प्रस्थान या सम्प्रदायों में विभाजित हुआ। इस क्रम में वक्रोक्ति प्रस्थान भी उद्भूत हुआ जिसके प्रवर्तक आचार्य कुन्तक हैं। आचार्य कुन्तक ने वक्रोक्तिजीवितम् नाम ग्रन्थ की रचना की जिसमें उन्होने काव्य की आत्मा के रूप में वक्रोक्ति की स्थापना की है। 'वक्रोक्तिजीवितम् है। इसमें चार उन्मेष हैं जिनमें दो उन्मेष तो पूर्ण रूप से उपलब्ध हुए हैं परन्तु अन्तिम दो उन्मेष अधूरे ही मिले हैं। इस ग्रन्थ के तीन भाग हैं - कारिका, वृत्ति और उदाहरण। कारिका और वृत्ति कुन्तक की अपनी रचना है। उदाहरण संस्कृत साहित्य के प्रसिद्ध काव्यों से लिए हैं। प्रथम उन्मेष में काव्य प्रयोजन, काव्यहेतु प्रतिभा आदि, काव्य स्वरूप, शब्दार्थ

स्वरूप तथा साहित्य, वक्रोक्तिस्वरूप, वक्रता भेद, त्रिविधमार्ग आदि का विवेचन किया गया है। द्वितीय उन्मेष में वक्रोक्ति के प्रथम तीन भेदों का विवेचन किया गया है। तृतीय उन्मेष में वाक्य वैचित्र्यवक्रता का विवेचन किया है। वस्तुवक्रता का भी विवेचन कर दिया है। चतुर्थ उन्मेष में प्रकरणवक्रता और प्रबन्धवक्रता का विवेचन किया गया है। प्रस्तुत इकाई में वक्रोक्तिजीवितम् ग्रन्थ शास्त्रीय गाम्भीर्य में न जाकर केवल महत्त्वपूर्ण प्रतिपाद्यों का विवचन सामान्य भाषा में किया है।

20.2 वक्रोक्तिजीवितम् ग्रन्थ – एक सामान्य परिचय

'वक्रोक्तिजीवितम् नामक काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ आचार्य कुन्तक की रचना है। यह ग्रन्थ वक्रोक्तिसिद्धान्त का आधार है। इसमें चार उन्मेष हैं। इस ग्रन्थ के तीन भाग हैं - कारिका, वृत्ति और उदाहरण। कारिका और एवं इस पर स्वोपज्ञ वृत्ति कुन्तक की अपनी रचना है। उदाहरण संस्कृत साहित्य के प्रसिद्ध काव्यों से लिए हैं। प्रथम उन्मेष के प्रारम्भ में कुन्तक ने कारिका भाग के मङ्गल में वाग् देवता की वन्दना की है - कवीन्द्रों के मुख रूपी चन्द्र ही जो लास्य मन्दिर है उस पर नाचने वाली, सुभाषितों के स्पन्दन से उज्ज्वल वागदेवी सरस्वती की मैं वन्दना करता हुँ -

वन्दे कवीन्द्रवक्त्रेन्दु लास्यमन्दिरनर्तकीम्।

देवीं सूक्तिपरिस्पन्दसुन्दराभिनयोज्ज्वलाम्।। **वक्रोक्तिजीवितम् १.१॥**

स्वोपज्ञ वृत्ति भाग के मङ्गल श्लोक में कुन्तक ने शिव की वन्दना की है इससे स्पष्ट है कि कुन्तक कश्मीरी थे तथा उन पर प्रत्यभिज्ञादर्शन का प्रभाव था – (तीनों लोकों की विचित्र सृष्टि रूप अद्भुत कर्म करने वाले, शक्ति का थोसा सा चलना मात्र साधन वाले शिव को हम प्रणाम करते हैं)

जगत्त्रितयवैचित्र्यचित्रकर्मविधायिनम्।

शिवं शक्तिपरिस्पन्दमात्रोपकरणं नुमः॥

वक्रोक्तिजीवितम् ग्रन्थ की द्वितीय कारिका तथा वृत्ति भाग में ग्रन्थकार ने अपने ग्रन्थ के प्रयोजन का उल्लेख किया है -

लोकोत्तरचमत्कारकारिवैचित्र्यसिद्धये ।

काव्यस्यायमलंकारः कोऽप्यपूर्वो विधीयते।। 2।।

अलौकिक चमत्कारजनक विचित्रता की सिद्धि हेतु काव्य के इस अपूर्व अलंकार ग्रन्थ की रचना की जा रही है। ।इस ग्रन्थ का प्रयोजन है लोकोत्तरचमत्कारी वैचित्र्यसम्पादन।

द्वितीय उन्मेष में कुल 35 कारिकाएँ हैं। इस उन्मेष में वक्रोक्ति के तीन भेदों का विवेचन किया गया है। 1-7 कारिकाओं में वर्णविन्यास वक्रता का विवेचन है, इसमें अनुप्रास-यमक-शब्दालंकारों को समाहित किया गया है। 8वीं से 25वीं कारिका तक कुन्तक ने पदपूर्वाद्र्धवक्रता रूपी द्वितीय भेद का भेदोपभेदपूर्वक विवेचन किया है। इसमें ग्यारह भेदों का यहाँ विवेचन हुआ है। 26वीं कारिका से 31वीं कारिका तक पदपूर्वाद्र्धवक्रता के अन्य भेदों का वर्णन किया गया है। इसमें प्रायः ध्वनिवादी के सभी पद द्योत्य व्यङ्ग्याताओं का विनिवेश हो गया है। 3२वीं कारिका में प्रत्ययवक्रता का विवेचन है। ३३वीं कारिका में उपसर्ग-निपात रूप पदवक्रता का निरूपण किया गया है।तृतीय उन्मेष में वाक्य वैचित्र्यवक्रता का विवेचन किया है। इसके साथ ही वस्तुवक्रता का भी विवेचन कर दिया है। तीसरे और चौथे उन्मेष में कारिकाओं का स्वतन्त्र रूप में निर्धारण कठिन है क्योंकि उनका अन्तर्भाव वृत्ति में हो गया है तथा वे पूर्णतः उल्लिखित नहीं है। चतुर्थ उन्मेष में प्रकरणवक्रता और प्रबन्धवक्रता का विवेचन किया गया है।

20.3 काव्य प्रयोजन

प्रत्येक आचार्य अपने लक्षण ग्रन्थ की रचना करते समय काव्य प्रयोजनों की भी चर्चा करता है। इसी प्रकार कुन्तक ने सबसे पहले इसी ओर ध्यान केन्द्रित किया है कि काव्य का क्या प्रयोजन है ? कुन्तक वक्रोक्तिजीवित नामक काव्यालंकार ग्रन्थ के निर्माण का प्रयोजन बतलाते हुए लिखते हैं कि लोकोत्तर चमत्कार को पैदा करने वाले वैचित्र्य की सिद्धि के लिए यह कोई अपूर्व ही काव्य का अलंकार (ग्रन्थ) किया जा रहा है -

लोकोत्तरचमत्कारकारिवैचित्र्य सिद्धये।
काव्यस्यायमलंकार: कोऽप्यपूर्वो विधीयते।। **वक्रोक्तिजीवितम् १.२**

वस्तुतः कुन्तक ने वक्रोक्तिजीवितम में तीन प्रधान प्रयोजनों की चर्चा की है –

1. पुरुषार्थचतुष्टय की प्राप्ति-

धर्मादिसाधनोपाय: सुकुमारक्रमोदिति:।
काव्यबन्धोऽभिजातानां हृदयाह्लादकारक:।। **वक्रोक्तिजीवितम् 1/3।।**

अर्थात् सुकुमार परम्परा से कहा गया काव्यबन्ध धर्म आदि (अर्थ, काम एवं मोक्ष) की सिद्धि का साधन अभिजात (कुलीन) लोगों के हृदयों में आनन्द की सृष्टि करता है।'

यहाँ यह सिद्ध हुआ कि काव्य का प्रयोजन पुरुषार्थचतुष्टय की प्राप्ति है। परन्तु शंका यह है कि पुरुषार्थचतुष्टय की प्राप्ति केवल कुलीन (राजकुमारों) के लिए ही क्यों हो? सामान्य जन के लिए क्यों नहीं? इसका उत्तर देते हुए कुन्तक लिखते हैं कि –

राजपुत्राः खलु समासादितस्वविभवाः समस्तजगतीव्यवस्थाकारितां प्रतिपद्यमानाः श्लाघ्योपदेशशून्यतया स्वतन्त्राःसन्तः समुचितसकलव्यवहारोच्छेदं प्रवर्तयितुं प्रभवन्तीत्येतदर्थमेवतद्व्युत्पत्तये व्यतीतसच्चरितराजचरितं तन्निदर्शनाय निबध्नन्ति कवयः।

अर्थात् राजपुत्रों को यथासमय विभव आदि की प्राप्ति हो जाती है। ऐश्वर्य प्राप्त वे लोग समग्र पृथ्वी की व्यवस्था करने वाले नियमादि के व्यवस्थापक होते हैं और यदि वे प्रशस्य उपायों द्वारा दिए गए (धर्मादि के उपदेश से शून्य) हों तो स्वच्छन्द होकर सभी उपयुक्त आचारों का विनाश प्रारम्भ कराने में समर्थ होते हैं, स्वेच्छाचारी न हो तथा समुचित व्यवस्था के प्रतिष्ठापक बने रहें इसलिए उनको दृष्टान्त प्रस्तुत करने के लिए कविगण सदाचारयुक्त रामचन्द्रादि के चरित्र के माध्यम से उन्हें धर्मादि का उपदेश देते हैं। अतएव शास्त्र की अपेक्षा काव्य की उत्कृष्टता तो है ही ''तदेवं शास्त्रातिरिक्तं प्रगुणमस्त्येव प्रयोजनं काव्यबन्धस्य।

2. लोकव्यवहार का परिज्ञान –

काव्य प्रधान प्रयोजन तो पुरुषार्थचतुष्टय की प्राप्ति तो है ही इसी के साथ काव्य का प्रयोजन लोक व्यवहार का ज्ञान भी होता है-

व्यवहारपरिस्पन्दसौन्दर्यं व्यवहारिभि:।
सत्काव्याधिगमादेव नूतनौचित्यमाप्यते।। **वक्रोक्तिजीवितम् 1/4।।**

पुरुषार्थ सिद्धि एवं व्यवहारज्ञान रूपी प्रयोजन काव्य के अध्ययन काल के अनन्तर होते हैं किन्तु काव्य तो ऐसा है जो अध्ययन काल में ही आनन्द प्रदान करे। इसलिए चतुर्वर्ग से भिन्न, सहृदयहृदयसंवाद से सुन्दर तत्काल ही मनोहारी अनिर्वचनीय आनन्दस्वरूप चमत्कार ही काव्य परम प्रयोजन है-

चतुर्वर्गफलास्वादमप्यतिक्रम्य तद्विदाम्।

काव्यामृतरसेनान्तश्चमत्कारो वितन्यते।। **वक्रोक्तिजीवितम् 1/5।।**

3. अमृत रस का अनुभव

शास्त्र एवं काव्य दोनों से ही आस्वाद होता है किन्तु शास्त्र का आस्वाद कड़वी औषध के समान है जबकि काव्य का आस्वाद अमृततुल्य है। कुन्तक ने अन्तरश्लोक में प्रतिपादन इस प्रकार किया है-

कटुकौषधवच्छास्त्रमविद्याव्याधिनाशनम्।
आह्लाद्यमृतवत्काव्यमविवेकगदापहम्॥ **वक्रोक्तिजीवितम् वृत्ति 1/7।।**

काव्य अध्ययन काल एवं परवर्ती काल में भी रस प्रवाह से सुन्दर सम्पन्न होता है-

आयात्यां च तदात्वे च रसनिस्पन्दसुन्दरम्।
येन संपद्यते काव्यं तदिदानीं विचार्यते।। **वक्रोक्तिजीवितम् वृत्ति 1/8।।**

इस प्रकार कुन्तक की दृष्टि से काव्य का प्रमुख प्रयोजन सच्चरित्रों के निबन्धन से पुरुषार्थ चतुष्टय का कोमलकान्तपदावली से उपदेश, नूतनौचित्य समन्वित लोकव्यवहार की शिक्षा तथा अलौकिक काव्यामृतरस का सहृदय-हृदय में चमत्कार पैदा करना है, कुन्तक से पूर्ववर्ती आचार्यों ने भी इसी प्रकार का विवेचन किया है। कुन्तक के काव्य प्रयोजनों में कीर्ति का अभाव है। पाठक को दृष्टि में रखते हुए कुन्तक ने प्रयोजकों पर चर्चा की है क्योंकि काव्य कवि के लिए कम एवं सहृदय पाठक के लिए अधिक होता है। मम्मट आदि ने कवि और पाठक दोनों के प्रयोजनों की मीमांसा की है। कुन्तक का विवेचन अधिक मनोवैज्ञानिक एवं आधुनिक विचारों के समीप है।

20.4 काव्य लक्षण

काव्य सहृदयजन ग्राह्य वस्तु है। इस का विषय अनन्त और अपरिमिति है। विश्व मानव की संवेदनाएँ अनन्त है और उनकी अभिव्यक्ति का प्रकार भी अनन्त हैं। विश्व के कोने-कोने में कवियों की संवेदनाओं ने अनेक प्रकार लिए है। अपरिमित काव्यवस्तु को भी आदिकाल से ही परिभाषाओं में आबद्ध करने का प्रयास रहा है या यों कहे कि लक्षण के माध्यम से समझने का प्रयास रहा है। काव्य लक्षण करने वाले विद्वानों के स्पष्टत: दो वर्ग रहे। एक वर्ग ने काव्य के बाह्य पक्ष को अधिक महत्त्व दिया है तो दूसरे ने आन्तरिक तत्त्व को अधिक गौरवान्वित किया है। काव्य को कुछ परिभाषाओं में सीमित नहीं किया जा सकता तथापि प्रत्येक काव्यशास्त्री ने ऐसा करने का प्रयास किया है। कुन्तक के पूर्ववर्ती आचार्यों ने प्रमुख रूप से शब्द और अर्थ को काव्य कहा था।

आचार्य कुन्तक शब्दार्थ युगल को काव्य मानते हैं। अलंकार का शब्दार्थ के साथ योग होता है। इस बात को वे स्वीकार नहीं करते अपितु कहते हैं कि वस्तुत: अलंकार से युक्त शब्द और अर्थ की ही काव्यता होती है-

अलंकृतिरलंकार्यमपोदृत्य विवेच्यते ।
तदुपायतया तत्त्वं सालंकारस्य काव्यता ॥ **वक्रोक्तिजीवितम् 1/6 ॥**

इसी पर वृत्ति करते हुए कुन्तक लिखते है -अयमत्रपरमार्थ:- सालङ्कारस्यालङ्करणसहितस्य सकलस्य निरस्तावयवस्य सत: काव्यता कविकर्मत्वम्। तेनालंकृतस्य काव्यत्वमिति स्थिति:, न पुन: काव्यस्यालङ्कारयोग इति। अर्थात् ''सालंकारस्य काव्यता का तात्पर्य है कि अलंकार काव्य के नियतधर्म हैं, आहार्य नहीं। वे शोभाधायक धर्म नहीं है। प्रत्युत् काव्य के स्वरूपाधायक हैं।

वस्तुत: काव्यवस्तु किसे कहा जावे इसके लिए कुन्तक ने निम्न कारिका दी है-

शब्दार्थौ सहितौ वक्रकविव्यापारशालिनि।
बन्धे व्यवस्थितौ काव्यं तद्विदाह्लादकारिणि।। **वक्रोक्तिजीवितम् 7।।**

काव्यविद् में आह्लाद पैदा करने वाले तथा वक्रकवि व्यापार से सुशोभित रचना में व्यवस्थित स हित शब्दार्थ काव्य (कहे जाते हैं) कुन्तक वृत्ति में लिखते हैं कि शब्द और अर्थ दोनों भली भाँति मिलकर ही काव्य कहे जाते हैं।

शब्दार्थ साहित्य क्या है ?

कवि की कुशलता से कल्पित अतिशय कमनीय केवल शब्द ही काव्य है अथवा रचना की विचित्रता से चमत्कार पैदा करने वाला अर्थ ही काव्य है- इस प्रकार मान्यता रखने वाले दोनों पक्ष ही ''शब्दार्थौ सहितौ काव्यम् इस कथन से निरस्त हो गए। इसलिए दोनों में ही प्रत्येक तिल में तैल की भाँति काव्यविद् को आह्लाद पैदा करने की सामथ्र्य (काव्यता) होती है, न कि किसी एक में।

तस्माद्द्वयोरपि प्रतितिलमिव तैलं तद्विदाह्लादकारित्वं वर्तते न पुनरेकस्मिन्।

कुन्तक ने न तो केवल रमणीयता विशिष्ट शब्द की ही काव्यता स्वीकार की है और अर्थ की ही। अपने इस कथन में उन्होंने भामह की तीन कारिकाएँ उद्धृत की हैं जिनका अर्थ है कि शब्द और अर्थ दोनों की सम्मिलित रमणीयता ही काव्य में इष्ट है। अन्तिम कारिका इस प्रकार से हैं-

तदेतदाहु: सौशब्द्यं नार्थव्युत्पत्तिरीदृशी।
शब्दाभिधेयालंकारभेदादिष्टं द्वयन्तु न:।।"

इस प्रकार काव्यता शब्द और अर्थ दोनों में है यह स्थिर हो जाने पर किसी एक की कुछ थोड़ी सी भी न्यूनता हो जाने पर भी काव्य व्यवहार प्रवर्तित न हो जाए, इसीलिए लक्षण में 'सहितौ' पद दिया गया है। इसका तात्पर्य यह है कि यद्यपि शब्द और अर्थ में वाच्यवाचक रूप सम्बन्ध का सहभाव तो हमेशा बना रहेगा किन्तु कुन्तक के कथन का तात्पर्य कुछ और ही है। यहाँ सहितौ पद से विशिष्ट प्रकार का ही साहित्य अभीष्ट है और वह है- वक्रता से कमनीय गुण और अलंकार विभूतियों का आपस में स्पर्धा को प्राप्त हो जाना -

'वक्रताविचित्रगुणालंकार सम्पदां परस्परस्पर्धाधिरोह।'

इसी स्पष्ट करते हुए कुन्तक लिखते हैं -'

समसर्वगुणी सन्तौ सुहृदाविव सङ्गतौ ।
परस्परस्य शौभायै शब्दार्थौ भवतो यथा।।

अर्थात्- जहाँ समान सर्वगुणसम्पन्न परस्पर सङ्गत दो मित्रों की भाँति (माधुर्यादि) सर्वगुणसम्पन्न शब्द और अर्थ दोनों एक-दूसरे की शोभा के लिए सङ्गत होते हैं- ।कुन्तक ने इस के उदाहरण के रूप में निम्न पद्य दिया है-

ततोऽरुणपरिस्पन्दमन्दीकृतवपु: शशी ।
दध्रे कामपरिक्षामकामिनीगण्डपाण्डुताम्।।

यहाँ शब्द और अर्थ दोनों रमणीयता है। शब्द और अर्थ के साहित्य का अर्थ केवल एक शब्द और अर्थ के साहित्य से नहीं है अपितु यह साहित्य वाक्य-विन्यास रूपी बन्ध में व्यवस्थित होना चाहिए। 'सहितौ' इस द्विवचन में भी यथासंभव शब्द की स्वजातीय शब्द की अपेक्षा अन्य शब्द के एवं अर्थ की स्वजातीय अर्थ की अपेक्षा अन्य अर्थ से परस्पर स्पर्धित्वरूप ही साहित्य विवक्षित है। अन्यथा शब्द की स्वजातीय शब्द की अपेक्षा शब्दान्तर से एवं अर्थ की स्वजातीय अर्थ की अपेक्षा अर्थान्तर

से परस्पर स्पर्धित्व रूप साहित्य के अभाव में काव्यज्ञ की आह्लादकारिता की हानि हो सकती है। कुन्तक की वृत्ति इस प्रकार है-
'साहितावित्यत्रापि यथायुक्ति स्वजातीयापेक्षया शब्दस्य शब्दान्तरेण वाच्यस्य वाच्यान्तरेण व साहित्यं परस्परस्पर्धितवलक्षणमेव विवक्षितम्। अन्यथा तद्विदाह्लादकारित्वहानिः प्रसज्येत।'
कुन्तक ने साहित्य शब्द को और अधिक परिभाषित किया है। काव्यशास्त्र में इससे पूर्व ऐसी मार्मिक परिभाषा उपलब्ध नहीं थी तथा परवर्ती काव्यशास्त्र में भी यह कण्ठहार बन गई है । परिभाषा परक कारिका इस प्रकार है-

'साहित्यमनयोः शोभाशलितां प्रति काप्यसौ ।
अन्यूनानतिरिक्तत्वमनोहारिण्यवस्थितिः।।' **(वक्रोक्तिजीवितम् 1/17)**

अर्थात् शब्द और अर्थ दोनों परस्पर स्पर्धारूप रमणीय, न किसी का उत्कर्ष न निकर्ष रूप अपूर्व ही शोभाशालिता के प्रति अवस्थिति ही साहित्य है। यह परस्परस्पर्धित्व रूप साहित्य सौन्दर्यश्लाघिता को समर्पित होता है।
यहाँ एक वाचक का दूसरे वाचक से एवं एक वाच्य का दूसरे अर्थ से साहित्य अभिप्रेत है। क्योंकि शब्द और अर्थ का साहित्य रूप काव्य लक्षण वाक्य में ही परिसमाप्त होता है। इसलिए इन दोनों शब्द और अर्थ की वह कुछ अपूर्व ही वाक्यों के विन्यास की सम्पत्ति 'साहित्य' अभिधान की पात्र होती है, जिसमें यथासम्भव (शब्द और अर्थ को) अपना सम्पत्ति रूप सामग्री समूह सहृदयों के हृदय को आह्लाद प्रदान करने वाला स्पर्धा के कारण परिस्फुरित होता है। वृत्ति निम्नानुसार है-'तस्मादेतयोः शब्दार्थयोर्यथास्वं यस्यां स्वसम्पत्सामग्रीसमुदायः सहृदयाह्लादकार परस्परस्पर्धया परिस्फुरति, सा काचिदेव वाक्यविन्याससम्पत् साहित्यव्यपदेश-भाग्भवति।''
कुन्तक निम्नलिखित श्लोकों में इसी के सार को प्रस्तुत इस प्रकार करते हैं-

'मार्गानुगुण्यसुभगो माधुर्यादिगुणोदयः।
अलंकारणविन्यासो वक्रतातिशयान्वितः।।
वृत्त्यौचित्यमनोहारि रसानां परिपोषणम्।
स्पर्धया विद्यते यत्र यथास्वमुभयोरपि।।
सा काप्यवस्थितिस्तद्विदानन्दस्पन्दसुन्दरा।
पदादिवाक्यपरिस्पन्दसारः साहित्यमुच्यते।। 34-36।।''

बन्ध की व्याख्या -

कुन्तक ने काव्य के लक्षण में बन्ध पद का प्रयोग किया है ।यह शब्दार्थ साहित्य षट् प्रकार की वक्रता से विशिष्ट बन्ध में स्थित रहता है। बन्ध का लक्षण कुन्तक ने प्रथमोन्मेष की 22वीं कारिका में प्रस्तुत किया है। कारिका इस प्रकार से है-

वाच्यवाचकसौभाग्यलावण्यपरिपोषकः।
व्यापारशाली वाक्यस्य विन्यासो बन्ध उच्यते।। **वक्रोक्तिजीवितम् 22 ||**

शब्द और अर्थ के सौभाग्य एवं लावण्य को पोषित करने वाला (कवि के क्रियारूप) व्यापार से युक्त वाक्य की रचना को बन्ध कहा जाता है।
कुन्तक को अलौकिक काव्य मार्ग में प्रसिद्ध वाचक और वाच्यार्थ अभिप्रेत नहीं है। इन दोनों के वास्तविक स्वरूप का वर्णन करते हुए वे लिखते हैं-
शब्दो विवक्षितार्थैकवाचकोऽन्येषु सत्स्वपि।

अर्थ: सहृदयाह्लादकारि स्वस्पन्दसुन्दरा। वक्रोक्तिजीवितम् 1/9

तद्विदाल्हादकारित्व की व्याख्या

कुन्तक ने काव्य लक्षण में तद्विदाल्हादकारित्व का भी प्रयोग किया है अर्थात् काव्यज्ञों को आल्हादित करने वाला काव्य कहलाता है ।अन्य शब्दों के रहते भी विवक्षित अर्थ का एकमात्र वाचक शब्द ही वाचक शब्द कहा जाता है और सहृदयहृदय को आह्लादित करने वाला स्वाभाविकता से सुन्दर अर्थ ही (वास्तिविक अर्थ) कहलाता है। वाच्य, वाचक एवं वक्रोक्ति इन तीनों के अतिशय से उत्कृष्ट (लोकोत्तर) आमोद से सुन्दर कोई अनिर्वचनीय ही तत्त्व तद्विदाह्लादकारी होता है-

वाच्यवाचकवक्रोक्तित्रितयातिशयोत्तरम्।
तद्विविदाह्लादकारित्वं किमप्यामोदसुन्दरम्।। वक्रोक्तिजीवितम् 1/23"

कुन्तक का काव्य लक्षण एवं उसका प्रतिपादन काव्यशास्त्र में अपूर्व है तथा अपना विशिष्ट स्थान रखता है।

20.5 वक्रोक्ति का लक्षण एवं स्वरूप

आचार्य कुन्तक ने वक्र कथन को काव्य के लक्षण में प्रधानता दी अतः वक्रोक्ति के लक्षण एवं स्वरूप पर भी विचार किया जाना चाहिए । कुन्तक के अनुसार वक्रकविव्यापार से श्लाघ्य बन्ध में व्यवस्थित शब्द और अर्थ काव्य है। यह वक्रता क्या है? इसकी व्याख्या प्रथमोन्मेष की १०वीं कारिका में है। शब्द और अर्थ तो अलंकार्य हैं, किन्तु इनका अलङ्कार वक्रोक्ति है -

उभावेतावलङ्कार्यौ तयो: पुनरलंकृति।
वक्रोक्तिरेव वैदग्ध्यभङ्गीभणितिरुच्यते।। वक्रोक्तिजीवितम् 1/10"

कुन्तक ने वक्रोक्ति की व्याख्या अनेक स्थलों पर की है। इस कारिका में वैदग्ध्यभङ्गीभणिति को वक्रोक्ति कहा गया है। इस कारिका की वृत्ति में कहा गया है- ''वक्रोक्ति: प्रसिद्धाभिधानव्यतिरेकिणी विचित्रैवाभिधा प्रसिद्ध कथन से भिन्न विचित्र अभिधा ही वक्रोक्ति है। पुन: कारिकांश की व्याख्या में कुन्तक लिखते हैं-

'वैदग्ध्यं विदग्धभाव: कविकर्मकौशलं तस्य भङ्गी विच्छित्ति:, तया भणिति: विचित्रैवाभिधा वक्रोक्तिरित्युच्यते।''

अर्थात् वैदग्ध्य-विदग्धभाव यानी कविकर्मकौशल, उसकी भङ्गी माने विच्छित्ति, तत्पूर्वक भणिति कथन, विचित्र ही अभिधा वक्रोक्ति कही जाती है। अन्यत्र कहा गया है- शास्त्रादि से प्रसिद्ध शब्दार्थ-निबन्धन से व्यतिरिक्त षट् प्रकार वक्रताविशिष्ट कविव्यापार ही वक्रोक्ति है।

इन सभी का सार यह है कि सामान्य कथन से विशिष्ट विचित्र ही अभिधा वक्रोक्ति है। कविकर्म की निपुणता से इस विचित्र अभिधा का निष्पादन होता है और उस निपुणता में आधान होता है विच्छित्ति का। इसी को कन्तुक ने कहा है- वक्रवैचित्र्यकथन। वक्रता के अन्तर्गत ध्वनि का समस्त प्रपञ्च समाहित हो जाता है। यह विचित्र अभिधाद्योत्य व्यङ्ग्य सभी सौन्दर्य को अपने साम्राज्य में समेट लेता है। इसीलिए इसे विचित्र अभिधा कहा गया है। समस्त सौन्दर्य को अपने में समाहित करने वाली यह वक्रोक्ति है केवल अलंकार ही। शब्दार्थ अलङ्कार्य है। वैसे अलंकार अलंकार्य से भिन्न साधन होना चाहिए। किन्तु यह अलंकार कहीं से लाकर जोड़ा नहीं जाता अपितु वक्रत्ववैचित्र्यपूर्वक इनका अभिधान ही अलंकार है। कुन्तक के अनुसार अलंकार का काव्य से योग नहीं होता अर्थात् अलंकार बाह्य वस्तु नहीं है। अपितु शब्दार्थ का वक्रत्ववैचित्र्यपूर्वक अभिधान ही अलंकार है।

वक्रोक्ति में वक्रता का स्वरूप क्या है यह स्पष्ट रूप से नहीं कहा गया है। यह कहा जा सकता है कि वाणी को शोभा प्रदान करने वाला जितना भी अलंकार समुदाय है वह वक्रोक्ति है। अर्थात् उक्ति की वक्रता के कारण ही गुण, अलंकार, सन्धि, सन्ध्यङ्ग, वृत्तियाँ आदि अलंकार है। स्वभावोक्ति सर्वजनसंवेद्य है तो वक्रोक्ति बुधजन संवेद्य है। इसीलिए आचार्यों ने स्वभावोक्ति को पहले और वक्रोक्ति को बाद में स्थान दिया है पर उक्ति में शोभा की सृष्टि वक्रता ही कर सकती है। अत: अलंकार (शोभाधयकतत्त्व) के रूप में वक्रोक्ति को ही कहा है, स्वभावोक्ति को नहीं। आचार्य कुन्तक ने भी स्वभावोक्ति को अलंकार मानने का युक्तिपूर्वक खण्डन किया है। इस विषय पर कुन्तक ने निम्नलिखित श्लोकों से अपनी बात कही है-

अलंकारकृतां येषां स्वभावोक्तिरलङ्कृति।
अलंकार्यतया तेषां किमन्यदवतिष्ठते।।
वक्रोक्तिजीवितम् 1/11
स्वभावव्यतिरेकेण वक्तुमेव न युज्यते।
वस्तु तद्रहितं यस्मान्निरुपाख्यं प्रसज्यते।। **वक्रोक्तिजीवितम् 1/12**

भामह एवं दण्डी ने सभी अलंकारों के मूल में वक्रोक्ति की स्थिति अनिवार्य मानी है। लोचनकार अभिनव गुप्त ने भामह की कारिका (1.36) को उद्धृत करके व्याख्या करते हुए लिखा है- ''शब्दस्य हि वक्रता अभिधेयस्य च वक्रता लोकोत्तीर्णेन रूपेणावस्थानम्। अतिशय योग से काव्य में अलौकिक शोभा जुड़ जाती है। भामह ने अतिशयोक्ति को सर्वालंकार सामान्य तत्त्व कहा है। शब्द तथा अर्थ की वक्रता उनका लोकोत्तर रूप से काव्य में विन्यास ही है। लोचनकार ने ' विभाव्यते पद की व्याख्या इस प्रकार की है कि वक्रोक्ति-अतिशयोक्ति में ही अलंकार-वस्तु और रस इन तीनों का समावेश हो जाता है। भामह के अनुसार तो वक्रोक्तिविहीन काव्य उनकी दृष्टि में वार्ता मात्र ही होता है। आगे चल कर आचार्यों ने वक्रोक्ति के स्वरूप को सीमित कर दिया। दण्डी के अनुसार वक्रोक्ति मूलक अलंकारों में शेष की प्रधानता स्वरूप को सीमित कर दिया। दण्डी के अनुसार वक्रोक्ति को एक अर्थालंकार-विशेष का स्थान प्रदान कर दिया। यह वक्रोक्ति लक्षणामूल गूढ़ व्यङ्ग्य प्रधान ध्वनि का मूल अवश्य है। रुद्रट ने वक्रोक्ति को एक शब्दालंकार के रूप में प्रतिष्ठित किया। रुद्रट की वक्रोक्ति में विच्छित्ति है। वह अलंकार विशेष है, जबकि भामह की वक्रोक्ति अलंकार वस्तु रस सामान्य तत्त्व हैं अलंकार मात्र नहीं। आनन्दवर्धन ने वक्रोक्ति को सर्वालंकार सामान्य माना है-'अतिशयोक्तिगर्भता सर्वालङ्कारेषु शक्यक्रिया।। अभिनवगुप्त ने तो वक्रोक्ति को काव्य का जीवन भी स्वीकार किया है- यातिशयोक्तिर्लक्षिता सैव सर्वा वक्रोक्तिरलंकार:।.... अथ सा जीवित्वेनेत्थं विवक्षिता (लोचन पृ. 499-501)'' अभिनव गुप्त ने भी दण्डी के समान समस्त वाङ्मय को स्वभावोक्ति और वक्रोक्ति इन रूपों में विभक्त किया है। काव्य में स्वभावोक्ति और वक्रोक्ति के माध्यम से ही रसनीयता का सञ्चार होता है-

'काव्येऽपि लोकनाट्यधर्मिस्थानीयेन स्वभावोक्तिविभावादियोगा-दियमेव रसवार्ता। (लो.पृ. 197)।

अग्निपुराणकार, रुद्रट और मम्मट आदि ने श्लेष एवं काकु वक्रोक्ति के रूप में इसके दो भेद किए हैं। भोजराज ने वाङ्मय के वक्रोक्ति, रसोक्ति तथा स्वभावोक्ति ये तीन भेद किए हैं। इन में रसोक्ति प्रधान है-

'वक्रोक्तिश्च रसोक्तिश्च स्वभावोक्तिश्च वाङ्मयम्।
सर्वासु ग्राहिणीं तासु रसोक्तिं प्रतिजानते।। स. कण्ठाभरण 5/8''

रुद्रट, मम्मट आदि ने वक्रोक्ति को जहाँ शब्दालंकार माना है वहीं रुय्यक ने वक्रोक्ति को अर्थालंकार माना है। रुद्रट और रुय्यक की वक्रोक्ति का क्षेत्र भामह, दण्डी और कुन्तक की वक्रोक्ति से संकुचित है। जयरथ के मत में वक्रोक्ति का जन्म कविप्रतिभा से होता है।

20.6 वक्रोक्ति के षड्विध भेद

लोक एवं शास्त्र आदि के प्रसिद्ध प्रस्थान से व्यतिरिक्त कवि व्यापार रूप वक्रता के छः प्रकार हैं और उनके भी अन्य अदान्तर भेद हो सकते हैं:-

कविव्यापारवक्रत्वप्रकाराः संभवन्ति षट्।
प्रत्येकं बहवो भेदास्तेषां विच्छित्तिशोभिनः।। वक्रोक्तिजीवितम् 1/18

छः भेदों का नाम इस प्रकार है -

(1) वर्णविन्यासवक्रता (2) पदपूर्वार्द्धवक्रता (3) प्रत्ययाश्रितवतवक्रता (4) वाक्यवक्रता (5) प्रकरणवक्रता (6) प्रबन्धवक्रता। इनका उल्लेख निम्नलिखित कारिकाओं में है-

वर्णविन्यासवक्रत्वं पदपूर्वार्द्धवक्रता ।
वक्रतायाः परोऽप्यस्ति प्रकारः प्रत्ययाश्रयः।। वक्रोक्तिजीवितम् 1/19
वाक्यस्य वक्रभावोऽन्यो भिद्यते यः सहस्रधा ।
यत्रालंकारवर्गोऽसौ सर्वोऽप्यन्तर्भविष्यति।। वक्रोक्तिजीवितम् 1/20
वक्रभावः प्रकरणे प्रबन्धे वास्ति यादृशः।
उच्यते सह्यजाहार्य सौकुमार्यमनोहरः।। वक्रोक्तिजीवितम् 21

(1) वर्णविन्यासवक्रता

अकारादि वर्णों का विशेष प्रकार से निबन्धन वर्णविन्यास कहा जाता है। अर्थात् अक्षरों का विशेष न्यास, उसकी वक्रता-वक्रभाव, प्रसिद्ध प्रस्थान से व्यतिरिक्त विचित्रतापूर्ण उपनिबन्धन वर्णविन्यासवक्रता कही जाती है। तात्पर्य है कि, वर्णों के सन्निवेश विशेष से विनिर्मित काव्य तत्त्व विद् को आनन्द प्रदान करने वाला शब्दों का शोभातिशय ही वर्णविन्यास वक्रता है। उदाहरण-

प्रथममरुणच्छायस्तावत्ततः कनकप्रभ
स्तदनु विरहोत्ताभ्यन्तन्वीकपोलतलद्युतिः।
प्रसरति ततो ध्वान्तक्षोदक्षमः क्षणदामुखे,
सरसबिसिनीकन्दच्छेदच्छ विर्मृगलाञ्छनः।।

इस श्लोक में वर्णविन्यासवक्रता मात्र से विनिर्मित अतिशय सौन्दर्य को सुतरां उभारा गया है। यही वर्णविन्यास वक्रता प्राचीन आलङ्कारिक भामह आदि में 'अनुप्रास ' इस नाम से प्रसिद्ध है।

इस वक्रता का सामान्य लक्षण करते हुए कुन्तक लिखते हैं -

एको द्वौ बभवो वर्णा बध्यमानः पुनः पुनः।
स्वल्पान्तरास्त्रिधा सोक्ता वर्णविन्यासकृता।। वक्रोक्तिजीवितम् २१

(जहाँ पर) थोड़े-थोड़े अन्तर से एक दो अथवा अनेक वर्ण पुनः पुनः निबन्धित किए जाते हैं, तीन प्रकार की वह (वक्रता) 'वर्ण-विन्यास-वक्रता कही गई है। एक वर्ण की स्वल्पान्तर से पुनः पुनः आवृत्ति, दो वर्णों की स्वल्पान्तर से पुनः पुनः आवृत्ति एवं बहुत से वर्णों की

स्वल्पान्तर से आवृत्ति ये तीन प्रकार वर्ण विन्यास वक्रता हैं। उदा. धम्मिल्लो विनिवेशिताल्पकुसुमः सौन्दर्यधुर्यं स्मितं।

वर्णविन्यास वक्रता के अन्य विच्छित्ति से भी तीन प्रकार से हो सकते हैं। इन प्रकारों का उल्लेख कुन्तक ने अवान्तर श्लोक में इस प्रकार किया है –

'वर्गान्तयोगिनः स्पर्शा द्विसक्तास्तन लादयः।

शिष्टाश्च रादिसंयुक्ताः प्रस्तुतौचित्यशोभिनः।। वजी. 2/2''

वर्ण्यमान वस्तु के औचित्य से सुन्दर तथा (स्वल्पान्तर से पुनः पुनः निबध्यमान) (1) अपने वर्ग के अन्तिम वर्ण से युक्त स्पर्श, (2) द्विरुक्त, त, ल तथा न वर्ण एवं (3) अवशिष्ट अन्य सभी वर्ण रकार आदि वर्णों से संयुक्त रूप (में जहां स्वल्पान्तर से पुनः पुनः निबन्धित किए जाये वहां वर्णविन्यास वक्रता का दूसरा सौन्दर्य प्रकार है)

प्रथम प्रकार का उदाहरण -

उन्निद्र-कोक-नद-रेणु-पिशङ्गिताङ्गा

गुञ्जन्ति मञ्जुमधुपाः कमलाकरेषु

एतच्चकास्ति च रवेर्नवबन्धुजीव

पुष्पच्छदाभमुदयाचलचुम्बिबिम्बम्।।

यहाँ उन्निद्र, पिशङ्गिताङ्गा, मञ्जु, गुञ्जन्ति, चुम्बि, बिम्बम्,'' आदि में गकारादि स्पर्श एवं वर्गान्त वर्णों का संयुक्त रूप में प्रयोग है।

द्वितीय प्रकार के वर्णविन्यास वक्रता का उदाहरण ''प्रथममरूणच्छायः'' के अनुसार यहां त, ल, न, च, छ की द्विरुक्ति पाई जाती है।

इसी वर्णविन्यासवक्रता का अन्य प्रकार यह है कहीं-कहीं वर्णों के व्यवधान न होने पर भी (पुनः पुनः निबध्यमान वर्णो की) मनोहारी वर्णन तथा (कहीं-कहीं) स्वरों का असादृश्य तथा पुनः पुनः निबन्धन होने से वक्रता की परम पुष्टि होती हैं। कारिका इस प्रकार है -

च्चिदव्यवधानेऽपि मनोहारिनिबन्धना।

सा स्वराणामसारूप्यात् परां पुष्णाति वक्रताम्।।   वक्रोक्तिजीवितम् 2/3

यह वर्ण विन्यास वक्रता ही प्राचीन आचार्यों (आचार्य उद्भट आदि) के द्वारा वृत्तियों के सौन्दर्य से समन्वित कही गई है। यह वर्णों की कान्ति के माध्यम गुणों तथा मार्गों का अनुवर्तन करने वाली होती है -

वर्णच्छायानुसारेण गुणमार्गानुवर्तिनी।

वृत्तिवैचित्र्ययुक्तेति सैव प्रोक्ता चिरन्तनैः।। व. जी. 2/5''

(2) **पदपूर्वार्द्धवक्रता**

पदस्य सुबन्तस्य तिङन्तस्य वा यत्पूर्वाद्र्धप्रातिपदिकलक्षणं धातुलक्षणं वा तस्य वक्रता वक्रभावो विन्यासवैचित्र्यम् अर्थात् पद दो प्रकार के होते हैं - सुबन्त और तिङन्त, उनका पूर्वाद्र्ध क्रमशः प्रातिपादिक या धातु रूप होता है, उसकी वक्रता, वक्रभाव अर्थात् विन्यास वैचित्र्य ही पदपूर्वाद्र्धवक्रता है। इसके अनेक भेद हो सकते हैं। भेद इस प्रकार हैं-

(1) रूढिवैचित्र्य (2) पर्याय (3) उपचार (4) विशेषण (5) संवृत्ति (6) वृत्ति वैचित्र्य (7) भाववक्रता (8) लिङ्ग (9) क्रियावैचित्र्य (10) कृदादिवक्रता (11) आगमवक्रता

(1) **रूढिवैचित्र्य :** जहाँ रूढि शब्द का ही प्रकरण के उपयुक्त वाच्य रूप से प्रसिद्ध धर्म के अतिरिक्त धर्म के अध्यायोपपूर्वक निबन्धन किया जाता है, वहाँ पदपूर्वाद्र्धवक्रता का यह प्रथम भेद होता है - जैसे - 'रामोऽस्मि सर्वं सहे' यहां राम शब्द का रूढ़वाच्यार्थ (दशरथपुत्र राम 'अभिप्रेत न होकर उसके अतिरिक्त दारुणहृदय अत्यन्त सहनशील धर्मयुक्त राम अर्थ अभीष्ट है। ध्वनिवादी यहां अर्थान्तर संक्रमित वाच्यध्वनि का उदाहरण मानते हैं।)

रूढिवैचित्र्यवक्रता भी मुख्यत: दो प्रकार की होती है (1) जहाँ कवि स्वयं ही अपने (वर्णविषय) में उत्कर्ष अथवा निष्कर्ष के समारोप करने की कामना से रूढिशब्द से वाच्य अर्थ का उपनिबन्धन करता है, (2) अथवा जहां उस (उत्कर्ष या निकर्ष) का वक्ता कोई और होता है। प्रतीयमान धर्मों के अनन्त के कारण यह रूढि वैचित्र्यवक्रता अनेक प्रकारों से भेदयुक्त होती है।

(2) **पर्यायवक्रतावैचित्र्य :** जहाँ किसी वस्तु का अभिधान अनेक शब्दों से सम्भव होने पर भी प्रकृत के अनुकूल किसी अपूर्व पर्याय पद का कविगण निबन्धन करते हैं, वहां पर्यायवक्रता पाई जाती है। इसका विशेष लक्षण हुए कुन्तक लिखते हैं –

अभिधेयान्तरतमस्तस्यातिशयपोषक:।
रम्यच्छायान्तरस्पर्शात्तदलङ्कर्तुमीश्वर:।। **वक्रोक्तिजीवितम् 2/10**
स्वयं विशेषणेनापि स्वच्छायोत्कर्षपेशल:।
असम्भाव्यार्थपात्रत्वगर्भं यश्चाभिधीयते।। **वक्रोक्तिजीवितम् 2/11**
अलङ्कारोपसंस्कार मनोहारि निबन्धन:।
पर्यायस्तेन वैचित्र्यं परां पर्यायवक्रता।। **वक्रोक्तिजीवितम् 2/12**

उदाहरण -

वामं कज्जलवद्विलोचनमुरोहद्विसास्तिमं
मध्यं साममकाण्ड एव विपुलाभोगा नितम्बस्थली।
सद्य: प्रोद्गतविस्मयैरिति गणैरालोक्यमानं मुहु:
पायाद्व: प्रथमं वपु: स्मररिपोर्मिश्रीभवत्कान्तया।।

यहाँ पर (शिव के अनेकपर्याय होने पर भी प्रयुक्त) 'स्मररिपो:' कामशत्रु यह पर्याय अपूर्ववक्रता को उन्मीलित करता है। क्योंकि जो स्वयं कामरिपु है उसके शरीर का अपनी पत्नी के शरीर से मिश्रिवत होना किसी भी प्रकार सम्भव नहीं है। यहाँ 'प्रथमं' पद 'स्मररिपो:' पद का प्राणभूत सा हो गया है।

यह पर्यायवक्रता वाच्यार्थ से असम्भावित दूसरे धर्म की गर्भता में भी देखी जाती है। जैसे-
''अङ्गराज! सेनापते! राजवल्लभ! रक्षैनं भीमाद् दु:शासनम्''

यहां कर्ण सम्बोधन का प्रयोग न करके उसके पर्याय रूप में निबन्धित तीनों सम्बोधनों से यह भावगर्भित है कि उसमें दु:शासन की रक्षा की योग्यता असम्भव है और इस प्रकार वह कुछ भी नहीं कर सकता और इसीलिए 'इसकी रक्षा करो' से उसका परिहास किया जा रहा है।

(3) **उपचारवक्रता :** यत्रामूर्तस्य वस्तुनो मूर्तद्रव्याभिधायिधायिना शब्देनाभिधानमुपचारात्। जहाँ पर अमूर्तवस्तु का मूर्तद्रव्य का अभिधान करने वाले शब्द से उपचारवश (लक्षणा द्वारा) अभिधान किया जाता है वहाँ उपचारवक्रता होती है। रूपक आदि अलंकार एतन्मूलक होने से रसयुक्त बन जाते हैं। उदा.- निष्कारणं निकारकणिकापि मनस्विनां मानसमायासयति।

अथवा ''हस्तापचेयं यशः'' । यहाँ प्रथम उदाहरण में 'कणिका' शब्द आया है जो निकार का विशेषण है। कणिका शब्द सामान्यतः मूर्त वस्तु के 'स्वत्व' अर्थ को अभिव्यक्त करता है। किन्तु निकार (अपमान) अपमान (भावरूप) है। स्वल्पता रूप सामान्य अर्थ को बताने के लिए यहां पर साम्यवश उपचार से, कणिका शब्द के स्वल्प अर्थ के अभिधायक होने के कारण, अमूर्त निकार के लिए भी स्तोक अर्थ के अभिधायक रूप में प्रयुक्त किया जाता है।

कहीं पर अमूर्त अर्थ के वाचक शब्द का द्रव्यरूप अर्थ के अभिधायक के रूप में वाचकतया किया जाता है। यथा-

एकां कामपि कालविप्रुषममी शौर्योष्मकण्डूव्यय।

व्यग्रा स्युश्चिरविस्मृतामरचमूडिम्बाहवा बाहवः।।

यहाँ 'विप्रुष (बूंद) पद मूर्त द्रव पदार्थ का धर्म है किन्तु स्वल्पतामात्र के साम्य के कारण यहाँ समय के लिए भी उपचार से प्रयुक्त किया गया है। जबकि काल स्वयं एक अमूर्त पदार्थ है।

(4) **विशेषण वक्रता :** जहाँ विशेषण के महत्त्व से ही काव्यविद् को आह्लाद प्रदान करने वाला सौन्दर्य अभिव्यञ्जित होता है। विशेषण के माध्यम से कारक और क्रिया की रमणीयता समुल्लसित होती है-

''विशेषणस्य माहात्म्यात् क्रियायाः कारकस्य वा।

यत्रोल्लसति लावण्यं सा विशेषणवक्रता।। **वक्रोक्तिजीवितम् 2/5''**

कारक विशेषण वक्रता का उदा.-

शुचिशीतलचन्द्रिकाप्लुताश्चिरनिशब्दमनोहरा दिशः।

प्रथमस्य मनोभावस्य वा हृदि कस्याप्यथ हेतुतां ययुः।।

यहां शुचि, शीतल आदि विशेषणों से दिशा रूप कारक की सुन्दरता प्रकाशित की गई है।

क्रिया, विशेषणवक्रता का उदा.-

सस्मारवारणपतिर्विनिमीलिताक्षः

स्वेच्छाविहारवनवासमहोत्सवानाम्

यहाँ नेत्रनिमीलन रूप क्रिया, विशेषण से संस्मरण क्रिया का स्वाभाविक चित्र ही प्रस्तुत कर दिया गया है।

विशेषण के माध्यम से प्रतीयमान अलंकारों का सौन्दर्य बढ़ जाता है।

(5) **संवृत्तिवक्रता : -**

यत्र संव्रियते वस्तु वैचित्र्यस्य विवक्षया।

सर्वनामादिभिः कैश्चित् सोक्ता संवृत्तिवक्रता।। **वक्रोक्तिजीवितम् 2/16''**

वैचित्र्य के कथन की इच्छा से जहाँ वस्तु को किन्हीं सर्वनाम आदि से छिपाया जाता है, वहाँ उसे संवृत्तिवक्रता कहते हैं। यह अनेक प्रकार की होती है। यथा ''सोऽयं दम्भधृतव्रतः प्रियतमे कर्तुं किमप्युद्यतः।''

यहाँ वासवदत्ता से प्रेम करने वाला उदयन पद्मावती के साथ परिणय को महापाप समझता है किन्तु उसे कहना नहीं चाहता। इस मन्तव्य को 'किमपि' पद से गोपित कर दिया गया है। इस प्रकार यहाँ संवरण वक्रता का साम्राज्य है।

(6) वृत्तिवैचित्र्यवक्रता :

जहाँ प्राप्त वृत्तियों में कविगण किन्हीं विचित्र वृत्तियों को ही स्वीकार करते हैं वहां वृत्ति वैचित्र्यवक्रता होती है। जैसे - ''मध्येऽङ्कुरं पल्लवा.'' यहां तत्पुरुष समास सम्भव होने पर भी कवि ने अव्ययीभाव का सहारा लिया जिससे चारुता में वृद्धि हो गई है। अथवा 'पाण्डिम्निमग्नं वपु.'। यहाँ 'पाम्डुतायाम'यह प्रयोग भी सम्भव था किन्तु कवि ने तद्धित वृत्ति का सहारा लेकर वक्रता की वृद्धि कर दी। वृत्ति वैचित्र्यवक्रता का स्वरूप निम्नलिखित कारिकाओं में दिया गया है-

अव्ययीभावमुख्यानां वृत्तीनां रमणीयता।
यत्रोल्लसति सा ज्ञेया वृत्तिवैचित्र्यवक्रता।। **वक्रोक्तिजीवितम् 2/19**

(7) भाववक्रता

सध्यतामप्यनाहत्य सिद्धत्वेनाभिधीयते।
यत्र भावो भवत्येषा भाववैचित्र्यवक्रता।। **वक्रोक्तिजीवितम् 2/20**

अर्थात् जहां (क्रिया की) साध्यता का भी तिरस्कार कर भाव (क्रिया या व्यापार) सिद्ध के रूप में कहा जाता है, वहाँ यह भावैचित्र्यवक्रता होती है। उदा.-

श्वासायासमलीमसाधररुचेर्दो:कन्दलीतानवात्
केयूरायितमङ्गदै: परिणतं पाण्डिम्नि गण्डत्विषा।
अस्या: किं च विलोचनोत्पलयुगेनात्यन्तमश्रुस्रुता
तारं ताहगपाङ्गयोररुणितं येनोत्प्रताप: स्मर:।।

यहाँ पर भाव का सिद्ध के रूप में अभिधान चमत्कारकारी हो गया है।

(8) लिङ्गवैचित्र्यवक्रता

भिन्नयोर्लिङ्गयोर्यस्यां समानाधिकरण्यत:।
कापि शोभाभ्युदेत्येषा लिङ्गवैचित्र्यवक्रता।। व.जी. 2/21

जहाँ भिन्न-भिन्न लिङ्गों के (रहते भी प्रयोग में) उनकी समान अधिकरणता के कारण कोई अपूर्व शोभा उदित हो जाती है। (वह) यह लिङ्गवैचित्र्यवक्रता कही जाती है। उदा.-'इत्थं जडे जगति को नु बृहत्प्रमाणकर्ण: करी ननु भवेद् ध्वनितस्य पात्रम् यहाँ बृहत्प्रमाणकर्ण :करी पुलिङ्ग है किन्तु पात्रम् नपुंसक लिङ्ग है। कवि ने दोनों भिन्न लिङ्गों का समानाधिकरण रूप में प्रयोग किया है जो अतीव सौन्दर्य को पैदा करता है। अथवा ''मैथिली तस्य द्वारा यहां स्त्रीलिङ्ग (मैथिली) और पुल्लिङ्ग 'दारा' दोनों का समान अधिकरण के रूप में प्रयोग किया गया है।

लिङ्गवैचित्र्यवक्रता का अन्य प्रकार है-

सति लिङ्गान्तरे यत्र स्त्रीलिङ्गं च प्रयुज्यते।
शोभानिष्पत्तये यस्मान्नामैव स्त्रीति पेशलम्।। **वक्रोक्तिजीवितम् 2/22**

अर्थात् अन्य लिङ्ग के सम्भव होने पर भी 'स्त्री' नाम ही सुन्दर होता है। ऐसा मानकर सौन्दर्य सम्पादन के लिए स्त्रीलिङ्ग एतां पश्य पुरस्तटीम् इति यहां 'तट, तटी, तटम् इस प्रकार तट के तीनों लिङ्ग होते हैं। किन्तु कवि ने रमणीयता लाने के लिए यहां स्त्रीलिङ्ग तटी का प्रयोग किया है।

(9) क्रियावैचित्र्यवक्रता

जहाँ कविगण क्रिया रमणीयता को प्रतिपादन करने के लिए वैदग्ध्यमङ्गीभणिति से रमणीय ही (क्रिया) के प्रयोगों को निबन्धित करते हैं। यह क्रिया वैचित्र्य भी पांच प्रकार का है।

कर्तुरत्यन्तरङ्गत्वं कत्र्रन्तरविचित्रता।
स्वविशेषण वैचित्र्यमुपचारमनोज्ञता ।। वक्रोक्तिजीवितम् 2/24
कर्मादिसंवृत्ति: पञ्च प्रस्तुतौचित्यचारव:।
क्रियावैचित्र्यवक्रत्व प्रकारास्त इमे स्मृता:।। वक्रोक्तिजीवितम् 2/25''

(1) कर्ता की अतिशय अन्तरङ्गता, (2) अन्य कर्ता से होने वाली विचित्रता, (3) अपने विशेषण से होने वाला वैचित्र्य, (4) उपचार से जायमान रमणीयता तथा (5) कर्म आदि कारकों का संचरण, प्रस्तुत वस्तु के औचित्य से सुन्दर ये पाँच क्रिया वैचित्र्यवक्रता के प्रकार कहे गए हैं। उदा. -

रतिकेलिहृतनिवसनकरकिसलयरुद्धनयनयुगलस्य।
रुद्रस्य तृतीयनयनं पार्वतीपरिचुम्बितं जयति।।

(यहां देवी पार्वती का साध्य शिवजी के तीनों नेत्रों को बन्द कर देना समान होने पर भी, देवी पार्वती के परिचुम्बन से जिसका निरोध संपादित हो रहा है, भगवान का वह तीसरा नेत्र जयनशील है। यहाँ 'जयति' इस क्रिया पद का सहृदय के हृदय से ही संवेद्य कोई अनिर्वचनीय ही वैचित्र्य स्फुरित होता हुआ ही परिलक्षित होता है।

(10) कृदादिवक्रता

कृदादिप्रत्यय पद में प्रयुक्त होकर किसी अपूर्व वक्रता की सृष्टि कर देते हैं। कुन्तक ने इनका प्रत्ययाश्रित वक्रता में ही अन्तर्भाव किया है। किन्तु आचार्य विश्वेश्वर ने पद के मध्य में आने पर इन्हें पदपूर्वार्द्ध वक्रता के अन्तर्गत माना है।

(11) आगमवक्रता

मुम् आदि के आगमों के सौन्दर्य से रमणीय किसी अपूर्ववक्रता की सृष्टि होती है, जिससे रचना की शोभा में वृद्धि होती है। पदपूर्वाद्र्धवक्रता का समापन करते हुए कुन्तक लिखते हैं।

इत्ययं पदपूर्वाद्र्धवक्रभावो व्यवस्थित।
दिङ्गमात्रमेवमेतस्य शिष्टं लक्ष्ये निरूप्यते।।

(12) प्रत्ययाश्रितवक्रता

पदपूर्वार्द्ध एवं पदपरार्द्ध वक्रता का मूल पदवक्रता है। पद के दो विभाग हैं। एक सुबन्त और दूसरा तिङन्त। पद के पूर्वार्द्ध में प्रातिपादिक या धातु रहेगा। अत: पदपूर्वार्द्धवक्रता में इन दोनों की वक्रता का विचार किया गया है। पद के उत्तरार्द्ध (परार्द्ध) में सुप् और तिङ् रहते हैं। इन प्रत्ययों को आश्रय बनाकर होने वाली वक्रता ही प्रत्ययाश्रितवक्रता अथवा पदपरार्द्ध वक्रता के नाम से जानी जाती है। इसके भी बहुत से भेद होते है। ये भेद हैं। (1) कालवक्रता (2) कारकवक्रता (3) संख्यावक्रता (4) पुरुषवक्रता (5) उपग्रहवक्रता (6) प्रत्ययवक्रता

(1) कालवक्रता

औचित्यान्तरम्येन समयो रमणीयताम्।
याति यत्र भवत्येषा कालवैचित्र्यवक्रता।। वक्रोक्तिजीवितम् 2/26

जहाँ (प्रस्तुत वस्तु की) अन्तरङ्गता से (वर्तमान आदि जो लट् आदि प्रत्ययों से वाच्य) समय रमणीयता को प्राप्त हो जाता है (वहाँ) कालवैचित्र्यवक्रता होती है। उदा.-

अचिराद्भविष्यन्ति पन्थानो मनोरथानामपि दुर्लङ्घ्या:
यहाँ भविष्यत् कालवाची प्रत्यय अपूर्व शोभाकारी है।

(2) कारकवक्रता

यत्र कारकसामान्यं प्राधान्येन निबध्यते।
तत्वाध्यारोपणान्मुख्यगुणभावाभिधानत:।। वक्रोक्तिजीवितम् 2/27''
परिपोषयितुं काञ्चिद्भङ्गीभणितिरम्यताम्।
कारकाणां विपर्यास: सोक्ता कारकवक्रता।। वक्रोक्तिजीवितम् 2/28

जहाँ तत्व (मुख्यत्व) का अध्यारोप करने से कारक सामान्य (गौण कारक) प्रधान रूप से तथा (इस प्रकार) कारकों के विपर्ययरूप वह कारकवक्रता की गई है। उदा.- स्तनद्वन्द्वं मन्दं स्नपयति बलाद्वाष्पनिवहो: इत्यादि।। व.जी. 1/65

(3) संख्यावक्रता

कुर्वन्तिकाव्यवैचित्र्यविवक्षापरतन्त्रिता:।
यत्र संख्याविपर्यासं तां संख्यावक्रतां विदु:। वक्रोक्तिजीवितम् 2/29''

जहाँ संख्या का विपर्यय कर दिया जाता है अर्थात् एकवचन अथवा द्विवचन के प्रयोग करने के स्थान पर विचित्रता के लिए जहाँ अन्य वचन प्रयोग किए जाते हैं, अथवा भिन्न वचनों का जहाँ समानाधिकण्य कर दिया जाता है (वहाँ) संख्या वक्रता होती है।
प्रियो मन्युर्जातस्तव निरनुरोधे न तु वयम्।।
यहाँ 'न त्वहम् ऐसा कहने बजाय 'न तु वयम्' यह बहुवचन का प्रयोग अत्यन्त रमणीय हो गया है।

(4) पुरुषवक्रता

प्रत्यक्तापरभावश्च विपर्यासेन योज्यते।
यत्र विच्छित्तये सैषा ज्ञेया पुरुषवक्रता।। वक्रोक्तिजीवितम् 2/30

आत्मभाव और परभाव का विपर्ययपूर्वक निबन्धन करना ही पुरुषवक्रता है। उदा.-
वक्तुं नोत्सहते मन: परमतो जानातु देवी स्वयम्। (वक्रोक्तिजीवितम् 2/105)
यहाँ मध्यम पुरुष युष्मद् शब्द के प्रयोग करने के स्थान पर ''जानातु देवी स्वयम्'' इस प्रकार 'देवी' इस प्रातिपादिक मात्र का प्रयोग हुआ है।

(5) उपग्रहवक्रता

लक्षण के अनुसार धातुओं का निश्चित पद (परस्मैपद, आत्मनेपद या उभयपद होता है। इनको आश्रित कर के होने वाले प्रयोग को प्राचीन आचार्य उपग्रह शब्द से अभिहित करते है। जहाँ काव्य में शोभा के लिए दोनों (परस्मैपद-आत्मनेपद) पद में से औचित्यवश किसी एक का निबन्धन करते हैं, उसे उपग्रहवक्रता कहते हैं -
पदयोरुभयोरेकमौचित्याद् विनियुज्यते।
शोभायै यत्र जल्पन्ति तामुपग्रहवक्रताम्।।

(6) प्रत्ययवक्रता

तिङादि प्रत्ययों से विहित अन्य प्रत्यय जहाँ किसी अपूर्व शोभा की सृष्टि करता है, वहाँ प्रत्ययवक्रता होती है।
विहित: प्रत्ययादन्य: प्रत्यय: कमनीयताम्।

यत्र कामपि पुष्णाति सान्या प्रत्ययवक्रता।।   वक्रोक्तिजीवितम् 2/32

उपसर्गनिपातवक्रता

उपसर्ग तथा निपात भी पद कहे जाते हैं। अव्युत्पन्न तथा अविकारी होने के कारण एवं उनमें विभक्ति संभव न होने के कारण अवयवरहित होने पर उन दोनों की अविभक्त वक्रता होती है। इसीलिए कुन्तक ने द्वितीय उन्मेष की ३३वीं कारिका में पृथक्तया विवेचन किया है जहाँ उपसर्ग और निपात रसादि को द्योतित करते हैं वह वक्रता वाक्य का एकमात्र जीवन है-

रसादिद्योतनं यस्यामुपसर्गनिपातयोः।

वाक्यैकजीवितत्वेन सा परा पदवक्रता।।   वक्रोक्तिजीवितम् 2/33

उदा.

वैदेही तु कथं भविष्यति ह हा हा देवि धीरा भव ।।

यहाँ ह, हा आदि निपात समूह तथा 'तु' विप्रलम्भ श्रृङ्गार के सौन्दर्य को बढ़ा रहे हैं।

4. वाक्यवक्रता

पदसमुदाय रूप वाक्य में वर्णविन्यास आदि तीनों वक्रताएँ समुदाय रूप में वैचित्र्य का निबन्धन कर देती है। यह सहस्रप्रकार की होती है। इसमें समस्त अलंकार वर्ग अन्तर्भूत हो जाता है -

परस्परस्य शोभायै बहवः पतिताः क्वचित्।

प्रकारा जनयन्त्येतां चित्रच्छायामनोहराम्।।   वक्रोक्तिजीवितम् 2/34

यत्रालंकावर्गोऽसौ सर्वोऽप्यन्तर्भविष्यति।। 1/20

उदा. -

उपस्थितां पूर्वमपास्य लक्ष्मीं वनं मया सार्धमसि प्रपन्नः।

त्वामाश्रयं प्राप्य तया नु कोपात्सोढास्मि न त्वद्भवने वसन्ती।।"

यहाँ पूरे श्लोक का वाक्यगत वक्रभाव अनिर्वचनीय है। वाक्यवक्रता के साथ ही वस्तुवक्रता का भी विवेचन कर दिया है। वस्तु, सहज अथवा अहार्य हो सकती है। कुन्तक ने सजीव तथा अन्य वस्तुओं के काव्य में प्रयोग की विधि के विषय में लिखा है तथा यह भी समझाया है कि रस, भाव आदि के परिपोष से काव्य को कैसे रमणीय बनाया जा सकता है। रसवत् प्रेय, उर्जस्वि, समाहित, उदात्त - ये अलंकार्य हैं न कि अलंकार। इसके पश्चात् रूपक आदि अलंकारों का विवेचन किया है।

5. प्रकरणवक्रता तथा 6. प्रबन्धवक्रता

वाक्यों के समूह रूप प्रकरणवक्रता एवं वाक्यसमूह के समुदाय रूप प्रबन्धवक्रता सहज, आहार्य और सौकुमार्य (भेद से) मनोहरी होती है।

वक्रभावः प्रकरणे प्रबन्धे वास्ति यादृशः।

उच्यते सहजाहार्यसौकुमार्यमनोहरः।।   वक्रोक्तिजीवितम् 1/29

प्रकरणवक्रता का उदा.

रामायण में मारीचरूप मायाविरचित स्वर्णमृग के पीछे राम का जाना, राम की रक्षा के लिये लक्ष्मण को भेजना यह अनुचित है। ऐसा विचार कर ही "उदात्तराघवम्" नामक नाटक में कवि ने चातुरीपूर्वक मारीचमृग को मारने के लिये गए हुए लक्ष्मण की रक्षा के लिए सीता ने भयवश राम को प्रेषित किया ऐसा वृत्तान्त उपनिबन्धित किया है। यहाँ काव्यज्ञ रसिक की आह्लादकारिता ही वक्रता है।

प्रबन्धवक्रता का उदा.

महाकवियों के काव्यों में पाँच प्रकार (वर्ण, पदपूर्वाद्र्ध आदि) की वक्रताओं से प्रबन्धवक्रता सौन्दर्यवर्धक होती है। जैसे कि 'तापस वत्सराज' नामक नाटक में पुष्प के समान कोमलचित्त, आनन्दपूर्ण विनोद के एकमात्र रसिक नायक (उदयन) का चरित-वर्णन ही प्रारम्भ किया गया है। रामायण और महाभारत प्रबन्धवक्रता के उदाहरण है प्रबन्धवक्रता की परिभाषा इस प्रकार दी गई है-

इतिवृत्तान्यथावृत्तरससम्पदपेक्षया ।
रसान्तरेण रम्येण यत्र निर्वहणं भवेत् ।।
तस्या एव कथा मूर्तेरामूलोन्मीलितश्रियः।
विनेयानन्दनिष्पत्यै सा प्रबन्ध वक्रता ।।

प्रबन्धवक्रता का एक और प्रकार इस रूप में वर्णित है-

त्रैलोक्याभिनवोल्लेखनायकोत्कर्षपोषिणा ।
इतिहासैकदेशेन प्रबन्धस्य समानम् ।।
तदुत्तरकथावर्ति विरसतवजिहासया ।
कुर्वीत यत्र सुकविः सा विचित्रस्य वक्रता ।।''

जहाँ नायक के उत्कर्ष के लिये इतिहास के एक देशी कथानक से समापन किया जाता है। विरसता को दूर करने के लिये सुकवि उसमें विचित्रता का सन्निवेश करता है। इसका उदाहरण किरातार्जुनीय काव्य है।

20.7 काव्य रचना के मार्ग त्रय

कवि किस प्रकार काव्य रचना करते हैं ? किस शैली में काव्य को उद्भूत करते हैं ? इस शैली या विधि को काव्य मार्ग कहा जाता है । ये मार्ग तीन प्रकार के होते हैं। वे हैं - (1) सुकुमार (2) विचित्र (3) उभयात्मक मध्यम मार्ग।

सम्प्रति तत्र ये मार्गाः कविप्रस्थानहेतवः।
सुकुमारो विचित्रश्च मध्यमश्चोभयात्मकः।। **वक्रोक्तिजीवितम् 1/24**

कुन्तक के अनुसार यह मार्ग भेद कविस्वभाव भेद पर अवलम्बित हैं न कि देश भेद पर। कविस्वभाव, प्रतिभा या शक्ति को देशविशेष की सीमा में आबद्ध नहीं किया जा सकता।

(1) प्रथम मार्ग - सुकुमारमार्ग

कालिदास प्रभृति महाकवि इसी मार्ग के कवि हैं। मार्ग का स्वरूप निम्नलिखित कारिकाओं में है -

अम्लानप्रतिभोद्भिन्ननवशब्दार्थबन्धुरः।
अयत्नविहित स्वल्पमनोहारिविभूषणः।। **वक्रोक्तिजीवितम् 1/25**
भावस्वभावप्राधान्यन्यक्कृताहार्य कौशलः।
रसादिपरमार्थशमनः संवादसुन्दरः।। **वक्रोक्तिजीवितम् 26**
अविभावित संस्थान रामणीयकरञ्जकः।
विधि वैदग्ध्यनिष्पन्ननिर्माणातिशयोपमः।। **वक्रोक्तिजीवितम् 27**
यत्किं च नापि वैचित्र्यं तत्सर्वं प्रतिभोद्भवम्।
सौकुमार्यपरिस्पन्दस्यन्दि यत्र विराजते।। **वक्रोक्तिजीवितम् 28**
सुकुमाराभिधः सोऽयं येन सत्कवयो गताः।

मार्गेणोत्फु ल्लकुसुम काननेनेव षट्पदा:।। **वक्रोक्तिजीवितम् 29**

अर्थात् यह मार्ग कवि की अम्लान प्रतिभा से उद्भिन्न, नूतन शब्द और अर्थ से कोमल मन का संवादी, सौकुमार्य स्वभाव से प्रवाहित होने वाला, अतिशय लावण्य से सम्पन्न, खिले हुए पुष्पवनों से युक्त भ्रमरावलियों की भांति सत्कवियों का (मार्ग सुकुमार) होता है। इस मार्ग के माधुर्य, प्रसाद, लावण्य तथा आभिजात्य ये चार गुण होते हैं।

(2) द्वितीय मार्ग - विचित्र मार्ग

तलवार की धर के समान यह मार्ग अति दु:सञ्चार योग्य है। कुछ विदग्ध कवि ही इस मार्ग से जा सकते हैं।

सोऽतिदु:संचरो येन विदग्धकवयो गता:।
खड्गधारापथेनेव सुभटानां मनोरथा:।। **वक्रोक्तिजीवितम् 1/43**

प्रतिभा के प्रथम प्रभात का यह मार्ग है। यहाँ शब्द अर्थ दोनों में वक्रता प्रस्फुटित सी प्रतीत होती जान पड़ती है। इसमें अनेक अलंकारों का निबन्धन किया जाता है। ये अलंकार अपनी जगमगाहट से काव्य की शोभा बढ़ा देते हैं। अलंकार यहाँ इतना उद्रिक्त रहता है कि अलंकार्य को अपनी शोभा के साम्राज्य से दीप्तिमय करके प्रकाशित करता है। पुरानी भी वस्तु यहाँ भणिति वैचित्र्य से लोकोत्तर उत्कृष्टता को पहुंचा दी जाती है।

यदप्यनूतनोल्लेखं वस्तु यत्र तदप्यलम्।
उक्तिवैचित्र्यमात्रेण काष्ठां कामपि नीयते।। **वक्रोक्तिजीवितम् 1/38**

इस मार्ग का कवि अपनी प्रतिभा के प्रसाद से वस्तु के अन्यथा रूप को हृदयग्राही दूसरे रूप में रूपान्तरित कर प्रस्तुत करने में सक्षम होता है। यहाँ विवक्षित अनाख्येय वस्तु की प्रतीयमानता निबन्धित की जाती है, जिसमें वाच्य-वाचक शक्ति का अभाव रहता है। अलौकिक सहृदय हृदयकारी कमनीय वैचित्र्य से उपबृंहित पदार्थों का स्वभावानुरूप रसनिर्भर अभिप्राय इस मार्ग में निबन्धन होता है-

स्वभाव: सरसाकूतो भावानां यत्र बध्यते।
केनापि कमनीयेन वैचित्र्येणोपबृंहित:।। **वक्रोक्तिजीवितम् 1/49**

अनिर्वचनीय अभिधा लोकोत्तर अतिशयोक्ति से भ्राजमान अन्तरवक्रोक्ति का वैचित्र्य ही इस मार्ग में प्राण का काम करता है-

विचित्रो यत्र वक्रोक्तिवैचित्र्यं जीवितायते।
परिस्फु रति यस्यान्त: सा काप्यतिशयाभिधा। **वक्रोक्तिजीवितम् 1/42**

यहां मार्गानुसारी चारों का वैचित्र्य रहता है। बाण के हर्षचरित में, भवभूति एवं राजशेखर के काव्यों में यह गुण देखने वाला है।

(3) तृतीयमार्ग - मध्यम मार्ग

यह मार्ग विभिन्न रुचियों वाले सहृदयों के मन को हरण करने वाला है। इस मार्ग में सुकुमार एवं विचित्र मार्ग की विभूतियाँ परस्पर स्पर्धापूर्वक विद्यमान रहती है-

मार्गोऽसौ मध्यमो नाम नानारुचिमनोहर:।
स्पर्धया यत्र वर्तन्ते मार्गद्वितयसम्पद:।। **वक्रोक्तिजीवितम् 1/51**

इस मार्ग में सहज तथा आहार्य उभयशक्ति जन्य शोभा का विलास देखने को मिलता है। माधुर्य आदि चारों गुण भी इसमें मध्यमवृत्ति अर्थात् उभयमार्गानुसारी गुणों की उभयात्मक छाया का आश्रय लेकर रचना में कोई अनिर्वचनीय ही कान्ति का आधिक्य ले आते है। -

वैचित्र्यं सौकुमार्यं च यत्र संकीर्णतां गते।
भ्राजेते सहजाहार्यशोभातिशयशालिनी।। **वक्रोक्तिजीवितम् 1/49**
माधुर्यादिगुणग्रामो वृत्तिमाश्रित्यमध्यमाम्।
यत्र कामपि पुष्णाति बन्धच्छायातिरिक्तताम्।। **वक्रोक्तिजीवितम् 1/50**

अग्राम्य भूषा की कल्पना में प्रवीण नागर लोगों के समान कमनीय कथा के व्यसनी कुद आरोचकी वृत्ति वाले लोग ही उभयच्छायाच्छुरित इस मध्यम मार्ग के प्रति अनुराग रखते हैं। मातृगुप्त, मायुराज, मञ्जीर, प्रभृति कवियों की रचनाओं में यह मार्ग देखा जा सकता है।

20.8 पारिभाषिक शब्दावली

1. **काव्य -** सहृदयहृदयहारी, वक्रकविव्यापारशोभित, बन्ध में व्यवस्थित सम्मिलित शब्द और अर्थ ही काव्य कहे जाते हैं।
2. **साहित्य -** शोभाशालिता के लिए इन दोनों (शब्द और अर्थ) की कमी या अधिकताविहीन मनोहारिणी कुछ अपूर्व ही अवस्थिति 'साहित्य कही जाती है।'
3. **बन्ध -** शब्द और अर्थ के सौभाग्य एवं लावण्य को पोषित करने वाला (कवि के क्रियारूप) व्यापार से युक्त वाक्य की रचना को बन्ध कहा जाता है।
4. **वक्रोक्ति -**वैदग्ध्य-विदग्धभाव यानी कविकर्मकौशल, उसकी भङ्गी माने विच्छित्ति, तत्पूर्वक भणिति कथन, विचित्र ही अभिधा वक्रोक्ति कही जाती है। अन्यत्र कहा गया है- शास्त्रादि से प्रसिद्ध शब्दार्थ-निबन्धन से व्यतिरिक्त षट् प्रकार वक्रताविशिष्ट कविव्यापार ही वक्रोक्ति है।
5. **अलंकार -** शब्दार्थ का वक्रत्ववैचित्र्यपूर्वक अभिधान ही अलंकार है
6. रूढिवैचित्र्य -जहाँ रूढि शब्द का ही प्रकरण के उपयुक्त वाच्य रूप से प्रसिद्ध धर्म के अतिरिक्त धर्म के अध्यायोपपूर्वक निबन्धन किया जाता है।
7. **काव्य–मार्ग -** कवि किस प्रकार काव्य रचना करते हैं ? किस शैली में काव्य को उद्भूत करते हैं ? इस शैली या विधि को काव्य मार्ग कहा जाता है । ये मार्ग तीन प्रकार के होते हैं। वे हैं - (1) सुकुमार (2) विचित्र (3) उभयात्मक मध्यम मार्ग।

20.9 अभ्यासार्थ प्रश्न

1. वक्रोक्तिजीवितम् में कुल कितने उन्मेष है ?
2. वक्रोक्ति किसे कहते है ?
3. आचार्य कुन्तक के अनुसार काव्य मार्गों का उल्लेख किजिए ?
4. काव्य प्रयोजनों का वर्णन किजिए ?
5. वक्रोक्तिजीवितम् ग्रन्थ का सामान्य परिचय देते तदनुसार वक्रोक्ति के लक्षण एवं भेदों पर विस्तृत निबन्ध लिखिए ?

20.10 सारांश

इस प्रकार इस इकाई में हमने वक्रोक्तिजीवितम् ग्रन्थ का सामान्य परिचय प्राप्त किया। इसी के साथ काव्य प्रयोजन, काव्यहेतु प्रतिभा आदि, काव्य स्वरूप, शब्दार्थ स्वरूप तथा साहित्य, वक्रोक्तिस्वरूप, वक्रता भेद, त्रिविधमार्ग आदि का विवेचन किया। इस इकाई में वक्रोक्तिजीवितम् ग्रन्थ के शास्त्रीय गाम्भीर्य में न जाकर केवल महत्त्वपूर्ण प्रतिपाद्यों का विवचन सामान्य भाषा में किया।

20.11 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. मिश्र, राधेश्याम, वक्रोक्तिजीवितम्, चौखम्भा प्रकाशन, नई दिल्ली, 2012.
2. पाण्डेय, परमेश्वरदीन, वक्रोक्तिजीवितम्, चौखम्भा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी, 2013.
3. Hegde, Suryanarayan, Concept of Vakrokti in Sanskrit Literature, Readworthy Publication, Delhi, 2009.
4. झा, नरेश, वक्रोक्तिजीवितदीपिका, चौखम्भा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी, 1998.